समर्पित

पूज्य पितामह स्व० रायबहादुर

पं० श्रीरामजी भार्गव

जज (हाईकोर्ट), कोटा-राज्य

भूमिका

लगभग अर्द्ध-शताब्दी पूर्व मैंने टॉड का 'राजस्थान' पढ़ा जिसने मेरी इन पूर्व मान्यताओं को सत्य प्रमाणित कर दिया कि वास्तव में राजपूतों ने भारतीय इतिहास में सक्रिय सहयोग प्रदान किया है। तत्पश्चात् १९०५ में मुझे एक मुकद्दमे के सिलसिले में शेखावाटी भ्रमण का अवसर मिला। भ्रमण ऊंट के द्वारा किया गया था क्योंकि उस समय राजस्थान में यातायात के साधन उपलब्ध नहीं थे। इसके अतिरिक्त बचपन से ही मेरा व्यक्तिगत रूप से राजस्थान के प्रति अगाध प्रेम बना रहा है। अगाध प्रेम का कारण यह था कि मेरा विवाह जोधपुर के एक सम्भ्रान्त कुल में हुआ था। अतः जब मेरा डॉ० वी० एस० भार्गव से परिचय हुआ तो मैंने उन्हें राजस्थान का इतिहास लिखने का सुझाव दिया। मेरे सुझाव पर डॉ० भार्गव ने प्रस्तुत पुस्तक लिखी।

इस पुस्तक में प्राप्य विश्वसनीय और उपलब्ध सामग्री का प्रयोग करके डॉ० भार्गव ने कर्नल टॉड की पुस्तक में वर्णित भ्रांतियों को दूर करने का जो प्रयास किया है वह सर्वथा सराहनीय है। साथ ही इस पुस्तक को पढ़ने से मध्यकालीन राजस्थान का इतिहास एकाएक जाना जा सकता है। राजनैतिक इतिहास के अतिरिक्त लेखक ने अपनी पुस्तक में 'किलों का इतिहास' तथा 'राजस्थान की सभ्यता और संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव' पृथक अध्यायों में लिखा है। कदाचित् यह वर्णन सर्वप्रथम किया गया है। नवयुवक लेखक का यह प्रयास सराहनीय है। पुस्तक को अधिक विश्वसनीय बनाने के लिए जो विश्वसनीय चित्र दिये गये हैं उन्होंने ग्रन्थ के मूल्य को अवश्य बढ़ा दिया है लेकिन उनसे ऐतिहासिक महत्व द्विगुणित हो गया है। इस ग्रन्थ को लिखकर डॉ० भार्गव ने एक कमी को अवश्य पूरा किया है लेकिन इसके लिए डॉ० भार्गव के अतिरिक्त राजस्थान सरकार भी धन्यवाद की पात्र है जिसने उत्साही लेखक को अध्ययन-अवकाश प्रदान करके पुस्तक लिखने का अवसर प्रदान किया।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह ग्रन्थ अवश्य लोकप्रिय होगा।

—कैलासनाथ काटजू

प्रस्तावना

प्रस्तुत पुस्तक 'राजस्थान का इतिहास' उन लोगों के लिए लिखी गई है जिन्हें कभी राजस्थान का इतिहास पढ़ने का अवसर नहीं मिला अथवा जो जेम्स टॉड, ओझाजी, कविराजा श्यामलदास आदि विख्यात लेखकों की बहु-मूल्य एवं अलभ्य कृतियों से अपरिचित रहे हैं।

वास्तव में, इस पुस्तक का अधिकांश भाग मैंने अपनी सुयोग्य शिष्या कुमारी सुन्दरी शर्मा के लिये लिखा था जिन्होंने इस वर्ष इतिहास में एम० ए० (फाइनल) की परीक्षा दी है। चूंकि प्रारम्भ से ही इस पुस्तक लिखने का उद्देश्य परीक्षार्थियों की आवश्यकता-पूर्ति रहा है अतः मारवाड़ और आमेर राज्यों के इतिहास के कुछ अंशों को छोड़कर, जहां मैंने अपने अनुसंधान को संक्षेप में लिखने का प्रयत्न किया है, शेष सामग्री प्रकाशित ग्रन्थों से स्वतंत्रता-पूर्वक ली है अतः मैं उन कृतियों के लेखकों—कर्नल जेम्स टॉड, डा० ओझा, कविराजा श्यामलदास, डा० मथुरालालजी शर्मा, डा० दशरथ शर्मा तथा महाराजकुमार डा० रघुवीरसिंहजी सीतामऊ के प्रति आभार प्रदर्शित करना अपना परम कर्त्तव्य समझता हूं।

पुस्तक की तैयारी में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मुझे कुछ अपने मित्रों एवं सहयोगियों से भी सहायता मिली है। भरतपुर-निवासी श्री उपेन्द्रनाथ शर्मा पिछले कुछ वर्षों से मेरे निर्देशन में भरतपुर के जाटों के उत्कर्ष एवं विकास का हिन्दी भाषा में इतिहास लिख रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक में 'मुगल-जाट संघर्ष' नाम से परिशिष्ठ श्री उपेन्द्र के भावी ग्रन्थ का ही सारांश है। बयाना के किले पर श्री के० सी० शर्मा एडवोकेट, भरतपुर ने कुछ सामग्री आज से लगभग २० वर्ष पहले प्रकाशित की थी जब वे महारानी श्री जया कालेज, भरतपुर में इतिहास के अध्यापक होने के नाते स्वर्गीय डा० अल्तेकर के साथ बयाना की खुदाई में भाग लेने गये थे। मैंने बयाना के किले का बहुत कुछ वर्णन श्री शर्मा की सामग्री से ही लिया है। इसी प्रकार 'राजस्थानी चित्रकला' की उत्पत्ति एवं विकास के सम्बन्ध में बहुत कुछ सामग्री श्रीयुत कुंवर संग्रामसिंहजी (नवलगढ़) के लेखों से प्राप्त हुई है। आधुनिक राजस्थान में कुंवर संग्रामसिंहजी के मुकाबले में शायद ही कोई व्यक्ति 'चित्रकला' के सम्बन्ध में अधिक ज्ञान रखता होगा।

पुस्तक के ऐतिहासिक महत्व को बढ़ाने वाले वे चित्र हैं जिन्हें उत्साही प्रकाशक ने सहर्ष ग्रन्थ मे छापा है। लगभग सभी चित्र विश्वसनीय एवं निकट समकालीन हैं। विशेष रूप से जो चित्र कुंवर सग्रामसिंहजी के सग्रह मे प्राप्त हुए हैं वे सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। जोधपुर के किले के चित्र भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। जोधाबाई और आमेर नरेश महाराजा मानसिंह के चित्र बाद मे बने हुए हो सकते हैं, लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वे वास्तविकता से परे हैं। इन अप्राप्य चित्रों के फोटोग्राफ प्राप्त करने में मुझे एवं मेरे प्रकाशक महोदय को काफी परेशानियों का सामना करना पड़ा है। इसी प्रकार चूड़ामन जाट का चित्र प्राप्त करने में श्री उपेन्द्रनाथ शर्मा को बहुत कठिनाई हुई है। स्पष्ट है पुस्तक का मूल्य बढ गया है लेकिन साथ ही पुस्तक का ऐतिहासिक मूल्य भी कम नहीं बढ़ा है।

यह पुस्तक राजस्थान सरकार के शिक्षा सचालक श्री बी० बी० जॉन की कृपा के अभाव मे कभी नहीं लिखी जा सकती थी। उनकी असीम अनुकम्पा के कारण ही मुझे अध्ययन अवकाश मिल सका। अत वे धन्यवाद के सर्वाधिक पात्र हैं। पुस्तक को लिखने में वास्तविक सहयोग कुमारी लक्ष्मी भार्गव, श्री हरीशङ्कर शुक्ला तथा मेरी धर्म पत्नि श्रीमती शशि भार्गव से प्राप्त हुआ है।

कुंवर केसरीसिंहजी, सदस्य विधान सभा, मेरे लघु भ्राता श्री ईश्वरस्वरूप भार्गव, प्रो० गोकुलप्रकाश शर्मा, श्री वेदप्रकाश ग्रोवर तथा राजस्थान विश्वविद्यालय के इतिहास-विभाग के प्रोफेसर डॉ० सतीशचन्द्रजी से भी मुझे प्रत्यक्ष रूप से प्रेरणा एवं सहायता मिली है अत यह सब महानुभाव धन्यवाद के पात्र हैं।

अन्त में, मै पुस्तक के भूमिका-लेखक श्रीयुत डा० कैलासनाथ काटजू का आभारी हूं जिन्होंने तत्परतापूर्वक मेरा उत्साहवर्धन किया है। राजनैतिक जीवन में राज्यपाल एवं मुख्य मन्त्री के महत्वपूर्ण पदों पर रहकर भी डा० काटजू ने इतिहास-प्रेम को नहीं त्यागा, यह आश्चर्यप्रद है। यद्यपि राजस्थान से उनका प्रत्यक्ष रूप से कभी सीधा सम्पर्क नहीं रहा लेकिन फिर भी इस राज्य के गौरवपूर्ण इतिहास में उनकी वर्षों से रुचि रही है। इस रुचि का आभास हमें उनके अपने शब्दों में अधिक स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। अत वयोवृद्ध विद्वान के प्रति आभार प्रदर्शित करना मेरे लिये अनिवार्य है।

—विश्वेश्वरस्वरूप भार्गव

अनुक्रमणिका

1
राजस्थान की भौगोलिक स्थिति का उसके इतिहास पर प्रभाव
(Geographical Features of Rajasthan and their Bearing on its History)

भारतीय गणतन्त्र का पश्चिमी भाग स्वतन्त्रता से पूर्व राजपूताना एवं 1950 के बाद राजस्थान के नाम से पुकारा जाता है। अंग्रेजी शासनकाल में इसे राजपुताना

राजस्थान को इस नाम से 1829 में टॉड ने पुकारा था

इसलिए कहकर पुकारा जाता था क्योंकि इस प्रान्त में अधिकतर राजपूत राजा शासन करते थे। विभिन्न देशी राज्यों के विलिनीकरण के बाद यह भू-भाग राजस्थान के नाम से पुकारा जाता है। इस भू-भाग के लिए राजस्थान शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम कर्नल जेम्स टॉड[1] ने 1829 में किया था जब उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'एनाल्स एंड ऐंटिक्वीज ऑफ राजस्थान (Annals and Antiquties of Rajasthan)' लिखी।

भूगर्भवेत्ताओं[2] का ख्याल है कि रामायणकाल से पहले यह प्रदेश समुद्री जल से ढ़का हुआ था लेकिन महाभारतकाल में इस प्रदेश का उत्तरी भाग, जो अब नागौर और बीकानेर के नाम से प्रसिद्ध है, जंगल देश कहलाता था और पूर्वी भाग जिसे इस समय हम अलवर,भरतपुर कहकर पुकारते हैं, मत्स्य देश कहलाता था।[3]

इस प्रदेश पर तृतीय मौर्य सम्राट् प्रियदर्शी अशोक का भी अधिकार रहा था। तत्पश्चात् जब यूनानी और शक जाति के लोगों का भारत पर प्रभाव बढ़ा तो यह

सातवीं शताब्दी के पूर्व राजस्थान का इतिहास

प्रदेश भी विदेशियों के अधिकार में चला गया। चौथी शताब्दी के अन्तिम भाग से छठी शताब्दी के अन्त तक गुप्त सम्राटों का इस प्रदेश के कई भागों पर अधिकार रहा। सातवीं शताब्दी में जब हर्षवर्धन भारत पर राज्य कर रहा था उस समय चीनी यात्री ह्वजच्यांग भारत

1. देखिये जेम्स टॉड कृत 'एनाल्स एन्ड ऐंटिक्वीज आफ राजस्थान,' भाग 1 पृष्ठ 1 (1829 का संस्करण)। इससे पहले यह प्रदेश कभी भी इस नाम से अथवा किसी ऐसे ही एक नाम से प्रसिद्ध नहीं रहा है।

2. चूंकि राजस्थान में सीप, शंख, कौड़ी इत्यादि सामुद्रिक पदार्थ पाये जाते हैं, अत: भूगर्भवेत्ता यह मानते हैं कि यह प्रदेश समुद्र जल से ढ़का हुआ था।

3. देखिये महाभारत (नव पर्व) अध्याय 23, श्लोक 5 तथा नागरी प्रचारिणी पत्रिका।

1

राजस्थान की भौगोलिक स्थिति का उसके इतिहास पर प्रभाव

(Geographical Features of Rajasthan and their Bearing on its History)

भारतीय गणतन्त्र का पश्चिमी भाग स्वतन्त्रता से पूर्व राजपूताना एवं 1950 के बाद राजस्थान के नाम से पुकारा जाता है। अंग्रेजी शासनकाल में इसे राजपुताना इसलिए कहकर पुकारा जाता था क्योंकि इस प्रान्त में अधिकतर राजपूत राजा शासन करते थे। विभिन्न देशी राज्यों के विलिनीकरण के बाद यह भू-भाग राजस्थान के नाम से पुकारा जाता है। इस भू-भाग के लिए राजस्थान शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम कर्नल जेम्स टॉड[1] ने 1829 में किया था जब उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'एनाल्स एंड ऐंटिक्वीज ऑफ राजस्थान (Annals and Antiquties of Rajasthan)' लिखी।

> राजस्थान को इस नाम से 1829 में टॉड ने पुकारा था

भूगर्भवेत्ताओं[2] का ख्याल है कि रामायणकाल से पहले यह प्रदेश समुद्री जल से ढ़का हुआ था लेकिन महाभारतकाल में इस प्रदेश का उत्तरी भाग, जो अब नागौर और बीकानेर के नाम से प्रसिद्ध है, जंगल देश कहलाता था और पूर्वी भाग जिसे इस समय हम अलवर, भरतपुर कहकर पुकारते हैं, मत्स्य देश कहलाता था।[3]

इस प्रदेश पर तृतीय मौर्य सम्राट् प्रियदर्शी अशोक का भी अधिकार रहा था। तत्पश्चात् जब यूनानी और शक जाति के लोगों का भारत पर प्रभाव बढ़ा तो यह प्रदेश भी विदेशियों के अधिकार में चला गया। चौथी शताब्दी के अन्तिम भाग से छठी शताब्दी के अन्त तक गुप्त सम्राटों का इस प्रदेश के कई भागों पर अधिकार रहा। सातवीं शताब्दी में जब हर्षवर्धन भारत पर राज्य कर रहा था उस समय चीनी यात्री ह्वजच्यांग भारत

> सातवीं शताब्दी के पूर्व राजस्थान का इतिहास

1. देखिये जेम्स टॉड कृत 'एनाल्स एन्ड ऐंटिक्वीज आफ राजस्थान,' भाग 1 पृष्ठ 1 (1829 का संस्करण)। इससे पहले यह प्रदेश कभी भी इस नाम से अथवा किसी ऐसे ही एक नाम से प्रसिद्ध नही रहा है।

2. चूंकि राजस्थान में सीप, शंख, कौड़ी इत्यादि सामुद्रिक पदार्थ पाये जाते हैं, अतः भूगर्भवेत्ता यह मानते है कि यह प्रदेश समुद्र जल से ढ़का हुआ था।

3. देखिये महाभारत (नव पर्व) अध्याय 23, श्लोक 5 तथा नागरी प्रचारिणी पत्रिका।

की यात्रा करने आया। ह्वाग च्याग के यात्रा वर्णन सी यू की को पढने से पता चलता है कि उस समय राजस्थान चार भागों मे बटा हुआ था। आधुनिक जोधपुर, बीकानेर और शेखावाटी का कुछ भाग गुजर प्रदेश कहलाता था। जयपुर, अलवर और टोंक का कुछ भाग वैराट के नाम से प्रसिद्ध था। आधुनिक भरतपुर, धौलपुर व करौली का इलाका मथुरा कहलाता था और दक्षिणी भाग बागड के नाम से प्रसिद्ध था।

आठवी शताब्दी के प्रथम चरण मे मुसलमानो का पहला आक्रमण भारत पर हुआ। आठवी शताब्दी से ग्यारहवी शताब्दी के बीच राजपूत जाति के कई वश[1] इस प्रदेश में आकर बस गये और उन वशो ने अपने स्वतन्त्र राज्य कायम कर लिए। यह राजवश अपने आपको वैदिककालीन क्षत्रियो की सतान मानते थे और प्रत्येक राजवश अपना उदय सूर्य अथवा चन्द्र से मानता था। उस समय से लेकर 1950 तक राजस्थान का अधिकाश भाग मुख्य रूप से सात राजवशो[2] के अधिकार में रहा है, यद्यपि समय-समय इन राज्यों की सीमाओ मे हेर फेर होता रहा है और मुगल काल मे 1570 के बाद 1707 ई० तक कई बार इस प्रदेश पर मुगल बादशाहो का सीधा अधिकार भी रहा है।

राजस्थान मे राजपूतों का आगमन

किन्तु प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यह राजपूत वश कहा से आकर राजस्थान मे बसे और इन्होने अपने निवास स्थान के लिये राजस्थान को ही क्यो चुना ? प्रथम प्रश्न का उत्तर तो यथास्थान परवर्ती पृष्ठो मे दिया जायेगा क्योकि प्रत्येक राजवश के मूल निवास स्थान के सम्बन्ध में आज तक विद्वान एकमत नही हैं। लेकिन दूसरे प्रश्न का उत्तर वर्तमान राजस्थान की भौगोलिक चर्चा करने से स्पष्ट हो जायगा।

वर्तमान राजस्थान का आकार एक पतग के समान है। यह २३° अश ३′ कला से 30 अश 12′ कला उत्तर अक्षाश और 69° अश 30′ कला से 78° अश

---

1 गहलोत, पड़िहार, चौहान, भाटी, परमार, सोलङ्की, नाग, यौधेय (जोहिया), तँवर, दहिया, डोडिया, गोड, यादव, कछवाहा और राठौड।

2 उदयपुर, डूंगरपुर, बासवाडा, प्रतापगढ़, शाहपुरा, मे गहलोत वश के शासक थे।

जोधपुर, बीकानेर व किशनगढ मे राठौर थे।
जयपुर और अलवर में कछवाहा वश के शासक थे।
बूंदी, कोटा, सिरोही चौहानों के अधिकार मे थे।
करौली और जैसलमेर क्रमश यादवो व भाटियो के अधिकार म थे।
झालावाड झालाओ के अधिकार मे था और दाता पवारो के।

भौगोलिक स्थिति

17 कला पूर्व देशांतर के बीच फैला हुआ है। इसके उत्तर और उत्तर पूर्व में पंजाब, उत्तर-पश्चिम मे पाकिस्तान का भावलपुर राज्य, पूर्व मे उत्तर प्रदेश और मध्यप्रदेश का ग्वालियर जिला तथा दक्षिण में मध्यप्रदेश तथा गुजरात हैं, पश्चिम में पाकिस्तान का सिंध प्रान्त है।

समस्त भूभाग अरावली पर्वतमाला के कारण दो भागों में बटा हुआ है। पश्चिमी भाग समतल है जिसमें 3/5 भूभाग आ जाता है। लेकिन इस प्रदेश में

अरावली पर्वतमालायें

आबादी दूर दूर है, और पानी की कमी के कारण उपजाऊ भूमि भी कम है। पूर्व का प्रदेश सजल और उपजाऊ है यद्यपि इसमें 2/5 भूभाग ही आता है। अरावली पहाड़ की लम्बाई 300 मील और ऊँचाई दो हजार फीट है। इसकी सबसे ऊंची चोटी आबू है जिसकी ऊंचाई समुद्र की सतह से 5650 फीट है। जयपुर और अलवर के राज्य इसी पर्वतमाला में बसे हुए हैं। इसी पर्वतमाला की एक शाखा भरतपुर की तरफ गई है। इसके दक्षिण में करौली की पहाड़ियां हैं। दक्षिण-पश्चिम में नीची पर्वत की कतारें हैं जो मांडलगढ़ (उदयपुर-मेवाड़) से शुरू होकर बूंदी में होती हुई इन्द्रगढ़ (कोटा) तक गई है। इन्हें बूंदी की पहाड़ियां कहते हैं। इनके अलावा मुकंदरा की पहाड़ियां कोटा के दक्षिण-पश्चिम में झालरापाटन तक फैली हुई हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि पूर्वी राजस्थान में छोटी २ पहाड़ियां बहुतायत में हैं। पश्चिमी भाग में भी पहाड़ियां हैं लेकिन यत्र–तत्र हैं; शृंखलाबद्ध नहीं हैं।

इन पहाड़ियों की चोटियो पर राजपूतों ने अपने गढ़ और गढ़ियां बना लीं।

पहाड़ों पर राजपूतों ने किले बना लिये

इन्हीं गढ़ों के इर्द-गिर्द बस्तियां बस गईं। कालान्तर में यह बस्तियां कस्बों और शहरों में परिवर्तित हो गई। इस प्रकार राजस्थान भी महाराष्ट्र के समान अपने सुदृढ़ दुर्गों के लिए प्रसिद्ध हो गया।

इन्हीं पर्वतमालाओं से अनेकों नदियों का उद्गम हुआ जो राजस्थान के भूभाग को सींचती है। उत्तर-पश्चिमी राजस्थान की मुख्य नदी लूणी है जो पुष्कर (अजमेर)

राजस्थान की प्रमुख नदियां

से निकलती है और मारवाड़ में बह कर कच्छ के रण में गिरती है। इस 320 मील लम्बी नदी की अनेक सहायक नदियां भी हैं जिनमें बांडी और सूकड़ी मुख्य हैं लेकिन यह सब बरसाती नदियां हैं जो गर्मी के मौसम में सूख जाती हैं। इनका पानी भी खारा है। इसी प्रकार पूर्वी राजस्थान की मुख्य चम्बल नदी की प्रमुख सहायक नदियां काली सिंध, पार्वती और बनास इन्हीं पर्वत–शृंखलाओं की ही देन है।

राजस्थान के जिन प्रदेशो मे नदिया हैं वहा के अभाव को दूर करने के लिए कर्मठ राजाओ ने कृत्रिम झीलें बना दी थी। यह झीलें बन्ध बाधकर बनाई गई और इनके बाधने मे पहाडो का सर्वथा प्रयोग किया गया। इस प्रकार की तीन झीलें भूतपूर्व उदयपुर राज्य मे मेवाड के महाराणाओ के द्वारा जयसमुद्र, राजसमुद्र व पिछोला के नाम से बनाई गई। अजमेर मे भी तीन झीले आनासागर, फाईसागर व पुष्कर के नाम से हैं और मारवाड व आम्बेर की सीमा पर साभर की प्रसिद्ध झील है जिसका घेरा वर्षा-काल म ८० मील तक हो जाता है। इन कृत्रिम झीलो के अलावा पानी की व्यवस्था लगभग प्रत्येक राज्य मे तालाब बनाकर भी की गई है।

झील और तालाब

पर्वतमालाओ के कारण राजस्थान मे खनिज पदार्थों का भी अभाव नही है। चादी, ताबा, लोहा, जस्ता, सीसा, अभ्रक और कोयले की खानें विभिन्न इलाको म पाई जाती हैं। मुल्तानी मिट्टी, इमारती पत्थर, छत ढकने की पट्टिया तथा नमक की खानें भी यत्र-तत्र पाई जाती हैं।[1]

राजस्थान के खनिज

पहाडो के आसपास घने जगल भी पाये जाते हैं जहा जगली और पालतू पशु[2] पाये जाते हैं। इन जगलो मे विभिन्न जाति के पेड पाये जाते हैं जिनमे इमारती और जलाने की लकडी[3] उपलब्ध हो जाती है। इसके अतिरिक्त अरावली पर्वत शृखलाओ के कारण पश्चिम का मरुस्थल पूर्व की ओर बढ नही सका जहा पर पवत समतल हो जाने के कारण पठार बन जाते हैं वहां की भूमि काली व

जगल

---

1. उदयपुर मे अभ्रक, चादी, लोहा, जस्ते आदि की खानें हैं। यह अलवर व जयपुर मे भी पाया जाता है। ताबा खेतडी (जयपुर) मे निकाला जाता है, सीसा अजमेर मे व कोयला पलाना (बीकानेर) मे निकाला जाता है। मुलतानी मिट्टी की खानें बाडमेर (जोधपुर) मे है और प्रसिद्ध इमारती पत्थर सगमरमर मकराने (जोधपुर) मे निकलता है। नमक साभर, डीडवाना, पचभदरा, लूणकरणसर व कनोड मे निकाला जाता है, इत्यादि २।

2 जगली जानवरों मे शेर, चीता, बघेरा, हिरण, सांभर, रीछ, जरख, सूअर और बन्दर। पालतू पशुओ मे ऊँट, घोडा, भैंस, गाय, बकरी, भेड, बैल, गदहा मिलते हैं। जोधपुर के घोडे, जैसलमेर व बीकानेर के ऊँट, नागौर के बैल देश भर मे प्रसिद्ध हैं।

3. शेजडा, पीपल, बड, नीम, फोग करेल, आम, अनार, रोहिड़ा एव तेंदू के पेड बहुतायत से पाये जाते हैं।

मिकनी है इसलिए वहां गन्ना, तिल, अफीम व कपास जैसी किरानी वस्तुएं सुगमता से पैदा होती हैं ।[1]

इस प्रकार अरावली पर्वत एवं इससे सम्बन्धित पर्वतमालायें राजस्थान के लिए सर्वथा लाभप्रद सिद्ध हुई हैं । मध्ययुग में जब यातायात के साधन नहीं थे तब इन पर्वतों को पार करना सुगम कार्य नहीं था । यह पर्वत राजस्थान के प्राकृतिक परकोटे का काम करते थे । यदि आज भी कोई व्यक्ति आगरा-भरतपुर से जयपुर मोटर द्वारा आता है तो उसे महुआ से लगभग ५-६ मील की दूरी पर पर्वतों की एक शृंखला परकोटे के समान दिखाई देती है । इन पर्वतों की चोटियों पर थोड़े २ फासले पर गढ़ियां दिखाई देती हैं जो स्पष्टतः इस देश के प्रहरियों ने सुरक्षा हेतु बनवाई होंगी । इसके अतिरिक्त इन्हीं पर्वतमालाओं के कारण राजस्थान के निवासी महाराष्ट्र के मराठों के सदृश कर्मठ और बहादुर बन सके । महाराष्ट्र के मराठों का इतिहास लिखने वाले आधुनिक सभी इतिहासकारों ने वहाँ की विशेष भौगोलिक स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है "पत्थारी भूभाग में अनाज कठिनाई से पैदा होता है । पहाड़ी प्रदेशों में रहने के कारण मराठे छापामार युद्ध-नीति में पारंगत बन सके इत्यादि २ ।" यदि यह कथन महाराष्ट्र के सम्बन्ध में सत्य है तो यह भी सत्य होना चाहिये कि राजस्थान की विशेष भौगोलिक स्थिति ने इस प्रदेश को विदेशियों के द्वारा बारम्बार रौंदे जाने से ही नहीं बचाया बल्कि बयाना, रणथम्भोर और चित्तौड़ के पहाड़ी दुर्गों में रहने वाले वीर राजपूत योद्धाओं को मराठों के समान कर्मठ बनाने में इन पर्वतों से कम योग नहीं मिला । इन्हीं पर्वतों की वजह से राजस्थान में आकर बसने वाले राजपूतों ने इसे सुरक्षित स्थान समझकर अपने निवास स्थान के लिये चुना ।

राजपूतों ने इसे सुरक्षित स्थान समझा

इन पर्वतों में जो खनिज पदार्थ एवं विभिन्न धातुएं प्राप्त हुईं उनका प्रयोग राजपूत राजाओं ने अपने लाभ के लिए किया । कर्नल टॉड के शब्दों में "अरावली और उसकी सहायक पर्वतमालाएं खनिज पदार्थों में मालदार हैं । जैसा कि मैंने मेवाड़ के एनल्स में लिखा है, इन खनिज पदार्थों के कारण ही (मेवाड़ का) यह राजघराना अपने से अधिक शक्तिशाली शत्रुओं का मुकाबला कर सका, अपनी सुरक्षा के लिए बड़े २ भवनों का निर्माण कर सका और परिणामस्वरूप पश्चिम में मेवाड़ शक्तिशाली राज्य बन गया ।"[2]

---

1. राजस्थान की मुख्य पैदावार गेहूं, जौ, बाजरा, मूंग, मोठ, चना, गवार, चावल, सरसों एवं तम्बाकू हैं ।

2. Annals & Antiquities of Rajasthan Tod, Vol. I. P. 10.

"The Arawali and its subordinate hills are rich both in minerals and metallic products; and as stated in the Annals of

राजस्थान के जिन प्रदेशो मे नदिया हैं वहां के अभाव को दूर करने के लिए कर्मठ राजाओं ने कृत्रिम झीलें बना दी थी। यह झीलें बन्ध बाधकर बनाई गई और इनके बाधने मे पहाडो का सर्वथा प्रयोग किया गया। इस प्रकार की तीन झीलें भूतपूर्व उदयपुर राज्य मे मेवाड के महाराणाओ के द्वारा जयसमुद्र, राजसमुद्र व पिछोला के नाम से बनाई गई। अजमेर मे भी तीन झीलें आनासागर, फाईसागर व पुष्कर के नाम से हैं और मारवाड व आम्बेर की सीमा पर साभर की प्रसिद्ध झील है जिसका घेरा वर्षा–काल मे ८० मील तक हो जाता है। इन कृत्रिम झीलो के अलावा पानी की व्यवस्था लगभग प्रत्येक राज्य मे तालाब बनाकर भी की गई है।

झील और तालाब

पर्वतमालाओं के कारण राजस्थान मे खनिज पदार्थो का भी अभाव नही है। चादी, ताबा, लोहा, जस्ता, सीसा, अभ्रक और कोयले की खानें विभिन्न इलाको मे पाई जाती हैं। मुल्तानी मिट्टी, इमारती पत्थर, छत ढकने की पट्टिया तथा नमक की खानें भी यत्र-तत्र पाई जाती हैं।[1]

राजस्थान के खनिज

पहाडो के आसपास घने जगल भी पाये जाते हैं जहा जगली और पालतू पशु[2] पाये जाते हैं। इन जगलो मे विभिन्न जाति के पेड पाये जाते हैं जिनमे इमारती और जलाने की लकडी[3] उपलब्ध हो जाती है। इसके अतिरिक्त अरावली पर्वत शृखलाओ के कारण पश्चिम का मरुस्थल पूर्व की ओर बढ नही सका जहा पर पर्वत समतल हो जाने के कारण पठार बन जाते हैं वहा की भूमि काली व

जंगल

1. उदयपुर मे अभ्रक, चादी, लोहा, जस्ते आदि की खानें हैं। यह अलवर व जयपुर मे भी पाया जाता है। ताबा खेतडी (जयपुर) मे निकाला जाता है, सीसा अजमेर मे व कोयला पलाना (बीकानेर) मे निकाला जाता है। मुलतानी मिट्टी की खानें बाडमेर (जोधपुर) मे हैं और प्रसिद्ध इमारती पत्थर सगमरमर मकराने (जोधपुर) मे निकलता है। नमक साभर, डीडवाना, पचभदरा, लूणकरणसर व कनोड मे निकाला जाता है, इत्यादि २।

2. जगली जानवरों मे शेर, चीता, बघेरा, हिरण, साभर, रीछ, जरख, सूअर और बन्दर। पालतू पशुओ मे ऊँट, घोडा, भैंस, गाय, बकरी, भेड, बैल, गदहा मिलते हैं। जोधपुर के घोडे, जैसलमेर व बीकानेर के ऊट, नागौर के बैल देश भर मे प्रसिद्ध हैं।

3. खेजडा, पीपल, बड, नीम, फोग करेल, आम, अनार, रोहिडा एव तेंदू के पेड़ बहुतायत से पाये जाते हैं।

> भौगोलिक स्थिति का राजस्थान के इतिहास पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

प्रत्येक देश की भौगोलिक स्थिति वहाँ के इतिहास को अवश्य प्रभावित करती है। राजस्थान इसमें अपवाद नहीं है। यहाँ की विशेष भौगोलिक स्थिति ने इस प्रदेश के इतिहास को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है। दुर्गम पहाड़ों पर बने गढ़[1] राजस्थान की आक्रमणकारियों के विरुद्ध सत्रहवीं शताब्दी तक निरन्तर रूप से रक्षा करते रहे हैं। यहाँ के दुर्गम मार्ग आक्रमणकारियों को इस प्रदेश की ओर बढ़ने में सर्वथा हतोत्साहित करते रहे हैं। यहाँ की स्वास्थ्यवर्धक जलवायु ने राजस्थान के निवासियों को बहादुर बनाया है और इस प्रदेश में प्राप्य खनिज पदार्थों एवं वस्तुओं ने यहां के बहादुरों को आत्म-निर्भर बनाया। यह कुछ ऐसे कारण हैं जिनकी वजह से अकबर के पहले भारत की किसी भी सत्ता ने राजस्थान को स्थायी रूप से अपने अधिकार में करने का सफल प्रयत्न नहीं किया। अलाउदीन खिलजी और शेरशाह सूरी ने इस दिशा में प्रयत्न किये थे लेकिन उनकी मृत्यु के साथ उनका प्रभाव भी समाप्त हो गया। अकबर के उत्तराधिकारियों को भी राजस्थान में लोहे के चने चबाने पड़े थे जिसका वर्णन यथास्थान पाठकों को आगे के पृष्ठों में मिल जायेगा।

BIBLIOGRAPHY

1. James Tod : Annals and Antiquities of Rajasthan, vol. I.
2. Shamsul Ghani Khan : Influence of Geography of India on its History.
3. जगदीशसिंह गहलोत : राजपूताने का इतिहास—प्रथम भाग।

---

1. बयाना, रणथम्भौर, गागरोन, चित्तौड़, कुम्भलगढ़, सिवाना, जालौर, नागौर, मेड़ता, जोधपुर, अजमेर आदि के दुर्ग इस प्रदेश की रक्षा करते रहे हैं।
(Dr. V. S. Bhargawa : Forts of Rajasthan.)

पश्चिमी राजस्थान का मरुस्थल विशेष रूप से इस देश की सभ्यता और संस्कृति की वर्षों से सुरक्षा करता रहा है। जनवरी 1544 से जिस समय सुल्तान शेरशाह मारवाड के शासक मालदेव पर आक्रमण करने आया उस समय उसने कितनी अधिक सतर्कता से काम लिया था इसका विश्वसनीय वर्णन पाठको को प्रस्तुत लेखक के अनुसधान ग्रथ "मारवाड एव मुगल सम्राट्" मे मिल जायगा।[1] उसे यहा पर दोहराने की आवश्यकता नही है। केवल इतना लिखना ही पर्याप्त है कि विजय के बाद भी शेरशाह ने कहा "एक मुट्ठी बाजरे के लिए मैने हिन्दुस्तान की बादशाहत खो दी होती।"

शेरशाह मारवाड के पीछे हिन्दुस्तान की बादशाहत खो देता !

वर्तमान काल मे मारवाडी व्यापारी आपको भारत के कोने कोने मे मिल जायेंगे। इन सम्पन्निशाली सेठो की हवेलिया आज भी आपको मारवाड, बीकानेर और शेखावाटी मे मिल जायेंगी, जहा यह लोग समय समय पर आकर कुछ समय के लिए रहते हैं। पश्चिमी राजस्थान में पानी का अभाव है, प्रत्येक मकान मे पीने के लिए कुड बनाने पडते हैं फिर भी आसाम बगाल और भारत के अन्य सर सब्ज भागो मे रहने वाले मारवाडी व्यापारी अपनी हवेलियाँ चूरू, रतनगढ, सुजानगढ, चिडावा म क्यो बनाते हैं ? इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि इन लोगो को अपने घर (Sweet House) से मोह हो। दूसरा कारण हो सकता है कि यहा यह लोग अपनी सम्पत्ति को मरुस्थल मे अधिक सुरक्षित समझते हैं। लेकिन सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण यह है कि राजस्थान का जलवायु, विशेषत पश्चिमी राजस्थान का खुश्क (Dry) होते हुए भी स्वास्थ्यवर्धक है।

मारवाड के मालदार सेठों की बडी-बडी हवेलियाँ यहीं पर क्यों हैं ?

इस खुश्क जलवायु का प्रभाव यहाँ के निवासियो के शारीरिक गठन एव रहन-सहन पर पर्याप्त रूप से पडता है। इस प्रदेश के निवासी पूर्वी राजस्थान के निवासियो की अपेक्षा अधिक लम्बे एव हृष्ट-पुष्ट होते हैं। स्वास्थ्य लाभ की इच्छा प्रत्येक मानव को होती है, मारवाडी का स्वास्थ्य लाभ (Hill Station) की अपेक्षा मरुभूमि मे अधिक अच्छा होता है इसलिए वह सफर की सभी कठिनाइयाँ सहन करके मरुभूमि मे आकर कुछ दिन व्यतीत अवश्य करता है।

Mewar, to the latter above can b- attributed the resources which enabled this family so long to struggle against superior powers, and to raise those magnificent structures which would do honour to the most potent kingdoms of the west"

1 Dr. V S Bhargawa Marwar and Mughal Emperors and Sher Shah and Maldeo, Published in Raj University Studies (Arts 62-63)

भरतपुर के ठाकुर चूरामन जाट

2
राजपूतों की उत्पत्ति
(ORIGIN OF RAJPUTS)

डा० स्मिथ का यह कथन कि "राजपूत जाति आठवीं या नवीं शताब्दी में यकायक प्रकट हुई" सर्वथा सत्य नहीं है क्योंकि सातवीं शताब्दी में भी राजस्थान में गुहिल, चावडा व यादववंशी राजपूतों के राज्य थे। लेकिन उस समय "राजपूत" शब्द का प्रयोग किसी जाति के रूप में नहीं किया जाता था।[1] मुसलमानों के भारत में आगमन से पूर्व यहाँ के राजा क्षत्रिय ही कहलाते थे।[2]

> मुसलमानों के आक्रमण से पूर्व राजपूत शब्द का प्रयोग प्रचलित नहीं था।

मुसलमानों के आक्रमण के पश्चात् यह राजा राजपुत्र अथवा राजपूत कह कर पुकारे जाने लगे। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं है कि राजपूत शब्द की उत्पत्ति विदेशी भाषा से है। राजपूत शब्द अरबी अथवा फारसी भाषा से उत्पन्न नहीं हुआ है। यह संस्कृत शब्द राजपुत्र से निकाला हो सकता है क्योंकि मुसलमानों ने उस बहादुर जाति को सम्बोधित करने के लिये राजपूत शब्द का प्रयोग किया, जिसका उनके साथ सीधा और घनिष्ट सम्बन्ध हुआ था। चौदहवीं शताब्दी के बाद इस शब्द का प्रयोग राजपूत जाति के रूप में किया जाने लगा।

> राजपूत शब्द संस्कृत के राजपुत्र शब्द से निकला है।

कुछ स्वदेशी एवं विदेशी विद्वानों का यह कथन भी भ्रान्तिपूर्ण है कि राजपूत

---

1 Buddhist Recerds of the Western World, vol II, P 256 के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि सातवीं शताब्दी के अन्त तक राजपूत शब्द के रूप में नहीं होता था। जैन ग्रन्थों में भी राजपूत शब्द नहीं पाया जाता। पृथ्वीराज रासो में भी राजपूत शब्द जातिवाचक नहीं, किन्तु योद्धा के रूप में प्रयुक्त किया गया है।

"राजपूत टूट पचासन जीत समर सेना धनिय"

"लग्यो सुजाय रजपूत सीस"

'बुड गई सारी रजपूती"

नैणसी ने भी अपनी ख्यात में राजपूत शब्द का प्रयोग एक से अधिक अर्थ में किया है।

2 राजपूताने का इतिहास—गहलोत, भाग I पृ० 8

Dr. Qanungo Studies in Rajput History, Page 96

शक अथवा सिथियन जाति के वंशधर हैं।[1] सूर्य की पूजा केवल शक और सिथियन जाति के लोग ही नहीं वल्कि वैदिक काल के आर्य भी करते थे। सती होने का रिवाज शकों के भारत में आने से पहले भी था। अश्वमेध यज्ञ केवल विदेशियों की ही देन नहीं है, यह वैदिक काल में भी होता था।[2] शस्त्रों एवं घोड़ों की पूजा वैदिककालीन क्षत्रिय भी करते थे, अत. कर्नल टॉड का राजपूतों को विदेशी सन्तान कह कर पुकारना सत्य नहीं है। इसके विपरीत राजपूतों और वैदिक-कालीन क्षत्रियों में रीति-रस्म की समानता यह सिद्ध करती है कि राजपूत प्राचीन आर्य क्षत्रियों की सन्तान हैं।[3] आधुनिक राजपूतों की प्रथायें, आचार, आदतें जाति, शास्त्रीय-स्वरूप (एथनोलोजी) यह बतलाती है कि वे प्रारूमिकतया आर्य हैं इसलिये विदेशी जातियों के वंशज नहीं हो सकते। बीकानेर, उदयपुर, जयपुर और जैसलमेर के वर्तमान राज-परिवार अपना सम्वन्ध वैदिककालीन सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी क्षत्रियों से मानते चले आये हैं। यद्यपि सूर्य-वंश और चन्द्र वंश से उत्पन्न होने की अनुश्रुति को महत्व देना युक्तिसंगत प्रतीत नही होता, लेकिन यह भी सम्भव नही है कि शताब्दियों से मानी जाने वाली परम्परा को सिर्फ इसलिये गलत मान लिया जाय कि कतिपय राजपूत परिवारों का रहन-सहन शक और सिथियन जाति के लोगों के समान है।

> राजपूत विदेशियों की सन्तान नहीं हैं।

राजस्थान के भाटों ने अपनी गाथाओं में क्षत्रियों की उत्पत्ति का जो वर्णन किया है उससे भी यही सिद्ध होता है कि वर्तमान राजपूत परिवारों का सीधा सम्वन्ध वैदिककालीन क्षत्रिय-राज-परिवारों से था। चन्द्र वरदाई ने अपने सुप्रसिद्ध काव्य "पृथ्वीराज रासो" में क्षत्रियों की उत्पत्ति अग्नि कुल से बतलाई है। उसने लिखा है "जव विश्वामित्र, गौतम, अगस्त तथा अन्य ऋषि आबू पर्वत पर धार्मिक अनुष्ठान कर रहे थे उस समय दैत्यों ने गोश्त, खून, हड्डियाँ तथा पेशाव डालकर उनके यज्ञ को अपवित्र कर दिया। उस समय वशिष्ट ने यज्ञ कुण्ड की रक्षार्थ उसी कुण्ड से तीन योद्धा उत्पन्न किये (प्रतिहार, चालुक्य और परमार) लेकिन जव यह तीनों रक्षा करने में असमर्थ सिद्ध हुये तो चौथा योद्धा उत्पन्न किया जो हट्ठा-कट्ठा और हथियार

> चन्द्र वरदाई ने राजपूतों की उत्पत्ति अग्नि कुण्ड से वतलाई है।

---

1. Tod : Annals & Antiquities of Rajasthan vol. I. P. 29.

2 महाभारत में स्पष्ट लिखा है कि पाण्डु की दूसरी रानी माद्री सती हुई थी—युधिष्ठिर ने अश्वमेध यज्ञ किया था। देखिये महाभारत—

अश्व श्लोक अध्याय 17.

3 डा० वैद्य तथा गौरीशंकर हीराचन्द ओझा इस मत के समर्थक हैं।

पृथ्वीराज चौहान
1800 ई० के लगभग बने चित्र का फोटोग्राफ
(कुमार संग्रामसिंह जी नवलगढ़ के संग्रह से)
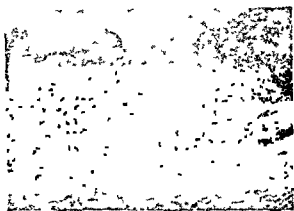
Gora Badal Palace, Chittorgarh.

क्षत्रियों की अग्नि से उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए विलियम क्रूक नामक एक विदेशी विद्वान ने लिखा है—"अग्नि कुल से तात्पर्य अग्नि के द्वारा शुद्धि से है कि जो दक्षिणी राजस्थान में सम्पन्न किया गया था। इन हवन कुण्ड के द्वारा क्षत्रियों को शुद्ध किया गया ताकि वे पुनः हिन्दू जाति व्यवस्था में प्रविष्ट हो सकें।"[1]

डा० दशरथ शर्मा का विचार है कि क्षत्रियों की अग्निकुण्ड से उत्पत्ति का सिद्धांत पन्द्रहवीं शताब्दी से अधिक पुराना नहीं है और इसे पुरातन सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। ऐसे लोगों ने अग्निकुण्ड से उत्पन्न हुई जातियों के प्राचीन सिक्कों की सूचना को ही नजर-अन्दाज किया है। इन राजपूतों को मंडोर के तथाकथित प्रतिहार ब्राह्मणों का वंशज बतलाया गया है। प्रतिहारों का पूर्वज ब्राह्मण हरिश्चन्द्र तथा उसकी क्षत्रिय पत्नि मादरा की सन्तान था। इसी प्रकार परमार आबू प्रदेश में रहने वाले वशिष्ट नामक ब्राह्मण के वंशज हैं और चौहान भी वत्स गोत्र के ब्राह्मणों की सन्तान हैं। स्वर्गीय डा० डी० आर० भण्डारकर प्रथम विद्वान थे जिन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि चौहानों की उत्पत्ति विदेशी जातियों के किसी विदेशी पुरोहित से हुई है। लेकिन उनके इस कथन में केवल आंशिक सत्य ही है। ऐसा भी होता था कि राजपूत लोग अपने पुरोहित के गोत्र को अपना लेते थे। अतः केवल गोत्राचार के आधार पर चौहानों की ब्राह्मणों से उत्पत्ति बताना पूर्ण ऐतिहासिक सत्य नहीं है।

निष्कर्ष

अतः यही निष्कर्ष निकलता है कि अग्निवंशीय क्षत्रियों की गाथा पृथ्वीराज रासो के लेखक के दिमाग की उपज है, अग्निवंश कोई स्वतन्त्र वंश नहीं था। "राजपूतों की किसी भी रूप में उत्पत्ति हुई हो हो,लेकिन यह सत्य है[2] कि ऐतिहासिक युग में इन लोगों ने महाकाव्य काल के क्षत्रियों

1. The Agnikuls represents a rite of pungation by fire, the Scence of which was the southern Rajputana whereby the impurity of the foreignere was removed and became fitted to enter the Hindu Caste System.

2. Whatever might have been their origin, the Rajputs only have in historical times maintained the social and political tradition of the Khatriyas of the age of the Epics. Divine varriors might not spring up from the sacrificial fire pit on the Mount Abu or the Bank of the Pushkar lake; Solar and Lunar origin might be a fiction, individuality and a vital face in moulding the Indian society which has been in the melting pot more than once since the time of Epics down our own times for periodical re-adjustment." (Dr. K. R. Qanungo : Studies in Rajput History.)

हाथ में लिये प्रकट था। इसका नाम ऋषियों ने चौहान रखा। इस योद्धा ने आशा-पुरी को अपनी देवी मानकर दैत्यों को मार भगाया।"[1] परवर्ती चारण और भाटों[2] ने क्षत्रियों की इस उत्पत्ति को सत्य मानकर अपने ग्रंथों में कुछ अन्तर के साथ दोहराया है।

इतिहास का कोई भी विद्यार्थी आधुनिक काल में यह मानने को एकाएक तैयार नहीं होगा कि अग्नि से भी मनुष्य रूपी योद्धा उत्पन्न हो सकते हैं, लेकिन इसे वह लोग आश्चर्य नहीं मान सकते जो क्षत्रियों की उत्पत्ति चन्द्र अथवा सूर्य से मानते हैं।[3] रामायण को पढ़ने से प्रकट होता है कि जब महर्षि वशिष्ट की कामधेनु गाय को विश्वामित्र ने छीन लिया था तो वशिष्ट ने परमार नामक योद्धा को उत्पन्न करने तथा उसे वापस लाने का आदेश दिया। चारण और भाटों ने अपने आश्रयदाताओं को उच्च कुल का सिद्ध करने के उद्देश्य से उनकी उत्पत्ति दैविक बतलाने का जो प्रयास किया था उसमें ऐतिहासिक तथ्य हो लेकिन इन किवदंतियों को राजपूत लोग शताब्दियों से सत्य मानते चले आये हैं।

क्षत्रियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो किवदंतियाँ प्रचलित हैं वह स्वयं एक दूसरे की विरोधी हैं तथा इन किवदंतियों की पुष्टि में जो प्रमाण दिये गये वे न तो स्पष्ट हैं और न उन्हें एकाएक ऐतिहासिक ही माना जा सकता है। उदाहरण के लिए रतनपाल की सेवाड़ी प्लेट में क्षत्रियों की उत्पत्ति को पढ़ने से यही प्रकट नहीं होता कि "प्राचीधिपति" शब्द का प्रयोग इन्द्र के पर्यायवाची शब्द के रूप में किया गया है।

राजपूतों की उत्पत्ति दैविक भी बतलाई गई है।

क्षत्रियों की चन्द्र से उत्पत्ति विक्रमी सं० 1377 से पहले कहीं-कहीं बतलाई गई। इसी प्रकार से सूर्य से उत्पत्ति का सिद्धांत भी बारहवीं शताब्दी के मध्य से अधिक पुराना नहीं है। अतएव इन तीनों ही किवदंतियों को यदि सम्मिलित रूप से भी क्षत्रियों की उत्पत्ति का आधार मान लिया जाय तो भी यह कहना सम्भव नहीं होगा कि चौहानों अथवा अन्य दूसरी शाखाओं का वैदिककालीन क्षत्रियों से सीधा सम्बन्ध था।

अग्निकुंड से उत्पत्ति के सिद्धांत की जांच

---

1 पृथ्वीराज रासो, भाग प्रथम, पृ० 45-57.

2. देखिये नैणसी, जोधाराज का 'हम्मीर रासो,' सूर्य्यमल्ल का 'वंश भास्कर' तथा 'मैनपुरी के चौहानों के इतिहास'।

3. पृथ्वीराज विजय, चौहान प्रशस्ति, पृथ्वीराज तृतीय का बेदला शिलालेख एवं हम्मीर महाकाव्य में चौहान क्षत्रियों को सूर्य से तथा चौहानों के गोत्राचार में उनकी उत्पत्ति चन्द्र से बतलाई है।

3
राजस्थान का इतिहास जानने के साधन
(Sources of Rajasthan History)

यदि इतिहास वास्तव में सत्य का प्रकाश और जीवन का शिक्षक है तो किसी भी देश और जाति का सच्चा इतिहास लिखने में वड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। सामग्री का संग्रह करना एक बहुत वड़ी समस्या होती है क्योंकि वह कई जगह बिखरी हुई मिलती है। उसकी खोज करना एवं एकत्रित करना परिश्रम एवं लग्न का कार्य है जो साधारण व्यक्ति नहीं कर सकता।

राजस्थान का इतिहास लिखने वाले विद्वानों को इन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। परम्परा से चली आने वाली दन्त-कथाओं ने ऐसा घर कर लिया है कि इन लम्बी–चौड़ी दन्त-कथाओं में सार निकालना आवश्यक होते हुये भी असम्भव बन गया है। इसके अतिरिक्त राजस्थान के इतिहास में राजाओं के व्यक्तिगत जीवन एवं उनके सुयश के अतिरिक्त सामाजिक और धार्मिक वृत्तान्त के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त नहीं होती। लेकिन सबसे वड़ी समस्या तो यह है कि जिन लोगों के पास पुराने रिकार्ड पड़े सड़ रहे हैं वे लोग न उनका उपयोग करते हैं (चूंकि वे उसके बारे में जानते ही नहीं हैं) और न उसे दूसरों को दिखाना ही पसन्द करते हैं। इतिहास की बहुत सी सामग्री तो आक्रमणकारियों द्वारा नष्ट की जा चुकी लेकिन जो कुछ बची हुई सामग्री शेष है उसकी उपलब्धि इतनी कठिन है कि बहुत से अनुसन्धान-छात्रों को तो बीच ही में अपना अनुसंधान कार्य समाप्त करना पड़ता है।

> राजस्थान के इतिहास के लिए सामग्री एकत्रित करना कठिन कार्य है।

मुसलमानों के आक्रमण से पूर्व के राजस्थान का इतिहास निम्नलिखित आधारों पर लिखा जा सकता है:—

(a) शिलालेख (b) सिक्के (c) स्मारक (d) ऐतिहासिक महाकाव्य (e) रासो (f) हिन्दी और राजस्थानी साहित्य (g) जैन पट्टावली तथा (h) मुस्लिम तवारीखें।

अधिकांश शिलालेख समय-समय पर विद्वानों के द्वारा संगृहीत करके छापे जा चुके हैं। यह शिलालेख निम्नलिखित ग्रन्थों में मिल सकते हैं:—

1. Inscription of Northern India by Dr. D. R. Bhandaker.
2. Jain Inscriptions by P. C. Nahar.

की सामाजिक एव आर्थिक परम्पराओ को बनाए रक्खा। आबू के अग्निकुण्ड अथवा पुष्कर से दैविक योद्धा उत्पन्न होना सम्भव नहीं, उनकी सूर्य अथवा चन्द्र से उत्पत्ति एक काल्पनिक सत्य हो सकता है लेकिन उनका व्यक्तित्व अस्त व्यस्त भारतीय समाज को सुरक्षित रखने मे सफल सिद्ध अवश्य हुआ।"

BIBLIOGRAPHY

1 टॉड एनाल्स एड एन्टीक्वटीज आफ राजस्थान भाग प्रथम
2 जगदीशसिंह गहलोत राजपूताने का इतिहास भाग प्रथम
3 Dr DASHARATH SHARMA Early Chauhan Dynasties
4 Dr K R QANUNGO Studies in Rajput History
5 Dr C V VAIDYA History of Early Mediaeval India

(c) E. J. Rapson ने 1897 में Indian Coins नामक पुस्तक प्रकाशित कराई थी।

(d) Dr. A.V. Smith की Catalogue of the Coins in the Indian Museum, Calcutta में भी प्राचीन सिक्कों का जिक्र है। यह पुस्तक 1906 में प्रकाशित हुई थी।

(e) W.W. Webb की The Currencies of the Hindu States of Rajputana.

भारत में मुसलमानों के आने से पहले चौहान प्रमुत्व में थे। उनके समय के बनाये हुये स्मारकों का वर्णन हमें Archealogical Survey Reports, Percy Brown के Architecture और James Tod की Annals & Antiquities of Rajasthan में मिल सकता है।

यद्यपि प्राचीन भारत में आधुनिक दृष्टिकोण को लेकर इतिहास नहीं लिखा जाता था लेकिन फिर भी जो ऐतिहासिक महाकाव्य प्राप्त हुये हैं, उसके आधार पर विद्वान प्राचीन काल का इतिहास लिख पाये हैं। जयरथ नाम के एक काशमीरी ने 1200 ई० के लगभग पृथ्वीराज (तृतीय) विजय नामक महाकाव्य लिखा। इसको पढ़ने से जाहिर होता है कि पृथ्वीराज तृतीय मलेच्छों (मुसलमानों) को नष्ट करना चाहता था। सपाल दक्ष के चौहान शासकों के इतिहास जानने में इस महाकाव्य से पर्याप्त सहायता मिली है। इस प्रकार न्याय-चंद सूरी के हम्मीर महाकाव्य के आधार पर रणथम्भोर के चौहानों का इतिहास लिखने में सहायता मिली है। यह महाकाव्य हम्मीर की मृत्यु के लगभग 100 वर्ष बाद लिखा गया था। इसी तरह अकबर महान् के शासन काल में चन्द्रशेखर रचित सुरजनचरित्र महाकाव्य से रणथम्भोर के राव सुरजन के बारे में काफी सूचना प्राप्त होती है। पद्मनाभ का कान्हड़दे प्रबन्ध विक्रम सं० 1512 के लगभग लिखा गया था। इसमें अलाउद्दीन खिलजी की जालोर के समकालीन चौहान शासक कान्हड़दे पर विजय वर्णन है। यह ग्रन्थ अब राजस्थान पुरातत्व मंदिर, जोधपुर के द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है।

ऐतिहासिक महाकाव्य भी इतिहास के साधन हैं।

उपरोक्त ऐतिहासिक महाकाव्य चोहान शासकों के संरक्षण में उनकी कीर्ति का बखान करने के उद्देश्य से लिखे गये थे। इनमें केवल चौहानों की कीर्ति ही पढ़ने को मिलेगी। इनके अतिरिक्त कतिपय "रासो" भी उपलब्ध हैं जिनको पढ़कर प्राचीन राजपूत राजाओं का इतिहास जाना जा सकता है। स्वर्गीय डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा को 'वीसलदेवरासो' की प्रति मिली थी। उन्होंने उसका रचना काल 1215 ई० के लगभग निश्चित किया। डा०दशरथ इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि इस रासो में जिन घटनाओं का वर्णन किया गया है वे अधिकांश कल्पित है और उनके आधार पर Sober History नहीं लिखी जा सकती। 'राजस्थान भारती' नामक पत्रिका के तृतीय अङ्क में इस रासो के सम्बन्ध में एक लेख प्रकाशित किया गया था। उसको पढ़ने से प्रकट

3 Prachina Jain Lekh Sangraha by Muni Jinavijayaji.
4. *Archaeological Survey Reports of India*
5 Epigraphia Indica
6 Indian Antiquary
7 Bhavnagar Inscriptions
8 Corpur Inscriptions

कतिपय शिलालेख ऐसे भी हैं जो महत्वपूर्ण और विवादास्पद विषयों पर भी प्रकाश डालते हैं उदाहरण के लिए बिजोलिया म प्राप्त शिलालेख । इस शिलालेख को चौहानों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बड़े प्रसिद्ध इतिहासकार प्रयोग में ले चुके हैं। 'वीर विनोद' के लेखक कविराज श्यामलदास ने इसी शिलालेख के अनुसार (विप्रः श्रीवत्सगोत्रे भूत्), जिसे डा० भण्डारकर ने सही रूप म पढ़ा (विप्र श्री वत्सगोत्रे भत्), चौहानों की उत्पत्ति ब्राह्मणों से मानी है। इसी शिलालेख का स्वर्गीय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा तथा डा० दशरथ शर्मा ने चौहानों की ब्राह्मणों से उत्पत्ति बताने में प्रयोग किया है। इसी प्रकार सूडा शिलालेख जालौर के चौहानों की, और अचलेश्वर शिलालेख चन्द्रावती के चौहानों की ब्राह्मणों से उत्पत्ति बताते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि विषयों के अतिरिक्त शिलालेख ऐसी भी सूचना देते हैं जो अन्य क्षेत्रों में महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सूचना देने में सहायक सिद्ध हुये हैं।

प्राचीन शिलालेखों के आधार पर राज्य का इतिहास लिखा गया है।

शिलालेख अत्यन्त विश्वसनीय साधन माने जाते हैं लेकिन सिक्कों का भी महत्व कुछ कम नहीं है। सिक्कों की सहायता से भी तिथियाँ सही की जाती हैं। राजस्थान में दो स्थानों से प्राचीन सिक्के काफी अधिक संख्या में उपलब्ध हुए हैं। बांसवाड़ा में स्थित सरवानिया नामक ग्राम से क्षत्रियों के सिक्के प्राप्त हुये और बयाना से गुप्त शासकों के सिक्के प्राप्त हुए। जिस प्रकार विद्वानों ने प्राप्य शिलालेखों को संगृहीत करके छपवा दिया उसी प्रकार सिक्कों के सम्बन्ध में भी आवश्यक सूचना पुस्तकों में छपवाई जा चुकी है।

सिक्कों से इतिहास ज्ञात होता है।

(a) Thomas के द्वारा लिखित The Chronicles of the Pathan Kings of Delhi म, जो 1871 म प्रकाशित हुई थी, चौहान शासकों के सिक्कों का जिक्र है।

(b) Cunningham की Coins of Mediaval India में भी चौहान शासकों के सिक्कों का हवाला है। यह पुस्तक 1894 में प्रकाशित हुई थी।

Old Palaces at Mandor

The Fort from Gulab Sagar tank, Jodhpur.

होता है कि वीसलदेव रासो की सबसे प्राचीन प्रतिलिपि वि०स० 1633 की प्राप्त हुई है अतएव इसे तेरहवी शताब्दी का ग्रन्थ नही माना जा सकता है।

पृथ्वीराज रासो सुविख्यात रासो है। इस रासो की चार प्रतियाँ मिलती हैं। सबसे बडी प्रति मे 40,000 श्लोक हैं जिसे नागरी-प्रचारिणी सभा, बनारस ने प्रकाशित भी कर दिया है। अधिकाश विद्वानो ने इतिहास लिखते समय इसी प्रकाशित प्रति का प्रयोग किया है। इसी वजह से कई ऐतिहासिक घटनाओ का भ्रातिपूर्ण प्रचार हो गया। दूसरी प्रति मे 10,000 श्लोक हैं, जिसे राजस्थान विद्यापीठ उदयपुर ने प्रकाशित किया है। तीसरी प्रति मे केवल 4,000 श्लोक हैं और चौथी प्रति मे केवल 1500 श्लोक है जिसके कुछ भाग को प्रोफेसर नरोत्तमदासजी स्वामी ने राजस्थान-भारती के लिए सम्पादित भी किया है। डा० माताप्रसाद गुप्त का लेख "पृथ्वीराज रासो के तीन पाठो का आकार सम्बन्ध" (अनुशीलन, वर्ष 7 अङ्क 4 मे प्रकाशित) स्पष्ट कहता है कि यह सोचना सर्वथा सत्य नही है कि पृथ्वीराज रासो की जिस प्रति मे केवल 1500 श्लोक मिले हैं वह प्रति 40,000 श्लोको वाले रासो की सूक्ष्म प्रति है। अब यह भी निश्चित हो चुका है कि रासो की मूल भाषा अपभ्रंश थी, क्योकि यह लोकप्रिय ग्रन्थ था और जन साधारण की जुबान पर था इसलिए इसकी भाषा और रूप मे समय के साथ-साथ परिवर्तन आ गये। इस ग्रन्थ का ऐतिहासिकाल निर्धारण के उद्देश्य से डॉ० दशरथ शर्मा ने लगभग एक दर्जन लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे लिखे हैं। डा० शर्मा ने पृथ्वीराज रासो मे वर्णित सयोगिता की रोमाचकारी कहानी को सत्य माना है। अत. उनका ख्याल है कि इस रासो मे वर्णित अन्य घटनाए भी सत्य हो सकती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि पृथ्वीराज रासो उन लोकप्रिय ग्रंथो मे से एक है जो कथाओ का जन्मदाता होने के साथ-साथ ऐतिहासिक सूचना भी देता है।

पृथ्वीराज रासो की ऐतिहासिकता

हिन्दी और राजस्थानी साहित्य मे अब तक चार ग्रथ उपलब्ध हो सके हैं। प्रथम ग्रन्थ हम्मीरदेव चौपाई है जिसे 1781 ई० के लगभग Bhandan Vyjasa ने लिखा था। दूसरा ग्रन्थ हम्मीर रासो है जिसे जोधराज ने वि० स० 1885 के आस पास लिखा था। तीसरा ग्रन्थ हम्मीरहठ है जिस चन्द्रशेखर ने वि०स० 1902 मे लिखा और चौथा ग्रन्थ राजरूप द्वारा 1798 विक्रमी मे लिखित 'हम्मीर रा छाडा' है। इन सब ग्रथो मे रणथम्भोर के हम्मीर की यश-कीर्ति का वर्णन मिलता है अतएव इनका ऐतिहासिक महत्व सीमित है।

जैन पट्टावलियो मे भी राजस्थान के भूतपूर्व राजपूत राजाओ का ऐतिहासिक विवरण पढ़ने को मिलता है। इनमे से कतिपय पट्टावलियो को प्रकाशित भी किया जा चुका है।

चौहानों को पराजित करके मुसलमानों ने अपना राज्य उत्तर-भारत
कायम किया। मुसलमानों का ऐतिहासिक वर्णन उनकी तवारीखों में किया गया

फारसी की तवारीखें

ऐसी तवारीखों में से हसन निजामी द्वा
लिखित ताजुल-मासीर एक महत्वपूर्ण
है जो समकालीन लेखक के द्वारा लिखा ग
है। अजमेर और दिल्ली के शासक पृथ्वीराज तृतीय के अन्तिम दिनों का ऐति
सिक वर्णन इस ग्रंथ में पर्याप्त मात्रा मे मिलता है।

इसी प्रकार मुहम्मद ऊफी की 'जमीउल हकीकत' में तराइन के संग्राम
ऐतिहासिक वर्णन मिलता है यह ग्रन्थ 1211 ई० के लगभग संकलित किया गया

मिनहाज सिराज की 'तबकाते नासिरी' भी उन महत्वपूर्ण ग्रन्थों में से ए
जो समकालीन होने के नाते ग्यारहवीं तथा बारहवीं शताब्दी के ऐतिहासिक विव
का आधार माना गया है

'तारीखे मुबारक' शाही पन्द्रहवी शताब्दी में लिखी गई थी लेकिन इस ग्रन
मुहम्मद गौरी और कुतुबुद्दीन की विजयों का विश्वसनीय वर्णन पढ़ने को मिलता

अनुसंधान करने वाले छात्र को इन सभी साधनों का प्रयोग करना पड़ता
पृथ्वीराज तृतीय की तराइन के युद्ध में पराजय के पश्चात् भारत में मुस्लिम र
स्थापित हो गया। चौदहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में मुसलमानों ने उत्तर
दक्षिण भारत को अपने अधिकार में कर लिया था। चूँकि राजस्थान दिल्ल
अधिक दूर नहीं है और इसकी भौगोलिक स्थिति भी ऐसी है जो दिल्ली, गुज
मालवा व दक्षिण के बीच में स्थित होने के कारण आकांक्षावादी सुल्तानों को
का कांटा बन गया, अतएव राजस्थान का मुस्लिम राज्य के साथ सीधा सम्बन्ध र
अतएव मुस्लिम तवारीखों में राजस्थान का प्रसंग वश वर्णन मिलता है।
अलावा राजपूत राजाओं के आश्रय में रहने वाले चारणों और भाटों की कृतियों
केंद्रस्थल राजस्थान ही रहा है। अतः जैन ग्रन्थों—प्रशास्तियों तथा गुटकों में भी
स्थान का इतिहास छिपा पड़ा है। संस्कृत भाषा में भी कई ग्रंथ लिख गये
मुस्लिमकालीन राजस्थान का इतिहास शिलालेखों और स्मारकों द्वारा भी जाना
सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि बारहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्
बीच के काल का राजस्थान इतिहास 1. फारसी तवारीखों, 2. राजस्थानी सा
एवं ख्यातों, 3. संस्कृत ग्रंथों 4. जैन भण्डारों में संगृहीत ग्रन्थों और 5. शिला
तथा स्मारकों के आधार पर लिखा जा सकता है।

अध्ययन की सुविधा के दृष्टि से भारत में मुस्लिम शासन काल को दो

Fort of Ranthambhor

है। बाबर के उत्तराधिकारी हुमायूँ की बहिन गुलबदन बेगम ने अपने ग्रन्थ हुमायूं-नामा तथा हुमायूं के सेवक जौहर आफताबची ने अपने ग्रन्थ तजकिरात-उल-वाकेयात में मारवाड़ के मालदेव तथा जैसलमेर के भाटी भाल्देव का वर्णन किया है। शेरशाह को केवल सुमेल का युद्ध ही नहीं लड़ना पड़ा बल्कि उसने मेवाड़ में जहाजपुर तक पहुंच कर चित्तौड़ पर आक्रमण करने की भी योजना बनाई थी। अत शेरशाह के समकालीन इतिहासकार अब्बास सखानी ने अपने ग्रन्थ तारीखे शेरशाही में शेरशाह के राजस्थान अभियान का विस्तार से वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त अब्दुल्ला ने तारीखें दाऊदी में, नियामतुल्ला ने मखजाने अफगाना मे, तथा रिज़कुल्ला मुश्ताकी ने वाकेयात–मुश्ताकी मे राजस्थान का वर्णन प्रसगवश किया है।

अकबर के सिंहासन रूढ होने के पश्चात् राजस्थान का मुगल राजघरानों से निकट सम्बन्ध हो गया। कतिपय राजपूत राजाओ ने अपनी पुत्रियां देकर सम्बन्ध घनिष्ठ किये। उन राजाओं को ऊँचे ऊंचे मन्सब व वतन–जागीरें प्रदान की गई। अतएव शाहीसेना में सहायक सेनापति (Auxiliary Commander) बनाकर जयपुर जोधपुर व बीकानेर के नरेश भारत के कई भागों में भेजेगये। अकबरके समकालीनफारसी के इतिहासकारों ने इसका अपनी तवारीखों में यथास्थल वर्णन किया है। अबुल फज़ल के अकबर नामा, अब्दुल कादिर बंदायूनी का मुन्तखाब तवारीख, मुहम्मद हिन्दू कासिम बेग फरिश्ता की तारीखे फरिश्ता, आरिफ कन्धारी की तारीखे मुहम्मद आरिफ कन्धारी में राजस्थान की विभिन्न घटनाओं के सम्बन्ध में वर्णन उपलब्ध है।

अकबर महान के शासन काल के लिखे गए फारसी भाषा के ग्रंथ

अकबर का पुत्र और उत्तराधिकारी जहाँगीर स्वयं आम्बेर की राजकुमारी हरखा के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। उसका प्रथम विवाह भी आम्बेर के शासक भगवंतदास की पुत्री भानमती से हुआ था। दूसरा विवाह जोधपुर के शासक मोटा राजा उदयसिंह की पुत्री मानीबाई (जोधाबाई) से हुआ। अतः जहांगीर ने अपनी आत्मकथा (तुजुक-ए-जहाँगीरी) में इन राजाओं का वर्णन किया है। मोतामिद खाँ की इकबाल नामा ए-जहांगीरी तथा कामगार हुसेन की मासिर–ए–जहागीरी में भी पर्याप्त वर्णन है।

जहाँगीर के प्रथम दो पुत्र क्रमशः खुसरो और खुर्रम जयपुर और जोधपुर की राजकुमारियों के गर्भ से हुए थे। अतएव उनके पुत्र और उत्तराधिकारी शाहजहाँ के शासन काल में अब्दुल हमीद लाहोरी और काजवीनी के द्वारा जो बादशाहनामे लिखे गये उनमें राजपूत राजाओं का यथास्थल वर्णन है। काम्बू की अमले सलीह तथा वारिस के बादशाहनामे में भी राजस्थान का इतिहास मिलता है।

यद्यपि औरङ्गजेब ने इतिहास का लिखना निषेध कर दिया था लेकिन उसके शासनकाल के प्रथम दस वर्षो का इतिहास 'आलमगीरनामा' में लिखा गया। औरङ्गजेब के शासन काल ही में दो हिन्दू इतिहासकारों ने फारसी भाषा में ऐतिहासिक

1526 से 1857 तक । सल्तनत युग मे सपालदक्ष, रणथम्भोर और जालोर के चौहानो के अतिरिक्त मेवाड व मारवाड के राज्य भी थे । इन राज्यो का फारसी तवारीख मे वर्णन मिलता है । मिनहाज सिराज कृत तबकाते नासिरी मे दिल्ली के तथाकथित दास सुल्तानो का 126 ई० तक का वर्णन है । जमीउल हकीक्त में भी मुहम्मद गौरी, कुतुबुद्दीन ऐबक, इल्तुतमिश तथा बलबन के शासनकाल मे राजस्थान के अभियानो का वर्णन है । यह सब ग्रन्थ फारसी भाषा मे हैं । इसलिए डाउसन ने इनके कुछ अंशो को अंग्रेजी भाषा मे अनुदित कर दिया था । हाल ही मे जम्मू और काश्मीर विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के अध्यक्ष डा० अहतर अब्बास रिजवी ने इन ग्रन्थों को 'आदि तुर्ककालीन भारत' नामक ग्रन्थ मे भी अनुवादित किया है । दास सुल्तानो के तो राजस्थान के साथ अधिक सम्बन्ध नही रहे थे, लेकिन जलालउद्दीन खिलजी और उसके उत्तराधिकारी अलाउदीन खिलजी ने राजस्थान मे कई अभियान किये जिनमे रणथम्भोर, चित्तौड और जालोर के अभियान अधिक महत्वपूर्ण एव प्रसिद्ध हैं । अलाउद्दीन खिलजी के दरबारी कवि अमीर खुसरो ने उसकी विजयों का आखों देखा हाल खजाइनुल कुतूह नामक ग्रन्थ मे लिखा है । इस ग्रन्थ का अलीगढ विश्वविद्यालय के Professor Emritus श्री मुहम्मद हबीब ने अंग्रेजी भाषा मे भी अनुवाद कर दिया है । जियाउद्दीन बरनी भी समकालीन लेखक हैं जिनके द्वारा रचित 'तारीखे फीरोजशाही' मे खिलजी और तुगलक सुल्तानों का वर्णन है । हाल ही में पाकिस्तान हिस्टोरिकल सोसायटी के द्वारा बरनी का ग्रन्थ सम्पूर्ण रूप से प्रकाशित किया गया है । बरनी ने इस ग्रन्थ का प्रारम्भ वहा से किया है जहा मिनहाज सिराज ने अपनी तबकाते नासिरी को समाप्त किया । इसी प्रकार शम्से सिराज अफीक ने बरनी का अनुकरण करके तारीखे फिरोजशाही लिखी, जिसमे 1388 ई० तक की घटनाओ का वर्णन है । अफीक ने भी खिलजी एव तुगलक सुल्तानो के शासनकाल मे घटित घटनाओं का वर्णन करते हुए प्रसगवश राजस्थान के राज्यो का भी वर्णन किया है । लेकिन इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ तारीखे मुबारकशाही है जिसका अब अंग्रेजी भाषा मे अनुवाद हो चुका है । उपरोक्त सभी ग्रन्थो के कुछ भागो को इलियट और डाउसन ने अंग्रेजी भाषा मे अनुदित कर दिया है और डा० रिजवी ने खिलजी कालीन भारत' तुगलक कालीन भारत भाग 1, व 2, तैमूर कालीन भारत तथा उत्तर तैमूर कालीन भारत मे इनका हिन्दी में अनुवाद किया है ।

सल्तनत काल मे लिखी गई तवारीखें

मुगल काल मे यद्यपि राजस्थान की गतिविधि शिथिल हो गई थी लेकिन खानुआ के युद्ध क्षेत्र मे राणा सांगा की पराजय के बाद राजस्थान निरन्तर रूप से दिल्ली के मुगल शासकों के सम्पर्क म प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष रूप से रहा । मुगल साम्राज्य के संस्थापक बाबर ने अपनी आत्मकथा में मेवाड के राणा सांगा के साथ अपने सम्बन्धो का विस्तार से वर्णन किया

मुगल-काल में लिखे हुए ग्रंथ

है। बाबर के उत्तराधिकारी हुमायूं की बहिन गुलबदन बेगम ने अपने ग्रन्थ हुमायूं-नामा तथा हुमायूं के सेवक जौहर आफताबची ने अपने ग्रन्थ तजकिरात-उल-वाकेयात में मारवाड़ के मालदेव तथा जैसलमेर के भाटी मालदेव का वर्णन किया है। शेरशाह को केवल सुमेल का युद्ध ही नहीं लड़ना पड़ा बल्कि उसने मेवाड़ में जहाजपुर तक पहुंच कर चित्तौड़ पर आक्रमण करने की भी योजना बनाई थी। अत शेरशाह के समकालीन इतिहासकार अब्बास सखानी ने अपने ग्रन्थ तारीखे शेरशाही में शेरशाह के राजस्थान अभियान का विस्तार से वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त अब्दुल्ला ने तारीखें दाऊदी में, नियामतुल्ला ने मखजाने अफगाना में, तथा रिजकुल्ला मुश्ताकी ने वाकेयात-मुश्ताकी मे राजस्थान का वर्णन प्रसंगवश किया है।

अकबर के सिंहासन रूढ होने के पश्चात् राजस्थान का मुगल राजघरानों से निकट सम्बन्ध हो गया। कतिपय राजपूत राजाओं ने अपनी पुत्रियां देकर सम्बन्ध घनिष्ठ किये। उन राजाओं को ऊँचे ऊंचे मन्सब व वतन-जागीरें प्रदान की गई। अतएव शाहीसेना मे सहायक सेनापति (Auxiliary Commander) बनाकर जयपुर जोधपुर व बीकानेर के नरेश भारत के कई भागों में भेजेगये। अकबरके समकालीनफारसी के इतिहासकारों ने इसका अपनी तवारीखों मे यथास्थल वर्णन किया है। अबुल फज़ल के अकबर नामा, अब्दुल कादिर बदायूनी का मुन्तखाब तवारीख, मुहम्मद हिन्दू कासिम बेग फरिश्ता की तारीखे फरिश्ता, आरिफ कन्धारी की तारीखे मुहम्मद आरिफ कन्धारी में राजस्थान की विभिन्न घटनाओं के सम्बन्ध में वर्णन उपलब्ध है।

अकबर महान के शासन काल के लिखे गए फारसी भाषा के ग्रंथ

अकबर का पुत्र और उत्तराधिकारी जहाँगीर स्वयं आम्बेर की राजकुमारी हरखा के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। उसका प्रथम विवाह भी आम्बेर के शासक भगवतदास की पुत्री मानमती से हुआ था। दूसरा विवाह जोधपुर के शासक मोटा राजा उदयसिंह की पुत्री मानीबाई (जोधाबाई) से हुआ। अतः जहांगीर ने अपनी आत्मकथा (तुजुक-ए-जहांगीरी) में इन राजाओं का वर्णन किया है। मोतामिद खाँ की इकबाल नामा ए-जहांगीरी तथा कामगार हुसेन की मासिर-ए-जहागीरी में भी पर्याप्त वर्णन है।

जहाँगीर के प्रथम दो पुत्र क्रमशः खुसरो और खुर्रम जयपुर और जोधपुर की राजकुमारियों के गर्भ से हुए थे। अतएव उनके पुत्र और उत्तराधिकारी शाहजहाँ के शासन काल मे अब्दुल हमीद लाहोरी और काजवीनी के द्वारा जो बादशाहनामे लिखे गये उनमें राजपूत राजाओ का यथास्थल वर्णन है। काम्बू की अमले सलीह तथा वारिस के बादशाहनामे में भी राजस्थान का इतिहास मिलता है।

यद्यपि औरङ्गजेब ने इतिहास का लिखना निषेध कर दिया था लेकिन उसके शासनकाल के प्रथम दस वर्षों का इतिहास 'आलमगीरनामा' में लिखा गया। औरङ्गजेब के शासन काल ही में दो हिन्दू इतिहासकारों ने फारसी भाषा में ऐतिहासिक

ग्रंथ यद्यपि अठारहवीं शताब्दी में लिखा गया लेकिन महत्वपूर्ण होने के नाते इसका अंग्रेजी और हिन्दी भाषा में अनुवाद हो चुका है।

राजस्थानी भाषा के ग्रन्थ (Rajasthani Sources)—राजस्थान में ऐसा साहित्य मुगलों के भारत प्रवेश से पहले लिखा जाता था लेकिन अकबर के शासनकाल मे जब अब्दुलफज़ल के 'अकबरनामा' के लिये सामग्री एकत्रित की गई उस समय विभिन्न राजपूत राजाओं को अपने अपने राज्यों और पूर्वजों का ऐतिहासिक विवरण भेजने का आदेश मुगल सम्राट की ओर से दिया गया। अतः उस समय लगभग हरएक राज्य में ख्यातें लिखी गई। इस समय वंशावलियों की भी रचना की गई और ऐतिहासिक वातें भी लिखी गई। ख्यातें, वंशावलियां और ऐतिहासिक वातों की रचना सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में प्रारम्भ हुई प्रतीत होती हैं क्योंकि कोई भी ख्यात सत्रहवीं शताब्दी के पहले की उपलब्ध नहीं होती यद्यपि L. P. Tessitori ने इन Bardic Chronicles का सर्वेक्षण किया और उनकी एक लिस्ट भी प्रकाशित करदी लेकिन आधुनिक विद्वान स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व चारणों और भाटों द्वारा रचित साहित्य पर अधिक विश्वास नहीं करते थे। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि Bardic Chronicles को लिखते समय लेखकों ने तिथियों को विशेष महत्व नहीं दिया था। अतः कतिपय ख्यातों की तिथियाँ गलत हैं (Demonstrably inaccurate)। चूंकि यह ख्यातें राजस्थान में लिखी गईं अतः इनमें सम्बन्धित ऐतिहासिक घटनाओं के सम्बन्ध में पर्याप्त details मिलते है। उदाहरण के लिये 1544 ई० में शेरशाह राजस्थान में किस मार्ग से आया और उसकी जोधपुर नरेश मालदेव के साथ कब और कहाँ पर युद्ध हुआ, इसका विस्तृत वर्णन समकालीन फारसी की तवारीखों में नहीं है, केवल ख्यातों में है। अतएव मेरे विचार में ख्यातों को राजस्थान का इतिहास लिखते समय फारसी के ग्रन्थों के पूरक ग्रन्थों के रूप में प्रयोग किया जाना चाहिये।

> राजस्थानी भाषा में लिखी ख्यातों, ऐतिहासिक वातों तथा वंशावलियों के आधार पर इतिहास लिखा गया है

राजस्थान में सबसे प्राचीन 275 वर्ष पुरानी और विश्वसनीय ख्यात नैणसी द्वारा लिखी हुई मानी जाती है। लेखक जोधपुर नरेश महाराजा जसवंतसिह प्रथम (1638–1678 A. D.) की सेवा में था। इसने अबुलफज़ल के समान दो ग्रन्थ लिखें 'ख्यात' और 'गांवा री ख्यात'। इसमें प्रथम ग्रंथ प्राप्य है। मूल ग्रन्थ को राजस्थान पुरातत्व मन्दिर, जोधपुर ने तीन जिल्दों में छाप दिया है। हिन्दी भाषा में उसका अनुवाद मेवाड़ के वयोवृद्ध विद्वान स्वर्गीय श्री रामनारायणजी दुगड, नागरी प्रचारणी सभा द्वारा वर्षों पूर्व प्रकाशित करवा चुके हैं।

> नैणसी की ख्यात

इस ख्यात में राजपूताना, काठियावाड़, कच्छ, मालवा, बुन्देलखण्ड आदि के राजवंशों का वृत्तान्त मिलता है। नैणसी जगह जगह के चारणों, भाटों आदि की पुस्तकों से जितना भी वृत्तान्त मिल सकता था उसका संग्रह कर लेता था। कहीं जाता तो वहां के कानूनगो से भी पुराना हाल मालूम करके लिख लेता था। उसके रिश्तेदारों को भी यदि कहीं कोई शिलालेख मिल जाता तो उसकी वंशावली मालूम करके वह सब नैणसी के पास पहुँचा देते थे। इस प्रकार एक ही वंश की एक से अधिक वंशावली उसकी ख्यात में उपलब्ध है।

'वि० सं० 1300 के पीछे के राजस्थान के इतिहास के लिये नैणसी की ख्यात बड़े महत्व की है। उसमें उदयपुर डूंगरपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़ के गुहिलोतों, हाड़ा, देवड़ा, सोनगरा, चीबा वागड़िया सांचेरा, बाड़ा, कांपलिया, खींची आदि चौहानों की भिन्न-भिन्न शाखाओं, सोलंकियों, कछवाहों, खेड़ के गोहिलों, परमारों, जायलू के सांखलों, मोहों, जैसलमेर के भाटियों, यादवों आदि यादवों, झालों, राठोड़ों आदि का इतिहास मिलता है। नैणसी ने कई लड़ाइयों तथा कई वीर पुरुषों एवं उनकी जागीरों का भी वर्णन किया है। किले बनाने के सवत तथा पहाड़ों, नदियों, झीलों के विवरण भी कई जगह हैं। इस प्रकार नैणसी ने राजपूताने के इतिहास को बहुत कुछ सुरक्षित किया। जोधपुर के स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसाद तो नैणसी को राजस्थान का अबुलफजल कहा करते थे। राजा महाराजाओं के इतिहास तो कई प्रकार के मिलते हैं पर उनकी छोटी छोटी शाखाओं, सरदारों आदि के युद्ध में सहयोग देने के वृत्तांत मिलने के साधन कम हैं तो भी किसी अंश में उसकी पूर्ति नैणसी के संग्रह से होती है" (डा० ओझा)।

कर्नल टॉड को यह अनुपम ग्रन्थ नहीं मिल सका था। यदि उन्हें यह ग्रन्थ उपलब्ध होता तो उनके 'एनाल्स' में बहुत कुछ परिवर्तन सम्भव था।

नैणसी को राजपूताने का अबुलफजल कहकर पुकारा गया है क्योंकि जोधपुर राजा का दीवान होने के नाते अपनी ख्यात को लिखते समय उसने उन सब साधनों

क्या नैणसी वास्तव में राजपूताने का अबुलफजल था ?

का प्रयोग किया होगा जो उस समय उपलब्ध थे। अपनी 'गाँवों की ख्यात' में जिस ढंग से नैणसी ने मारवाड़ के गावों का वर्णन किया है वह वर्णन अब्दुलफजल की 'आईने अकबरी' के वर्णन से कुछ कम नहीं है। उसकी ख्यात भी अकबरनामा के समान है। मारवाड़ की कचहरियों में उसकी ख्यात प्रमाण के रूप में प्रस्तुत की जाती थी। इसलिये राज्य की प्रथम वार्षिक प्रशासक रिपोर्ट में नैणसी की ख्यात के लिये कहा गया है कि इसमें राज सिंहासन के बाद हर एक घटना का वर्णन करते समय तिथियाँ भी लिखी हैं। युद्धों का वर्णन करते समय कुछ छिपाया नहीं गया है तथा युद्ध में घायल अथवा मारे जाने वाले आदमियों के नाम पते भी दिये हैं। नैणसी की ख्यात में गरीब व्यक्तियों का वर्णन नहीं है लेकिन

इसके लिये नैणसी को दोषी नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि मध्य युग में इतिहासकार इसी प्रकार करते थे। इस दृष्टि से नैणसी को यदि राजपुताने का अब्दुलफजल और उसके ग्रन्थ को 'अकबरनामा' कहकर पुकारा जाय तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

नैणसी अब्दुलफजल की तरह विद्वान नहीं था और न उसके पास उतना समय ही था लेकिन फिर भी उसका ऐतिहासिक दृष्टि-कोण अब्दुलफजल की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक और प्रभावशाली (Penetrative) था। अब्दुलफजल ने अपने ग्रन्थ में साधनों का कहीं नाम नहीं लिखा है जबकि नैणसी ने Important Contributors के नाम अपनी ख्यात में लिखे हैं। नैणसी ने राजकीय संरक्षण से दूर रह कर अपने ग्रंथ की रचना की थी और इसलिये यह अपने स्वामी के गुण दोषों का स्पष्ट रूप से वर्णन कर सका है। डॉ॰ कालिकारंजन कानूनगो ने ठीक ही लिखा है—"Libraries and royal patronage may produce an Abdul Fazal, but not a Nainse and his Khyat breathing genunine air of Rajput Chivalry, and bringing nearer and clearer to us a picture of the social and economic life of Rajputana, and its topography".

मुंडीमार ठिकाने की ख्यात :—यह ख्यात भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। मुंडीमार ठिकाना नागौर से दस मील दक्षिण में है। यह ठिकाना शासन के रूप में चारणों को प्रदान किया गया था। इस ख्यात की नकल जोधपुर दस्तरी आफिस में थी। राव सीहा के द्वारा मारवाड़ में राठौड़ राज्य की स्थापना से लेकर महाराजा जसवन्तसिंह प्रथम की मृत्यु तक का हाल इस ख्यात में है। इससे यह जाहिर होता है कि यह ख्यात महाराजा जसवंतसिंह के जीवन काल में लिखी गई थी। मारवाड़ के प्रत्येक राजा के जन्म, राज्याभिषेक तथा मृत्यु की तारीखें इसमें मिलती हैं। हर एक राजा के कितनी रानियाँ और दासियाँ थीं और उनसे कौन कौन से बच्चे उत्पन्न हुये, इसका वर्णन भी इस ख्यात में मिलता है। ब्राह्मणों और चारणों को किस किस राजा ने कितनी कितनी भूमि कब कब दान में दी, इसका जिक्र भी इस ख्यात में मिलता है। मुगलों और मारवाड़ के राजाओं के बीच जो वैवाहिक सम्बन्ध हुए, उनका वर्णन भी इस ख्यात में है। इस ख्यात को पढ़ने से यह भी जाहिर होता है कि सलीम की पत्नि जोधाबाई मोटा राजा उदयसिंह की पुत्री नहीं, उनकी बहिन थी, जो मालदेव की दासी से उत्पन्न हुई थी। यद्यपि यह एक विवादास्पद प्रश्न है जिस पर केवल मुन्डीमार ठिकाने की एक ख्यात के आधार पर निर्णय नहीं दिया जा सकता, लेकिन फिर भी इस ख्यात का महत्व नैणसी की ख्यात से कम नहीं है।

कविराजा की ख्यात :—आज से लगभग सत्तर वर्ष पूर्व जोधपुर शहर की एक दीवार खोदने के बाद कविराजा की ख्यात की प्रति उपलब्ध हुई। इसमें जोधपुर राज्य के राठौड़ शासकों के अतिरिक्त राव, [illegible] एवं [illegible] और [illegible] के [illegible] गोविन्ददास के [illegible] ([illegible]

जसवन्तसिंह प्रथम के शासन काल तक का ऐतिहासिक वर्णन है। इस ख्यात की प्रतिलिपि सीतामऊ महाराजकुमार डा० रघुबीरसिंह के पुस्तकालय में उपलब्ध है।

जोधपुर राज्य की ख्यात—यह दो जिल्दों में है। इसकी प्रतिलिपि सीतामऊ लाइब्रेरी में है जो स्वर्गीय ओझाजी की प्रति की नकल है। इस ग्रंथ में जोधपुर नरेश महाराजा मानसिंह (1803–1843 A D) की मृत्यु तक का हाल है। इससे यही प्रकट होता है कि महाराजा मानसिंह के समय में यह ख्यात लिखी गई थी। डा० ओझा ने इस ख्यात के सम्बन्ध में लिखा है "लेखक ने विशेष छानबीन न करके जनश्रुति के आधार पर बहुत सी बातें लिख डाली हैं, जो निराधार होने के कारण काल्पनिक ही ठहरती हैं, साथ ही राजा के आश्रय में लिखी जाने के कारण इसमें दिये हुए बहुत से वर्णन पक्षपातपूर्ण एवं एकांगी हैं।" इस ख्यात का प्रारम्भिक वर्णन कल्पित बातों के आधार पर ही है अतः ख्यात में दिये हुये राव जोधा के पहले के वर्णन तथा तिथियाँ कल्पित ही हैं। फिर भी जोधपुर राज्य का विस्तृत इतिहास केवल इसी ख्यात से जाना जा सकता है।

दयालदास की ख्यात की प्रथम जिल्द में आरम्भ से लेकर राव जोधा तक का विस्तृत इतिहास है और दूसरी जिल्द में बीकानेर राज्य का। इस ख्यात की भी प्रतिलिपि सीतामऊ पुस्तकालय में उपलब्ध है।

इन ख्यातों के अलावा मारवाड़ में कई छोटी बड़ी ख्यातें लिखी गई जिनमें महाराजा अजीतसिंहजी की ख्यात सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। जोधपुर नरेशों की प्रशंसा में जो ख्यातें व गीत लिखे गये उनमें रचयिताओं के नाम तथा काल का कोई पता नहीं चलता। ऐसी दशा में इनकी सत्यता संदेहयुक्त है।

जिस प्रकार मारवाड़ में ख्यातें लिखी गई उसी प्रकार राजस्थान के अन्य राज्यों में भी ख्यातें लिखी गई थीं। आमेर, मेवाड़, शाहपुरा इत्यादि राज्यों की ख्यातें उपलब्ध हैं। ख्यातें डिंगल भाषा और मारवाड़ी लिपि में लिखी गई थी। पद्मश्री मुनि जिनविजयजी के अथक परिश्रम के कारण यत्रतत्र बिखरा हुआ राजस्थानी साहित्य जोधपुर में संग्रहीत कर लिया गया है।

जैन ग्रन्थ (Jain Sources)—राजस्थान के मध्य युग में जैन विद्वानों के द्वारा जो गुटके, प्रशस्तियां तथा पट्टावलियां लिखी गई उनका संग्रह श्री अगरचन्दजी नाहटा तथा अन्य जैन भंडारों में पाया जाता है। विशेष रूप से आमेर तथा मारवाड़ का इतिहास लिखने में जैन साधनों का प्रयोग आवश्यक और सफल हो सकता है।

संस्कृत भाषा के ग्रन्थ (Sanskrit Sources)

मेवाड़—पंडित जीवधर द्वारा 1685 विक्रमी में लिखा हुआ 'अमरसार' नामक संस्कृत महाकाव्य मेवाड़ के राणा प्रताप, राणा अमरसिंह और राणा करणसिंह के शासनकाल के लिए महत्वपूर्ण साधन है।

महाराणा अमरसिंह प्रथम के शासनकाल में "अमर भूषण" नामक ग्रन्थ लिखा गया। दुर्भाग्य से लेखक का नाम इसमें नहीं है।

महाराणा जगतसिंह के समकालीन रघुनाथ ने जगतसिंह काव्य लिखा। इसी प्रकार "जगतसिंह शास्त्र" मोहन भट्ट द्वारा इसी राणा के सहाकाल में लिखा गया लेकिन इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण 'अमरकाव्य वंशावली' है जिसे रणछोड़ भट्ट ने विक्रमी संवत् 1732 के आसपास लिखा था।[1]

मारवाड़—महाराजा अजीतसिंह के समय में संस्कृत भाषा में दो ग्रथ लिखे गये। पहला अजितचरित्र जिसके लेखक प० बालकृष्ण दीक्षित थे और दूसरा अजितोदय जिसके लेखक भट्ट जगजीवन थे।

जोधपुर नरेश महाराजा जसवंतसिंह प्रथम के शासन काल में राज प्रासाद में एक पुस्तकालय स्थापित किया गया था जिसका नाम पुस्तक प्रकाश था। इसमें संस्कृत ग्रन्थों की संख्या लगभग 2000 थी। पुस्तक प्रकाश में सबसे पुरानी पुस्तक वि० सं० 1572 (1515 A.D.) की लिखी हुई है।

शिलालेख, दान-पत्र तथा सिक्के

शोधपूर्ण इतिहास लिखने में शिलालेखों, दान-पत्रों तथा सिक्कों से बड़ी सहायता मिलती है। राजस्थान के प्रत्येक राज्य में यह मिल सकते हैं क्योंकि केवल व सती-चबूतरों पर लेख लिखने की परम्परा बहुत प्राचीन है। प्रचुर मात्रा में शिलालेख व सिक्के उपलब्ध हुए हैं जिनका वर्णन यथास्थान कर दिया जायगा, यहाँ केवल दो तीन महत्त्वपूर्ण शिलालेखों का ही वर्णन किया जाता है:—

प्रथम महत्वपूर्ण शिलालेख (Rock Inscription) बिजोलिया का है। यह संस्कृत भाषा में है जिसमें 92 श्लोक हैं। यह विक्रमी सवत् 1226 में भद्र मुनि के द्वारा लिखा गया था। इस शिलालेख से चौहानों का राज्य–विस्तार एवं प्राचीन राजस्थान की भौगोलिक स्थिति के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त होता है। चौहानों ने राजस्थान में अपने राज्य कब और कैसे स्थापित किये आदि, तथा उनकी वंशावली इससे ज्ञात होती है। इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञात होता है कि चौहानों की उत्पत्ति ब्राह्मणों से हुई थी। इसी प्रकार यह भी ज्ञात होता है कि यद्यपि चौहान शिव-भक्त थे लेकिन जैनियों के प्रति भी सहिष्णु थे।

दूसरा महत्वपूर्ण लेख सीकर के एक मन्दिर से प्राप्त हुआ। यह शिलालेख दसवीं शताब्दी का है और 'हर्षनाथ शिलालेख' के नाम से प्रख्यात है। इस शिलालेख से भी राजस्थान के प्राचीन चौहानों की वंशावली तथा उनका शिवधर्म के प्रति प्रेम प्रकट होता है एवं प्राचीन राजस्थान के आर्थिक प्रबन्ध के विषय में भी जानकारी प्राप्त होती है।

---

1. मेवाड़ की ख्यातों के लिए देखिये :—

Dr. G. N. Sharma : Mewar and the Mughal Emperors.

तीसरा महत्वपूर्ण संस्कृत का प्रस्तर-लेख जम्वा रामगढ़ से प्राप्त हुआ। यह विक्रमी संवत् 1669 (1613 A D) का है और जयपुर म्यूजियम में सुरक्षित है। यह लेख आमेर के शासक भारहमल्ल के उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में जानकारी कराता है और बतलाता है कि राजा मानसिंह अपने पिता भगवन्तदास के दत्तक पुत्र थे।

चौथा महत्वपूर्ण प्रस्तर लेख राज प्रशस्ति के नाम से प्रसिद्ध है। यह संस्कृत भाषा में माघ बदि 15 विक्रम संवत् 1732 का लिखा हुआ महाकाव्य है जो 24 अध्यायों में (1682 श्लोक हैं), 25 प्रस्तर-खण्डों पर लिखा हुआ है। मेवाड़ नरेश महाराजा राजसिंह द्वारा राजसमुद्र का निर्माण कराया गया था। उसी समय रणछोड़ भट्ट (ब्राह्मण) के द्वारा यह प्रशस्ति लिखवाई गई। इसमें बप्पा रावल से महाराणा राजसिंह तक के मेवाड़ के राजाओं की वंशावली है चूंकि लेखक महाराणा जगतसिंह का समकालीन था अतः राज प्रशस्ति की सूचना महाराणा जगतसिंह के राजकाल की घटनाओं के लिए महत्वपूर्ण है। प्रो० श्रीराम शर्मा ने इस लेख को पंजाब विश्व विद्यालय के लिए सम्पादित किया था। वे लिखते हैं—

"It gives a credible account of the relations of Maharana Raj Singh with the Mughal Emperors besides throwing a good deal of light on the social and religious customs of the period".

आधुनिक साधन (Modern Works)

आधुनिक काल में राजस्थान के इतिहास के प्रति विद्वानों की दृष्टि आकर्षित हो गई है, अतः राजस्थान के इतिहास पर कई ग्रन्थ हिन्दी और अंग्रेजी में लिखे जा चुके हैं। इन ग्रन्थों का केवल Title देना ही पर्याप्त होगा क्योंकि लगभग सभी ग्रन्थ प्राप्य हैं —

(a) Published works in English

1 Annals and Antiquities of Rajasthan, Vol I & II, by Col Tod
2 Glories of Marwar and the Glories of Rathores by Pt B N Rao
3 Early Chauhan Dynasties by Dr Dasharatha Sharma
4 History of Mewar by Dr G C Ray Chaudhary
5 Delhi Sultanate (Bharitya Vidya Bhawan, Bombay)
6 Studies in Rajput History by Dr K R Qanungo
7 *Mewar and the Mughal Emperors by Dr G N Sharma*
8 Marwar and the Mughal Emperors by Dr V S Bhargava

9. Maharana Kumbha by Pt. Harbilash Sarda
10. Maharana Sanga by the Same author.
11. Durga Das Rathore by Pt. B N. Rao
12. An Empire Builder of the 16th Century by Rushbrook Williams.
13. Humayun Padshah, by (late) Dr. S K. Banerjee.
14. Life & Times of Humayun by Dr. Ishawari Prasad.
15. Life & Times of Sher Shah by Dr. K. R. Qanongo.
16. Successors of Sher Shah by B N Roy.
17. Sher Shah & His Successors by A. L. Srivastava.
18. Akbar, the great Mogul by V. A. Smth.
19. Akbar by Malleson.
20. Akbar the Great by Dr. A. L Srivastava.
21. History of Jahangir by Beni Prasad.
22. Shah Jahan of Delhi by Dr. B. P. Saxena.
23. History of Aurangzeb by Dr. J. N. Sarkar.
24. Religious Policy of Mughal Emperors by S.R. Sharma.
25. Shivaji & His Times by Dr. J. N. Sarkar.

(b) Unpublished Works in English

1. Relations of Bikaner with Central Power by Maharaja Dr. Karni Singhji Sahib of Bikaner.
2. History of Mewar by (late) Mithaalal Mathur. Thises approved for Ph. D. degree of Rajasthan University.
3. History of Jaipur, by Dr. J. N. Sarkar.
4. Mirja Rajah Jaisingh by Dr. C. B. Tripathi. Thises approved for Doctorate degree of Allahabad University.
5. History of Baronical House of Diggi by Dr. K. R. Qanungo.

(c) Published works in Hindi :

1. वीर विनोद—कविराजा श्यामलदास
2. डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा कृत उदयपुर, बीकानेर, जोधपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़ तथा सिरोही राज्य के इतिहास
3. कोटा राज्य का इतिहास—डा० मथुरालाल शर्मा

4 पूर्व आधुनिक राजस्थान--महाराजकुमार डा० रघुवीरसिंहजी सीतामऊ ।
5 राजपूताने का इतिहास—स्वर्गीय जगदीशसिंह गहलोत ।
6 मारवाड़ का मूल इतिहास—स्वर्गीय रामकरण आसोपा ।
7. मारवाड़ का इतिहास—प० विश्वेश्वरनाथ रेऊ ।
8. राजस्थान भारती, राजस्थान पत्रिका, मरु-भारती, तथा शोध-पत्रिका नामक पत्रिकायें ।
9 आम्बेर के राजा, मु शी देवीप्रसाद ।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि राजस्थान का इतिहास लिखने के लिये
1. शिलालेख, दानपत्र व सिक्के,
2 चारणों और भाटों के द्वारा लिखी हुई ख्यातें तथा गीत,
3. संस्कृत भाषा के ग्रंथ,
4 फारसी भाषा के ऐतिहासिक ग्रंथ,
5 अन्य विद्वानों की लिखी हुई पुस्तकें

की आवश्यकता होती है ।

BIBLIOGRAPHY

1 डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा कृत राजपूताने का इतिहास, जोधपुर राज्यका इतिहास एव बीकानेर राज्य का इतिहास ।
2 Dr K. R Qanungo Studies in Rajput History
3 S R Sharma Bibliography of Mughal India

4

राजस्थान का तराइन के द्वितीय युद्ध तक का प्राचीन इतिहास

(Early History of Rajasthan upto the Second Battle of Tarain)

सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी के बीच राजस्थान में चौहानों के राज्य कई केन्द्रों पर थे। बरौच (Broach) के चौहान सबसे अधिक पुराने थे। इन्होंने गुर्जर राज्य के पतन के पश्चात् 736 ई० के आसपास अपना राज्य कायम कर लिया था।

चौहान राज्य का उत्थान

1222 ई० तक राज्य का विस्तार इतना अधिक हो गया था कि Cambay का बन्दरगाह भी इनके अधिकार में आ गया था। 1272 ई० के लगभग बरौच के चौहानों का पतन हो गया।

धौलपुर के चौहान भी नवीं शताब्दी तक काफी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे लेकिन नागभट्ट द्वितीय की मृत्यु के साथ साथ सन् 833 के लगभग इनका पतन हो गया।

इसी प्रकार प्रतापगढ़ के चौहान भी थे। टॉड ने अपनी पुस्तक 'एनाल्स' में कतिपय चौहान राजवंशों का वर्णन किया है जिनके राज्य उस समय मौजूद थे। लेकिन इन सबमें सपालदक्ष (Sapaladaksa) अथवा जगल देश के चौहान शासक अधिक प्रख्यात हुए हैं।

सपालदक्ष के चौहान :—सपालदक्ष का पहला चौहान शासक वासदेव माना जाता है जो प्रबन्ध-कोष के अनुसार 608 विक्रमी के लगभग सांभर पर शासन करता था। 'पृथ्वीराज विजय' में लिखा है कि विद्याधर से मित्रता करके वासदेव ने सांभर की झील प्राप्त की, लेकिन बिजोलिया शिलालेख पढ़ने से जाहिर होता है कि सांभर की झील उससे (स्वयं) उत्पन्न हुई थी।[1]

वासदेव से लेकर विग्रहराज द्वितीय तक (जो 10 वीं शताब्दी में साम्भर का राजा हुआ है) कई चौहान शासकों की पीढियाँ गुजर गईं लेकिन उनके सम्बन्ध में केवल पौराणिक गाथायें ही मिलती हैं, कोई ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नहीं हो सकी। इसलिये वासदेव के उत्तराधिकारियों का इतिहास में जो कुछ वर्णन किया गया है वह विश्वसनीय सूत्रों के आधार पर नहीं है और उस वर्णन के आधार पर चौहानों की वंशावली निश्चित करना सुलभ कार्य नहीं है। बिजोलिया शिलालेख में सांभर के सामन्त का वर्णन है जो शेखावाटी के ब्राह्मण जमींदार अनन्त का सामन्त बताया

---

1. "शाकंभ राजनि जनीव ततोपि विष्णो" बिजोलिया शिलालेख से उद्धरित। यहाँ विष्णु से तात्पर्य वासदेव से ही है।

गया है। ऐसा कहा जाता है कि सामन्त अल्हछिन्नपुर के ब्राह्मणो के वरस गोत्र मे उत्पन्न हुआ था। यह भी निष्कर्ष निकाला गया है कि सामन्त 725 विक्रमी सम्वत् के लगभग शासन कर रहा था और उसने ब्राह्मणो और क्षत्रियो की मदद से अपनी शक्ति सगठित की थी।

सामन्त के पश्चात् सपालदक्ष के चौहान शासको मे नरदेव का वर्णन मिलता है। यह भूतपूर्व जोधपुर राज्य के पुरनतला नामक स्थान पर भी शासन करता था। यही पुरनतला कुन्ताला के नाम से प्रसिद्ध है। हरिकेलि नाटक और प्रसग विग्रह नाटक से यह प्रकट होता है कि आधुनिक नागौर का प्रदेश नरदेव के सपालदक्ष राज्य मे शामिल था।

नरदेव के पश्चात् चौहानो की कम से कम 6 पीढ़ियाँ गुजर गई जिनमें विग्रहराज द्वितीय अधिक महत्वपूर्ण था। तारीख-ए-फरिश्ता के पढने से जाहिर होता है कि विग्रहराज ने सुबुक्तगीन की सेनाओं का मुकाबिला करने के लिये 997 ई० मे सेनायें भेजी थी। फरिश्ता मे विग्रहराज को अजमेर का शासक बताया गया है। लेकिन 997 ई० मे अजमेर का अस्तित्व ही नही था। इसके अतिरिक्त महमूद गजनवी का मुकाबिला करने के लिये विग्रहराज की सेनाएँ भेजना फारसी के दूसरे इतिहासकार ने नही लिखा है। कुछ भी हो, विग्रहराज सपालदक्ष के चौहान-शासको मे महानतम् शासक था। उसने अपने वश के गौरव व प्रतिष्ठा की उस समय रक्षा की जब चौहानो के शत्रु सब तरफ से सपालदक्ष को घेरे हुए थे।

सपालदक्ष के शासक विग्रहराज ने महमूद गजनी की सेनाओं का मुकाबला किया था।

विग्रहराज के पश्चात् सपालदक्ष के शासको मे दुर्लभराज द्वितीय महत्वपूर्ण शासक हुआ है। दुर्लभराज को शकराय शिलालेख में महाराजाधिराज भी कहकर पुकारा गया है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि दुर्लभराज द्वितीय के शासन-काल मे चौहान राज्य की सीमाएँ विस्तृत हो गई थीं। बिजोलिया शिलालेख मे तो यहाँ तक लिखा हुआ है कि चौहान राज्य की सीमाए इसके शासनकाल मे डेल्टा तक पहुच गई थी। कहने का तात्पर्य यह है कि सपालदक्ष के इतिहास मे दुर्लभराज द्वितीय पहला शासक था कि जब चौहानो ने विस्तारवादी नीति को अपनाया।

दुर्लभराज द्वितीय और दुर्लभराज तृतीय के बीच मे चार शासक हुये। दुर्लभराज तृतीय की मुसलमानों के साथ भी लडाइयाँ हुई क्योकि 'पृथ्वीराज विजय' मे लिखा हुआ है कि मतगो के विरुद्ध युद्ध करते हुये वह मारा गया। यह स्पष्ट है कि जिस समय दुर्लभराज तृतीय राज्य कर रहा था उस समय मुस्लिम सेनाएँ राजस्थान के कई भागो को रौंद रही थीं। सपालदक्ष के चौहानो को उनके विरुद्ध युद्ध लडना पडा। दुर्लभराज तृतीय को गुजरात के चालुक्यो के विरुद्ध भी युद्ध लडने पडे और किसी एक युद्ध मे गुजरात का शासक मारा गया।

विग्रहराज तृतीय दुर्लभराज तृतीय का उत्तराधिकारी था। यह 1136 विक्रमी के लगभग राजगद्दी पर बैठा होगा। इसका पुत्र पृथ्वीराज प्रथम था जो विजोलिया शिलालेख में सालदेव के नाम से पुकारा गया है। पृथ्वीराज प्रथम ने भी गुजरात के चालुक्यों के विरुद्ध युद्ध किया क्योंकि यह लोग ब्राह्मणों की सम्पत्ति को नुकसान पहुंचा रहे थे। पृथ्वीराज प्रथम के बाद उसका पुत्र अजयराज गद्दी पर बैठा। इसने मालवा के परमार शासक के नरवर्मन को पराजित किया। **'पृथ्वीराज विजय'** में इसे 'गर्जन मतंगा' कहकर पुकारा गया है जिसका तात्पर्य यह है कि इसने गजनी की मुस्लिम सेनाओं को अवश्य पराजित किया होगा। **तबकाते नासिरी** और **तारीख-ए-फरिश्ता** को भी पढ़ने से जाहिर होता है कि गजनी की सेनाएँ राजस्थान में नागौर तक प्रवेश पा चुकी थीं और जैसा ऊपर कहा जा चुका है नागौर सपालदक्ष के चौहानों के अधिकार में नरदेव के शासन-काल में ही आ चुका था। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि अजयराज का मुस्लिम सेनाओं से अवश्य युद्ध हुआ होगा।

अजयराज के द्वारा ही अजमेर शहर की नींव रखी गई थी। साम्भर का प्रदेश निरन्तर मुस्लिम आक्रमण के कारण असुरक्षित था अतएव अजमेर की स्थापना करके इसने सपालदक्ष के चौहान शासकों को एक सुरक्षित राजधानी प्रदान की। अजयराज के समय के चांदी और तांबे के सिक्के प्राप्त हुये हैं जिसमें उसका और उसकी रानी सोमालदेवी के नाम हैं। यद्यपि अजयराज स्वयं शिव का भक्त था लेकिन इसने वैष्णव सम्प्रदाय और जैन धर्म के प्रति सहिष्णु दृष्टिकोण अपनाया। इसकी आज्ञा से ही जैनियों ने अजमेर में जैन मन्दिरों का निर्माण करवाया था। अजमेर के राजपूताना म्यूजियम में चौहानों की जो खंडित प्रशस्ति मौजूद है उसको पढ़ने से जाहिर होता है कि अजयराज पुष्कर चला गया था और वहीं उसने अपना पार्थिव शरीर त्याग दिया था।

अरनो राजा 1170 विक्रमी के लगभग उत्पन्न हुआ और 20 वर्ष की उम्र में इसका राज्याभिषेक हुआ। चौहानों की खंडित प्रशस्ति में इसके चार महान कार्य बताये गये हैं :—

अर्नोराजा 1113 A.D. to 1169 A.D.

1. इसने अजमेर के निकट मुसलमानों का संहार किया।
2. मालवा के शासक नरवर्मन को पराजित किया।
3. इसके शासनकाल में चौहानों की सेना सिंध के प्रदेश तक पहुंच गई थी।
4. इसने हरितंका पर आक्रमण किया।

डा० दशरथ शर्मा का कथन है कि गजनी की मुस्लिम सेनाओं के साथ अरनोराजा का अवश्य युद्ध हुआ होगा क्योंकि इसके पिता अजयराज ने नागौर मुसल-

मानों से छीन लिया था। इसी तरह से मालवा के शासक नरवर्मन को पराजित करना एक ऐतिहासिक सत्य है। इसका जिक्र केवल चौहान प्रशस्ति मे नही है बल्कि बिजोलिया के शिलालेख मे भी है। यह भी सम्भव है कि पूर्वी पंजाब के कुछ प्रदेश इसके अधिकार मे आ गये हो और हरियाना के प्रदेश मे इसने अपना अधिकार कर लिया हो। इससे यह स्पष्ट होता है कि अरनो राजा को दिल्ली के शासको के विरुद्ध भी युद्ध लड़ना पड़ा और आधुनिक बुलन्दशहर के डोड राजपूतो के विरुद्ध भी इसे युद्ध लडना पडा। अरनो राजा की इन सब विजयो का केवल यही कारण हो सकता है कि गुजरात के चालुक्य और सपालदक्ष के चौहानो के बीच राज्य विस्तार की परम्परागत प्रतिस्पर्द्धा चली आ रही थी और क्योंकि मालवा का प्रदेश दोनो के लिये ही महत्वपूर्ण था इसलिये उस पर अरनो राजा ने अधिकार करने का अवश्य ही प्रयत्न किया होगा। अरनो राजा के शासन काल मे चौहान–चालुक्य प्रतिस्पर्द्धा अपनी चरम सीमा पर पहुच गई थी। गुजरात के शासक कुमारपाल ने अरनो राजा की बढ़ती हुई सेनाओ को आबू पर्वत के निकट पराजित किया था। यह भी प्रतीत होता है कि इसके शासन काल मे गुजरात की सेनाऐं अजमेर के निकट आ गई थी लेकिन अजमेर की अभेद्य सुरक्षा प्राचीर पर वह अधिकार नही जमा सका। अरनोराजा चालुक्य राजा के पराजित होने पर अधिक समय तक जीवित नही रह सका। उसके पुत्र जागणदेव ने उसे मार डाला और 'पृथ्वीराज विजय' के अनुसार वह स्वय भी कुछ समय के बाद अपने भाई विग्रहराज चतुर्थ के द्वारा मारा गया।

विग्रहराज चतुर्थ का शासन मेवाड के बिजोलिया, माडलगढ़ और जहाजपुर के प्रदेश पर रहा था। इन प्रदेशो से इसके शासन-काल के बहुत से शिलालेख और अन्य प्रमाण प्राप्त हुये हैं। लेकिन इसे भडानक लोगो के द्वारा अवश्य ही पराजित होना पडा। विग्रहराज चतुर्थ की आकाक्षावादी भावना इतनी अधिक तीव्र हो गई थी कि अरनो राजा के समान इसने भी दिल्ली पर आक्रमण किया और बिजोलिया शिलालेख के अनुसार तोमरो से दिल्ली छीन ली। इसने हासी का प्रदेश भी अपने अधिकार मे कर लिया। दिल्ली विजय के साथ साथ चौहानों और तोमरो के सघर्ष का भी अन्त हो गया और दिल्ली की विजय ने सपालदक्ष के चौहानो को भारतीय शक्ति (All India Power) के रूप मे परिवर्तित कर दिया।

> अर्नोराजा ने तोमरो से दिल्ली छीनकर सपालदक्ष के चौहानो को भारतीय शक्ति बना दिया। इसका शासन–काल सपालदक्ष के इतिहास का स्वर्ण युग था।

इसने आर्यावर्त को स्वतन्त्र किया। आर्यावर्त की स्वतन्त्रता के लिये मुस्लिम आक्रमणकारियो के विरुद्ध आत्म-रक्षा के कतिपय युद्ध लड़ने पड़े। इन युद्धो का विस्तृत वर्णन 'पृथ्वीराज विजय' मे मिलता है। विग्रहराज केवल एक सफल सेनानायक ही नहीं था इसने कई नवीन दुर्गों का निर्माण भी करवाया और बहुत से नये शहर बसाये थे। स्वय शिव का भक्त था लेकिन जैनियो के साथ इसका सहिष्णु दृष्टिकोण था। कहने का

तात्पर्य यह था कि इसके शासन काल में सपालदक्ष की चतुर्मुखी उन्नति हुई। अतएव डा० दशरथ शर्मा ने इसके शासन काल को सपालदक्ष के चौहानों का स्वर्ण युग कहकर पुकारा है।

विग्रहराज द्वितीय की मृत्यु के बाद जागण देव के पुत्र पृथ्वीराज द्वितीय का राज्याभिषेक हुआ। इसके शासन काल में सपालदक्ष के चौहानों को पंचपुरा के शासक के विरुद्ध युद्ध लड़ना पड़ा और मुसलमानों के विरुद्ध युद्ध लड़ने पड़े। पृथ्वीराज विक्रमी 1226 के लगभग मृत्यु को प्राप्त हो गया था और उसके बाद अरनोराजा का जीवित पुत्र सोमेश्वर जो पृथ्वीराज द्वितीय का चाचा था, गद्दी पर बैठा। पृथ्वीराज तृतीय इसी सोमेश्वर का पुत्र व उत्तराधिकारी था।

Nature of Chauhan expansion

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि सपालदक्ष के चौहानों ने अपने राज्य का विस्तार किया। विस्तार उत्तर और पूर्व की दिशा में किया गया था। लेकिन इन प्रदेशों को यह स्थायी रूप से अपने अधिकार में नहीं रख सके। यह शासक अपने नाम को स्थायी रखना चाहते थे और इसका प्रमाण यह है कि साम्भर झील और अजमेर शहर इनके द्वारा बसाये गये। सपालदक्ष के चौहान शासक अकांक्षावादी थे और उन्हें इसलिये गुजरात में चालुक्यों, दिल्ली में तोमर और मुस्लिम आक्रमणकारियों से मुकाबला करना पड़ा। पृथ्वीराज द्वितीय जिस समय गद्दी पर बैठा उस समय उसे विरासत में मुसलमानों की प्रतिस्पर्द्धा अपने पूर्वजों से प्राप्त हुई थी। यह भी स्पष्ट है कि पृथ्वीराज तृतीय के राज्याभिषेक से पहले ही साम्भर और अजमेर के चौहान शासक भारतीय शक्ति बन चुके थे।

सपालदक्ष के चौहान केवल विजेता ही नहीं थे वरन् उन्होंने कला को भी प्रोत्साहन दिया था। इनके द्वारा कई शहर बसाए गए, दुर्गों का निर्माण किया गया, साहित्यकारों को भी सरक्षण प्रदान किया गया। आधुनिक अजमेर में ढाई दिन के झौंपड़े के नाम से जो ऐतिहासिक भवन प्रसिद्ध है, उस भवन में सरस्वती कंठाकरण नामक कालेज सपालदक्ष के चौहान शासकों के द्वारा प्रारम्भ किया गया था। जब अजमेर मुसलमानों के अधिकार में आ गया तब उस भवन का भी रूप परिवर्तित कर दिया गया।

पृथ्वीराज चौहान[1] (1166–1193 A. D.)

सोमेश्वर का पुत्र पृथ्वीराज बड़े ही शुभ मुहूर्त में उत्पन्न हुआ था[2] जिस समय उसके पिता की मृत्यु हुई उसकी आयु केवल ११ वर्ष की थी। अतः राजमाता कर्पूर देवी ने पृथ्वीराज तथा उसके भ्राता हरीराज का संरक्षण किया। संरक्षण काल में

---

1. फारसी तवारीखों में इसे रायपिथौरा कहकर सम्बोधित किया गया है।

2. देखिये डा० दशरथ शर्मा का राजस्थानी बीकानेर में प्रकाशित लेख 'पृथ्वीराज तृतीय की जन्म तिथि'।

Kaimasa राज्य के मत्री के रूप मे चौहान राज्य की देखभाल करता था । 118
मे पृथ्वीराज ने शासन की बागडोर हाथ मे ले ली ।

बागडोर सभालते ही पृथ्वीराज को कठिनाइयों का सामना करना प
पहली कठिनाई विग्रह राज के पुत्र नागार्जुन की ओर से थी । पृथ्वीराज को

पृथ्वीराज की प्रारम्भिक कठिनाइयाँ

वयस्क समझ कर नागार्जुन ने गुडापुर
अपना अधिकार जमा लिया । शायद
अजमेर पर भी अधिकार कर लिया थ
अत पृथ्वीराज को उसके विरुद्ध युद्ध ल
पडा । युद्ध मे नागार्जुन पराजित हुआ और मारा गया ।

दूसरी कठिनाई Bhandanka की ओर से उत्पन्न की गई थी । इन लोग
आधुनिक रिवाडी-भिवानी और वर्तमान अलवर जिले के कुछ भागो पर अधिकार
1182 ई० के लगभग पृथ्वीराज ने इनके विरुद्ध कूच किया और उन्हे पराजित कि

इन दोनो विजयो ने पृथ्वीराज की आकाक्षा को प्रोत्साहन दिया । वह दिगि
की कल्पना करने लगा । उसने चन्देलो की राजधानी महोबा पर अधिकार कर

पृथ्वीराज की विजय

और वहाँ के शासक परमारदीन को परा
किया । पृथ्वीराज के विरुद्ध कन्नौज के ग
वाल शासको ने परमारदीन की सहायता
थी । तत्पश्चात् पृथ्वीराज ने जैजाक मुक्ति के प्रदेश को रौद डाला ।

पृथ्वीराज का गुजरात के चालुक्यो के साथ भी युद्ध हुआ । पृथ्वीराज र
के अनुसार गुजरात के शासक भीमदेव ने नागौर पर अधिकार कर लिया था । उ
सामना करते हुए पृथ्वीराज का पिता सोमेश्वर युद्ध मे मारा गया था । अत
की मृत्यु का बदला लेने के लिए पृथ्वीराज ने 1187 ई० मे गुजरात पर आक
किया और इसी समय आबू के परमार शासक Dharavarsa को भी पराजित कि

पृथ्वीराज की प्रतिहारो से भी लडाई हुई । लेकिन पृथ्वीराज के जीवनका
सर्वाधिक महत्वपूर्ण उसका कन्नौज के जयचन्द के साथ सघर्ष था । इस सघर्ष का

सयोगिता की कहानी काल्पनिक नहीं है

कारण यह था कि पृथ्वीराज और जय
दोनो ही आकाक्षावादी शासक थे ।[2] जय
ने पृथ्वीराज के विरुद्ध जैजाक मुक्ति
शासक परमारदीन को सहायता दी
लेकिन दोनो के बीच मनमुटाव का मूल कारण यह था कि पृथ्वीराज कन्नौज के शा

---

1 अबुलफजल कृत 'आईने अकबरी' मे नागार्जुन को अजमेर का शा
कहकर सम्बोधित किया गया है ।

2 Elliott & Dawson History of India as told by its O
Historians, vol II, Page 214

Dr Dasharath Sharma . Early Chauhan Dynasties P 7

की पुत्री संयोगिता को स्वयंवर से भगा लाया था। यद्यपि कुछ आधुनिक इतिहासकारों[1] ने संयोगिता की इस कहानी को काल्पनिक कह कर पुकारा है, लेकिन इसे एकाएक मिथ्या कहकर पुकारना भी ऐतिहासिक सत्य नहीं है। **पृथ्वीराज रासो** और **पृथ्वीराज विजय** में स्पष्ट लिखा है कि पृथ्वीराज सुन्दर अप्सरा संयोगिता पर मोहित हो गया और इसलिए वह संयोगिता को स्वयंवर में से ले आया। जयचन्द ने पृथ्वीराज को जानबूझ कर स्वयंवर में सम्मिलित होने के लिए निमन्त्रण नहीं दिया था। यद्यपि संयोगिता और पृथ्वीराज ने एक दूसरे को पहले नहीं देखा था और पृथ्वीराज की उससे पहले भी दो पत्नियां मौजूद थीं, लेकिन पृथ्वीराज उस 'अप्सरा' की सुन्दरता पर केवल उसकी प्रशंसा सुन-कर इतना अधिक मोहित हो गया था कि अपने प्रतिद्वन्दी जयचन्द के द्वार तक गया और वहां से संयोगिता को लाया तथा फिर उसके साथ विवाह किया। अबुलफजल, चन्द्रशेखर और चन्द्र वरदाई ने जयचन्द और पृथ्वीराज के मनमुटाव का मुख्य कारण संयोगिता का विवाह बताया है। यह उस युग में असम्भव भी नहीं था।

संयोगिता के विवाह के प्रश्न पर जयचन्द और पृथ्वीराज का मनमुटाव अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया और उसके कुछ समय बाद ही मुहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज पर आक्रमण किया। अतः जयचन्द ने पृथ्वीराज की कोई सहायता नहीं की जिसका परिणाम यह निकला कि मुहम्मद गोरी ने पहले पृथ्वीराज को और फिर जयचन्द को पराजित किया। पृथ्वीराज की इस पराजय के साथ ही राजपूतों के हाथ से भारत का राज्य निकल गया। भारत पर मुसलमानों का अधिकार हो गया और यह देश उस समय से लेकर 15 अगस्त 1947 ई० तक निरन्तर रूप से परतन्त्र ही रहा।

पृथ्वीराज पर आक्रमण करने का कारण

तराइन का युद्ध—मुहम्मद गोरी आकांक्षावादी शासक था। वह अपने आपको पंजाब का स्वामी समझता था क्योंकि यह प्रदेश गज्नी सल्तनत का अङ्ग रह चुका था। उसका दृढ़ विश्वास था कि यदि उसे अपने मुख्य प्रतिद्वन्दी ख्वारिज्म के शासक का मुकाबला करना है तो पंजाब पर अधिकार करना अनिवार्य था। इसके अतिरिक्त

---

1. Dr. R. S. Tripathi : History of Kanauj.

इन लोगों का कहना है चूंकि पृथ्वीराज प्रबन्ध कोष तथा महाकाव्य में रोमांचकारी घटना का वर्णन नहीं है, इसलिए इसे ऐतिहासिक नहीं माना जा सकता। लेकिन इन ग्रंथों में पृथ्वीराज के जीवन की प्रत्येक घटना का वर्णन नहीं है इसलिये केवल Negative Evidence के आधार पर इसे काल्पनिक कहना युक्तिसंगत नहीं है।

2. Dr. Dasharath Sharma : Early Chauhan Dynasties—
P.P. 96–99.

वह एक पवित्र मुसलमान भी था[1]। लेकिन उसका मुख्य ध्येय राजनैतिक विस्तार करना था। मुल्तान, सिंध व पंजाब को विजय कर लेने के पश्चात् मुहम्मद गोरी के राज्य की सीमायें पृथ्वीराज चौहान के राज्य की सीमाओं को छूने लगी थी जो इस समय दिल्ली और अजमेर का स्वामी था। इसी समय नाडोल के हिन्दू राज्य पर विजय कर लेने के पश्चात् मुहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज चौहान के पास एक दूत भेजा और कहलाया कि वह उसे भेंट दे और उसके सम्मुख उपस्थित हो। पृथ्वीराज ने मुहम्मद गोरी के प्रस्ताव को ठुकरा दिया[2] लेकिन इस समय पृथ्वीराज ने एक भयंकर भूल की। उसने गुजरातियों की कोई सहायता नहीं की और जिसका परिणाम यह निकला कि गुजरात की पराजय के पश्चात् 1191 में उसको आक्रमणकारी का सामना करना पड़ा। मुहम्मद गोरी के समान पृथ्वीराज भी धर्म परायण शासक था वह भी मलेच्छों का संहार अपना ध्येय समझता था।[3]

पृथ्वीराज पर आक्रमण करने का कारण

हिन्दू इतिहास लेखकों के अनुसार पृथ्वीराज मुहम्मद गोरी को 1192 से पहले सात बार पराजित कर चुका था। लेकिन मुस्लिम इतिहासकारों ने इन दोनों के बीच लड़े जाने वाले सिर्फ दो युद्धों का ही वर्णन किया है। डा० दशरथ शर्मा ने अपने अनुसंधान ग्रंथ 'Early Chauhan Dyansties' में लिखा है कि तराइन के प्रथम युद्ध से पहले साधारण रूप से मुहम्मद गोरी और पृथ्वीराज के बीच मुठभेड़ें होती रही होंगी, जिनका मुस्लिम इतिहासकारों ने वर्णन नहीं किया है।

The First battle of Tarain

मुहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज चौहान के राज्य में स्थित Tabarhindah के दुर्ग को अपने अधिकार में कर लिया और 1200 घुड़सवारों के नेतृत्व में उसका प्रबंध काजी जियाउद्दीन के हाथों में सौंप दिया। फरिश्ता लिखता है कि पृथ्वीराज अपने 2,00,000 घुड़सवार व 3,000 हाथियों को साथ लेकर दिल्ली के शासक गोविन्दराज के साथ मुहम्मद गोरी का मुकाबला करने थानेश्वर से 14 मील दूरी पर तराइन नामक स्थान पर पहुँचा। यह गाव जिला करनाल में आधुनिक करनाल व थानेश्वर के बीच में स्थित है। दोनों सेनाओं का युद्ध कुरुक्षेत्र की प्रसिद्ध युद्ध भूमि में हुआ।

---

1 डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव के शब्दों में "He considered it to be his duty to bring the message of Muhammad to the Hindus of India and to put an end to idolatry"

2 Dr Dasharatha Sharma Early Chanhan Dynasties

3 "Prithvi Raj regarded the destruction of the Muslims as his special mission in this world" Dr Dasharatha Sharma, P 81.

राजपूतों ने मुसलमानों के दायें व बायें पक्ष पर हमला बोल दिया। मुसलमानों में भगदड़ मच गई। मिनहाज सिराज तबकाते-ए-नासिरी में लिखता है "So great was the agony caused by the injury that the Sultan turned round his charger's head and receded; and might have fallen off his horse and perished in the general melee, had he not been recognised by a Khilji youth who seeing the Sultan's danger, sprang up behind him, and supported him in his arms, carried him of the field of battle. The Muslim army had been in the meanwhile utterly routed."

राजपूतों ने 80 मील तक मुसलमानों का पीछा किया। परन्तु वे लोग शीघ्र एक सुरक्षित स्थान पर पहुंच गए कि जहाँ थोड़ी देर बाद सुल्तान भी आ पहुंचा "इससे पूर्व मुसलमानों को विधर्मियों के हाथ ऐसी पराजय का सामना नहीं करना पड़ा था।" (डा० ईश्वरीप्रसाद)

पृथ्वीराज ने मुस्लिम सेना का पीछा करना छोड़कर एक बहुत भारी गल्ती की; उसने मुसलमानों को पुनः संगठित हो जाने का अवसर प्रदान किया। भागे हुये शत्रु का पीछा नहीं करना हिन्दू-शास्त्रों में अवश्य लिखा है। परन्तु यह कथन अब पुराना हो चुका था। इसका दुःखद परिणाम यह निकला मुहम्मद गौरी ने पृथ्वीराज की गफलत का पूरा फायदा उठाया और उसे तराइन के युद्ध क्षेत्र में ही अगले वर्ष बुरी तरह पराजित किया।

The Second battle of Tarain

Firuz Kuh में कुछ महीने अपने भाई के साथ बिताने के पश्चात् मुहम्मद गौरी गजनी लौट गया और वहां से 1,20,000 तुर्की, अफगान और ताजिक घुड़सवारों की सुसंगठित सेना लेकर पृथ्वीराज का मुकाबला करने के लिए भारत की तरफ रवाना हुआ। लाहौर पहुंचने के बाद उसने किवाम-उल-मुल्क को पृथ्वीराज के पास अपना दूत बनाकर भेजा। पृथ्वीराज को इस्लाम स्वीकार कर लेने का भी संदेश भिजवाया था। (See Early Chauhan Dynasties P. 85.)

गौरी ने बेखबर पृथ्वीराज पर हमला बोल दिया

भटिंडा होता हुआ पृथ्वीराज फरिश्ता के अनुसार 3 लाख घुड़सवार व 3000 हाथी लेकर तराइन के युद्ध क्षेत्र में 1192 में आ गया। युद्ध शुरू होने से पहले पृथ्वीराज ने गौरी के पास एक पत्र भी लिखा था जिसमें उसको धमकी दी गई थी कि यदि उसने अपना मुंह वापस गजनी की तरफ नहीं मोड़ा तो उसे नष्ट भ्रष्ट कर दिया जायगा। फरिश्ता लिखता है कि इस पत्र का मुहम्मद गौरी ने बड़ा मुंह तोड़ जवाब दिया। लेकिन मुहम्मद उतबी के द्वारा

लिखी हुई पुस्तक "जमीउल हकीकत" को पढने से पता चलता है कि मुहम्मद गोरी ने बडी सतर्कता के साथ प्रस्थान किया था और जब वह पृथ्वीराज की सेना के सामने पहुचा तो उस समय पृथ्वीराज सो रहा था। राजपूत सैनिक नित्यकर्म के लिये जा चुके थे। इस प्रकार मुहम्मद गोरी ने बेखबर शत्रु पर प्रहार किया और उसके प्रहार का प्रकोप दिन म 3 बजे अपनी चरम सीमा पर पहुच गया। नतीजा यह निकला कि राजपूत सैनिक बुरी तरह पराजित हुये। इतिहासकार हसन निजामी लिखता है कि लगभग एक लाख राजपूत सैनिक मारे गये जिनमे दिल्ली का गोविन्दराज भी था। पृथ्वीराज का पीछा किया गया और उसे सरस्वती (आधुनिक सिरसा) के निकट पकड लिया गया।

तबकाते ए नासिरी का लेखक मिनहाज सिराज लिखता है कि पृथ्वीराज को तुरन्त मौत के घाट उतार दिया गया था। लेकिन हसन निजामी लिखता है कि उसे गिरफ्तार करके अजमेर ले जाया गया जहा उसका देश द्रोह के अपराध मे कुछ समय बाद वध कर दिया गया। 'प्रबन्ध चिन्तामणि' नामक ग्रथ को पढने से पता चलता है कि मुहम्मद गोरी पृथ्वीराज को वापस गद्दी देना चाहता था। लेकिन वह *बाद में नाराज हो गया था और उसे मृत्यु दण्ड दिया।*

डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव ने ठीक ही लिखा है—' The second battle of Tarain is landmark in the history of India " यह एक निर्णायक युद्ध था जिसने भारत मे मुस्लिम राज्य की स्थापना को दृढ किया। हिन्दू मन्दिरो को तोडा गया और इस्लाम को राज्यधर्म के रूप स्वीकार किया गया। तराइन की पराजय के बाद पृथ्वीराज चौहान भारत का महान् शासक नहीं रहा।

Results of the Battle of Tarain

पृथ्वीराज की मृत्यु —तराइन के युद्ध मे पराजित हो जाने के बाद पृथ्वीराज को तुरन्त मौत के घाट नही उतारा गया था। उसे बन्दी बनाया गया। बन्दी बनाने के पश्चात भी मुहम्मद गोरी और पृथ्वीराज के सयुक्त नाम से सिक्के जारी होते रहे।[1] लेकिन पृथ्वीराज की मलेच्छो के प्रति घृणा कम नही हुई और वह उनके विनाश की युक्तियाँ सोचने लगा। अत उसके विरुद्ध षडयन्त्र का अपराध लगाकर मार डाला गया।[2]

1 See Thomas —Chronicles of the Pathan Kings of Delhi P P 17–18

2 Hasan Nizami —Taju l Maasir, English translation in Elliot's History of India, Vol II, P 215 पृथ्वीराज प्रबन्ध (Ms) म भी पृथ्वीराज की मृत्यु षडयन्त्र द्वारा बताई गई है। यह ग्रंथ पन्द्रहवीं शताब्दी से पहले का लिखा हुआ है।

पृथ्वीराज की मृत्यु के पश्चात सपालदक्ष के प्रदेश पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। इस राजा के प्रसिद्ध झांसी, सरस्वती, सभाना और कुहराम के किले सुगमता से मुसलमानों के अधिकार में आ गये।

पृथ्वीराज का मूल्यांकन :—मध्यकालीन भारत के इतिहास का पृथ्वीराज चौहान अन्तिम हिन्दू सम्राट था। राज्याभिषेक के समय में उसे विरासत में आपत्तियां ही प्राप्त हुई थीं। चौहान और चालुक्यों का संघर्ष उसके पूर्वजों की विरासत थी। मुसलमानों का प्रवेश उसके जन्म से लगभग दो शताब्दी पूर्व ही राजस्थान में हो चुका था और उसके पूर्वज उनके विरुद्ध लोहा ले चुके थे। दिग्विजय की कल्पना वैसे प्राचीन वैदिक संस्कृति का एक अंग है लेकिन पृथ्वीराज के पूर्व सपालदक्ष के चौहान राज्य के उत्तर और पश्चिम दिशा में विकास करने का पहले से ही प्रयत्न करते आये थे। अतः यदि पृथ्वीराज को चन्देलों, चालुक्यों और भंडानकों के विरुद्ध निरंतर युद्ध करने पड़े, तो कोई नई बात नहीं थी जिसके लिये उसे दोषी ठहराया जा सके। जयचन्द के साथ संघर्ष सैद्धान्तिक था।

पृथ्वीराज केवल एक विजेता ही नहीं था, वह साहित्यकारों का आश्रय-दाता भी था। 'पृथ्वीराज विजय' का रचयिता **जयनक** उसके दरबार में रहता था **विद्यापति, जनार्दन, विश्वरूप** और पृथ्वीभाट (जिसे कुछ लेखकों ने पृथ्वीराज रासो के रचयिता **चन्द्र बरदाई**) का ही पर्यायवाची नाम माना है, उसके दरबार मे रहते थे और उन्हें पृथ्वीराज के मंत्री **पद्मनाभ** के द्वारा संरक्षण दिया जाता था।

राज्योचित व्यक्तित्व और गुण होते हुये भी पृथ्वीराज ने कुछ ऐसी भूलें की थी जिनके कारण उसकी पराजय और सपालदक्ष राज्य का अन्त हुआ। जिस समय भारत के द्वार को मुहम्मद गौरी की आक्रमणकारी सेनाएं खटखटा रही थीं उस समय पृथ्वीराज अपने चाचा विग्रहराज के पद चिन्हों का अनुसरण करके दिग्विजयी बनने का स्वप्न देख रहा था। उसने जयचन्द के साथ सम्बन्ध बिगाड़ लिये थे, उसे ऐसे वक्त पर जयचन्द के साथ सम्बन्ध नहीं बिगाड़ने चाहिये थे। अतः यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण नही होगा कि वंश-परम्परागत नीति का अनुसरण करने में पृथ्वीराज ने अपने पतन का मार्ग प्रशस्त कर लिया था। इसके अलावा पृथ्वीराज ने मुहम्मद गौरी का मुकाबला करने में भी एक दूरदर्शी सफल सेनानायक के गुणों का परिचय नही दिया। तराइन के युद्ध में मुहम्मद गौरी ने उसे उस समय दबोचा था जब वह सो रहा था। उसने कभी भी मुहम्मद गौरी की शक्ति का सही मूल्यांकन करने का प्रयत्न नहीं किया, जिसका दुष्परिणाम यह निकला कि उसी मुहम्मद गौरी ने उसे मौत के घाट उतार दिया जिसे अपनी अन्तिम पराजय से केवल एक वर्ष पूर्व ही उसने छोड़ दिया था।

पृथ्वीराज के पतन का मूल कारण उसकी महत्वाकांक्षा थी

पृथ्वीराज चौहान के उत्तराधिकारी —पृथ्वीराज चौहान के पश्चात उसके पुत्र गोविन्द को अजमेर का उत्तराधिकारी बना दिया गया। गोविन्द ने मुसलमानों का आधिपत्य स्वीकार करने मे ही भलाई सोची थी लेकिन कुछ चौहान सरदार गोविन्द की इस नीति से सहमत नहीं थे। वे इसे 'कायरता की नीति' समझते थे। अतः पृथ्वीराज के भाई हरीराजा के नेतृत्व मे विद्रोह हुआ और हरीराजा ने शक्ति अपने हाथ मे लेली। हरी राजा के नेतृत्व मे चौहानों ने मुसलमानों के पाव उखाडने के फिर से प्रयत्न किये। इसमें इन्हे सफलता प्राप्त नही हुई। जिस समय मुहम्मद गोरी कन्नौज, आसनी, बनारस और कोल को विजय करने मे लगा हुआ था उस समय हरीराजा ने दिल्ली पर अधिकार करने का पुन. असफल प्रयास किया था। अन्त मे निराश हरीराजा ने अग्नि की ज्वाला मे भस्म होकर अपना अन्त कर लिया (वैशाख बदी 8 वि. स 1251 मे उसने आत्महत्या की थी)। उसकी मृत्यु के साथ ही सपालदक्ष के चौहानों का पाच शताब्दी पुराने सघर्षमय इतिहास का अन्त हो गया।

Chauhan's of Ranthambhor—पृथ्वीराज की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र गोविन्द ने कुतुबुद्दीन ऐबक के साथ सधि कर ली थी। लेकिन कतिपय चौहान सरदारों को यह पसन्द नही आया और उन्होने पृथ्वीराज के भाई हरीराजा को अजमेर व दिल्ली का स्वामी स्वीकार किया। अत गोविन्द रणथम्भोर चला गया और वहा उसने नये वश की स्थापना की।

गोविन्द की मृत्यु के बाद उसका पुत्र वल्हन भी दिल्ली के मुसलमान सुल्तानों के प्रति मित्रतापूर्ण नीति का अनुसरण करता रहा।[1] वल्हन का पुत्र और उत्तराधिकारी प्रह्लादना अधिक समय तक राज्य नही कर सका। अतः प्रह्लादना का अल्प व्यस्क पुत्र वीर नारायण अपने चाचा वागभट्ट के सरक्षण मे रणथम्भोर का शासक बना। वीर नारायण को मुसलमानो के साथ सघर्ष का प्रारम्भ सिंहासनारूढ होने के साथ ही साथ करना पड़ा।[2] अन्त मे इल्तुतमिश ने चालाकी से काम लिया और वीर नारायण को विष देने के पश्चात रणथम्भोर इल्तुतमिश के अधिकार में चला गया।[3] इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात उसके निर्बल उत्तराधिकारियो के शासन काल मे वीरनारायण के चाचा वागभट्ट ने रणथम्भोर को पुनः अपने अधिकार मे ले लिया (1236 ई०)। उसे अपने जीवन काल मे दो बार मुस्लिम आक्रमणकारी सेनाओ का सामना करना पड़ा। बारह वर्ष शासन करने के बाद

वीर नारायण प्रतिभाशाली शासक हुआ है।

1. मगलाना प्रस्तर शिलालेख जेष्ठवदी 11, वि० स० 1162.

2. वीर नारायण कच्छाहा वश की राजकुमारी के साथ विवाह करने अजमेर जा रहा था तो मुसलमानों ने उस पर प्रहार किया।

3. तबकाते नासिरी के अनुसार इल्तुतमिश का अधिकार 1226 ई० में हो गया था–Elliot & Dawson, Vol II, P. P. 324-25.

1253 ई० में वागभट्ट मृत्यु को प्राप्त हुग्रा ।[1] उसके प्रतिद्वन्दी मुसलमान भी उसे हिन्दुस्तान के महान् शासकों में समझते थे ।[2]

वागभट्ट की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र जैत्रसिंह रणथम्भीर का शासक बना । जैत्रसिंह को केवल मुस्लिम ग्राक्रमणकारियों का ही सामना नहीं करना पड़ा बल्कि इसने ग्रमरापुरी के कछवाहा शासक को भी पराजित किया था । इसने परमारों के विरुद्ध भी युद्ध किया था ।

जैत्रसिंह ने ग्रपने जीवन काल में ही ग्रपने तृतीय पुत्र हम्मीर का माघ सुदि 15, वि.सं. 1339 रविवार के दिन राज्याभिषेक संस्कार सम्पन्न किया था । इसके लगभग 3 वर्ष पश्चात् उसने ग्रपना पार्थिव शरीर त्याग दिया ।

Hammira Chouhan of Ranthambhore

जैत्रसिंह का उत्तराधिकारी हम्मीर रणथम्भीर के चौहान शासकों में ग्रन्तिम ग्रौर महानतम शासक हुग्रा है । इसके शासन-काल का इतिहास जानने के साधन

इतिहास जानने के साधन

प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं । बलवन ग्रौर गढा से प्राप्त शिलालेखों से इसके सम्बन्ध में काफी जानकारी प्राप्त होती है । न्यायचन्द सूरी का हम्मीर महाकाव्य भी इसके बारे में काफी ज्ञान कराता है । समकालीन मुस्लिस लेखकों–ग्रमीर खुसरो ग्रौर बरनी ने भी इसका ग्रलाउद्दीन के साथ हुए संघर्ष का विस्तृत वर्णन दिया है । जोधराज के हम्मीर रासो ग्रौर चन्द्रशेखर का हम्मीर हठ यद्यपि समकालीन ग्रंथ नहीं है फिर भी इसकी वीरता का बखान करते हैं ।

'हम्मीर महाकाव्य' का रचयिता लिखता है कि राज्याभिषेक के तुरन्त पश्चात् हम्मीर भी ग्रपने पूर्वजों के समान दिग्विजय की कामना करने लगा । उसने

हम्मीर की विजय

भीमरासा के शासक ग्रर्जुन को पराजित किया ग्रौर उससे भेंट ली, मांडलगढ के दुर्ग पर ग्रधिकार कर लिया । वह उज्जैन ग्रौर धार तक पहुँच गया था । परमार शासक भोज को पराजित किया । चित्तौड़, ग्राबू, पुष्कर, महाराष्ट्र ग्रौर चम्पा के शासक उसका ग्राधिपत्य स्वीकार करते थे । इन दिग्विजयों के पश्चात् हम्मीर ने भारतीय ग्रादर्श की परम्परा के ग्रनुसार ग्रश्वमेध यज्ञ के समान कोटि–यज्ञ किया । बलबन शिलालेख के ग्रनुसार उसने दो कोटि यज्ञ किये थे ।

---

1. 1248 व 1253 में मुस्लिम सेनाग्रों ने रणथम्भीर पर ग्राक्रमण किया । हम्मीर महाकाव्य के ग्रनुसार 1253 में वागभट्ट की मृत्यु हुई ।

2. "The greatest of the Rais, and the most noble and illustrious of all the princes of Hindustan". *Tarqat–I–Nasiri,* Elliot's Eng. Trans., Vol. II, Page 370.

1288 ई० तक हम्मीर के आक्रमणकारी अभियान तो समाप्त हो गये थे, लेकिन फिर भी हम्मीर को अपने अन्तिम वर्षों में मुस्लिम आक्रमणकारी सेनाओं का सामना करना पड़ा। जलालुद्दीन खिलजी के शासनकाल में दिल्ली सल्तनत की सेनाएँ 1290 ई० में रणथम्भोर के निकट झैन तक आगई थी। इस आक्रमण ने अलाउद्दीन खिलजी के अभियान का मार्ग प्रशस्त किया। 1299–1300 में खिलजी सेनाओं ने रणथम्भोर पर उस समय धावा बोल दिया जिस समय हम्मीर धार्मिक अनुष्ठान में लगा हुआ था। मुस्लिम सेनाओं का मुकाबला करते हुए हम्मीर का सेनानायक भीमसिंह मारा गया। इसी समय हम्मीर का भाई भोज उससे असन्तुष्ट होकर सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के दरबार में चला गया। अलाउद्दीन ने उसका स्वागत किया।

हम्मीर के दिल्ली सल्तनत के साथ सम्बन्ध

हम्मीर से चालाकी से रणथम्भोर के दुर्ग पर अधिकार किया

अलाउद्दीन खिलजी ने बयाना के किलेदार उलुगखां और अपने एक विश्वासपात्र सेनानायक नुसरतखां के नेतृत्व में पुन सेनायें रणथम्भोर पर अधिकार करने के लिए भेजी। जब अलाउद्दीन सैनिक सफलता सुगमता से प्राप्त नहीं कर सका तो उसने हम्मीर के सेनानायक रणमल्ल को तोड़ लिया। रणमल्ल के साथ हम्मीर का दूसरा सेनानायक रतीपाल भी शत्रु से जा मिला। हम्मीर की स्त्रियों ने जौहर किया और राजपूतों ने केसरिया बाना धारण करके शत्रु के साथ जूझ कर युद्ध किया। अन्त में विजयश्री अलाउद्दीन की रही। 10 जुलाई 1301 ई० के दिन किला मुसलमानों के अधिकार में आ गया अलाउद्दीन ने रणथम्भोर के किले का प्रबन्ध उलुगखां को सौंप दिया।

हम्मीर का मूल्यांकन—हम्मीर की पराजय के साथ रणथम्भोर के चौहानों का अन्त हो गया। उसकी पराजय का मूल कारण यह था कि उसे आदमी की ठीक से पहचान नहीं थी। उसके विश्वासपात्र मन्त्रियो ही ने उसे धोखा दिया, जिसके कारण रणथम्भोर का पतन हुआ। इसके अतिरिक्त वह अपने अन्तिम दिनों में अप्रिय भी हो गया था क्योंकि निरन्तर खिलजी आक्रमणों के कारण उसे जनता पर अधिक कर लगाने पड़े थे।

न्यायचन्द्र सूरी ने हम्मीर का ब्राह्मणो के प्रति सत्व्यवहार तथा भारतीय दर्शन को प्रोत्साहन की अपने महाकाव्य मे भूरि-भूरि प्रशंसा की है। कवि बीजादित्य उसके दरबार में रहता था। इस प्रकार हम्मीर केवल एक वीर सेनानायक ही नहीं अपितु साहित्यकारों का आश्रयदाता भी था।

हम्मीर राजपूत परम्परा का एक अद्वितीय आदर्श था जिसने इस कहावत को चरितार्थ करके दिखा दिया "प्राण जाइ पर वचन न जाई"। अलाउद्दीन के अपराधी मुहम्मदशाह को शरण देकर उसने खिलजी सुल्तान के रोष को भड़का दिया था

जिसका परिणाम उसका अन्त हुआ । लेकिन हम्मीर ने अपने वचन का पालन करने में सहर्ष अपने जीवन की भी बलि दे दी ! आज भी राजस्थानी लोक गीत उसकी प्रशंसा में गाते हैं :—

"सिंह–सवन सत्पुरुष वचन कदलन टलत एक बार ।
तिरिया–तेल हम्मीर हठ चढ़े न दूजी बार ।।"

Other Branches of Chauhans

रणथम्भौर के समान राजस्थान के अन्य भागों में भी चौहानों के राज्य थे । नाडोल के चौहान राज्य की स्थापना रावल लक्ष्मण के द्वारा ग्यारहवीं शताब्दी में

नाडोल के चौहान

की गई थी, तेरहवीं शताब्दी में [1231 ई० से पहले] नाडोल के राज्य पर जालोर के चौहान शासक उदयसिंह का अधिकार हो गया ।

जालोर में भी कीर्तपाल के द्वारा चौहान वंश का स्वतन्त्र राज्य 1160 ई० के लगभग स्थापित किया गया था । तृतीय शासक उदयसिंह के शासन काल में जालोर

जालोर के चौहान

का राज्य अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया था । यह जालोर के शासकों में महानतम शासक था । उदयसिंह की तीसरी पीढ़ी में कन्हड़दे जालोर का शासक हुआ । इसके शासन काल में अलाउद्दीन खिलजी ने जालोर पर आक्रमण किया था । अलाउद्दीन की सेनाओं की विजय के साथ ही जालोर के चौहान वंश का भी अन्त हो गया । जालोर के चौहानों के Feudatory अधीनस्थ सत्यपुरा (वर्त्तमान सांचोर) में शासन करते थे ।

चन्द्रावती और आबू में भी चौहानों के देवड़ा शाखा के स्वतन्त्र राज्य थे । पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में चन्द्रावती और आबू के राज्य संयुक्त हो गये

सीरोही के देवड़ा चौहान

और सिरोही के राज्य की स्थापना हुई । सिरोही पर देवड़ा वंश के चौहान शासक 1950 तक शासन करते रहे ।

Life in Chauhan Dominions

प्राचीन भारत के अन्य हिन्दू शासकों के समान राजस्थान के चौहान भी सर्व शक्तिमान शासक थे । लेकिन यह निरंकुश शासक नहीं थे । प्रचलित परम्परा के

चौहानों का प्रशासन

अनुसार राजा को अपने मन्त्री से प्रत्येक प्रश्न पर सलाह लेनी पड़ती थी । पांच मन्त्री होते थे :—

(i) महामन्त्री अथवा महामात्य
(ii) सेनापति अथवा दंडनायक

(iii) सधि विग्रह
(iv) कवियो और पडितो की देखभाल करने वाला मन्त्री और
(v) पौराणिक ।

लेकिन मन्त्रियो की सलाह मानना शासक के लिये अनिवार्य नही था । इन मन्त्रियो के अतिरिक्त कुछ अन्य कर्मचारी भी होते थे। चौहानो के विभिन्न शिलालेखो मे उनके नाम इस प्रकार लिखे हुए मिलते हैं —

(i) दूतक
(ii) पुरोहित और व्यास
(iii) प्रतिहार
(iv) भाडारिक और
(v) खडगग्रह ।

चौहानो के राज्य का जब विस्तार हो गया तो उन्होने प्रशासन की सुविधा की दृष्टि से अपने राज्य को विषयो मे बाँट दिया था । विषय ग्रामो मे विभक्त थे ।

चौहान शासको के 'सामन्त' भी थे जो ठाकुर, राणाका और भोक्ता के नाम से सम्बोधित किये जाते थे ।

चौहान शासको ने अपने राज्यो मे प्रजा को स्थानीय स्वायत्त शासन के अधिकार प्रदान कर रखे थे । प्रत्येक ग्राम मे नागरिको की एक साधारण सभा होती थी जिसे महाजन कह कर पुकारा जाता था । इसकी अनुमति से ही नये कर लगाये जाते थे। राजा महाजन का आदर करता था अन जन-साधारण महाजन का सदस्य बनना गर्व के साथ स्वीकार करती थी । महाजन यदि, चाहे तो अपनी शक्ति पाच व्यक्तियो की एक सभा को हस्तातरित कर सकती थी । यह सभा पचकुल कहलाती थी । इस प्रकार चौहान शासन काल मे स्थानीय स्वराज्य सस्थाओ को प्रोत्साहित किया गया । यह सस्थायें अप्रत्यक्ष रुप से शासक पर नियत्रण रखती थी, और राजा निरकुश नही हो सकता था ।[1]

Local-Self Government

चौहानो का पुलिस, मिलिटरी, न्यायिक व रेवेन्यू प्रशासन पूर्ण रूप से सुव्यवस्थित था । यद्यपि उनके मिलिटरी प्रबन्ध मे कुछ स्पष्ट दोष थे लेकिन यह विवादास्पद प्रश्न है कि उस युग मे उससे अधिक अच्छा कोई प्रबन्ध नहीं हो सकता था ।

अधिकाश चौहान शासक शिवधर्म के अनुयायी थे । लेकिन यह जैनधर्म के

1. "The self governing groups upon which the State was *founded formed a vast subterranean democracy limiting the absolutism of the sovereign at the top*". —Dr R. K. Mukerjee

प्रति सहिष्णु दृष्टिकोण रखते थे। इसी कारण जैन धर्म का उत्सर्ग एवं विकास राजस्थान में हुआ।[1] ब्राह्मणों का प्रभुत्व था। अतः ब्रह्मा और शक्ति की पूजा साधारण बात थी। कतिपय चौहान शासक शक्ति के भी पुजारी थे। इस प्रकार पांच शताब्दी के चौहान राज्य के अन्तर्गत राजस्थान में विभिन्न धर्मों का प्रचार हुआ।

> चौहान शासक धर्म-परायण थे

सामाजिक दशा :—राजस्थान में जाति-प्रथा का समाज में प्रभाव था। मुसलमानों के आगमन के साथ-साथ जाति प्रथा के बन्धन ढीले पड़ने लगे लेकिन फिर भी राजपूतों के सामाजिक संगठन में जाति प्रथा का पर्याप्त प्रभाव बना रहा।

राजपूती समाज में स्त्रियो का उतना ही महत्वपूर्ण स्थान था जितना कि जातिवाद का। राजपूतानी केवल अपनी वीरता, त्याग और बलिदान के लिये ही प्रसिद्ध नहीं थी, बल्कि राजपूत नारियों ने अपने अल्पव्यस्क संतानों की संरक्षिका (Reagent) के रूप में राज्यों का प्रशासन भी संभालती थीं। पृथ्वीराज तृतीय की माता कर्पूरदेवी उसकी अल्प-अवस्था (Mininority) के काल में संरक्षिका रही थी।

राजपूत समाज में स्त्री-पुरुष दोनों ही आभूषणों का प्रयोग करते थे। उनका भोजन और पोशाक साधारण थी। वे मेलों में भाग लेते थे। वे उपवास करते थे और धर्म-यात्रा करने के अभ्यस्त थे।

कतिपय चौहान शासक स्वयं साहित्यकार थे। उनके द्वारा लिखे हुए ग्रंथ अब भी उपलब्ध है। जो स्वयं विद्वान नहीं थे वह भी साहित्यकारों और विद्वानो के आश्रय-दाता थे। इनके शासन-काल में जनसाधारण की शिक्षा को भी प्रोत्साहन दिया जाता था। सपालदक्ष के चौहानों ने अजमेर में सरस्वती कंठाकरण नामक संस्कृत विद्यालय स्थापित किया था। अतएव इनके काल में काव्य एवं रासो ग्रंथों की काफी अधिक संख्या में रचना हुई। अजमेर के अतिरिक्त चित्तौड़, आबू और भीनमाल भी शिक्षा के केन्द्र थे। डा० दशरथ शर्मा ने अपनी पुस्तक में 85 विषय गिनाये हैं जो चौहान काल में पढ़ाये जाते थे।[2]

> चौहान विद्वानों के आश्रयदाता थे

चौहानों का राज्य लगभग समस्त राजस्थान के प्रदेश पर था अतः प्रतिभाशाली चौहान शासकों के द्वारा कई कस्बे और गांव भी बसाये गये। यातायात के साधनों को

---

1. See Dr. K. C. Jain : Jainism in Rajasthan
   & Dr. Dasharath Sharma : Early Chauhan Dynasties,
   P. P. 221–229.
2. Dr. Dasharatha Sharma : Early Chauhan Dynasties,
   P. 249–95

गम बनाने का प्रयत्न किया गया जिससे व्यापार और वाणिज्य की उन्नति हुई। ावश्यकता की सभी वस्तुयें सुलभ थी एव मूल्य मे उपलब्ध थी।[1]

साभर झील के कारण सपादलक्ष के शासक धनी बने थे। कतिपय चौहान ासकों ने पडोसियो की सम्पत्ति को भी लूटा था। साराश यह है कि चौहान काल मे ाजस्थान की आर्थिक स्थिति सतोषप्रद थी।

BIBLIOGRAPHY

1 Dr Dasharatha Sharma Early Chauhan Dynasties

2 Prof Mohd Habib Khaza ul-Futuh (English Trans)

3 Dr K S Lal History of Khiljs

4 डा० अतहर अब्बास रिजवी (i) आदि तुर्ककालीन भारत
(ii) खिलजीकालीन भारत

5 कवि पद्मनाभ कान्हडदे प्रबन्ध

6 डा० गौरीशकर हीराचन्द ओझा राजपूताने का इतिहास भाग I

---

1 *See Prices of Commodities in Early Chauhan Dynasties* at Page 30

5

राजपूतों की पराजय के कारण

(Causes of the Defeat of Rajputs)

राजपूत वीर एवं दुर्धर्ष योद्धा थे। मृत्यु का सहर्ष आलिंगन करते थे।[1] युद्ध क्षेत्र में वीर गति प्राप्त करना अपना सौभाग्य समझते थे[2]। राजपूत सैनिकों की संख्या भी मुसलमान सैनिकों से कम नहीं थी। व्यक्तिगत शौर्य में राजपूत सैनिक

---

1. "There is not a petty state in Rajasthan that has had its Thermopylae and scarcely a city that has not produced its Leonidas," Tod, Vol I–Introduction. Col. C.K.M. Walter writes, "The Rajput may well be proud of their ancient chivalry, for in no country in the world have we such a brave and glorious record, as is to be found in the description of those deeds of valour, which the Rajputs enacted in defence of their religious liberty and for the protection of their hearths and homes."

"राजस्थान में ऐसा कोई छोटा राज्य नहीं है कि जिसमें थर्मोपली जैसी रणभूमि न हो और शायद ही कोई ऐसा नगर मिले, लियानिडास के समान मातृभूमि पर बलिदान होने वाला वीर पुरुष उत्पन्न न हुआ।" (टॉड)"राजपूतों को अपने प्राचीन शौर्य पर गर्व करना सर्वथा उचित ही है। अपने धर्म की स्वाधीनता तथा कुल-मर्यादा की रक्षा के लिये राजपूतों ने जो वीर कार्य किये हैं तथा अपने वीरत्व व गौरव जैसा परिचय दिया है वैसा विश्व के किसी अन्य देश के इतिहास में नहीं मिलता।"

—कर्नल वाल्टर

2. "A Rajput is condemned as a Kaput (Worthless son) who fails to retaliate or die in the attempt. His very birth as a Rajput puts him under a debt, and his debt is to die (Marne Ka Rin) in Vindication of his personal and family honour in the first instance, and for his Kula and gotra whenever the call would come. The debts of salt is also repayable by laying down life for the pay-master, no matter of whatever Country or Creed."

—Dr. K. R. Quanungo : Studies in Rajput History, P. 68.

राजपूतों की पराजय के यह कारण नहीं थे कि वे गर्म देश के निवासी थे अथवा युद्ध क्षेत्र मे हाथियों का प्रयोग करते थे ।

मुसलमानों से किसी रूप से कम नही थे । उन्हे धन-धान्य की कमी नहीं थी[1] । फिर भी राजपूत मुसलमानों द्वारा पराजित हो गये, यह आश्चर्य की बात है । यह कहना पर्याप्त नही होगा कि चूंकि राजपूत गर्म देश के निवासी थे अत वे मुसलमानो की अपेक्षा कम सहनशील थे । काबुल के शाहिये भी प्राय वैसी ही जलवायु में रहने थे जैसी गजनी की थी । इसी तरह यह भी कहा जाता है कि युद्ध-क्षेत्र में हाथियो के प्रयोग के कारण राजपूतो की पराजय हुई । परन्तु महमूद गजनवी ने अपने मध्य एशियाई शत्रुओ के विरुद्ध हाथियो का प्रयोग करके ही विजय प्राप्त की थी । इसी प्रकार यह कहना भी सर्वथा पर्याप्त नही है कि पारस्परिक फूट के कारण राजपूतो की पराजय हुई । जिस प्रकार भारतवर्ष मे राजपूतो के अनेक राज्य थे उसी प्रकार मध्य एशिया और अफगानिस्तान में भी मुसलमानो के अनेक राज्य थे जो एक दूसरे का नाश करने की टोह मे रहते थे । अत राजपूतो की पराजय के वास्तविक कारण अन्यत्र खोजने होंगे ।

(1) सैनिक कारण—तुर्कों की अपेक्षा राजपूतो के सैनिक साधन उपयुक्त नहीं थे । उदाहरण के लिए राजपूतो के पास अच्छी नस्ल के घोडे नही थे । अत उनकी

राजपूतों के पास अच्छी नस्ल के घोड़े नहीं थे

सेना मे घुड़सवारो की अपेक्षा पैदल सवारो की सख्या अधिक होती थी । इसके अलावा राजपूतो की युद्ध-प्रणाली भी परम्परागत थी । राजपूत अपने हाथियो को सेना के हरावल मे इसलिये रखते थे कि वे शत्रु की अग्रिम सैन्य पक्तियो को ध्वस्त करें । अक्सर ऐसा होता था कि जब हाथी बिगड जाता था तो वह अपनी सेना को रौंदने लगता था । इस प्रणाली के विरुद्ध मुसलमान लोग हाथियों का प्रयोग शत्रु के किलो के द्वार तोड़ने के लिये अथवा शत्रु के हाथियो को बढाने से रोकने के लिये करते

राजपूत युद्ध की पैंतरेबाजियों से भी पूर्ण रूप से अवगत नहीं थे ।

थे । इसी प्रकार राजपूत सेनापति प्राय हाथी पर चढकर युद्ध करना अपना शौर्य समझते थे । इससे शत्रु सुगमता से सेनापति का पता चला लेते थे और जब वे लोग सेनापति को घायल कर देते थे तो सेना मे भगदड मच जाती थी । राजपूत सैनिक घमासान युद्ध करने मे दक्ष थे । वे तीरदाजी के प्रयोग में इतने पारगत नही थे जितने तलवार और भाले के प्रयोग में दक्ष थे । मुसलमान भागते हुये हिन्दू सैनिकों को तीरो से काफी नुकसान पहुँचाते थे राजपूतो को युद्ध की पैंतरेबाजी भी पूर्ण रूप से

1. यदि धन-धान्य की कमी पड जाती थी तो स्त्रियां अपने जेवर बेचकर राजा की सहायता करती थी ।

नहीं आती थी। राजपूतों के पास मजनिक और अरादा[1] आदि हथियार भी नहीं थे। राजपूतों की अपेक्षा मुसलमान अधिक चालाक भी थे। वह शत्रु के भेद जानने के लिये देश-द्रोही हिन्दुओं को अपनी सेना में भरती करके उन्हें ही राजपूतों के विरुद्ध काम मे लाते थे। महमूद गजनवी को सेवकपाल और नरायणपुर के राजा ने सहायता दी थी। सोमनाथ की लड़ाई मे भी उसे इस प्रकार की सहायता मिली थी। तुर्की सेना का गुफिया विभाग ऐसे देश-द्रोहियों का पता लगाकर उन्हें मुसलमान सेना में भरती करने का सतत रूप से कार्य करता था। इसके अतिरिक्त राजपूतों की पराजय का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारण यह था कि भारत मे क्षत्रिय ही युद्ध के लिये उपयुक्त समझे जाते थे जबकि तुर्की सेना में भरती के लिये प्रत्येक नागरिक उपयुक्त समझा जाता था। निरंतर आन्तरिक एवं बाह्य युद्ध लड़ने के कारण राजपूत युवक सैनिकों का क्रमशः ह्रास होता जारहा था जबकि मुसलमान सेना में नवीन शक्ति की कमी होती थी। राजपूत अपने स्वामी के नमक को हलाल करने के लिये ही लड़ते थे जब कि मुसलमानों मे धार्मिक जोश (जिहाद) था।[2] वह मौलिक सुख और पारलौकिक सद्गति की भावना को लेकर लड़ते थे। राजपूत सेना में तो जाति भाव था और मिथ्या अहंकार के कारण सामूहिक एकरूपता नही आती थी।[3] इसके विपरीत

> राजपूतों की सैनिक-शक्ति जाति-प्रथा के कारण निरंतर निर्बल होती जारही थी

तुर्की सैनिक (दास एवं स्वतंत्र) इस उम्मीद पर लड़ते थे कि व्यक्तिगत पराक्रम और साहस के द्वारा वे सुल्तान पद तक पहुँच सकते है। व्यक्तिगत उन्नति की भावना सामूहिक सफलता को अधिक सुलभ बना देती थी।

---

1. इन हथियारों का प्रयोग मुसलमान लोग किलों की विजय के लिए करते थे। इन हथियारों की सहायता से मुहम्मद गोरी ने भटिण्डा के किले पर आसानी से अधिकार कर लिया था जब कि पृथ्वीराज चौहान को इसी किले पर अधिकार करने में तेरह महीने लग गये थे।

2. राजपूतों में (विशेष तौर पर चौहानों मे) धार्मिक जोश कम नहीं था। डा० दशरथ शर्मा के शब्दों में "A careful perusal of epigraphic and literary sources of the period, whether Hindu or Muslim, would be lie the belief, populary entertained that the Muslims alone knew how to risk their lives and to make the heaviest sacrifice for their faith" (Page 322)

3. डा० दशरथ शर्मा ने अपने अनुसंधान ग्रंथ "Early Chouhan Dynasties" में तत्कालीन जाति प्रथा को ही चौहानों की पराजय का अन्य महत्वपूर्ण कारणों में से एक कारण बताया है। देखिये उनकी पुस्तक, पृष्ठ, 323।

राजपूत रक्षात्मक युद्ध में विश्वास करते थे जब कि तुर्क आक्रमणात्मक लड़ाई करते थे। अतः मुसलमान अपनी सफलता के लिये भारतीय प्रजा में आतंक फैलाने में नहीं चूकते थे। मुसलमान सैनिक अपने सेनापति के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी थे। व राजपूतों की तरह वह सामन्तों के द्वारा भेजे हुये नहीं थे जो अपने सेनापति की अपेक्षा सामंत के प्रति भक्ति रखें। राजपूत सेना के उन सैनिकों से यह उम्मीद नहीं की जा सकती थी जो पेशेवर थे और जिनके हृदय में किसी राजा अथवा सम्राट के प्रति भक्ति की भावना उत्पन्न हो ही नहीं सकती थी। यह कुछ ऐसी खामियां हैं जो राजपूतों में थी और जिनकी वजह से उनकी पराजय हुई। यद्यपि मुसलमानों की शासन प्रणाली दोष रहित नहीं थी लेकिन फिर भी उनके राजनैतिक ढांचे में कुछ ऐसी विशेषतायें थीं जिनसे कि उन्हें राजपूतों के विरुद्ध विशेष सफलता मिली। मुस्लिम कानून में शासक निर्वाचित किया जाता है इसलिये प्रत्येक मुसलमान के लिये राजपद प्राप्त करना सम्भव था और यह भी निश्चित था कि वही मुसलमान शासक राज सिंहासन पर बना रह सकता था जो स्वयं योग्य हो अथवा जिसे योग्य व्यक्तियों की स्वामिभक्ति प्राप्त हो। इसके विपरीत राजपूत शासक वंश परम्परागत राजतन्त्रात्मक शासन प्रणाली में विश्वास करते थे। राजपूत अपनी राज्य सेवा में प्राय ब्राह्मण और क्षत्रियों को ही नियुक्त करते थे, यही लोग असैनिक कर्मचारियों के पद पर नियुक्त किये जाते थे और यदि किसी सैनिक अथवा सेनापति की मृत्यु हो जाती थी तो बाप के बाद उसके बेटे को उसके स्थान पर नियुक्त कर दिया जाता था। इस व्यवस्था से बहुत से लोगों को असंतोष था जिसका परिणाम यह निकलता था कि किसी भी सेनापति को पूर्ण सहयोग प्राप्त नहीं हो सकता था। मुसलमानों ने इसका फायदा उठाया। इसके अलावा राजपूतों के प्रशासन में साधारण जनता को न तो शासन-कार्य में हाथ बटाने का अधिकार था और न युद्ध में भाग लेने का ही। इस कारण राजाओं और सामान्य प्रजा का घनिष्ट सम्पर्क नहीं रहता था। प्रजा राजनैतिक प्रश्नों पर उदासीन रहती थी। लोग यह समझते थे कि देश की रक्षा करना उनका कर्त्तव्य नहीं है। इस राजनैतिक उदासीनता ने मुसलमान आक्रमणकारियों के कार्य को अधिक सुगम बना दिया। इसके अलावा प्रजा को अपने राजपूत शासकों के प्रति कोई विशेष उत्साह नहीं था। इसका कारण यह था कि प्रत्येक राजपूत राजा वैदिक कालीन भारतीय आदर्श (चक्रवर्ती सम्राट) को प्राप्त करने के चक्कर में

> राजपूतों का राजनैतिक सगठन दोषपूर्ण सामन्त-प्रथा के कारण ईर्षा व द्वेष बना रहता था

1. डा० दशरथ शर्मा (पृष्ठ 325–26)

"Raw levies, coming together on the spur of the moment and fighting under the leadership of their different leaders, could not be the best means of beating back a determined enemy"

जन हित के कार्यों की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं देते थे। इसका परिणाम यह निकलता था कि प्रत्येक राजपूत राज्य में ऐसे लोग थे कि जो स्वामी भक्त होने के बजाय विद्रोह के अवसर की प्रतीक्षा करते रहते थे। यह भी कहा जाता है कि राजपूतों ने घरेलू झगड़ों में अपनी शक्ति इतनी अधिक क्षीण कर ली थी कि जब मुसलमानों ने आक्रमण किया तो वह उनका डट कर मुकाबला भी नहीं कर सके।

राजपूतों की पराजय के कारण केवल उनकी राजनैतिक व्यवस्था अथवा सैनिक संगठन में ही दोष नहीं थे उनका सामाजिक संगठन भी दोष पूर्ण था। राजपूत अनेक जाति व उपजाति में विभाजित थे और उनके राज्यों में सामन्तों का बोलबाला रहता था। इन सामन्तों में ऊँच-नीच की भावना कूटकूट कर भरी हुई थी। इस

सामाजिक संगठन में दोष

लिये जब वह लोग मुसलमानों के मुकाबले में लड़े तो उनके समाज में संगठन का सर्वथा अभाव पाया गया। वंश की झूठी मर्यादा में विश्वास करने वाले सामन्त अहंकारी हो गये थे और इसलिये इनका संगठित होना असम्भव था। मादक द्रव्यों के अधिक प्रयोग ने और बहु विवाह की कुरीतियों ने शक्तिशाली राजपूतों के शारीरिक नैतिक स्तर को इतना अधिक गिरा दिया था कि वह मुसलमानों को पराजित नहीं कर सके। राजपूती शासन के सामाजिक ढांचे में राष्ट्रीय भावना का प्रादुर्भाव और विकास सम्भव नहीं था। वह लोग तो स्वयं आपस में युद्धरत रहा करते थे। इसका दुष्परिणाम यह निकला कि साहस, शौर्य, परायण, आन पर मिटने वाले राजपूत योद्धा एक के बाद एक करके मलेच्छों के समक्ष धराशायी हो गये।

राजपूतों का सामाजिक संगठन दोषपूर्ण ही नहीं था बल्कि उनका धार्मिक जीवन भी अस्त-व्यस्त था। देश अनेक धार्मिक सम्प्रदायों में बँटा हुआ था। इन धार्मिक

धर्म-प्रेरक नहीं रहा था

सम्प्रदायों की शास्त्रीय भिन्नता और पारस्परिक ईर्षा कभी-कभी सीमायें लांघ कर राजनैतिक रंगमंच पर कुचक्र चलाने लगती थी। उदाहरण के लिये भाग्य में अटूट विश्वास रखने वाले हिन्दू अकर्मठ हो गये थे। ज्योतिषियों की भविष्य-वाणी में विश्वास रखने वाले यह हिन्दू इतने अधिक लापरवाह हो गये थे कि लक्षमण सेन की पराजय और इख्तायरुद्दीन की विजय इस प्रकार की भावना का स्पष्ट परिणाम था। इसके विपरीत मुसलमान लोक व परलोक को सुखी बनाने के लिये जिहाद करने भारत भूमि में आये थे जहाँ हिन्दू और मुसलमानों के धर्म में इस प्रकार का मूल-भूत मतभेद था, वहाँ अंधविश्वासी राजपूतों का सफल होने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। ऐसा भी कहा जाता है कि गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी के अहिंसा के उद्देश्य ने भारत की सैनिक शक्ति को निर्बल कर दिया था लेकिन यह कहना केवल आंशिक रूप में ही सत्य है।

राजपूत मुसलमानों के मुकाबले में इसलिये पराजित हुये कि उनका राजनैतिक व सैनिक सगठन दोषपूर्ण था अथवा उनके समाज में कुछ दोष थे या उन्हें धर्म से किसी तरह की प्रेरणा नहीं मिल रही थी। राजपूतों की पराजय का प्रमुख कारण उनके राजाओं में प्रभावशाली व्यक्तित्व का अभाव था। राजपूतों में महमूद गजनवी, मुहम्मद गोरी और कुतुबुद्दीन जैसे उच्च कोटि के सेनानायक नहीं थे यद्यपि राजपूत सेनानायको से किसी भी रूप में कम नहीं थे लेकिन अपने विपक्षियों के समान यह अनुभवी, दूरदर्शी और बुद्धि विचरण करने वाले नायक नहीं थे।

> कतिपय राजपूत सेना नायकों का व्यक्तित्व उनके प्रतिद्वन्दी मुसलमानों के समान प्रभावशाली नहीं था

राजपूतों की पराजय का एक प्रमुख कारण आकस्मिक घटनाओं का घटित होना भी था। जब 986 ई० में गजनी के सुबुक्तगीन और जयपाल के बीच युद्ध चल रहा था तो एकाएक भीषण वर्षा हुई। हिमपात के कारण सैनिक जयपाल का साथ छोड़ कर चले गये। सैनिक मृत्यु और रोग के शिकार हो गये। परिणाम स्वरूप जयपाल को अपमानजनक सधि करनी पड़ी। इसी प्रकार महमूद गजनवी के विरुद्ध आनन्दपाल जब लड़ा तो एकाएक उसकी सेना में हाथी बिगड़ खड़ा हुआ और आनन्दपाल पराजित हो गया। यदि चन्दवार की लड़ाई में जयचन्द को आंख म तीर नहीं लगता तो कदाचित मुहम्मद गोरी उसको पराजित नहीं कर सकता था। इस प्रकार यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है कि कुछ आकस्मिक घटनाओं के कारण राजपूत अपने विपक्षियो के मुकाबले में विजय प्राप्त नहीं कर सके।

> राजपूतों की पराजय के कुछ आकस्मिक कारण भी थे

राजपूत मुसलमानो के मुकाबले में विजयी नहीं हो सके लेकिन राजपूतो की बहादुरी ने उनके विपक्षियो का हठास्तम्भित जरूर कर दिया था राजपूतो के छापामार युद्धों के कारण मुसलमान बहुत वर्षों तक सुख की नींद नहीं सो सके। यह कुछ ऐसे कारण थे जिनकी वजह से राजपूत मुसलमानो के मुकाविले में विजयी नहीं हो सके।

BIBLIOGRAPHY

1 हबीबुल्ला—The Foundation of Muslim Rule in India
2 मुहम्मद अजीद अहमद—Early Turkish Empire of Delhi
3 Cambridge History of India, Vol III

6

राजस्थान में सामन्त-प्रथा

(Feudal-System in Rajasthan).

राजस्थान का प्रत्येक निवासी जानता है कि 1950 से पहले यहां केवल वंश परम्परागत देशी राज्य ही नही थे वरन् प्रत्येक राज्य में जागीरें भी थीं। प्रारम्भ में जागीरें राजा अपने छोटे भाइयों एवं पुत्रों को प्रदान करता था। एक ही पिता की सन्तान होने के नाते राजा और उसके छोटे भाई में केवल इतना ही सम्बन्ध होता था कि वह राजा को बड़ा भाई होने के नाते सम्मान देता था और आपत्तिकाल में तन, मन एवं धन से सहायता करता था।

कर्नल टॉड को छोड़कर किसी भी विद्वान ने राजस्थान का इतिहास लिखते समय-सामन्त प्रथा के स्वरूप, इसकी उत्पत्ति इत्यादि के सम्बन्ध में पृथक रूप से नहीं लिखा। कर्नल टॉड ने "Annals and Antiquities of Rajasthan" लिखते समय यूरोप की सामन्त प्रथा और राजस्थान की सामन्त प्रथा में इतना अधिक सादृश्य पाया कि वह दोनों को एक समान ही समझ बैठे।

> कर्नल टॉड भ्रम से यूरोप के सामन्तवाद और राजस्थान की सामन्त प्रथा में सादृश्य समझ बैठे।

कुछ आधुनिक लेखकों का विचार है कि यूरोप की 'Feudal Terminology' का प्रयोग भारतवर्ष के किसी भी Institution के लिए करना केवल असंगत ही नहीं है अपितु भ्रमपूर्ण भी है।[2] यूरोप और राजस्थान की सामन्त प्रथाओं में समानता अवश्य दिखाई देती है लेकिन दोनों में मूलभूत अन्तर है।

टॉड का कहना है कि यूरोप और राजस्थान में सामन्त प्रथा की उत्पत्ति समाज के पैत्रिक स्वरूप के कारण हुई।[3] लेकिन टॉड ने अपने ग्रंथ में यह भी स्वीकार

---

1. 'This (Feudal System in Raj.) is so analogous to the ancient feudal system of Europe, that I have not hesitated to hazard a comparison between them, with reference to the period when the latter was yet imperfect.'

—Tod : Annals and Antiquities of Raj., Vol. I, P. 107.

2. Dr. P. Saran : Studies in Medieaval Indian History, P. 1.

3. Tod : Annals & Antiquities of Rajasthan, Vol. I., P. 155.

सामन्त प्रथा की उत्पत्ति के दो कारण थे ।

लिया है कि सामन्त-प्रथा की उत्पत्ति Chance and barbarism के कारण भी हुई थी ।[1] इस प्रकार कर्नल टॉड ने सामन्त प्रथा की उत्पत्ति के दो कारण दिये हैं ।

यूरोप में तो रोमन साम्राज्य के पतन के पश्चात् राज्य सरकारें इतनी निर्बल हो गई थीं कि वे अपनी प्रजा के जान और माल की रक्षा भी नहीं कर सकती थी । अत प्रजा को आन्तरिक एव बाह्य खतरो से रक्षा करने के लिए ऐसी सस्था की आवश्यकता महसूस हुई जो उनके लिए अमन और शांति का वातावरण बनाये रखे । जान और माल की सुरक्षा की चिन्ता धनी व्यक्तियों को नही थी, केवल उन लोगों को थी जो भूमिहीन (Landless Freeman) थे अथवा जिनके पास कम मात्रा मे जमीन थी । अत उन लोगो ने अपनी सुरक्षा का आश्वासन पाकर मालदार व्यक्तियों के हाथों अपनी जमीनें सौंप दी ।[2] कालान्तर म यह सौदा (Contract) एक ऐसे बधन (Camitatus) मे परिवर्तित हो गया कि जिसके अन्तर्गत प्रत्येक आश्रित व्यक्ति को अपने आश्रयदाता के प्रति स्वामिभक्त रहने की शपथ (Oath of fealty) लेनी पड़ती थी । समय के साथ साथ आश्रित एव आश्रयदाता दोनो के लिए अनिवार्य हो गया कि वे अपनी रक्षा के लिए घोडे (Cavalry) रखें । पहले आश्रयदाताओं पर चर्च का प्रभुत्व था, बाद मे चर्च के अधिष्ठाताओ का प्रभुत्व हो गया । उस समय आश्रित एवं आश्रयदाता दोनों के लिए जरूरी हो गया कि वे आपत्ति के समय अपने अधिष्ठाता की सहायता करें । इस प्रकार गिब्बन (Gibban) का यह कहना नितांत सत्य है कि यूरोप मे सामन्त-प्रथा का जन्म Chance and barbarism के कारण हुआ था ।

लेकिन राजपूत समाज का ढाचा प्रारम्भ से ही पैतृक रहा है । छोटे भाइयो को जो जागीरें दी जाती थी वे उनका अधिकार समझ कर दी जाती थी । इसलिए यदि आपत्ति के समय यह 'छुटभइया' राजा की सैनिक सहायता करते थे तो यूरोप की तरह वचनबद्ध होने के नाते नहीं वरन् यह सोचकर कि वे दोनो एक ही पिता की सन्तान हैं ।

जब राजस्थान म सामन्तवाद की उत्पत्ति Chance and barbarism के कारण नहीं हुई तो स्पष्ट हो जाता है कि राजस्थान के सामन्तो को यूरोप के सामन्तों के समान स्वतन्त्र रूप से सिक्के ढालने अथवा युद्ध प्रारम्भ और अन्त करने, स्वतन्त्र रूप से नियम बनाने अथवा सार्वजनिक सम्मान (Public Tribute) मे स्वतन्त्रता नहीं मिली हुई थी । राजस्थान मे कभी किसी सामन्त

राजस्थान के सामन्तों का सिस्टम

1 टॉड ने रोम के इतिहासकार Gibbon के विचारों को ही स्वीकार करके उन्हे राजस्थान पर भी घटित कर दिया है ।

2. This condition was called 'Precarium' which gave him protection during his life time

को सिक्के ढालने का अधिकार नहीं दिया गया ।[1] इसी प्रकार सामन्त को कर वसूल करने का भी अधिकार नहीं था । राजस्थान के सामन्तों को यह अधिकार नहीं था कि वे अपनी जागीरों में अपना ही कानून लागू कर सकें ।

इतना होते हुए भी कुछ बातें राजस्थान और यूरोप के Feudal System में इतनी अधिक मिलती जुलती हैं कि यह मानना ही पड़ता है कि राजस्थान के 'छुट-भाइयों' को भी यूरोप के सामन्तों के समान अपने राजा के प्रति शांति और युद्ध के समय कुछ कर्त्तव्य अनिवार्य रूप में निभाने पड़ते थे । उदाहरण के लिए मेवाड़ और दूसरे राजपूत राज्यों में 'खड्ग वन्दी' की रस्म होती थी । जब एक सामन्त की मृत्यु हो जाती थी तब उसके पुत्र को 'नजराना' (Feudal Relief) देने पर ही उत्तराधिकारी स्वीकार किया जाता था । यह प्रथा खड्गबन्दी की प्रथा कहलाती थी । नजराना देने का तात्पर्य था कि सामन्त राजा के प्रासाद-पर्यन्त ही अपनी जागीर का स्वामी रह सकता था और राजा जब चाहे तब जागीर छीन सकता था। टॉड लिखता है कि राजा कभी भी सामन्त की जागीर नहीं छीनता था लेकिन ऐसे उदाहरण राजस्थान के भूतपूर्व राज्यों के इतिहास में मिल जावेंगे जब कि सामन्तों को अपनी जागीरों से हाथ धोना पड़ा था ।

यदि कोई सामन्त सन्तानहीन होता तो उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी समस्त जागीर राजा की हो जाती थी । अतः निःसन्तान सामन्त अपने जीवन काल में ही गोद ले लिया करते थे । यदि कोई सामन्त अपराध करता था तो उसकी सम्पूर्ण अथवा जागीर का कुछ भाग जब्त भी किया जा सकता था ।

राजा और सामन्त के सम्बन्ध

सामन्त की मृत्यु के पश्चात् उसका उत्तराधिकारी नाबालिग होता था तो राज्य की ओर से कोर्ट आफ वार्ड नियुक्त किया जाता था और जागीर की देखभाल करने के लिए उच्च कर्मचारी नियुक्त कर दिये जाते थे ।

सामन्तों को केवल नजराने ही नहीं देने पड़ते थे, वरन् राजा की राजधानी में कुछ-दिनों के लिए रहना भी पड़ता था । राजधानी में रहकर यह सामन्त राजा को परामर्श देते थे और प्रशासनिक कार्यों में सहायता देते थे ।

सामन्त अपने राजा से बक्शीश भी स्वीकार करते थे । यह बक्शीश आपत्ति काल में और शादी विवाह के समय आर्थिक सहायता के रूप में प्रदान की जाती थी ।

---

1. 'The privilege of coining money is a reservation of royalty. No subject is allowed to coin gold or silver, though the Salumber Chief has on sufference a copper currency.'

—Tod : Annals and Antiquities of Rajasthan, Vol. I, P. 169.

इसके ऐवज में सामन्तों को राजा की सैनिक सहायता करनी पड़ती थी। लेकिन इसका यह तात्पर्य है कि यूरोप के शासकों के समान राजस्थान के राजा इतने अधिक निर्बल हो गये थे कि वे अपनी प्रजा की जान और माल की रक्षा नहीं कर सकते थे। 'रेखवाली' प्रथा राजस्थान में अवश्य थी लेकिन यह सामन्त प्रथा की उत्पत्ति का कारण कभी नहीं रही। दसवीं शताब्दी में ही जबकि राजपूतों को यवनों के आक्रमण का मुकाबला करना पड़ा, उनके समाज में 'पानी पैसन" की प्रथा चल निकली थी। युद्ध के समय राजा केवल अपने सामन्त को ही नहीं वरन् अपने दूसरे सगे सम्बन्धी और पड़ोसी राजाओं को भी युद्ध में शामिल होने का निमन्त्रण भिजवाता था और यह निमन्त्रण टाला नहीं जा सकता था।

राजस्थान में दो प्रकार की जागीरें थीं। गिरासिया जागीरदार वे कहलाते थे जिन्हें राज्य की ओर से पट्टा मिला हुआ था और उन्हें जागीर के ऐवज में राज्य में अथवा उसके बाहर राजा की सेवा करनी पड़ती थी। भूमिया वे लोग कहलाते थे जो जमीन जोतते थे और राजा को कर देते थे। दोनों ही सूरतों में किसान स्वयं अपनी जमीन का स्वामी था, और वह जागीरदार अथवा राजा को लगान देने के लिए ही बाध्य होता था[1]। यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी में जागीरों में कुछ दोष उत्पन्न हो गये थे जिसमें से बेगार (Free Service) उल्लेखनीय है और कतिपय सामन्तों ने अपनी जागीरों में न्याय के अधिकारों का भी प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया था। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिए कि राजस्थान के राजा भी यूरोप के शासकों के समान निर्बल हो गये थे अथवा वे अपने सामन्तों के हाथ की कठपुतली बन गये थे। राज्यों के विलीनीकरण तक ऐसा उदाहरण नहीं मिल सकता जब कि किसी सामन्त ने अपने राजा की उपेक्षा करने की कोशिश की हो।

सामन्त दो प्रकार के होते थे

इस प्रकार राजस्थान में सामन्तवाद का प्रारम्भ कई सामाजिक और नैतिक कारणों से हुआ था। यह स्मरणीय है कि यह यूरोप के समान राजनैतिक कारणों की वजह से नहीं हुआ। यही एक कारण था जिसकी वजह से सामन्त प्रथा बीसवीं सदी तक बनी रही।

सामन्त प्रथा में दोष[2] अठारहवीं शताब्दी में आने लगे थे जबकि विदेशियों ने भारत पर अपना प्रभाव बढ़ाना आरम्भ किया। सुरा और सुन्दरी में लिप्त रहने वाले

---

1. 'The Cultivator of Rajputana was never a Serf but a free man'—Dr P. Saran

2 आचार्य चतुरसेन शास्त्री द्वारा लिखित 'गोली' नामक उपन्यास में सामन्तवाद के दोषों का विश्लेषण किया गया है।

कतिपय सामन्त अपने कर्त्तव्यों को भूल बैठे तथा उनका व्यवहार अपनी प्रजा के प्रति कठोर हो गया । प्रत्येक सामन्त अपनी जागीर में अपने आपको राजा का प्रतिबिम्ब मानकर अनाधिकार पूर्ण कृत्य कर बैठता था जिसका मिला जुला परिणाम यह निकला कि स्वतन्त्रता के पश्चात पहले राजा और फिर सामन्तों का पतन हो गया ।

BIBLIOGRAPHY

1. Hanry Hallam : Middle Ages.
2. Tod : Annals and Antiquities of Rajasthan, Vol. I.
3. Dr. P. Saran : Studies in Mediaeval Indian History, (Chapter I).

7

मेवाड़ का प्राचीन इतिहास—१५३० ई० तक

(Early History of Mewar up to 1530 A D)

किसी भी देश की भौगोलिक स्थिति उस देश के इतिहास को अवश्य प्रभावित करती है। मेवाड की भौगोलिक स्थिति ने इस देश के इतिहास को सर्वाधिक प्रभावित किया है। जिसे हम मेवाड अथवा उदयपुर कहकर पुकारते हैं और जिस भू-भाग का क्षेत्रफल 12,691 वर्गमील है वही भूभाग प्राचीन काल मे सिवि[1] देश कहकर पुकारा जाता था। तत्पश्चात् इसे 'मेदपाट'[2] कहकर पुकारा गया। मेदपाट का अपभ्रंश 'मेवाड' के नाम से यह प्रदेश सर्वप्रथम १वी शताब्दी के लगभग पुकारा गया।

मेवाड की भौगोलिक स्थिति ने यहां के इतिहास को सर्वाधिक प्रभावित किया है।

जिस प्रदेश को मेवाड कहकर पुकारा जाता है और जो प्रदेश 23 49′ से 25 58′ उत्तरी अक्षांश और 73 1′ से 75 49′ दक्षिणी देशान्तर रेखाओं के मध्य मे बसा हुआ है वही प्रदेश उत्तर पश्चिम और दक्षिण में अरावली पर्वतमाला की शृखलाओं से घिरा हुआ है। पर्वतमालाओं की सबसे ऊँची चोटी आधुनिक कुम्भलगढ़ के नजदीक जरगास नामक स्थान पर है जो समुद्र की सतह से 4315 फुट ऊँची है। इसी तरह पूर्व मे भी यह पर्वत समुद्र की सतह से 2000 फीट के लगभग ऊँचे हैं। दक्षिण दिशा

---

1. वराह मिहिर ने 'वृहत सहिता' में 'सिवि' जाति का उल्लेख किया है जो इस देश में रहती थी। देखिए वृहतसहिता, अध्याय 34, श्लोक 12।

चित्तौड के 'निकट' नगरी नामक ग्राम से कुछ ताँबे के सिक्के प्राप्त हुए थे जिनपर "मझिमिकाय शिविजनपदस" लिखा मिलता है। इसी के आधार पर चित्तौड के आस पास के प्रदेश को मध्यमिका और मेवाड़ को सिवि कहकर पुकारा गया है। जैन ग्रथों को पढ़ने से पता चलता है कि आधुनिक नगरी (चित्तौड के निकट एक स्थान का नाम) का प्राचीन नाम 'मध्यमिका नगरी' था। बौद्ध ग्रथ 'वैसन्तर जातक' में तथा पातञ्जलि के 'महाभाष्य' मे भी मध्यमिका नगरी का उल्लेख मिलता है।

2. मेदपाट सस्कृत का शब्द है जिसका तात्पर्य मेदों का देश है। आधुनिक उदयपुर शहर के आहड नामक स्थान से विक्रम सम्वत् 1000 का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है जिसमें आधुनिक मेवाड के लिए मेदपाट शब्द का प्रयोग किया गया है।

में यह पर्वत अधिक ऊंचे नहीं हैं लेकिन जंगल अधिक हैं और छोटे पहाड़ों की घाटियों में यातायात सुलभ नहीं है। इन पर्वतों ने मेवाड़ के लिए एक परकोटे का काम ही नहीं किया बल्कि कई प्रकार की धातुएँ तथा खनिज पदार्थ भी दिए जिनका प्रयोग करके मेवाड़ के राणा वर्षों तक शक्तिशाली शत्रुओं का मुकाबला करते रहे।

इन्हीं पर्वतों से कई नदियों का भी उदगम हुआ है जिनमें खारी, बनास व गम्भीरी नदियां सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। इन नदियों ने मेवाड़ की भूमि को उपजाऊ बनाया अतः मेवाड़ कृषि उत्पादन की दृष्टि से आत्मनिर्भर बन सका।[1]

मेवाड़ की जलवायु वहां के निवासियों के लिए सर्वथा अनुकूल है। लकिन विदेशियों के लिए वहां की जलवायु प्रतिकूल सिद्ध होती रही है इसलिए मेवाड़ में विदेशियों ने स्थायी रूप से निवास करने की कभी कोशिश नहीं की।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है मेवाड़ में सैनिक सुरक्षा के सभी साधन सुगमता से उपलब्ध हो सकते थे अतएव वहां के शासकों ने पूर्व की दिशा में कुछ प्रसिद्ध दुर्ग बना दिये जिनसे देश की रक्षा हो सके। इन दुर्गों में रहने वाले निवासियों को सभी साधन दुर्ग में उपलब्ध हो सकते थे।

मेवाड़ का अधिकांश भाग पहाड़ों से घिरा होने के कारण वहां के बहादुरों को अपनी रक्षा के लिए युद्ध के सरल तरीके अपनाने पड़े। अकबर महान् के विरुद्ध राणा प्रताप ने हल्दीघाटी के युद्ध क्षेत्र में 1576 ई० में जो प्रसिद्ध युद्ध लड़ा था उस युद्ध में मेवाड़ के निवासियों ने छापामार युद्ध नीति अपनाई थी। पहाड़ों से घिरा होने के कारण यह प्रदेश राजस्थान के दूसरे भागों से पृथक रहा और पृथक रहते हुए भी यहां के निवासियों ने अपने गौरव और परम्परा को सुरक्षित बनाए रखने के लिए अनुशासन सीखा, साहस और बहादुरी का पाठ पढा और अपने देश के लिए मर मिटने की परम्परा अपनाई।[2] इन सबका मिला जुला परिणाम यह निकला कि राजस्थान के

---

1. आधुनिक लेखकों ने ठीक ही लिखा है :—

'The river system afforded great facility for irrigation and contributed largely to the prosperity of the state. Large tracts of comparitively unproductive soil have been brought under cultivation by erecting magnificient dams round vast sheets of water which go by the name of Samand or Sagarh.'

2. 'In such an isolation the mass of the people developed a spirit of Spartan simplicity, disciplined life and love for traditions and glory of their ancestors. Virtues like courage, perseverance, straight-forwardness, sense of service and devotion to their clan and little patch of land became a second nature with them.'

इतिहासज्ञ कर्नल जेम्स टॉड ने मेवाड़ निवासियों की स्पार्टा से तुलना की, यहाँ की युद्ध भूमि हल्दी घाटी को 'थर्मोपल्ली' और यहाँ के निवासियों को 'लियोनिडास' कहकर पुकारा।

मेवाड़ में गुहिलोतों की उत्पत्ति एवं उत्थान
(Rise and Growth of Guhilots in Mewar)

बापा रावल

गुहिलवंश[1] के बापा रावल ने आठवीं शताब्दी में मेरों को मेवाड़ से निकाल कर वहाँ अपना राज्य स्थापित किया था। सत्रहवीं शताब्दी का 'राजप्रशस्ति महाकाव्य', नैणसी की ख्यात और कर्नल टॉड बापा का चित्तौड़ पर अधिकार का वर्णन करते हैं, लेकिन मेवाड़ से प्राप्त कतिपय शिलालेखों में

---

1. चित्तौड़गढ़ शिलालेख में बापा को 'विप्र' कहकर पुकारा गया है। यह शिलालेख 1274 ई० का है। आबू शिलालेख में भी, जो 1285 ई० का लिखा हुआ है कि बापा ने ब्रह्म का रूप त्यागकर शस्त्र धारण कर लिए थे। अबुलफजल ने भी गुहिलों की उत्पत्ति बताते हुए लिखा है कि प्रारम्भ में इनका लालन-पालन ब्राह्मणों ने किया था। अतः इन्हें ब्राह्मण कहकर पुकारा जाता है। (देखिए आइने अकबरी, जिल्द II, पृ० 269) नैणसी ने इनके लिए लिखा है कि गुहिल वंश की उत्पत्ति तो ब्राह्मण से हुई है, लेकिन इन्हें क्षत्रिय मानना चाहिये (ख्यात, जिल्द I, पृ० 11) डा० डी० आर० भंडारकर ने मेवाड़ के गुहिल राणाओं की उत्पत्ति नागर ब्राह्मणों से बताई है। (Journal of Asiatic Society of Bengal, 1909, P. 167) लेकिन दीवान बहादुर सी० वी० वैद्य और डा० गौरीशंकर ओझा इन्हें क्षत्रिय मानते हैं और इनकी उत्पत्ति सूर्यवंशी राजाओं से मानते हैं (The Problem of the origin of Guhuls is an intricate one)

अतः यही मानकर चलना पड़ेगा कि 566 ई० में गोहिल हुआ था और उसके वंशज गुहिल वंशी कहलाए। संस्कृत भाषा में गुहिल को गुहिल पुत्र कहकर पुकारा जाता है और गुहिल पुत्र का राजस्थानी अपभ्रंश गुहिलोत है (गुहिलोत नाम से मेवाड़ के राणा सम्बोधित किए जाते हैं)।

बापा मेवाड़ में आने से पूर्व विन्ध्याचल पर्वत के दक्षिण में रहता था (देखिए जगतनारायण शिलालेख, Epigraphia Indica, Vol XX में प्रकाशित, तथा राज-प्रशस्ति)। अबुलफजल के अनुसार बापा के पूर्वज बरार के इलाके में नरनाला के जमींदार थे। नैणसी का कहना है कि यह लोग नासिक से मेवाड़ आए थे। जहाँगीर भी अपनी आत्मकथा में लिखता है कि बापा के पूर्वज दक्षिण में रहते थे और वहाँ से आकर बापा ने मेवाड़ पर अपना राज्य कायम किया।

बापा का चित्तौड़ पर अधिकार नहीं था

चित्तौड़ पर बापा का अधिकार नहीं बताया गया है।[1] बापा[2] चित्तौड़ का स्वामी तो नहीं था लेकिन वह मेवाड़ के गुहिलवंशी शासकों में एक प्रतिभाशाली शासक अवश्य था। आज भी मेवाड़ में उसकी गौरव-गाथा की कहानियां सुनने को मिल सकती हैं।

अपराजित

बापा उर्फ 'नरपति शिल' का उत्तराधिकारी अपराजित (राणा का नाम) हुआ जिसकी उदयपुर से 14 मील उत्तर में स्थित कुण्डेश्वर मन्दिर से प्राप्त मार्गशीर्ष सुदि 5, वि० सं० 718 के शिलालेख में पर्याप्त प्रशंसा मिलती है। इस शिलालेख में लिखा हुआ है कि इसने "अपने शत्रुओं को नष्ट किया। अनेक राजा उसके आगे झुकते थे।" इसी शिलालेख में 'अपराजित' के लिए राजा का प्रयोग किया गया है जबकि इसके सेनापति वराहसिंह के लिए महाराज शब्द का प्रयोग किया गया है, यह विचित्र बात है।

अपराजित का उत्तराधिकारी महेन्द्र हुआ। टॉड ने इसके शासन-काल का एक शिलालेख नागदा में देखा था। 1285 ई० के आबू शिलालेख में इसके लिए

---

1. इनके अनुसार उस समय चित्तौड़ पर मोरी वंश के शासक राज्य करते थे। अबुलफजल लिखता है कि बापा ने भीलों को पराजित करके चितौड़ पर अधिकार जमाया। लेकिन 971 ई० के एकलिंग शिलालेख में बापा को केवल नागदड़ा का निवासी बताया गया है। 1274ई. के चितौड़गढ़ शिलालेख, 1285 के आबू शिलालेख और 1460 के कुम्भलगढ़ शिलालेख में कहीं भी बापा को चितौड़ का स्वामी नही लिखा गया है। इसके अलावा टाड 754 ई० में चितौड़ पर गुर्जर प्रतिहार वंशी कुकरेश्वर का अधिकार होना लिखता है। मेवाड़ के प्राचीन शिलालेख दक्षिण-पश्चिमी भाग में नागदा और आहड़ से प्राप्त हुए हैं। चित्तौड़ से एक भी शिलालेख प्राप्त नहीं हुआ अतः यही स्वीकार करना पड़ेगा कि बापा के अधिकार में नागदा और आहड़ का प्रदेश ही था, उसने चित्तौड़ को विजय नहीं किया।

2. 'कुम्भलगढ़ प्रशस्ति' तथा मेवाड़ के अन्य प्रमाणित ग्रंथों को पढ़ने से प्रकट होता है कि राजा शिल और बापा एक ही व्यक्ति थे। चित्तौड़गढ़ शिलालेख (1274 ई०) को पढ़ने से भी जाहिर होता है कि बापा ने हरीतऋषि की कृपा से 'नवराज लक्ष्मी' प्राप्त की थी। बापा के पूर्वज नाग के शासन काल में भीलों ने गुहिलों का राज्य समाप्त कर दिया था। टॉड का कहना है कि नाग का उत्तराधिकारी बापा था जिसके लिए मेवाड़ के रिकार्ड राजा शिल का प्रयोग करते हैं। अतः यह सम्भव है कि बापा और शिल एक ही व्यक्ति थे।

लिखा हुआ है कि "शील स्वभाव और लीला सहित तलवार से विदरान हाथ वाले उस राजा ने बाहुबल द्वारा शत्रुओं की श्री को अपने आधीन किया । वह राजा प्रत्यक्ष वीर रस का रूप था । चोल देश की नारियों को विधवा बनाने वाला राजाओं में प्रकटमणि, राजनीतिज्ञ तथा कर्णाटेश्वर को दण्ड देने वाला था । उसका पुत्र नीति मान कालभोज, धनुष काल के समान दण्ड देने में प्रचण्ड था ।" इस शिलालेख में इसे कर्नाटक के शासक को विजय करने वाला लिखा गया है । वातापी के चालुक्य शासक विनादित्य ने चोलों पर आधिपत्य स्थापित करके उत्तर भारत पर आक्रमण किया था । हो सकता है कि इसी विनादित्य के साथ अपराजित का युद्ध हुआ हो जिसमें उसने चोल और कर्नाटक की संयुक्त सेनाओं को पराजित किया हो ।

महेन्द्र

महेन्द्र के उत्तराधिकारी राजा कालभोज को ही मेवाड़ के ख्याति-प्राप्त 'बापा' के नाम से पुकारा जाता है लेकिन यह ऐतिहासिक सत्य नहीं है । एक ओर तो आधुनिक इतिहासकार लिखता है कि "बापा रावल के समय का कोई शिलालेख और ताम्रपत्र अब तक नहीं मिला है इसलिए उसके शासन काल का समय निश्चित करना कठिन है ।" दूसरी ओर इसी बापा रावल की तस्वीरें आधुनिक ग्रन्थों में छापी गई हैं । ऐसी परिस्थिति में यह सत्य हो सकता है कि बापा और कालभोज एक ही व्यक्ति थे ।

कालभोज

कालभोज का उत्तराधिकारी खुमाण प्रथम हुआ । कर्नल टॉड ने 'खुमाणरासो' के आधार पर इसके शासन काल का विस्तार से वर्णन किया है । 'खुमाण रासो' की रचना खुमाण की पाँचवीं पीढ़ी में हुई थी । अत जो कुछ टॉड ने इसके लिए अपनी 'एनाल्स' में लिखा सर्वथा सत्य नहीं हो सकता ।[1]

खुमाण प्रथम

1 स्वर्गीय ओझा जी ने 'राजपूताने के इतिहास' (जिल्द I, पृष्ठ 420-22) में स्पष्ट रूप से लिखा है कि खुमाण रासो में खुमाण के द्वारा मुस्लिम आक्रमणकारी सेनाओं को पराजित करना लिखा है । लेकिन यह खुमाण प्रथम नहीं खुमाण द्वितीय था जिसने खलीफा अलरशीद के द्वारा अलमामून के नेतृत्व में भेजी गई सेना का सामना करके राजस्थान को मुसलमानों के विनाश से बचाया था ।

खुमाण रासो (देखिये डा० कृष्णचन्द्र श्रोत्री द्वारा राज० विश्वविद्यालय को समर्पित खुमाण रासो की पाडुलिपि) में मुस्लिम सेना का आधुनिक मारवाड़, उज्जैन, भड़ौच व मालव प्रदेश पर आक्रमण करना लिखा है । अत एक आधुनिक इतिहासकार ने टॉड के कथन की पुष्टि करते हुए लिखा है कि खुमाण I ने ही मुसलमानों की सेना का मुकाबला किया था ।

मत्तट

खुमाण के पुत्र और उत्तराधिकारी मत्तट के सम्बन्ध में जानकारी 1274 के चित्तौड़गढ़ शिलालेख से प्राप्त होती है जिसमें उसकी विजयों का वृत्तान्त है। इसी शिलालेख को पढ़ने से प्रकट होता है कि राजा मत्तट ने राष्ट्रकूटों और गुर्जर प्रतिहारों की बढ़ती हुई शक्ति का सामना किया था। गुर्जर प्रतिहारों ने 494 ई० से 814 ई० के बीच के समय में मेवाड़ के पूर्वी भाग पर अधिकार कर लिया था।[1] कृष्ण तृतीय के नेतृत्व में राष्ट्रकूटों का उत्कर्ष होने तक चित्तौड़ पर गुर्जर प्रतिहारों का अधिकार रहा लेकिन राष्ट्रकूटों का अधिक समय तक अधिकार नहीं रह सका और प्रतिहारों ने भोज प्रथम के नेतृत्व में पुनः चित्तौड़ को अपने अधिकार में कर लिया। दसवीं शताब्दी के बाद चित्तौड़ गुर्जर प्रतिहारों के हाथ से निकल गया।

भर्तृभट्ट II

गुहिल वंशी राजा भर्तृभट्ट द्वितीय[2] ने अपने पिता खुमाण के द्वारा विजित[3] प्रदेशों को संगठित करके 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की। भर्तृभट्ट की महारानी महालक्ष्मी राष्ट्रकूट वंश की थी। अतः यह सम्भव है कि इसने अपने समकालीन राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय से सहायता प्राप्त करके पहले गुर्जर प्रतिहारों को मेवाड़ से निकाला और फिर राष्ट्रकूटों के प्रभाव से मेवाड़ को मुक्त कर लिया।[4] इसके द्वारा ही आदिवराह का मंदिर बनवाया गया था। मन्दिर का निर्माण यह सिद्ध करता है कि भर्तृभट्ट ने अपनी शक्ति को संगठित करके मेवाड़ में शांति और व्यवस्था स्थापित कर दी थी।

---

1. "Pratihars not only occupied Chitor, but also brought under their sway the small principality of the Guhils which was then confined to the S–W of Mewar and had its Capital probably at Nagda."

—Fleet : Kanarese Distt., pp. 394–95.

2. मत्तट और भर्तृभट्ट II के बीच पांच पीढ़ियां गुजर गईं। मत्तट का उत्तराधिकारी भर्तृभट्ट था। भर्तृभट्ट का उत्तराधिकारी राजसिंह हुआ। तत्पश्चात् खुमाण II, महायक और खुमाण III, मेवाड़ की गद्दी पर बैठे।

3. 1274 के चित्तौड़गढ़ शिलालेख के अनुसार खुमाण तृतीय ने कतिपय राजाओं को पराजित किया। कुम्भलगढ़ प्रशस्ति में खुमाण की दिग्विजय का वर्णन करते समय उन पराजित राजाओं के नाम दिए गए है जिन्हें खुमाण ने पराजित किया था।

4. 977 ई० के अतपुर शिलालेख में भर्तृभट्ट को Lokatrayakatilaka तथा 942 ई० के प्रतापगढ़ शिलालेख में इसे महाराजाधिराज कहकर पुकारा गया है। (Epigraphia Indica, XIV, P. 187).

भर्तृभट्ट की मृत्यु के साथ साथ मेवाड के इतिहास का नवीन अध्याय प्रारम्भ होता है। चूँकि गुहिलवंशी शासकों को गुर्जर प्रतिहारों व राष्ट्रकूटों से छुटकारा मिल गया था अतः उन्होंने अपने राज्य का प्रशासन सुव्यवस्थित किया। आहड के सारनेश्वर मन्दिर से भर्तृभट्ट के उत्तराधिकारी अल्लट के समय का वैशाख सुदि 7 वि० स० 1010 का शिलालेख प्राप्त हुआ है।[1] इस शिलालेख से यह प्रकट होता है कि मेवाड में दुर्लभ राजा, सधि विग्रह (रक्षा मत्री), मौर्य और समुद्र अक्षपटालिक (पुरालेखा विभाग का मत्री) थे, नाग, भीषागर्ज, रुद्रादित्य बन्दीपति (बन्दीगृह का मत्री) थे। यशोपुण्य प्रतिहार (द्वारपाल) था और सामन्त आमात्य (परामर्शदाता) के पद पर था। भीषागर्ज राजा का वैद्य भी था। इनमें से कतिपय मन्त्रियों के पद वश परम्परागत थे।[2] मेवाड का प्रशासन गुप्तवशीय शासन प्रबन्ध के Pattern पर था। अल्लट के शासन काल मे नागदा मेवाड की राजधानी थी। उस समय आहड व्यापार का केन्द्र था जहाँ करनाटा, मध्यदेश, लता (दक्षिणी गुजरात) और टक्का (पजाब) के व्यापारी आते थे। व्यापार ऊँटो के द्वारा होता था। इस प्रकार गुहील राजधानी आहड व्यापार और वाणिज्य का केन्द्र बिन्दु बन गया था क्योंकि अल्लट अपना अधिकाश समय आहड मे व्यतीत करता था। अल्लट धर्म परायण शासक था। इसी के शासन काल मे ही राजमाता महालक्ष्मी ने सारणेश्वर का मन्दिर 952 ई० मे बनवाया था।

अल्लट

प्राचीन मेवाड का प्रशासन

लेकिन अल्लट के उत्तराधिकारियों को पड़ोसी राज्यो की आकांक्षावादी कामनाओं से उत्तेजित आक्रमणो का मुकाबिला करना पड़ा। कल्याणी के चालुक्य, गुजरात के चालुक्य, साम्भर के चौहान व दाहाला के कालाचुरी शासक मेवाड पर आक्रमण किया करते थे। अल्लट के प्रपौत्र शक्तिकुमार के शासन काल मे मेवाड के गुहिल शासक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर चुके थे।[3] इसके शासन काल में ही मालवा के परमार शासक वाक्पति मुंज ने चित्तौड़

शक्तिकुमार

---

1 Bhavnagar Inscriptions, p p 67.

2 मौर्य की मृत्यु पर उसके पुत्र श्रीपति को अक्षपटालिक के पद पर अल्लट ने नियुक्त किया था। (Vide Fragmentary Ahar Inscription of the Time of Allata's son Nararahana)

3. Saktikumara is described in the Atpur Inscription of 977 A D as being possessed of three elements of power (Sakti Krayorji tah) namely prabhnsakti (majesty), mantrasakti (counsel) and utsahasakti (energy).

पर आक्रमण करके उसे अपने अधिकार में कर लिया। मुञ्ज के पुत्र और उत्तराधिकारी भोज का भी गुहिल देश पर बराबर अधिकार बना रहा।

शक्तिकुमार के पुत्र और उत्तराधिकारी अम्बाप्रसाद ने विद्रोही भृगुपति क्षत्रियों का विनाश किया। लेकिन यह स्वयं साम्भर के चौहान शासक वाक्पति के द्वारा युद्ध में मारा गया।[1] अम्बाप्रसाद के उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में विश्वसनीय

अम्बाप्रसाद

ऐतिहासिक सामग्री अब तक उपलब्ध नहीं हो सकी है। मेवाड़ के शासकों की जो वंशावलियां चित्तौड़गढ़ व आबू के शिलालेखों में दी गई है वे कुम्भलगढ़ प्रशस्ति की वंशावली से भिन्न हैं। अतः यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अम्बाप्रसाद के वंशजों ने कुछ वर्ष तक ही शासन किया था।

इन निर्बल उत्तराधिकारियों के शासनकाल में चित्तौड़ के दुर्ग पर गुजरात के भीमदेव प्रथम ने भोज को पराजित करके अधिकार कर लिया। वैरीसिंह ने जो

वैरीसिंह

अम्बाप्रसाद की आठवीं पीढ़ी में हुआ था परमारों के हाथ से आहड़ को पुनः छीन लिया। उसके चारों ओर शहर-पनाह बनवाई। वैरीसिंह के उत्तराधिकारी विजयसिंह ने मालवा के शासक उदादित्य की पुत्री श्यामल देवी के साथ विवाह से जो पुत्री उत्पन्न हुई उसकी शादी कालाचुरी वंश के राजकुमार गयाकर्ण के साथ की। इसके शासन-काल की प्लेट कड़माल से प्राप्त हुई है जिसमें इसे 'महाराज' कहकर सम्बोधित किया गया है।[2]

विजयसिंह गुजरात के प्रतिभाशाली शासक सिद्धराज-जयसिंह का समकालीन था। सिद्धराज ने राजस्थान का अधिकांश भाग अपने अधिकार में कर लिया था।[3] सिद्धराज के उत्तराधिकारियों का मेवाड़ पर भी अधिकार हो गया था। तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक गुजरात के चालुक्यों का मेवाड़ पर अधिकार रहा।

विजयसिंह ने चालुक्यों के प्रकोप से बचने के लिए राजवंशीय विवाह किए थे लेकिन वह मेवाड़ को उनके कोप से नहीं बचा सका। जब चालुक्यों का मेवाड़ पर अधिकार था तब ही जालौर में सोनगरा चौहानों की बढ़ती हुई शक्ति ने गुहिलवंश के शासक को अपने शेष राज्य से भी निर्वासित कर दिया। अतः तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक मेवाड़ के शासक गुजरात के चालुक्यों के सामन्त बने रहे।

---

1. डा० ओझा द्वारा उद्धरित 'जयनक द्वारा रचित पृथ्वीराज विजय महाकाव्य' (राजपूताने का इतिहास, जिल्द प्रथम, पृष्ठ 439)।

2. डा० ओझा : राजपूताने का इतिहास, जिल्द प्रथम पृ० 445।

3. H. C. Ray : Dynastic History of Northen India, आधुनिक कोटा, बांसवाड़ा, जोधपुर व जयपुर के प्रदेश इसके अधिकार में थे।

भर्तृभट्ट की मृत्यु के साथ साथ मेवाड़ के इतिहास का नवीन अध्याय प्रारम्भ होता है। चूंकि गुहिलवंशी शासकों को गुजर प्रतिहारों व राष्ट्रकूटों से छुटकारा मिल गया था अतः उन्होंने अपने राज्य का प्रशासन सुव्यवस्थित किया। आहड़ के सारनेश्वर मन्दिर में भर्तृभट्ट के उत्तराधिकारी अल्लट के समय का वैशाख सुदि 7 वि० सं० 1010 का शिलालेख प्राप्त हुआ है।[1] इस शिलालेख से यह प्रकट होता है कि मेवाड़ में दुर्लभ राजा, सन्धिविग्रह (रक्षा मंत्री), मौर्य और समुद्र अक्षपटालिक (पुरालेखा विभाग का मंत्री) थे, नाग, भीपागज, रुद्रादित्य बन्दीपति (बन्दीगृह का मंत्री) थे। यशोपुण्य प्रतिहार (द्वारपाल) था और सामन्त आमात्य (परामर्शदाता) के पद पर था। भीपागर्ज राजा का वैद्य भी था। इनमें से कतिपय मंत्रियों के पद वंश परम्परागत थे।[2] मेवाड़ का प्रशासन गुप्तवंशीय शासन प्रबन्ध के Pattern पर था। अल्लट के शासन काल में नागदा मेवाड़ की राजधानी थी। उस समय आहड़ व्यापार का केन्द्र था जहां करनाटा मध्यदेश, लता (दक्षिणी गुजरात) और टक्का (पंजाब) के व्यापारी आते थे। व्यापार ऊँटों के द्वारा होता था। इस प्रकार गुहील राजधानी आहड़ व्यापार और वाणिज्य का केन्द्र बिन्दु बन गया था क्योंकि अल्लट अपना अधिकांश समय आहड़ में व्यतीत करता था। अल्लट धर्म परायण शासक था। इसके शासन काल में ही राजमाता महालक्ष्मी ने सारणेश्वर का मन्दिर 952 ई० में बनवाया था।

अल्लट

प्राचीन मेवाड़ का प्रशासन

लेकिन अल्लट के उत्तराधिकारियों को पड़ौसी राज्यों की आकांक्षावादी कामनाओं से उत्तेजित आक्रमणों का मुकाबिला करना पड़ा। कल्याणी के चालुक्य, गुजरात के चालुक्य, साम्भर के चौहान व दाहाला के कालाचुरी शासक मेवाड़ पर आक्रमण किया करते थे। अल्लट के प्रपौत्र शक्तिकुमार के शासन काल में मेवाड़ के गुहिल शासक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर चुके थे।[3] इसके शासन काल में ही मालवा के परमार शासक वाकपति मुंज ने चित्तौड़

शक्तिकुमार

1 Bhavnagar Inscriptions, p p 67

2 मौर्य की मृत्यु पर उसके पुत्र श्रीपति को अक्षपटालिक के पद पर अल्लट ने नियुक्त किया था। (Vide Fragmentary Ahar Inscription of the Time of Allata's son Nararahana)

3 Saktikumara is described in the Atpur Inscription of 977 A D as being possessed of three elements of power (Sakti Krayorji tah) namely probhnsakti (majesty), mantrasakti (counsel) and utsahasak'i (energy)

पर आक्रमण करके उसे अपने अधिकार में कर लिया। मुञ्ज के पुत्र और उत्तराधिकारी भोज का भी गुहिल देश पर बराबर अधिकार बना रहा।

शक्तिकुमार के पुत्र और उत्तराधिकारी अम्बाप्रसाद ने विद्रोही भृगुपति क्षत्रियों का विनाश किया। लेकिन यह स्वयं साम्भर के चौहान शासक वाक्पति के द्वारा युद्ध में मारा गया।[1] अम्बाप्रसाद के उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में विश्वसनीय

अम्बाप्रसाद

ऐतिहासिक सामग्री अब तक उपलब्ध नहीं हो सकी है। मेवाड़ के शासकों की जो वंशावलियां चित्तौड़गढ़ व आबू के शिलालेखों में दी गई है वे कुम्भलगढ़ प्रशस्ति की वंशावली से भिन्न है। अतः यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अम्बाप्रसाद के वंशजों ने कुछ वर्ष तक ही शासन किया था।

इन निर्बल उत्तराधिकारियों के शासनकाल में चित्तौड़ के दुर्ग पर गुजरात के भीमदेव प्रथम ने भोज को पराजित करके अधिकार कर लिया। वैरीसिंह ने जो

वैरीसिंह

अम्बाप्रसाद की आठवीं पीढ़ी में हुआ था परमारों के हाथ से आहड़ को पुनः छीन लिया। उसके चारों ओर शहर-पनाह बनवाई। वैरीसिंह के उत्तराधिकारी विजयसिंह ने मालवा के शासक उदादित्य की पुत्री श्यामल देवी के साथ विवाह से जो पुत्री उत्पन्न हुई उसकी शादी कालाचुरी वंश के राजकुमार गयाकर्ण के साथ की। इसके शासन-काल की प्लेट कड़माल से प्राप्त हुई है जिसमें इसे 'महाराज' कहकर सम्बोधित किया गया है।[2]

विजयसिंह गुजरात के प्रतिभाशाली शासक सिद्धराज-जयसिंह का समकालीन था। सिद्धराज ने राजस्थान का अधिकांश भाग अपने अधिकार में कर लिया था।[3] सिद्धराज के उत्तराधिकारियों का मेवाड़ पर भी अधिकार हो गया था। तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक गुजरात के चालुक्यों का मेवाड़ पर अधिकार रहा।

विजयसिंह ने चालुक्यों के प्रकोप से बचने के लिए राजवंशीय विवाह किए थे लेकिन वह मेवाड़ को उनके कोप से नहीं बचा सका। जब चालुक्यों का मेवाड़ पर अधिकार था तब ही जालौर में सोनगरा चौहानों की बढ़ती हुई शक्ति ने गुहिलवंश के शासक को अपने शेष राज्य से भी निर्वासित कर दिया। अतः तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक मेवाड़ के शासक गुजरात के चालुक्यों के सामन्त बने रहे।

---

1. डा० ओझा द्वारा उद्धरित 'जयनक द्वारा रचित पृथ्वीराज विजय महाकाव्य' (राजपूताने का इतिहास, जिल्द प्रथम, पृष्ठ 439)।

2. डा० ओझा : राजपूताने का इतिहास, जिल्द प्रथम पृ० 445।

3. H. C. Ray : Dynastic History of Northen India, आधुनिक कोटा, बांसवाड़ा, जोधपुर व जयपुर के प्रदेश इसके अधिकार में थे।

विवादास्पद प्रश्न है। अलाउद्दीन के लिए चित्तौड़ को विजय करना इसलिए आवश्यक था कि यह किला मालवा और दक्षिण के मार्ग में पड़ता था। इसे विजय किये बगैर अलाउद्दीन भारत का विजय करने का स्वप्न साकार नहीं कर सकता था।

अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया और लगभग आठ महीने की कोशिश के बाद 26th August, 1303 के दिन किले पर अधिकार कर लिया। मुसलमानों के अधिकार करने से पहले राजपूत स्त्रियों ने अपने सतीत्व की रक्षा में जौहर किया। अत: 1303 की घटना, मेवाड़ के इतिहास में 'प्रथम शाका' के नाम से प्रसिद्ध है। अलाउद्दीन ने चित्तौड़ का प्रबन्ध अपने पुत्र खिज्रखाँ को सौंप दिया।

दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी की चित्तौड़-विजय (1303) के साथ एक अत्यन्त रोमांचकारी घटना सम्बन्धित की जाती है। पद्मावत् महाकाव्य के रचयिता मलिक मुहम्मद जायसी ने 1540 में लिखा कि सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़ की रानी पद्मिनी को प्राप्त करने की लालसा से 1303 में चित्तौड़ पर आक्रमण किया था। काव्य के लेखक ने पद्मिनी को

पद्मिनी की कहानी की ऐतिहासिकता

लंका की राजकुमारी बताया है जिसका विवाह चित्तौड़ के राजा रतनसिंह के साथ 12 वर्ष की कठोर तपस्या और इन्तजार के बाद हुआ था। जायसी लिखता है कि एक बार राघव नाम का भिखारी भिक्षा लेते समय पद्मिनी के अनुपम सौन्दर्य को देखकर मूर्छित हो गया। इसी भिखारी ने दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन को रानी के अप्रतिम सौन्दर्य के बारे में बताया था जिस पर सुल्तान ने रतनसिंह के पास सन्देश भेजा कि वह पद्मिनी को शाही हरम में भेज दे। जब रतनसिंह ने सुल्तान की इस मांग को ठुकरा दिया तो जायसी लिखता है कि अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर घेरा डाल दिया और जब आठ साल तक युद्ध लड़ने पर भी सुल्तान चित्तौड़ को अपने अधिकार में नहीं कर सका तो अपनी कठिनाइयों और विवशता का अनुभव करके "सुल्तान ने इस शर्त पर दिल्ली लौट जाने का वायदा किया कि राजा रतनसिंह उसे सुन्दरी का प्रतिबिम्ब दिखा दे।" जब सुल्तान चित्तौड़ के किले से लौट रहा था तब रतनसिंह शिष्टाचार के नाते उसे द्वार तक छोड़ने गया। उस समय अलाउद्दीन ने कपटपूर्वक राजा को बन्दी बना लिया और उसे अपने साथ दिल्ली ले गया तत्पश्चात् पद्मिनी के पास संदेश भेजा गया कि उसके शाही हरम में आने के बाद ही रतनसिंह को मुक्त किया जा सकेगा। दिल्ली में रतनसिंह को भिन्न भिन्न प्रकार की यातनायें दी जा रही थीं जिनके विषय में जानकारी मिलने पर पद्मिनी ने अपने दो सरदार गोरा और बादल से परामर्श किया और दिल्ली जाने का निश्चय किया। 1600 बन्द पालकियों में ऐड़ी से चोटी तक शस्त्रों से सुसज्जित राजपूत योद्धा बैठे और यह समाचार फैला दिया गया कि पद्मिनी अपनी सखियों और सेविकाओं के साथ शाही महल में आ रही है। दिल्ली पहुंच कर रानी ने सुल्तान के पास

प्रार्थना भिजवाई कि वह अपने स्वामी से अन्तिम बार मिलना चाहती है। सुल्तान ने प्रार्थना स्वीकार करली और रतनसिंह के महल में पहुँचते ही वह दोनों (रतनसिंह व पद्मिनी) तो चित्तौड़ की तरफ रवाना हो गये तथा गोरा के नेतृत्व में राजपूतों ने शाही सेना का मुकावला किया। रतनसिंह और पद्मिनी सुरक्षित चित्तौड़ पहुँच गए।

जायसी की इस कथा ने जिसमें प्रेम, क्रीड़ा, साहस और विषाद, सुन्दरता से संजोये गए हैं शीघ्र ही जन-साधारण के मस्तिष्क में स्थान बना लिया और यहाँ-वहाँ हर जगह पद्मिनी की कथा कही और दोहराई जाने लगी। मलिक मुहम्मद जायसी के बाद जितने भी फारसी के इतिहासकारों (फरिश्ता, हाजी-उद्दबीर इत्यादि) ने अपनी कृतियां रचीं, सभी ने इस कहानी को ऐतिहासिक तथ्य मानकर उसका अपने ग्रंथों में वर्णन किया। राजपूतों की स्थानीय परम्परा और उनके चारणों पर विश्वास करते हुए कर्नल टॉड ने पद्मिनी की कथा को ओजपूर्ण शब्दों में दुहरा दिया। इस प्रकार इस रोमांचकारी कहानी ने ऐतिहासिक घटना का रूप धारण कर लिया।

जायसी ने अपना महाकाव्य चित्तौड़ की विजय के 237 वर्ष बाद लिखा था। उस महाकाव्य में अनेक हास्यास्पद और अशुद्ध बातें भी लिखी हुई हैं जो ऐतिहासिक सत्य नहीं हैं। उदाहरण के लिए जायसी लिखता है कि सिर्फ एक साल तक चित्तौड पर राज्य करने के बाद राजा रतनसिंह लंका की ओर रवाना हो गए और पद्मिनी को प्राप्त करने के लिए वहाँ बारह वर्ष तक रहे। कवि ने लंका के शासक का नाम गोवर्धन लिखा है और टॉड ने उसका नाम हम्मीर संक दिया है। स्वर्गीय ओझाजी ने लंका के शासक का नाम अकरमबाहु IV लिखा है जो रतनसिंह का समकालीन था। इसी प्रकार जायसी का यह लिखना भी सरासर गलत है कि रतनसिंह और सुल्तान अलाउद्दीन के बीच आठ साल तक युद्ध चला।

मलिक मुहम्मद जायसी के 10 वर्ष बाद फरिश्ता ने अपना फारसी भाषा का ग्रन्थ लिखा जिसमें पद्मिनी की कहानी को दोहराया गया है। फरिश्ता का कथन असंगतियों से भरा पड़ा है। उदाहरणार्थ, वर्णन करते समय इतिहासकार को यह निश्चय नहीं था कि पद्मिनी रनतसिंह की पुत्री थी या पत्नी। इसी तरह वह लिखता है कि सुल्तान ने चित्तौड़ का प्रबन्ध रतनसिंह के एक भानजे को सौंप दिया।

हाजी-उद्-बीर ने पद्मिनी का जो वर्णन किया है वह भ्रमोत्पादक है। वह कहीं पर भी रतनसिंह के नाम का उल्लेख नहीं करता और पद्मिनी का उल्लेख कुछ विशेष गुणों वाली स्त्री के रूप में करता है। किसी विशेष स्त्री की ओर संकेत नहीं करता। उसके वर्णन से यह भी स्पष्ट रूप से जाहिर नहीं होता कि पद्मिनी को अलाउद्दीन ने चित्तौड़ को अधिकार में कर लेने के पश्चात् मांगा था अथवा रतनसिंह के बन्दी कर लेने के बाद। हाजीउद्दवीर खिज्रखाँ का कहीं पर भी उल्लेख नहीं करता।

जायसी, फरिश्ता और हाजीउद्दवीर के वर्णन भी एक दूसरे से मेल नहीं खाते। जिन पालकियों में राजपूत योद्धा दिल्ली गए थे उनकी संख्या जायसी ने

पदमसिंह के उत्तराधिकारी जैत्रसिंह के राज्याभिषेक के साथ साथ मेवाड़ के इतिहास का अंधकार युग भी समाप्त होता है।

एकलिंग मन्दिर से प्राप्त शिलालेख के अनुसार जैत्रसिंह का राज्याभिषेक 1213 ई० में हुआ था। जैत्रसिंह का मालव, गुजरात, मेड, जांगल देश और म्लेच्छों के सुल्तान के साथ युद्ध हुए लेकिन वह पराजित नहीं हुआ।[1] 'In his struggle with the Sultans of Delhi or their Captains the ruler of Mewar may have suffered some grievous losses but on the whole, he successfully piloted the vessel of State during this difficult period The later Prasastikaras therefore did not err when they described him as Tumskasanyarnavakumbha yonih'[2]

जैत्रसिंह

जैत्रसिंह मेवाड़ के गुहिलवंशी शासकों में प्रतिभाशाली शासक हुआ है। इसने आधुनिक मेवाड़ के अधिकांश भाग पर, जिसमे डूंगरपुर और बांसवाड़ा के प्रदेश भी शामिल थे, अधिकार करके शक्ति संगठित की। चित्तौड़ का दुर्ग भी इसके अधिकार में आ गया था।[3] अतः जैत्रसिंह के उत्तराधिकारी तेजसिंह को स्वतंत्र शासक (Sovereign Ruler) बनने में कोई कठिनाई नहीं हुई। तेजसिंह अपने आपको अनिहलवाड़ा के शासक के समान समझता था।[4] तेजसिंह को भी नासिरुद्दीन महमूद की सेनाओं का 1255-56 में सामना करना

तेजसिंह

---

1 Vide Ghagasa Inscription of V S 1322 (1265 A D) and Chirwa Inscription published in Annual Report of Rajputana Museums (1926-27, p 3) and Epigraphia India Vol XXII p 285) म्लेच्छों से तात्पर्य मुसलमानों से है। जैत्रसिंह का सिंध के मुसलमानों व इल्तुतमिश की सेनाओं के साथ युद्ध हुआ था (See Tod I p 305 and Ojha History of Raj , I, p 403)

2 Bhavnagar Inscriptions, p 86, quoted by Dr G C Raychaudhary in his 'History of Mewar '

3 Chirwa Inscription & Jagat Narain Inscription 1234) A D) जैत्रसिंह का पुत्र महाराज सिंहडदेव को बागड का शासक बताया गया है।

4 Vide his epithets 'Maharajadhiraj Paraneshvana Parambhattarak-Unapati vara labdha Prandha Pralapasamalam kista-Sri Tejasimhadera '

पड़ा था।[1] तेजसिंह को अनहिलवाड़ा के शासक विसलदेव के विरुद्ध भी युद्ध करना पड़ा था गुहिलों के साथ चालुक्यों की वंश परम्परागत शत्रुता थी। तेजसिंह के शासन-काल में मेवाड़ में दो नये कर्मचारी नियुक्त किए गए थे। एक विल्हण था जो सचिवालय (श्रीकरण) का इन्चार्ज था और दूसरा समुध्घर था जो राजा की मोहर (seal) सम्भालता था।[2]

तेजसिंह के पुत्र और उत्तराधिकारी समरसिंह के काल के कई शिलालेख प्राप्त हुए हैं जो 1273 से 1302 ई० के बीच में लिखे हुए हैं। इनमें से ही एक कुम्भलगढ़ से प्राप्त शिलालेख भी है जिसमें लिखा है कि समरसिंह ने विजय करके 'साम्राज्यलक्ष्मी' को बढ़ाया। आबू के शिलालेख में लिखा हुआ है कि समरसिंह ने वंश-परम्परागत वैमनस्य को भूलकर गुजरात के बघेला शासक सारंगदेव की सहायता की थी। कदाचित यह सहायता उस समय की गई होगी जबकि बलबन ने गुजरात पर आक्रमण किया था।[3] समरसिंह के दो पुत्र थे—रतनसिंह और कुम्भकर्ण। अतः रतनसिंह उनकी मृत्यु के पश्चात् चित्तौड़ के शासक हुए।

समरसिंह

रतनसिंह (1302–1303) अलाउद्दीन खिलजी के समकालीन थे। अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया। आक्रमण के अनेक कारण थे। पहला कारण तो यह था कि खिलजी सुल्तान स्वभाव से, महत्वाकांक्षी शासक था। वह 'सिकन्दर सानी' बनने के स्वप्न देखा करता था। दूसरा कारण यह था कि वह समस्त भारतवर्ष में मुसलमानों का शासन स्थापित करके अपनी शक्ति को संगठित करना चाहता था। चूंकि चित्तौड़ का राजा सारे हिन्दू राजाओं में श्रेष्ठ समझा जाता था और हिन्दुस्तान के सभी शासक उसकी श्रेष्ठता को स्वीकार करते थे, अतः अलाउद्दीन के लिए चित्तौड़ को विजय करना आवश्यक हो गया था।[4] किंवदन्तियों के अनुसार अलाउद्दीन ने रतनसिंह की सुन्दर स्त्री पद्मिनी को हस्तगत करने की अभिलाषा से भी चित्तौड़ पर आक्रमण किया था।[5] लेकिन यह एक

रतनसिंह

1. Tabaqat-i-Nasiri (English Translation by Raverty); Ferishta (English Trans. by Briggs), Vol. I., p. 242; Indian Artiquary (1928) pp 33-34.

2. Dr. Ojha : History of Rajputana, Vol. I, pp. 473-74.

3. Indian Antiquary, Vol. XVI, p. 350; Ojha : History of Rajputana, Vol. I, P. 475.

4. देखिए अमीर खुसरो कृत 'खजाइन-उल-फुतुह'।

5. इस विवादास्पद प्रश्न का विस्तारपूर्वक वर्णन Historicity of Padmini Legend में किया गया है।

पदमसिह के उत्तराधिकारी जैत्रसिह के राज्याभिषेक के साथ साथ मेवाड के इतिहास का अन्धकार युग भी समाप्त होता है ।

जैत्रसिह

एकलिंग मन्दिर से प्राप्त शिलालेख के अनुसार जैत्रसिह का राज्याभिषेक 1213 ई० मे हुआ था । जैत्रसिह का मालव, गुजरात, मेड, जांगल देश और मलेच्छो के सुल्तान के साथ युद्ध हुए लेकिन वह पराजित नहीं हुआ ।[1] 'In his struggle with the Sultans of Delhi or their Captains the ruler of Mewar may have suffered some grievous losses, but on the whole, he successfully piloted the vessel of State during this difficult period The later Prasastikaras therefore did not err when they described him as Tumskasanyarnavakumbha yonih' [2]

जैत्रसिह मेवाड के गुहिलवशी शासको में प्रतिभाशाली शासक हुआ है । इसने आधुनिक मेवाड के अधिकाश भाग पर, जिसमे डूंगरपुर और बांसवाडा के प्रदेश भी शामिल थे, अधिकार करके शक्ति सगठित की । चित्तौड का दुर्ग भी इसके अधिकार में आ गया था ।[3] अत जैत्रसिह के उत्तराधिकारी तेजसिह को स्वतन्त्र शासक (Sovereign Ruler) बनने मे कोई कठिनाई नही हुई ।

तेजसिह

तेजसिह अपने आपको अनिहलवाडा के शासक के समान समझता था ।[4] तेजसिह को भी नासिरुद्दीन महमूद की सेनाओ का 1255-56 मे सामना करना

---

1 Vide Ghagasa Inscription of V S 1322 (1265 A D) and Chirwa Inscription published in Annual Report of Rajputana Museums (1926-27, p 3) and Epigraphia India Vol XXII, p 285) मलेच्छो से तात्पर्य मुसलमानो से है । जैत्रसिह का सिन्ध के मुसलमानो व इल्तुतमिश की सेनाओं के साथ युद्ध हुआ था (See Tod I, p 305 and Ojha History of Raj, I, p 403)

2 Bhavnagar Inscriptions, p 86, quoted by Dr G C Raychaudhary in his 'History of Mewar'

3 Chirwa Inscription & Jagat Narain Inscription 1234) A D) जैत्रसिह का पुत्र महाराज सिहाडदेव को बागड का शासक बताया गया है ।

4 Vide his epithets 'Maharajadhiraj Paraneshvana Parambhattarak-Unapati vara labdha-Prandha-Pralapasamalam kista-Sri Tejasinhadera'

पड़ा था।[1] तेजसिंह को अनहिलवाड़ा के शासक विसलदेव के विरुद्ध भी युद्ध करना पड़ा था गुहिलों के साथ चालुक्यों की वंश परम्परागत शत्रुता थी। तेजसिंह के शासन-काल मे मेवाड़ में दो नये कर्मचारी नियुक्त किए गए थे। एक विल्हण था जो सचिवालय (श्रीकर्ण) का इन्चार्ज था और दूसरा समुध्धर था जो राजा की मोहर (seal) सम्भालता था।[2]

तेजसिंह के पुत्र और उत्तराधिकारी समरसिंह के काल के कई शिलालेख प्राप्त हुए हैं जो 1273 से 1302 ई० के बीच में लिखे हुए हैं। इनमें से ही एक

समरसिंह

कुम्भलगढ़ से प्राप्त शिलालेख भी है जिसमें लिखा है कि समरसिंह ने विजय करके 'साम्राज्यलक्ष्मी' को बढ़ाया। आबू के शिलालेख में लिखा हुआ है कि समरसिंह ने वंश-परम्परागत वैमनस्य को भूलकर गुजरात के बघेला शासक सारंगदेव की सहायता की थी। कदाचित यह सहायता उस समय की गई होगी जबकि बलबन ने गुजरात पर आक्रमण किया था।[3] समरसिंह के दो पुत्र थे—रतनसिंह और कुम्भकर्ण। अतः रतनसिंह उनकी मृत्यु के पश्चात् चित्तौड़ के शासक हुए।

रतनसिंह (1302-1303) अलाउद्दीन खिलजी के समकालीन थे। अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया। आक्रमण के अनेक कारण थे। पहला कारण तो यह

रतनसिंह

था कि खिलजी सुल्तान स्वभाव से, महत्वाकांक्षी शासक था। वह 'सिकन्दर सानी' बनने के स्वप्न देखा करता था। दूसरा कारण यह था कि वह समस्त भारतवर्ष में मुसलमानों का शासन स्थापित करके अपनी शक्ति को संगठित करना चाहता था। चूंकि चित्तौड़ का राजा सारे हिन्दू राजाओं में श्रेष्ठ समझा जाता था और हिन्दुस्तान के सभी शासक उसकी श्रेष्ठता को स्वीकार करते थे, अतः अलाउद्दीन के लिए चित्तौड़ को विजय करना आवश्यक हो गया था।[4] किंवदन्तियों के अनुसार अलाउद्दीन ने रतनसिंह की सुन्दर स्त्री पद्मिनी को हस्तगत करने की अभिलाषा से भी चित्तौड़ पर आक्रमण किया था।[5] लेकिन यह एक

---

1. Tabaqat-i-Nasiri (English Translation by Raverty); Ferishta (English Trans. by Briggs), Vol. I., p. 242; Indian Antiquary (1928) pp. 33-34.

2. Dr. Ojha : History of Rajputana, Vol. I, pp. 473-74.

3. Indian Antiquary, Vol. XVI, p. 350; Ojha : History of Rajputana, Vol. I, P. 475.

4. देखिए अमीर खुसरो कृत 'खजाइन-उल-फुतुह'।

5. इस विवादास्पद प्रश्न का विस्तारपूर्वक वर्णन Historicity of Padmini Legend में किया गया है।

पद्मसिंह के उत्तराधिकारी जैत्रसिंह के राज्याभिषेक के साथ-साथ मेवाड़ के इतिहास का अन्धकार युग भी समाप्त होता है।

जैत्रसिंह

एकलिंग मंदिर से प्राप्त शिलालेख के अनुसार जैत्रसिंह का राज्याभिषेक 1213 ई० मे हुआ था। जैत्रसिंह का मालव, गुजरात, मेड, जागल देश और मलेच्छों के सुल्तान के साथ युद्ध हुए लेकिन वह पराजित नहीं हुआ।[1] 'In his struggle with the Sultans of Delhi or their Captains the ruler of Mewar may have suffered some grievous losses but on the whole, he successfully piloted the vessel of State during this difficult period The later Prasastikaras therefore did not err when they described him as Turuskasanyarnavakumbha yonih'[2]

जैत्रसिंह मेवाड़ के गुहिलवशी शासकों में प्रतिभाशाली शासक हुआ है। इसने आधुनिक मेवाड़ के अधिकांश भाग पर, जिसमें डूगरपुर और बाँसवाडा के प्रदेश भी शामिल थे, अधिकार करके शक्ति सगठित की। चित्तौड़ का दुर्ग भी इसके अधिकार में आ गया था।[3] अत जैत्रसिंह के उत्तराधिकारी तेजसिंह को स्वतन्त्र शासक (Sovereign Ruler) बनने मे कोई कठिनाई नहीं हुई।

तेजसिंह

तेजसिंह अपने आपको अनिहलवाडा के शासक के समान समझता था।[4] तेजसिंह को भी नासिरुद्दीन महमूद की सेनाओं का 1255–56 मे सामना करना

1 Vide Ghagasa Inscription of V S 1322 (1265 A D) and Chirwa Inscription published in Annual Report of Rajputana Museums (1926–27, p 3) and Epigraphia India Vol XXII p 285) मलेच्छो से तात्पर्य मुसलमानो से है। जैत्रसिंह का सिन्ध के मुसलमानो व इल्तुतमिश की सेनाओ के साथ युद्ध हुआ था (See Tod I p 305 and Ojha History of Raj, I, p 403)

2 Bhavnagar Inscriptions, p 86, quoted by Dr G C Raychaudhary in his 'History of Mewar'

3 Chirwa Inscription & Jagat Narain Inscription 1234) A D) जैत्रसिंह का पुत्र महाराज सिहादेव को वागड का शासक बताया गया है।

4 Vide his epithets 'Maharajadhiraj Paraneshvara Parambhattarak-Umapati vara labdha-Praudha Pratapasamalam kista–Sri Tejasimhadeva'

प्रार्थना भिजवाई कि वह अपने स्वामी से अन्तिम बार मिलना चाहती है। सुल्तान ने प्रार्थना स्वीकार करली और रतनसिंह के महल में पहुँचते ही वह दोनों (रतनसिंह व पद्मिनी) तो चित्तौड़ की तरफ रवाना हो गये तथा गोरा के नेतृत्व में राजपूतों ने शाही सेना का मुकाबला किया। रतनसिंह और पद्मिनी सुरक्षित चित्तौड़ पहुँच गए।

जायसी की इस कथा ने जिसमें प्रेम, क्रीड़ा, साहस और विषाद, सुन्दरता से संजोये गए हैं शीघ्र ही जन-साधारण के मस्तिष्क में स्थान बना लिया और यहाँ-वहाँ हर जगह पद्मिनी की कथा कही और दोहराई जाने लगी। मलिक मुहम्मद जायसी के बाद जितने भी फारसी के इतिहासकारों (फरिश्ता, हाजी-उद्दबीर इत्यादि) ने अपनी कृतियां रचीं, सभी ने इस कहानी को ऐतिहासिक तथ्य मानकर उसका अपने ग्रंथों में वर्णन किया। राजपूतों की स्थानीय परम्परा और उनके चारणों पर विश्वास करते हुए कर्नल टॉड ने पद्मिनी की कथा को ओजपूर्ण शब्दों में दुहरा दिया। इस प्रकार इस रोमांचकारी कहानी ने ऐतिहासिक घटना का रूप धारण कर लिया।

जायसी ने अपना महाकाव्य चित्तौड़ की विजय के 237 वर्ष बाद लिखा था। उस महाकाव्य में अनेक हास्यास्पद और अशुद्ध बातें भी लिखी हुई हैं जो ऐतिहासिक सत्य नहीं हैं। उदाहरण के लिए जायसी लिखता है कि सिर्फ एक साल तक चित्तौड़ पर राज्य करने के बाद राजा रतनसिंह लंका की ओर रवाना हो गए और पद्मिनी को प्राप्त करने के लिए वहाँ बारह वर्ष तक रहे। कवि ने लंका के शासक का नाम गोवर्धन लिखा है और टॉड ने उसका नाम हम्मीर संक दिया है। स्वर्गीय ओझाजी ने लंका के शासक का नाम प्रकरमबाहु IV लिखा है जो रतनसिंह का समकालीन था। इसी प्रकार जायसी का यह लिखना भी सरासर गलत है कि रतनसिंह और सुल्तान अलाउद्दीन के बीच आठ साल तक युद्ध चला।

मलिक मुहम्मद जायसी के 10 वर्ष बाद फरिश्ता ने अपना फारसी भाषा का ग्रन्थ लिखा जिसमें पद्मिनी की कहानी को दोहराया गया है। फरिश्ता का कथन असंगतियों से भरा पड़ा है। उदाहरणार्थ, वर्णन करते समय इतिहासकार को यह निश्चय नहीं था कि पद्मिनी रनतसिंह की पुत्री थी या पत्नी। इसी तरह वह लिखता है कि सुल्तान ने चित्तौड़ का प्रबन्ध रतनसिंह के एक भानजे को सौंप दिया।

हाजी–उद्–बीर ने पद्मिनी का जो वर्णन किया है वह भ्रमोत्पादक है। वह कहीं पर भी रतनसिंह के नाम का उल्लेख नहीं करता और पद्मिनी का उल्लेख कुछ विशेष गुणों वाली स्त्री के रूप में करता है। किसी विशेष स्त्री की ओर संकेत नहीं करता। उसके वर्णन से यह भी स्पष्ट रूप से जाहिर नहीं होता कि पद्मिनी को अलाउद्दीन ने चित्तौड़ को अधिकार में कर लेने के पश्चात् मांगा था अथवा रतनसिंह के बन्दी कर लेने के बाद। हाजीउद्दबीर खिज्रखाँ का कहीं पर भी उल्लेख नहीं करता।

जायसी, फरिश्ता और हाजीउद्दबीर के वर्णन भी एक दूसरे से मेल नहीं खाते। जिन पालकियों में राजपूत योद्धा दिल्ली गए थे उनकी संख्या जायसी ने

विवादास्पद प्रश्न है। अलाउद्दीन के लिए चित्तौड को विजय करना इसलिए आवश्यक था कि यह किला मालवा और दक्षिण के मार्ग मे पडता था। इसे विजय किये बगैर अलाउद्दीन भारत को विजय करने का स्वप्न साकार नहीं कर सकता था।

अलाउद्दीन ने चित्तौड पर आक्रमण किया और लगभग आठ महीने की कोशिश के बाद 26th August, 1303 के दिन किले पर अधिकार कर लिया। मुसलमानों के अधिकार करने से पहले राजपूत स्त्रियों ने अपने सतीत्व की रक्षा मे जौहर किया। अत 1303 की घटना, मेवाड के इतिहास मे 'प्रथम शाका' के नाम से प्रसिद्ध है। अलाउद्दीन ने चित्तौड का प्रबन्ध अपने पुत्र खिज्रखाँ को सौंप दिया।

पद्मिनी की कहानी की ऐतिहासिकता

दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी की चित्तौड-विजय (1303) के साथ एक अत्यन्त रोमांचकारी घटना सम्बन्धित की जाती है। पद्मावत् महाकाव्य के रचयिता मलिक मुहम्मद जायसी ने 1540 मे लिखा कि सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड की रानी पद्मिनी को प्राप्त करने की लालसा से 1303 में चित्तौड पर आक्रमण किया था। काव्य के लेखक ने पद्मिनी को लंका की राजकुमारी बताया है जिसका विवाह चित्तौड के राजा रतनसिंह के साथ 12 वर्ष की कठोर तपस्या और इन्तजार के बाद हुआ था। जायसी लिखता है कि एक बार राघव नाम का भिखारी भिक्षा लेते समय पद्मिनी के अनुपम सौन्दर्य को देखकर मूर्छित हो गया। इसी भिखारी ने दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन को रानी के अप्रतिम सौन्दर्य के बारे मे बताया था जिस पर सुल्तान ने रतनसिंह के पास सन्देश भेजा कि वह पद्मिनी को शाही हरम मे भेज दे। जब रतनसिंह ने सुल्तान की इस माग को ठुकरा दिया तो जायसी लिखता है कि अलाउद्दीन ने चित्तौड पर घेरा डाल दिया और जब आठ साल तक युद्ध लडने पर भी सुल्तान चित्तौड को अपने अधिकार मे नही कर सका तो अपनी कठिनाइयों और विवशता का अनुभव करके "सुल्तान ने इस शर्त पर दिल्ली लौट जाने का वायदा किया कि राजा रतनसिंह उसे सुन्दरी का प्रतिबिम्ब दिखा दे।" जब सुल्तान चित्तौड के किले से लौट रहा था तब रतनसिंह शिष्टाचार के नाते उसे द्वार तक छोडने गया। उस समय अलाउद्दीन ने कपटपूर्वक राजा को बन्दी बना लिया और उसे अपने साथ दिल्ली ले गया तत्पश्चात् पद्मिनी के पास सदेश भेजा गया कि उसके शाही हरम मे आने के बाद ही रतनसिंह को मुक्त किया जा सकेगा। दिल्ली मे रतनसिंह को भिन्न भिन्न प्रकार की यातनायें दी जा रही थी जिनके विषय में जानकारी मिलने पर पद्मिनी ने अपने दो सरदार गोरा और बादल से परामर्श किया और दिल्ली जाने का निश्चय किया। 1600 बन्द पालकियों में ऐडी से चोटी तक शस्त्रो से सुसज्जित राजपूत योद्धा बैठे और यह समाचार फैला दिया गया कि पद्मिनी अपनी सखियो और सेविकाओं के साथ शाही महल मे आ रही है। दिल्ली पहुँच कर रानी ने सुल्तान के पास

मान उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस रूपक में कवि ने अपने आपको 'हुद-हुद पक्षी' के रूप में वर्णित किया है। डा० श्रीवास्तव का कहना है कि अमीर खुसरो का चित्तौड़ अभियान के प्रसंग में यह वर्णन इस बात की ओर संकेत करता है कि पद्मिनी की ओर सुल्तान अलाउद्दीन की आसक्ति थी और पद्मिनी को प्राप्त करने की लालसा सुल्तान के चित्तौड़-अभियान का एक कारण हो सकता है। डा० श्रीवास्तव के गुरु डा० कालिकारंजन कानूनगो ने अमीर खुसरो के रूपक का पूर्ण रूप से विवेचन करने के बाद अपनी पुस्तक 'Studies in Rajput History' में लिखा है कि वह और उनके परम शिष्य डा० श्रीवास्तव पद्मिनी की कथा की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में एक दूसरे से मतभेद रखते हैं। सारांश यह है कि डा० कानूनगो अमीर खुसरो के इस रूपक को कहानी की ऐतिहासिकता सिद्ध करने का एक सबल प्रमाण मानने को तैयार नहीं हैं।

एक दूसरे आधुनिक इतिहासकार (डा० ईश्वरीप्रसाद) का कहना है कि "मेवाड़ की परम्परा जो इस कहानी को स्वीकार करती है, अत्यन्त पुरानी है और यदि पद्मिनी की कथा एक साहित्यिक रचना मात्र थी तो उसका राजपूताना में इतना विस्तृत प्रचलन कैसे हो गया?" परम्परा इतिहास का अधिक प्रामाणिक स्रोत नहीं होती। यह कहना भी सरल नहीं है कि मेवाड़ की परम्परा कितनी प्राचीन है यह परम्परा जायसी के पद्मावत से अधिक प्राचीन है अथवा नहीं, यह विवादास्पद विषय है। चारणों के वृत्तांत जायसी और फरिश्ता के बहुत बाद में (लगभग अठारहवीं शताब्दी में लिखे गए थे। हो सकता है कि चारणों ने अपने वर्णनों का कथानक) पद्मावत से लिया हो और चारणों के इन वर्णनों ने इस रोमांचकारी कहानी को विस्तृत रूप दे दिया हो। भारतवासी स्वभाव से इस प्रकार की कहानियों को सुनने व दुहराने में रुचि रखते हैं। पद्मिनी की रूमानी कथा भी भारत में इतनी अधिक प्रचलित हो गई कि सत्रहवीं शताब्दी मे भारत की यात्रा करने वाले विदेशी यात्री मनूसी ने भी इसकी घटनाओं का वर्णन अकबर के चित्तौड़ आक्रमण के सिलसिले में कर दिया। वह लिखता है कि पद्मिनी राजा जयमल की रानी थी जिसे शाही बंदीगृह से पालकियों की योजना द्वारा मुक्त किया गया था। डा० के० एस० लाल लिखते हैं कि "परम्परा निसन्देह इतिहास का एक स्रोत है किन्तु यह स्रोत निश्चयतः निर्बलतम होता है और जब तक इसका समर्थन समकालीन साहित्य, शिलालेख, तवारीख अथवा मुद्रा से नहीं हो जाये उसे सच्चे इतिहास के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता……।" पद्मिनी की कहानी को सिर्फ इसलिए स्वीकार नहीं किया जाता कि यह इतने लम्बे समय तक और इतनी अधिक लोकप्रिय रही है। कथा इतनी प्रचलित हो गई कि आज से कुछ वर्ष पहले भारत में स्थित लंका के राजदूत चित्तौड़ पधारे। वे सिर्फ सुनी-सुनाई कहानी के आधार पर पद्मिनी के आभूषणों की तलाश में आये थे। डा० गोपीनाथ शर्मा उनके साथ भेजे गए। लेकिन उन्हें चित्तौड़ के किले पर कहीं पर भी पद्मिनी के आभूषण प्राप्त होने के चिन्ह भी नहीं मिले।

1600 लिखी है जब कि फरिश्ता 400 और हाजीउद्दबीर 500 लिखता है। जायसी और फरिश्ता कहते हैं कि रत्नसिंह को बन्दी बनाने के पश्चात् दिल्ली में रखा गया जबकि हाजीउद्दबीर का कथन है कि राणा कभी दिल्ली गया ही नहीं और रानी को अलाउद्दीन के पास जाने के लिए मनाते हुए अपने राज्य में ही सैनिकों के पहरे में बन्दी रखा गया था। जायसी लिखता है कि रत्नसिंह को बन्दीगृह से मुक्त कराने की युक्ति पद्मिनी ने निकाली थी जबकि फरिश्ता के अनुसार रत्नसिंह की पुत्री ने यह युक्ति निकाली थी। हाजीउद्दबीर का कहना है कि स्वयं रत्नसिंह ने निकल भागने की विविध युक्ति नियोजित की थी। इस प्रकार तीनों समकालीन लेखकों के वर्णनों में भिन्नता मिलती है।

राजस्थान के चारण भाटों ने राजपूतानी के शौर्य की प्रशंसा करने के उद्देश्य से पद्मिनी की कथा का मूल कथानक जायसी के पद्मावत से ले लिया और उसे अपनी गौरव गाथाओं द्वारा प्रचलित कर दिया। उन लोगों ने इस बात की ओर गौर नहीं किया कि जायसी ने पद्मावत लिखते समय चित्तौड़ की रानी पद्मिनी की जीवन-कथा लिखने की सोची थी लेकिन कवि अपनी पुस्तक के अन्त में स्वयं कहता है—

तन,चित उर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुद्धि पद्मिनी चिन्हा।
गुरुसुआ जेइ पन्थ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा।
नागमती यह दुनिया धन्धा। बाचा सोई न एहिचित बाँधा।
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउद्दीन सुलतानू।
प्रेम कथा एहि भांति बिचारहु। बूझ लेहु जो बूझै पारहु।

अर्थात् 'इस कथा में चित्तौड़ देह का, राजा रत्नसिंह मस्तिष्क का, सिंहल द्वीप हृदय का, पद्मिनी चातुर्य का ... और अलाउद्दीन माया का प्रतिरूप है। बुद्धिमान लोग समझ सकते हैं कि इस प्रेमकथा का तात्पर्य क्या है। जायसी के इन शब्दों से स्पष्ट है कि वह तो एक दृष्टांत कथा लिख रहा था कोई ऐतिहासिक घटना नहीं। यह सम्भव है कि कथानक की प्रेरणा कवि को चित्तौड़ में 1534 में होने वाले जौहर से मिली हो जो गुजरात के सुलतान बहादुरशाह के आक्रमण के समय किया गया था।

पद्मावत् के लिखे जाने के पहिले किसी भी फारसी अथवा राजस्थान के इतिहास में इस कहानी के सम्बन्ध में पढ़ने को नहीं मिलता। बरनी, इसामी इब्नबतूता और तारीख-ए-मुहम्मदी तथा तारीख-ए-मुबारकशाही के लेखक समकालीन थे जो पद्मिनी की तथाकथित रोमांचकारी कहानी की ओर इंगित भी नहीं करते। इन सब इतिहासकारों पर चुप्पी साधने का, षडयन्त्र करने का एकाएक आरोप नहीं लगाया जा सकता।

एक आधुनिक इतिहासकार (डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव) का कहना है कि अलाउद्दीन खिलजी का दरबारी कवि और इतिहासकार अमीर खुसरो सुल्तान के साथ चित्तौड़ के घेरे में मौजूद था और इसने अपने ग्रंथ खजाइन-उल-फुतूह में पद्मिनी की कहानी का वर्णन एक रूपक में किया है। अमीर खुसरो चित्तौड़ की उपमा सेबा से देता है जहाँ कि सुन्दर रानी बिलकिस के प्रेम से मोहित होकर सुले

मान उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस रूपक में कवि ने अपने अ
हुद पक्षी' के रूप में वर्णित किया है। डा० श्रीवास्तव का कहना है कि अ
का चित्तौड़ अभियान के प्रसंग में यह वर्णन इस बात की ओर संकेत क
पद्मिनी की ओर सुल्तान अलाउद्दीन की आसक्ति थी और पद्मिनी को प्राप्त
लालसा सुल्तान के चित्तौड़-अभियान का एक कारण हो सकता है। डा०
के गुरू डा० कालिकारंजन कानूनगो ने अमीर खुसरो के रूपक का
विवेचन करने के बाद अपनी पुस्तक *'Studies in Rajput History'* ं
कि वह और उनके परम शिष्य डा० श्रीवास्तव पद्मिनी की कथा की ऐतिह
सम्बन्ध में एक दूसरे से मतभेद रखते है। सारांश यह है कि डा० कानू
खुसरो के इस रूपक को कहानी की ऐतिहासिकता सिद्ध करने का एक स
मानने को तैयार नहीं हैं।

एक दूसरे आधुनिक इतिहासकार (डा० ईश्वरीप्रसाद) का कहना है
की परम्परा जो इस कहानी को स्वीकार करती है, अत्यन्त पुरानी है और य
की कथा एक साहित्यिक रचना मात्र थी तो उसका राजपूताना में इतना विस
कैसे हो गया?" परम्परा इतिहास का अधिक प्रामाणिक स्रोत नहीं होती।
भी सरल नहीं है कि मेवाड़ की परम्परा कितनी प्राचीन है यह परम्परा जायसी
से अधिक प्राचीन है अथवा नहीं, यह विवादास्पद विषय है। चारणों
जायसी और फरिश्ता के बहुत बाद में (लगभग अठारहवीं शताब्दी में लि
हो सकता है कि चारणों ने अपने वर्णनों का कथानक) पद्मावत से लि
चारणों के इन वर्णनों ने इस रोमांचकारी कहानी को विस्तृत रूप दे
भारतवासी स्वभाव से इस प्रकार की कहानियों को सुनने व दुहराने में रुचि
पद्मिनी की रुमानी कथा भी भारत में इतनी अधिक प्रचलित हो गई
शताब्दी मे भारत की यात्रा करने वाले विदेशी यात्री मनूसी ने भी इसक
का वर्णन अकबर के चित्तौड़ आक्रमण के सिलसिले में कर दिया। वह लि
पद्मिनी राजा जयमल की रानी थी जिसे शाही बंदीगृह से पालकियों की योजन
किया गया था। डा० के० एस० लाल लिखते हैं कि "परम्परा निसन्देह इ
एक स्रोत है किन्तु यह स्रोत निश्चयत: निर्बलतम होता है और जब तक इस
समकालीन साहित्य, शिलालेख, तवारीख अथवा मुद्रा से नहीं हो जाये उसे
हास के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता.......।" पद्मिनी की कहान
इसलिए स्वीकार नहीं किया जाता कि यह इतने लम्बे समय तक और इत
लोकप्रिय रही है। कथा इतनी प्रचलित हो गई कि आज से कुछ वर्ष पहले
स्थित लंका के राजदूत चित्तौड़ पधारे। वे सिर्फ सुनी-सुनाई कहानी के
पद्मिनी के आभूषणों की तलाश में आये थे। डा० गोपीनाथ शर्मा उनके
गए। लेकिन उन्हें चित्तौड़ के किले पर कहीं पर भी पद्मिनी के आभूषण
के चिन्ह भी नहीं मिले।

अतः निष्कर्ष यही निकलता है कि 1303 में सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया और आठ मास के विकट संघर्ष के बाद वह उस पर अधिकार करने में सफल हुआ तो उस समय चित्तौड़ की राजपूतनियों ने जौहर किया जिसमें राजा रतनसिंह की एक रानी भी थी और जिसका नाम पद्मिनी था। इसके अतिरिक्त और सब साहित्यिक कल्पनायें हैं जिनके लिए ऐतिहासिक समर्थन नहीं है।

रतनसिंह की मृत्यु और चित्तौड़ के 'पहले शाके' के साथ साथ मेवाड़ की

अलाउद्दीन ने चित्तौड़ का नाम खिजराबाद रख दिया और उसका प्रबन्ध अपने पुत्र खिज्र खाँ को सौंप दिया।

रावली शाखा का भी अन्त हो गया। अतः सीसोदे का सामन्त हम्मीर जो लक्ष्मणसिंह सीसोदे का पौत्र था, अपने पैतृक राज्य को पुनः प्राप्त करने की कोशिश करने लगा। अलाउद्दीन का पुत्र खिज्रखाँ 1313 तक चित्तौड़ में रहा। लेकिन वह सुचारु रूप से व्यवस्था नहीं कर सका। अतः जालोर के बागी सरदार मालदेव सोनगरा को चित्तौड़ दे दिया गया।

अलाउद्दीन का अन्त 'गुस्से में अपना ही मांस नोचते हुए' 1316 में हो गया। उसकी मृत्यु के कुछ समय पूर्व ही सल्तनत में स्थान स्थान पर विद्रोह की अग्नि भड़क चुकी थी। परिस्थिति से लाभ उठाने के अभिप्राय से हम्मीर ने भी उत्पात मचाना प्रारम्भ कर दिया। अलाउद्दीन के निर्बल उत्तराधिकारी मालदेव और उसके पुत्र भी कोई सहायता नहीं कर सके। अतः हम्मीर ने निरन्तर प्रयत्नों के पश्चात् 1340 ई० के लगभग मेवाड़ पर अपना अधिकार कर लिया। उसने चित्तौड़ में राजतिलक उत्सव भी मनाया और 'महाराणा' की उपाधि धारण की। तब से ही 1950 तक मेवाड़ में सीसोदिया वंश के गुहिल राजपूत राज्य करते रहे और वे 'महाराणा' की उपाधि से सम्बोधित किए जाते रहे हैं।

हम्मीर एक वीर, साहसी, निडर और स्वाभिमानी शासक था। इसने जैला खापुर (आधुनिक भीलवाड़ा) को भीलों से जीत कर अपने अधिकार में किया।

महाराणा हम्मीर

ईडर और पालनपुर के राजाओं को पराजित किया। महाराणा कुम्भा की कीर्ति-स्तम्भ प्रशस्ति में हम्मीर को 'विषम घाटी पचानन' कहकर पुकारा गया।

हम्मीर केवल एक विजेता ही नहीं था बल्कि उसने आस-पास के जागीरदारों को एकत्रित करके मेवाड़ की शक्ति को भी संगठित किया था। इसके अतिरिक्त इसने चित्तौड़ के दुर्ग में अन्नपूर्णा का मन्दिर और एक तालाब भी बनवाया था।

हम्मीर की बढ़ती हुई शक्ति ने बूंदी के हाड़ा शासकों के हृदय में ईर्ष्या की भावना जाग्रत कर दी। अतः हम्मीर के पुत्र और उत्तराधिकारी क्षेत्रसिंह को अपने शासन काल में हाड़ा राजपूतों के साथ युद्ध लड़ने पड़े। इसी प्रकार मालवा के शासक

दिलावरखां के विरुद्ध भी युद्ध लड़ने पड़े। हम्मीर ने ईडर के शासक रणमल को भी पराजित करके उसे वन्दी बनाया।[1] इस प्रकार लगभग 27 वर्ष शासन करने के पश्चात् क्षेत्रसिंह 1405 ई० में मृत्यु को प्राप्त हुआ।

क्षेत्रसिंह ने अपने पिता हम्मीर के द्वारा संचालित संगठन-कार्य को जारी रखा। उसे व उसके पिता को मेवाड़ की दक्षिणी-पूर्वी तथा दक्षिणी सीमा विकसित करने का सौभाग्य प्राप्त हो गया क्योंकि फीरोज तुगलक की मृत्यु (1388 A.D.) के पश्चात् दिल्ली सल्तनत अशक्त हो चुकी थी। तैमूर के आक्रमण (1398) ने इसे अधिक निर्बल कर दिया था। अतः मेवाड़ के राणा को राज्य विस्तार तथा अपनी विजयों को सुसंगठित करने का पर्याप्त सुअवसर प्राप्त हो गया।

महाराणा क्षेत्रसिंह

क्षेत्रसिंह का पुत्र और उत्तराधिकारी लाखा (लक्षसिंह) केवल 15 वर्ष तक ही शासन कर सका क्योंकि क्षेत्रसिंह सौ वर्ष पूरे करके मृत्यु को प्राप्त हुआ था[2] और राज्याभिषेक के समय लाखा की काफी बड़ी आयु हो चुकी थी। लाखा का समकालीन मारवाड़ का राव चूंडा था। चूंडा ने मेवाड से मैत्री सम्बन्ध बनाये रखने के उद्देश्य से अपनी पुत्री हंसा का विवाह लाखा के पुत्र चूंडा से करना चाहा। जब चूंडा ने विवाह करने से इन्कार कर दिया तो लाखा स्वयं विवाह करने के लिए तैयार हो गया। इसी हंसाबाई के गर्भ से मोकल उत्पन्न हुआ जो लाखा की मृत्यु के पश्चात् मेवाड का शासक बना। हंसाबाई का भाई रण-मल अपनी बहिन के विवाह के पश्चात् मेवाड़ में रहने लगा था।

लाखा

लाखा के शासन-काल में मगरा के गांव जावर में सोने और चांदी की खानों का पता लगा। इन खानों ने मेवाड़ की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ किया। मेवाड पन्द्रहवीं व सोलहवीं शताब्दी में इसी सोने और चांदी के बल पर अपने शत्रुओं के विरुद्ध लडाईयां लड सका। मेवाड़ में जो सुन्दर-सुन्दर स्मारक (Monuments) बने हुए मिलते हैं वे इन्हीं खानों की देन हैं। लाखा के शासन-काल में व्यापार और वाणिज्य की भी अभिवृद्धि हुई[3]। कई विदेशी व्यापारी मेवाड़ में आकर बस गए जिनमें से किसी एक ने पिछोला झील का निर्माण कराया।

---

1. Kumbhalgarh Inscription of 1460 A. D.–Ojha : Raj. ka Itihas, Vol. I, Part I, P. 257.

2. See Rana Kumbha's Commenting on Jayadeo's Gita Govinda, P. 2, Verse–9.

3. 1429 ई० के एकलिंगजी शिलालेख से जाहिर होता है कि लाखा के शासन-काल में नए बाट (Weights and Measures) आरम्भ कर दिए गए थे।

अलाउद्दीन खिलजी के अभियान के समय चित्तौड़ के किले में जो महल और मन्दिर नष्ट हो गए थे उन्हें लाखा ने पुनः बनवाया। इसके अलावा कई और मन्दिर व तालाब भी बनवाए गए। हिन्दुओं पर जो तीर्थ यात्रा कर लगा हुआ था उसे लाखा की प्रार्थना पर ही दिल्ली के सुल्तानों ने बन्द किया था।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि लाखा के शासनकाल में मेवाड़ के भावी गौरव व प्रतिष्ठा का मार्ग प्रशस्त हुआ।

महाराणा मोकल

लाखा का उत्तराधिकारी मोकल केवल 13 वर्ष ही राज्य कर सका। जब लाखा की मृत्यु हुई तब वह नाबालिग था। अतः उसकी ओर से पहिले उसका सौतेला भाई चूंडा और बाद में मामा रणमल राज्य की देखभाल करते थे। मोकल की हत्या ने मेवाड़ पर कठिनाइयों के पहाड़ ढहा दिये। तब विभिन्न प्रदेशों के राजा और सामन्त स्वतन्त्र होने की कोशिश करने लगे। मालवा व गुजरात के सुलतान भी मेवाड़ की अस्त-व्यस्त आन्तरिक स्थिति से लाभ उठाने की टोह में थे। अतः मोकल के पुत्र और उत्तराधिकारी कुम्भा को प्रारम्भ से ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

महाराणा कुम्भा

मोकल की असामयिक हत्या ने मेवाड़ में अस्त-व्यस्तता फैलादी। मोकल को चाचा और मेरा नाम के दो सरदारों ने मारा था। इनमें से एक ने अपने को राणा घोषित कर दिया। मेवाड़ के कतिपय सामन्तों ने भी स्वतन्त्र होने के लिए विद्रोह किए। इसी समय गुजरात व मालवा के सुल्तान भी अपनी गिद्ध दृष्टि मेवाड़ पर लगाए बैठे थे।

प्रारम्भिक कठिनाइयाँ

अतः मोकल का साला रणमल राठौड़ सेना के साथ तुरन्त मेवाड़ आया। उसने अपहरणकर्ता को हटाकर अपने भानजे कुम्भा को गद्दी पर बैठाया। मेवाड़ के कतिपय असन्तुष्ट सरदारों ने मालवा में जाकर शरण ली। लेकिन जब मालवा का सुल्तान ही युद्ध में पराजित हो गया, तो विद्रोही सरदारों को गुजरात में जाकर शरण लेनी पड़ी। रणमल्ल ने उन सरदारों का गुजरात तक पीछा किया, और जब गुजरात के सुल्तान ने उन सरदारों को अपनी सल्तनत से निकाल दिया तब रणमल्ल ने चैन की सांस ली। बूंदी के हाडाओं ने भी विद्रोह किया और उनको भी रणमल्ल ने तुरन्त पराजित करके मेवाड़ में शान्ति और व्यवस्था कायम की।

चूंकि कुम्भा प्रारम्भिक कठिनाइयों पर रणमल्ल की सहायता से ही विजय

1 Bhavanagar Inscriptions Vol I, p 98, Verse 38

प्राप्त कर सका था। अतः स्वाभाविक रूप से रणमल्ल का प्रभाव बढ़ने लगा। मेवाड़ की ख्यातों से तो जाहिर होता है कि रणमल्ल इतना अधिक प्रभावशाली हो गया था कि वह राणा के समान वर्ताव करने लगा और मेवाड़ के लोग समझने लगे थे कि एक न एक दिन रणमल्ल कुम्भा को मार कर मेवाड़ की गद्दी पर अधिकार कर लेगा। लेकिन मारवाड़ की ख्यातों को पढ़ने से जाहिर होता है कि रणमल्ल के बढ़ते हुए प्रभाव से मेवाड़ के सरदार इतने अधिक सशंकित हो गएकि उन्होंने रणमल्ल के विरुद्ध षड्यंत्र करना शुरू किया षड्यंत्रकारियों का नेता कुम्भा का ताऊ चूंडा था जो इस समय मालवा में रह रहा था। चूंडा का छोटा भाई राघवदेव रणमल्ल की आज्ञा से मौत के घाट उतार दिया गया था। मेवाड़ तथा मारवाड़ की ख्यातें स्पष्ट रूप से स्वीकार करती हैं कि राघवदेव ने रणमल्ल के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठाया था। अतः राघवदेव की हत्या के पश्चात मेवाड़ के सरदारों ने रणमल्ल की भी (1438 ई०) में हत्या कर दी।

मंडोवर (मारवाड़) के राव रणमल्ल का कुम्भा की नाबालिगी के जमाने में मेवाड़ में प्रभाव बढ़ने लगा

यहां यह बात स्पष्ट करनी आवश्यक है कि रणमल्ल की अभूतपूर्व सेवाओं के उपरान्त भी मेवाड़ की ख्यातों में उसकी बुराई तथा चूंडा की प्रशंसा की गई है। यदि चूंडा के चरित्र का सही विश्लेषण किया जाए तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि उसकी सेवाए कदापि इस योग्य नहीं थी कि उसकी तुलना महाभारत के भीष्मपितामह से की जाए। अपने पिता लाखा की हंसाबाई के साथ ,शादी के समय चूंडा ने मोकल के हक में गद्दी अवश्य त्याग दी थी। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं है कि चूंडा के और सब भाइयों ने भी उत्तराधिकार त्याग दिया था। मोकल के राज्याभिषेक के समय किसी ने विरोध नहीं किया। यह इस बात को स्पष्ट करता है कि प्राचीन मेवाड़ में दूसरे राजपूत राज्यों के समान उत्तराधिकार का नियम नहीं था। अतः लाखा हंसाबाई की औलाद के हक में अपने सब पुत्रों को उत्तराधिकार से वंचित कर गया और चूंडा तथा उसके भाई महाराणा लाखा के इस निर्णय के विरुद्ध कोई आवाज नहीं उठा सके फिर भी चूंडा को इससे असन्तोष अवश्य बना रहा अन्यथा उसे मेवाड़ के शत्रु मालवा के सुल्तान के पास जाकर रहने की क्या आवश्यकता थी ? क्या इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि चूंडा भी मेवाड़ के सरदारों के साथ सांठ-गांठ में था जिन्होंने पहले मालवा में तथा फिर गुजरात में जाकर शरण ली थी ? यदि चंडा को असन्तोष नहीं था तो वह कुम्भा की मदद के लिए मेवाड़ क्यों नहीं आया ? उसने विद्रोहियों को दवाने में राणा की सहायता क्यों नहीं की ?

चंडा के चरित्र का विश्लेषण

मंडोवर के राव रणमल्ल की हत्या मेवाड़ और मारवाड़ के राज्यों में एक

अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमण के समय चित्तौड़ के किले में जो महल और मन्दिर नष्ट हो गए थे उन्हें लाखा ने पुनः बनवाया। इसके अलावा कई और मन्दिर व तालाब भी बनवाए गए। हिन्दुओं पर जो तीर्थ-यात्रा कर लगा हुआ था उसे लाखा की प्रार्थना पर ही दिल्ली के सुल्तानों ने बन्द किया था।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि लाखा के शासनकाल में मेवाड़ के भावी गौरव व प्रतिष्ठा का मार्ग प्रशस्त हुआ।

महाराणा मोकल

लाखा का उत्तराधिकारी मोकल केवल 13 वर्ष ही राज्य कर सका। जब लाखा की मृत्यु हुई तब वह नाबालिग था। अतः उसकी ओर से पहिले उसका सौतेला भाई चूंडा और बाद में मामा रणमल राज्य की देखभाल करते थे। मोकल की हत्या ने मेवाड़ पर कठिनाइयों के पहाड़ ढहा दिये। तब विभिन्न प्रदेशों के राजा और सामन्त स्वतन्त्र होने की कोशिश करने लगे। मालवा व गुजरात के सुलतान भी मेवाड़ की अस्त-व्यस्त आन्तरिक स्थिति से लाभ उठाने की टोह में थे। अतः मोकल के पुत्र और उत्तराधिकारी कुम्भा को प्रारम्भ से ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

महाराणा कुम्भा

मोकल की असामयिक हत्या ने मेवाड़ में अस्त-व्यस्तता फैलादी। मोकल को चाचा और मेरा नाम के दो सरदारों ने मारा था। इनमें से एक ने अपने को राणा घोषित कर दिया। मेवाड़ के कतिपय सामन्तों ने भी स्वतन्त्र होने के लिए विद्रोह किए। इसी समय गुजरात व मालवा के सुल्तान भी अपनी गिद्ध दृष्टि मेवाड़ पर लगाए बैठे थे।

प्रारम्भिक कठिनाइयां

अतः मोकल का साला रणमल राठौड़ सेना के साथ तुरन्त मेवाड़ आया। उसने अपहरणकर्ता को हटाकर अपने भानजे कुम्भा को गद्दी पर बैठाया। मेवाड़ के कतिपय असन्तुष्ट सरदारों ने मालवा में जाकर शरण ली। लेकिन जब मालवा का सुल्तान ही युद्ध में पराजित हो गया, तो विद्रोही सरदारों को गुजरात में जाकर शरण लेनी पड़ी। रणमल्ल ने उन सरदारों का गुजरात तक पीछा किया, और जब गुजरात के सुल्तान ने उन सरदारों को अपनी सल्तनत से निकाल दिया तब रणमल्ल ने चैन की सांस ली। बूंदी के हाड़ाओं ने भी विद्रोह किया और उनको भी रणमल्ल ने तुरन्त पराजित करके मेवाड़ में शान्ति और व्यवस्था कायम की।

चूंकि कुम्भा प्रारम्भिक कठिनाइयों पर रणमल्ल की सहायता से ही विजय

1 Bhavanagar Inscriptions Vol I, p 98, Verse 38

प्राप्त कर सका था। अतः स्वाभाविक रूप से रणमल्ल का प्रभाव बढ़ने लगा। मेवाड़ की ख्यातों से तो जाहिर होता है कि रणमल्ल इतना अधिक प्रभावशाली हो गया था कि वह राणा के समान वर्ताव करने लगा और मेवाड़ के लोग समझने लगे थे कि एक न एक दिन रणमल्ल कुम्भा को मार कर मेवाड़ की गद्दी पर अधिकार कर लेगा। लेकिन मारवाड़ की ख्यातों को पढ़ने से जाहिर होता है कि रणमल्ल के बढ़ते हुए प्रभाव से मेवाड़ के सरदार इतने अधिक सशंकित हो गएकि उन्होंने रणमल्ल के विरुद्ध षड्यंत्र करना शुरू किया षड्यंत्रकारियों का नेता कुम्भा का ताऊ चूंडा था जो इस समय मालवा में रह रहा था। चूंडा का छोटा भाई राघवदेव रणमल्ल की आज्ञा से मौत के घाट उतार दिया गया था। मेवाड़ तथा मारवाड़ की ख्यातें स्पष्ट रूप से स्वीकार करती हैं कि राघवदेव ने रणमल्ल के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठाया था। अतः राघवदेव की हत्या के पश्चात मेवाड़ के सरदारों ने रणमल्ल की भी (1438 ई०) में हत्या कर दी।

> मंडोवर (मारवाड़) के राव रणमल्ल का कुम्भा की नाबालिगी के जमाने में मेवाड़ में प्रभाव बढ़ने लगा

यहां यह बात स्पष्ट करनी आवश्यक है कि रणमल्ल की अभूतपूर्व सेवाओं के उपरान्त भी मेवाड़ की ख्यातों में उसकी बुराई तथा चूंडा की प्रशंसा की गई है। यदि चूंडा के चरित्र का सही विश्लेषण किया जाए तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि उसकी सेवाए कदापि इस योग्य नहीं थी कि उसकी तुलना महाभारत के भीष्मपितामह से की जाए। अपने पिता लाखा की हंसावाई के साथ ,शादी के समय चूंडा ने मोकल के हक में गद्दी अवश्य त्याग दी थी। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं है कि चूंडा के और सब भाइयों ने भी उत्तराधिकार त्याग दिया था। मोकल के राज्याभिषेक के समय किसी ने विरोध नहीं किया। यह इस बात को स्पष्ट करता है कि प्राचीन मेवाड़ में दूसरे राजपूत राज्यों के समान उत्तराधिकार का नियम नहीं था। अतः लाखा हंसावाई की औलाद के हक में अपने सब पुत्रों को उत्तराधिकार से वंचित कर गया और चूंडा तथा उसके भाई महाराणा लाखा के इस निर्णय के विरुद्ध कोई आवाज नहीं उठा सके फिर भी चूंडा को इससे असन्तोष अवश्य वना रहा अन्यथा उसे मेवाड़ के शत्रु मालवा के सुल्तान के पास जाकर रहने की क्या आवश्यकता थी ? क्या इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि चूंडा भी मेवाड़ के सरदारों के साथ सांठ-गांठ में था जिन्होंने पहले मालवा में तथा फिर गुजरात में जाकर शरण ली थी ? यदि चंडा को असन्तोष नहीं था तो वह कुम्भा की मदद के लिए मेवाड़ क्यों नहीं आया ? उसने विद्रोहियों को दवाने में राणा की सहायता क्यों नहीं की ?

> चूंडा के चरित्र का विश्लेषण

मंडोवर के राव रणमल्ल की हत्या मेवाड़ और मारवाड़ के राज्यों में एक

अलाउद्दीन खिलजी के अभियान के समय चित्तौड के किले मे जो महल और मंदिर नष्ट हो गए थे उन्हे लाखा ने पुन बनवाया। इसके अलावा कई और मंदिर व तालाब भी बनवाए गए। हिन्दुओं पर जो तीर्थ यात्रा-कर लगा हुआ था उसे लाखा की प्रार्थना पर ही दिल्ली के सुल्तानो ने बन्द किया था।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि लाखा के शासनकाल मे मेवाड के भावी गौरव व प्रतिष्ठा का मार्ग प्रशस्त हुआ।

महाराणा मोकल

लाखा का उत्तराधिकारी मोकल केवल 13 वर्ष ही राज्य कर सका। जब लाखा की मृत्यु हुई तब वह नाबालिग था। अत उसकी ओर से पहिले उसका सौतेला भाई चूंडा और बाद मे मामा रणमल राज्य की देखभाल करते थे। मोकल की हत्या ने मेवाड पर कठिनाइयों के पहाड ढहा दिये। नव विजित प्रदेशों के राजा और सामन्त स्वतन्त्र होने की कोशिश करने लगे। मालवा व गुजरात के सुलतान भी मेवाड की अस्त व्यस्त आन्तरिक स्थिति से लाभ उठाने की टोह मे थे। अत मोकल के पुत्र और उत्तराधिकारी कुम्भा को प्रारम्भ से ही कठिनाइयों का सामना करना पडा।

महाराणा कुम्भा

मोकल की असामयिक हत्या ने मेवाड मे अस्त व्यस्तता फैलादी। मोकल को चाचा और मेरा नाम के दो सरदारों ने मारा था। इनमे से एक ने अपने को राणा घोषित कर दिया। मेवाड के कतिपय सामन्तो ने भी स्वतन्त्र होने के लिए विद्रोह किए। इसी समय गुजरात व मालवा के सुल्तान भी अपनी गिद्ध दृष्टि मेवाड पर लगाए बैठे थे।

प्रारम्भिक कठिनाइयाँ

अत मोकल का साला रणमल राठौड सेना के साथ तुरन्त मेवाड आया। उसने अपहरणकर्ता को हटाकर अपने भानजे कुम्भा को गद्दी पर बैठाया। मेवाड के कतिपय असन्तुष्ट सरदारों ने मालवा मे जाकर शरण ली। लेकिन जब मालवा का सुल्तान ही युद्ध मे पराजित हो गया, तो विद्रोही सरदारो को गुजरात मे जाकर शरण लेनी पडी। रणमल्ल ने उन सरदारों का गुजरात तक पीछा किया, और जब गुजरात के सुल्तान ने उन सरदारो को अपनी सल्तनत से निकाल दिया तब रणमल्ल ने चैन की सांस ली। बूंदी के हाडाओ ने भी विद्रोह किया और उनको भी रणमल्ल ने तुरन्त पराजित करके मेवाड मे शान्ति और व्यवस्था कायम की।

चूंकि कुम्भा प्रारम्भिक कठिनाइयों पर रणमल्ल की सहायता से ही विजय

---

1 Bhavanagar Inscriptions Vol. I, p 98, Verse 38

प्राप्त कर सका था। अतः स्वाभाविक रूप से रणमल्ल का प्रभाव बढ़ने लगा। मेवाड़ की ख्यातों से तो जाहिर होता है कि रणमल्ल इतना अधिक प्रभावशाली हो गया था कि वह राणा के समान बर्ताव करने लगा और मेवाड़ के लोग समझने लगे थे कि एक न एक दिन रणमल्ल कुम्भा को मार कर मेवाड़ की गद्दी पर अधिकार कर लेगा। लेकिन मारवाड़ की ख्यातों को पढ़ने से जाहिर होता है कि रणमल्ल के बढ़ते हुए प्रभाव से मेवाड़ के सरदार इतने अधिक सशंकित हो गएकि उन्होंने रणमल्ल के विरुद्ध षड्यंत्र करना शुरू किया षड्यंत्रकारियों का नेता कुम्भा को ताऊ चूंडा था जो इस समय मालवा में रह रहा था। चूंडा का छोटा भाई राघवदेव रणमल्ल की आज्ञा से मौत के घाट उतार दिया गया था। मेवाड़ तथा मारवाड़ की ख्यातें स्पष्ट रूप से स्वीकार करती हैं कि राघवदेव ने रणमल्ल के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठाया था। अतः राघवदेव की हत्या के पश्चात मेवाड़ के सरदारों ने रणमल्ल की भी (1438 ई०) में हत्या कर दी।

> मंडोवर (मारवाड़) के राव रणमल्ल का कुम्भा की नाबालिगी के जमाने में मेवाड़ में प्रभाव बढ़ने लगा

यहां यह बात स्पष्ट करनी आवश्यक है कि रणमल्ल की अभूतपूर्व सेवाओं के उपरान्त भी मेवाड़ की ख्यातों में उसकी बुराई तथा चूंडा की प्रशंसा की गई है। यदि चूंडा के चरित्र का सही विश्लेपण किया जाए तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि उसकी सेवाए कदापि इस योग्य नहीं थी कि उसकी तुलना महाभारत के भीष्मपितामह से की जाए। अपने पिता लाखा की हंसाबाई के साथ शादी के समय चूंडा ने मोकल के हक में गद्दी अवश्य त्याग दी थी। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं है कि चूंडा के और सब भाइयों ने भी उत्तराधिकार त्याग दिया था। मोकल के राज्याभिषेक के समय किसी ने विरोध नहीं किया। यह इस बात को स्पष्ट करता है कि प्राचीन मेवाड़ में दूसरे राजपूत राज्यों के समान उत्तराधिकार का नियम नहीं था। अतः लाखा हंसाबाई की औलाद के हक में अपने सब पुत्रों को उत्तराधिकार से वंचित कर गया और चूंडा तथा उसके भाई महाराणा लाखा के इस निर्णय के विरुद्ध कोई आवाज नहीं उठा सके फिर भी चूंडा को इससे असन्तोप अवश्य बना रहा अन्यथा उसे मेवाड़ के शत्रु मालवा के सुल्तान के पास जाकर रहने की क्या आवश्यकता थी ? क्या इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि चूंडा भी मेवाड़ के सरदारों के साथ सांठ-गांठ में था जिन्होंने पहले मालवा में तथा फिर गुजरात में जाकर शरण ली थी ? यदि चूंडा को असन्तोप नहीं था तो वह कुम्भा की मदद के लिए मेवाड़ क्यों नहीं आया ? उसने विद्रोहियों को दबाने में राणा की सहायता क्यों नहीं की ?

> चूंडा के चरित्र का विश्लेपण

मंडोवर के राव रणमल्ल की हत्या मेवाड़ और मारवाड़ के राज्यों में एक

अलाउद्दीन खिलजी के अभियान के समय चित्तौड़ के किले में जो महल और मंदिर नष्ट हो गए थे उन्हें लाखा ने पुनः बनवाया। इसके अलावा कई और मंदिर व तालाब भी बनवाए गए। हिन्दुओं पर जो तीर्थ यात्रा कर लगा हुआ था उसे लाखा की प्रार्थना पर ही दिल्ली के सुल्तानों ने बन्द किया था।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि लाखा के शासनकाल में मेवाड़ के भावी गौरव व प्रतिभा का मार्ग प्रशस्त हुआ।

महाराणा मोकल

लाखा का उत्तराधिकारी मोकल केवल 13 वर्ष ही राज्य कर सका। जब लाखा की मृत्यु हुई तब वह नाबालिग था। अतः उसकी ओर से पहिले उसका सौतेला भाई चूंडा और बाद में मामा रणमल राज्य की देखभाल करते थे। मोकल की हत्या ने मेवाड़ पर कठिनाइयों के पहाड़ ढहा दिये। नव विजित प्रदेशों के राजा और सामन्त स्वतन्त्र होने की कोशिश करने लगे। मालवा व गुजरात के सुलतान भी मेवाड़ की अस्त व्यस्त आन्तरिक स्थिति से लाभ उठाने की टोह में थे। अतः मोकल के पुत्र और उत्तराधिकारी कुम्भा को प्रारम्भ से ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

महाराणा कुम्भा

मोकल की असामयिक हत्या ने मेवाड़ में अस्त-व्यस्तता फैलादी। मोकल को चाचा और मेरा नाम के दो सरदारों ने मारा था। इनमें से एक ने अपने को राणा घोषित कर दिया। मेवाड़ के कतिपय सामन्तों ने भी स्वतन्त्र होने के लिए विद्रोह किए। इसी समय गुजरात व मालवा के सुल्तान भी अपनी गिद्ध दृष्टि मेवाड़ पर लगाए बैठे थे।

प्रारम्भिक कठिनाइयाँ

अतः मोकल का साला रणमल राठौड़ सेना के साथ तुरन्त मेवाड़ आया। उसने अपहरणकर्ता को हटाकर अपने भानजे कुम्भा को गद्दी पर बैठाया। मेवाड़ के कतिपय असन्तुष्ट सरदारों ने मालवा में जाकर शरण ली। लेकिन जब मालवा का सुल्तान ही युद्ध में पराजित हो गया, तो विद्रोही सरदारों को गुजरात में जाकर शरण लेनी पड़ी। रणमल्ल ने उन सरदारों का गुजरात तक पीछा किया, और जब गुजरात के सुल्तान ने उन सरदारों को अपनी सल्तनत से निकाल दिया तब रणमल्ल ने चैन की सांस ली। बूंदी के हाड़ाओं ने भी विद्रोह किया और उनको भी रणमल्ल ने तुरन्त पराजित करके मेवाड़ में शान्ति और व्यवस्था कायम की।

चूंकि कुम्भा प्रारम्भिक कठिनाइयों पर रणमल्ल की सहायता से ही विजय

1 Bhavanagar Inscriptions Vol I, p 98, Verse 38

प्राप्त कर सका था। अतः स्वाभाविक रूप से रणमल्ल का प्रभाव बढ़ने लगा। मेवाड़ की ख्यातों से तो जाहिर होता है कि रणमल्ल इतना अधिक प्रभावशाली हो गया था कि वह राणा के समान बर्ताव करने लगा और मेवाड़ के लोग समझने लगे थे कि एक न एक दिन रणमल्ल कुम्भा को मार कर मेवाड़ की गद्दी पर अधिकार कर लेगा। लेकिन मारवाड़ की ख्यातों को पढ़ने से जाहिर होता है कि रणमल्ल के बढ़ते हुए प्रभाव से मेवाड़ के सरदार इतने अधिक सशंकित हो गएकि उन्होंने रणमल्ल के विरुद्ध षड्यंत्र करना शुरू किया षड्यंत्रकारियों का नेता कुम्भा का ताऊ चूंडा था जो इस समय मालवा में रह रहा था। चूंडा का छोटा भाई राघवदेव रणमल्ल की आज्ञा से मौत के घाट उतार दिया गया था। मेवाड़ तथा मारवाड़ की ख्यातें स्पष्ट रूप से स्वीकार करती हैं कि राघवदेव ने रणमल्ल के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठाया था। अतः राघवदेव की हत्या के पश्चात मेवाड़ के सरदारों ने रणमल्ल की भी (1438 ई०) में हत्या कर दी।

मंडोवर (मारवाड़) के राव रणमल्ल का कुम्भा की नाबालिगी के जमाने में मेवाड़ में प्रभाव बढ़ने लगा

यहां यह बात स्पष्ट करनी आवश्यक है कि रणमल्ल की अभूतपूर्व सेवाओं के उपरान्त भी मेवाड़ की ख्यातों में उसकी बुराई तथा चूंडा की प्रशंसा की गई है। यदि चूंडा के चरित्र का सही विश्लेषण किया जाए तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि उसकी सेवाए कदापि इस योग्य नहीं थी कि उसकी तुलना महाभारत के भीष्मपितामह से की जाए। अपने पिता लाखा की हंसाबाई के साथ ,शादी के समय चूंडा ने मोकल के हक में गद्दी अवश्य त्याग दी थी। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं है कि चूंडा के और सब भाइयों ने भी उत्तराधिकार त्याग दिया था। मोकल के राज्याभिषेक के समय किसी ने विरोध नहीं किया। यह इस बात को स्पष्ट करता है कि प्राचीन मेवाड़ में दूसरे राजपूत राज्यों के समान उत्तराधिकार का नियम नहीं था। अतः लाखा हंसाबाई की औलाद के हक में अपने सब पुत्रों को उत्तराधिकार से वंचित कर गया और चूंडा तथा उसके भाई महाराणा लाखा के इस निर्णय के विरुद्ध कोई आवाज नहीं उठा सके फिर भी चूंडा को इससे असन्तोष अवश्य बना रहा अन्यथा उसे मेवाड़ के शत्रु मालवा के सुल्तान के पास जाकर रहने की क्या आवश्यकता थी ? क्या इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि चूंडा भी मेवाड़ के सरदारों के साथ सांठ-गांठ में था जिन्होंने पहले मालवा में तथा फिर गुजरात में जाकर शरण ली थी ? यदि चूंडा को असन्तोष नहीं था तो वह कुम्भा की मदद के लिए मेवाड़ क्यों नहीं आया ? उसने विद्रोहियों को दबाने में राणा की सहायता क्यों नहीं की ?

चूंडा के चरित्र का विश्लेषण

मंडोवर के राव रणमल्ल की हत्या मेवाड़ और मारवाड़ के राज्यों में एक

महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना थी जिसके परिणामस्वरूप लगभग 75 वर्ष तक इन दोनों का संघर्ष चलता रहा। स्पष्ट है कि मोकल के उत्तराधिकारी कुम्भा को विरासत में कठिनाइयाँ ही प्राप्त हुईं लेकिन प्रारम्भिक आठ वर्षों में कोई विशेष परिस्थिति का उसे सामना नहीं करना पड़ा। अतः उसे मेवाड़ को सुव्यवस्थित करने का अवसर प्राप्त हो गया। इस बीच में कुम्भा ने कई किले व मंदिर बनवाये।

राव रणमल्ल की हत्या

कुम्भा आकांक्षावादी शासक था। अतः 1456 में नागौर की गद्दी के लिए संघर्ष चला तो कुम्भा ने एक दावेदार का साथ देना मंजूर कर लिया। दूसरे पक्ष को गुजरात के सुल्तान कुतुबुद्दीन का समर्थन प्राप्त था। अतः उत्तराधिकार के संघर्ष में कुम्भा को जो युद्ध लड़ने पड़े उसमें गुजरात की सेना को पराजित करके उसने नागौर को अपने अधिकार में कर लिया।[1]

इसी समय मालवा के सुल्तान महमूद खिलजी और गुजरात के सुल्तान कुतुबुद्दीन में साँठ गाँठ हो गई जिसका परिणाम यह निकला कि मेवाड़ को मालवा व गुजरात की सेनाओं का एक साथ सामना करना पड़ा। इसी समय रणमल्ल के उत्तराधिकारी जोधा ने भी कुम्भा के विरुद्ध मुसलमानों के साथ संधि कर ली थी। केवल बाह्य शत्रु ही नहीं थे, वरन् कुम्भा के लघु भ्राता क्षेम ने भी राजा के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठा दिया था।

गुजरात की सेनाओं ने सिरोही और कुम्भलमेर पर अधिकार कर लेने के बाद चित्तौड़ पर घेरा डाल दिया था। कुम्भा ने सुल्तान को पैसा दिया और वह लौट गया। लेकिन मालवा की सेना तो अपने सैनिकों के आन्तरिक असन्तोष के कारण स्वयं ही वापस लौट गई। कुम्भा ने अपनी पराजय का बदला लेने के लिए पुनः सिरोही और नागौर पर अधिकार जमा लिया। अतः 1457–58 में कुतुबुद्दीन ने पुनः कुम्भलगढ़ पर चढ़ाई की। लेकिन इस बार मालवा का महमूद खिलजी तो मारवाड़ के साथ युद्ध रत था अतः कुतुबुद्दीन को भी सफलता प्राप्त नहीं हो सकी और उसे वापस लौट जाना पड़ा।

महाराणा कुम्भा ने गुजरात और मालवा के सुल्तानों का दमन किया था।

---

1 To direct their efforts against Kumbha Mahmmud should assail him on one side and Qutubuddin on the other They would utterly destroy him divide his country between them all the town laying contaguous to Gujarat were to be attached

इस प्रकार 1459 ई० तक कुम्भा के जीवन का एक कठिन भाग समाप्त हो चुका था । उसने गुजरात व मालवा के मुसलमानों को पराजित कर दिया था ।[1]

चित्तौड़, रणपुर, आबू और कुम्भलगढ़ से प्राप्त महाराणा कुम्भा के शिलालेख बतलाते है कि इसने हाड़ा राजपूतों के सम्पूर्ण राज्य को अपने अधिकार में कर लिया था । मेवाड़ में मांडलगढ़, जहाजपुर, जावर, बदनोर पर अधिकार कर लिया । आमेर में टोडा, मालपुरा, लाटू, जूना और नादनू के प्रदेशों पर अधिकार कर लिया और अजमेर इसके अधिकार में पहले ही आ चुका था । महाराणा कुम्भा ने सपालदक्ष के चौहानों को भी पराजित किया था और कोटा स्थित गागरोन का दुर्ग अपने अधिकार में ले लिया । सम्पूर्ण मारवाड़ व अमरादरी (आमेर) पर कुम्भा का अधिकार हो गया था ।

उसने सारंगपुर पर अधिकार करके मालवा के सुल्तान के घमंड को चूर किया । डूंगरपुर, बांसवाड़ा पर अधिकार करके अपने राज्य की दक्षिणी-पूर्वी सीमा सुरक्षित की । जांगल-प्रदेश को अधिकार में करके उत्तर में राज्य-विस्तार किया । रणथम्भोर पर अधिकार करके मेवाड़ की सीमाओं का विस्तार दिल्ली के निकट पड़ौस तक कर लिया । इस प्रकार लगभग समस्त राजस्थान पर एकछत्र शासन स्थापित किया ।

समस्त राजस्थान कुम्भा के अधिकार में आ चुका था ।

लेकिन इन चमत्कारपूर्ण सैनिक विजयों का यह तात्पर्य नहीं है कि कुम्भा व्यर्थ में खून-खराबी करने का शौकीन था । मेवाड़ की सुरक्षा के लिए सैनिक विजय बहुत अधिक आवश्यक थीं । उसे कुछ युद्ध उन लोगों के विरुद्ध भी लड़ने पड़े कि जिन्हें वह षड्यन्त्रकारी समझता था ।[2]

कुम्भा केवल एक प्रतिभाशाली सेनानायक ही नहीं था वरन् वह स्वयं एक अच्छा विद्वान एवं कवि भी था । कविता के अतिरिक्त वह नाटक लिख सकता था और संगीत-शास्त्र पर निबन्ध भी । 'एकलिंग महात्म्य से जाहिर होता है कि वह वेदों का ज्ञाता था और संस्कृत भाषा का विद्वान था । जयदेव के गीत-गोविन्द पर इसने जो

महाराणा कुम्भा का साहित्यिक पराक्रम

1. कुम्भलगढ़ शिलालेख (1460 ई० का) श्लोक 265.
   चित्तौड़ कीर्ति स्तम्भ शिलालेख, श्लोक 7

2. See- Maharana Kumbha by Pt. H. B. Sarda, P. 113.
"Kumbha abhorred all unnecessary bloodshed, ruin and destruction, and he undertook only such military operations as were absolutely necessary for the protection of his country or as duty enjoined to punish evil doers."

टीका लिखी थी वह इसका सबल प्रमाण है। कीर्ति स्तम्भ शिला-लेख से जाहिर होता है कि इसने जो चार नाटक लिखे थे उनमे तीन प्रांतीय भाषाओ (कर्नाटिकी, मेदपाटी, महाराष्ट्री) का प्रयोग किया गया था।

इसके अतिरिक्त वह स्वयं एक सफल संगीतज्ञ था। वीणा बहुत अच्छी बजा सकता था। कई गीतो की स्वय उसने रचना की थी जिनमे राग और ताल का पूर्ण ध्यान रखा गया था।

महाराणा कुम्भा ने स्थापत्य-कला (Architecture) को भी पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। अत उसके दरबारी (Architect) मडन के द्वारा वास्तु शास्त्र पर कई ग्रन्थ लिखे गये। महाराणा ने स्वय कीर्ति-स्तम्भ के निर्माण पर एक ग्रन्थ की रचना की थी। यह सब उदयपुर की सरस्वती भवन पुस्तकालय तथा बीकानेर के अनूप सस्कृत पुस्तकालय मे सुरक्षित हैं।

कुम्भा के शासन-काल मे वास्तु शास्त्र पर जो अनुपम ग्रन्थ लिखे गये वे इस बात के प्रमाण हैं कि महाराणा स्वय वास्तु शास्त्र के विकास मे रुचि रखता था ऐसा माना जाता है कि मेवाड़ के 84 दुर्गों मे से 32 दुर्गो का कुम्भा ने ही निर्माण करवाया था। चित्तौड के किले की प्राचीर मे कतिपय बुर्ज इसके द्वारा बनवाये गये थे। किले तक पहुँचने की सडक तथा सातो दरवाजे महाराणा कुम्भा के द्वारा बनवाए माने जाते हैं। इसी किले मे कीर्ति-स्तम्भ तथा कुम्भा स्वामी व आदि बराह के मन्दिरों का निर्माण कुम्भा ने ही कराया था। एक लिगजी के मन्दिर का एक भाग जो कि कुम्भा मण्डप के नाम से विख्यात है, इसने ही बनवाया था।

कलात्मक पराक्रम

उस युग में 'यथा राजा तथा प्रजा' वाली कहावत पूर्णरूप से चरितार्थ होती थी। कुम्भा का अनुकरण करके साधारण व्यक्तियो ने भी कई मदिरों का निर्माण करवाया। सिरोही में रणपुर का जैनमदिर तथा चित्तौड का शृंगार चौरी मदिर इसी शासनकाल में बनवाए गए थे।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि महाराणा कुम्भा केवल मेवाड के ही नहीं वरन मध्ययुगीन भारत के एक महानतम शासक थे। उनके कार्य यह सिद्ध करते हैं कि राजपूत शासक केवल योद्धा ही नही अपितु साहित्य और कला के आश्रयदाता भी होते थे। सौभाग्य से महाराणा कुम्भा तो स्वय एक अच्छे विद्वान, कवि, सगीतज्ञ तथा वास्तु शास्त्र के ज्ञाता थे।

कुम्भा के उत्तराधिकारी उदय

नैणसी की ख्यात से जाहिर होता है कि कुम्भा अपने अंतिम दिनों मे पागल हो गये थे। एक दिन वह कुम्भलगढ के एक तालाब के किनारे बैठे हुए थे तो उनके बडे पुत्र उदय ने छुरा भोंक कर हत्या कर दी। शीघ्र गद्दी प्राप्त करने को लालसा पितृ हत्या का एकमात्र कारण हो सकती है।

ऐसा माना जाता है कि जब उदय ने दरबार किया तो एक भी सरदार मुजरा करने के लिए उपस्थित नहीं हुआ। इससे यह स्पष्ट है कि मेवाड़ के सरदारों ने उदय के द्वारा कुम्भा की हत्या का विरोध किया था। साथ ही इससे यह भी स्पष्ट होता है कि मेवाड़ के सरदार पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में इतने शक्तिशाली हो गये थे कि वे शासक का विरोध भी कर सकते थे। अतः उदय को पड़ौसी राजाओं से समर्थन प्राप्त करना पड़ा। समर्थन प्राप्त करने के लिए बहुत से प्रदेशों को छोड़ना पड़ा। सरदारों ने एकत्रित होकर उदय के छोटे भाई रायमल को बुला भेजा जो ईडर के किले को सम्भाले हुए थे। राजधानी से उदय की अनुपस्थिति में रायमल को सरदारों ने गद्दी पर बैठा दिया। उदय ने भागकर कुम्भलगढ़ के किले में शरण ली लेकिन वह शीघ्र ही रायमल के द्वारा पराजित कर दिया गया।

रायमल के द्वारा पराजित किए जाने पर उदय चुप नहीं बैठा। वह अपने दोनों पुत्रों को लेकर मालवा के सुल्तान गयासुद्दीन खिलजी के पास गया और उसे मेवाड़ पर चढ़ाई करने के लिए तैयार कर लिया।[1] अंत में उदय के दोनों पुत्र थक कर बैठ गए और मेवाड़ छोड़कर बीकानेर की ओर चले गये।

रायमल ने लगभग 36 वर्ष तक मेवाड़ पर राज्य किया। अपने शासनकाल के

रायमल

प्रारम्भ में उसे कुम्भा के छोटे भाई क्षेम के विद्रोहों का सामना करना पड़ा, मालवा के सुल्तान के विरुद्ध युद्ध लड़ना पडा और आदिवासियों का दमन करना पड़ा। रायमल के जीवन-काल में ही उसके तीनों पुत्रों (पृथ्वीराज, जयमल व सांगा) के बीच उत्तराधिकार के लिए संघर्ष हुआ जिसमें विजयश्री सांगा की ही रही और अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् सांगा 1509 में मेवाड़ की गद्दी पर बैठा।

सांगा के पिता महाराणा रायमल के ग्यारह रानियां थीं जिनसे 14 पुत्र और

महाराणा सांगा

3 पुत्रियाँ हुई थीं। जेष्ठ पुत्र पृथ्वीराज था और तीसरा पुत्र सांगा था यह दोनों राजधर झाला की पुत्री रतनकुँवर के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। सांगा का जन्म वैशाख वदी 9 विक्रमी संवत् 1539 में हुआ था। 27 वर्ष की

1. टॉड का कहना है कि उदय मुसलमानों की सहायता लेने गया और अपनी लड़की का विवाह सुल्तान के साथ तै करके उसे अपनी सहायता के लिए तैयार कर लिया। फरिश्ता और नैणसी के वर्णनों से प्रकट होता है कि मालवा के सुल्तान ने मेवाड़ पर चढ़ाई भी की थी। युद्ध में रायमल ने सुल्तान को पराजित कर दिया। उदय युद्ध से पहले ही उलकापात के कारण मृत्यु को प्राप्त हो चुका था। लेकिन उसके दोनों पुत्रों ने रायमल के विरुद्ध युद्ध किया।

—टॉड, जिल्द प्रथम, पृष्ठ 233, नैणसी, जिल्द प्रथम, पृष्ठ 39; फरिश्ता

आयु मे जेष्ठ सुदि 5 वि० स० 1566 (4 मई 1508 ई०) के शुभ दिन चित्तौड के दुर्ग म इनका राज्याभिषेक सस्कार हुआ था।

1508 मे राजस्थान मे चार राजपूत वशो के राज्य थे। मेवाड मे गुहिलोत वश के सीसोदिया राणा राज्य कर रहे थे। मडोर के आस पास मारवाड मे राठोड अपनी शक्ति बढा रहे थे। बूंदी के हाडा शासक मेवाड का आधिपत्य स्वीकार कर चुके थे। आम्बेर के कछवाहो ने यद्यपि ढूढर के प्रदेश पर अपना अधिकार जमा लिया था लेकिन इनकी गणना शक्तिशाली शासकों मे नही की जाती थी।

कुम्भा के राज्यकाल म मेवाड सर्व शक्तिमान राज्य बन चुका था। उसकी हत्या के पश्चात् कुछ प्रदेश उदय के हाथ से निकल गये थे[1] जिन्ह पुन प्राप्त करने का रायमल ने कोई प्रयत्न नही किया। अत राणा सागा का पहला कार्य उन प्रदेशो को पुन प्राप्त करना था जो कुम्भा की मृत्यु के पश्चात् मेवाड के अधिकार म नही रहे थे।

सागा का मालवा, गुजरात व दिल्ली के सुल्तानों के साथ सघर्ष

इसके अतिरिक्त सागा को दिल्ली, मालवा व गुजरात के मुस्लिम सुल्तानो से भी लोहा लेना पडा। ये लोग सागा के विरुद्ध सगठित हो गए थे। अत सागा को एक साथ बहुत से शत्रुओ का सामना करना पडा। लेकिन सागा को अपने शत्रुओ पर विजय प्राप्त हुई क्योकि दिल्ली के लोदी सुल्तान इब्राहीम लोदी की अविश्वासी और दमनकारी नीति ने उसके सरदारो को ही सुल्तान से अलग कर दिया था। दिल्ली सल्तनत की इस गिरती हुई स्थिति से सागा ने पूरा पूरा लाभ उठाने की कोशिश की। सौभाग्य से इस समय मालवा की आन्तरिक स्थिति भी ठीक नही थी। सुल्तान नासिरउद्दीन के शासन-काल मे मालवा का शासन प्रबन्ध बिगड चुका था। उसका उत्तराधिकारी महमूद II बिगडती हुई स्थिति को नही सम्भाल सका। लेकिन सागा के राज्याभिषेक के समय गुजरात अपनी चरम सीमा पर था। वहाँ के सुल्तान मुजफ्फर-शाह द्वितीय के साथ सागा का सर्वप्रथम सघर्ष हुआ। ईडर मे राठौर राजपूतो का राज्य था। वहाँ का राव भान मृत्यु को प्राप्त हो चुका था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र सूरजमल ईडर का राव हुआ लेकिन उसकी 1½ साल बाद ही मृत्यु हो गई। उसके नाबालिग पुत्र रायमल को भीम ने ईडर की गद्दी से हटा दिया। रायमल सहायता के लिए चित्तौड पहुँचा। इसी बीच मे भीम की भी मृत्यु हो गई और उसका पुत्र

1. उदय ने आबू सिरोही के देवडा शासको को दे दिया था, अजमेर म स्थित तारागढ के दुर्ग पर जोधा ने अधिकार कर लिया। जोधा के पुत्र दूदा ने महाराणा की सेना को निकाल कर साम्भर पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार पडौसियों का समर्थन प्राप्त करने के उद्देश्य से उदय ने मेवाड के प्रदेशो को सुगमता से निकल जाने दिया। 'महाराणा सागा' के लेखक हरबिलास शारदा, p 4 और 5।

भरतपुर के ठाकुर चूरामन जाट

पृथ्वीराज चौहान
1800 ई० के लगभग बने चित्र का फोटोग्राफ
(कुमार संग्रामसिंह जी नवलगढ़ के संग्रह से)

Gora Badal Palace, Chittorgarh.

भारमल ईडर का राव हो गया। सांगा ने रायमल की सहायता की और भारमल के स्थान पर उसे 1514 में ईडर का शासक बनाया। भारमल सहायता के लिए मुजफ्फरशाह के पास पहुँचा। सुल्तान ने भारमल की सहायता के लिए निजाम-उलमुल्क के नेतृत्व में सेना भेजी। पहले तो रायमल पराजित कर दिया गया लेकिन महाराणा सांगा की सहायता के बल पर पुनः 1517 में ईडर का राज्य प्राप्त किया। तत्पश्चात् सुल्तान ने दो बार और सेनाएँ रायमल को पराजित करने के लिए भेजी लेकिन कोई सफलता प्राप्त नहीं हो सकी।

जब ईडर के प्रश्न पर सांगा और गुजरात के बीच युद्ध छिड़ा हुआ था उस वक्त मालवा के सुल्तान महमूद II ने भी गुजरात का साथ देकर सांगा पर धावा बोल दिया था। लेकिन सांगा ने पहले तो महमूद खिलजी को गुजरात की सेनाओं से पृथक किया और फिर गुजरात के सुल्तान के साथ भी संधि कर ली।

सुल्तान मुजफ्फरशाह के साथ संधि करना इसलिए आवश्यक था कि 1517 में सांगा का दिल्ली के सुल्तान इब्राहीम लोदी के साथ युद्ध छिड़ गया था। युद्ध का

सांगा और इब्राहीम लोदी

कारण यह था कि मालवा की सल्तनत से इब्राहीम लोदी और राणा सांगा दोनों ही लाभ उठाना चाहते थे। दूसरा[1] कारण यह था कि जब इब्राहीम लोदी अपने भ्राता जलालखां के विद्रोह का दमन करने में व्यस्त था उस वक्त राणा सांगा ने दिल्ली सल्तनत के प्रदेश पर ब्याना तक अपना अधिकार कर लिया था।[2] अतः विद्रोहों का दमन करने के पश्चात् सुल्तान ने सांगा पर आक्रमण कर दिया। दोनों सेनाओं का खातोली के स्थान पर मुठभेड़ हुई। मुश्किल से दो पहर (पांच घंटे) तक युद्ध लड़ा गया। इब्राहीम लोदी भाग खड़ा हुआ लेकिन इस युद्ध में राणा सांगा का एक हाथ कट गया था। अगले वर्ष 1518 में इब्राहीम लोदी ने अपनी पराजय का बदला लेने के लिए पुनः एक शक्तिशाली सेना संगठित की। धौलपुर के निकट दोनों सेनाओं में युद्ध हुआ और इस युद्ध में भी इब्राहीम लोदी की पराजय हुई।[3]

इब्राहीम लोदी को दो बार युद्ध में पराजित कर देने के बाद स्वभाविक रूप से सांगा राजस्थान का सर्व शक्तिशाली शासक हो गया था। पहले खातोली और फिर धौलपुर के निकट इब्राहीम की सेनाओं के साथ युद्ध होना यह सिद्ध करता है कि सांगा का राज्य हाडावती और मेवात पर स्थापित हो चुका था। उसने धौलपुर के युद्ध-

1. Dr. A. B. Pandey : First Afghan Empire in India, P. 180.
2. Pt. H. B. Sarda : Maharana Sanga, p. 56.
3. "Many brave and worthy men were made martyrs and the others were scattered". Elliot, v, P. 19. (Tariki-Salatini Afghana)

स्थल से भागे हुए इब्राहीम के सैनिकों का बयाना तक पीछा किया था। इस विजय के बाद आमेर के प्रदेश पर अधिकार करना महाराणा के लिए सुगम हो गया था।

इसमें संदेह नहीं कि राणा सांगा अपने वंश का सर्वाधिक आकांक्षावादी और शक्तिशाली राणा था। इसने एक साथ तीन शत्रुओं का सामना किया। वह मुसलमानों की बिगड़ती हुई स्थिति से लाभ उठाने का इच्छुक था। ऊपर कहा जा चुका है कि वह मेवाड़ के खोए हुए प्रदेशों को भी प्राप्त करने का इच्छुक था और साथ ही अपनी सेना को संगठित करने के लिए लालायित था। उसने अपने राज्य की सीमाएँ बयाना तक विकसित करली थी। सिरोही पर उसका दामाद राज्य कर रहा था। डूंगरपुर और बांसवाड़ा के शासक उसका आधिपत्य स्वीकार करते थे। रायसीन, काल्पी और चंदेरी के राज्य उसके Vassals थे। अतः उसे 'हिन्दूपत' (Chief of the Hindus) कहकर पुकारा जाता था तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं थी।

> सांगा राजस्थान का सर्वशक्तिशाली शासक था।

एक आधुनिक लेखक का कहना है कि अपने प्रतिद्विन्द्वियों को पराजित करने के सफल प्रयास में राणा सांगा ने स्वयं उत्तर भारत के समकालीन शासकों में प्रथम स्थान प्राप्त कर लिया था। इब्राहीम लोदी को पराजित करके उसने दिल्ली के तख्त पर भी अपना हक कायम कर लिया था। राणा सांगा की इस चमत्कारपूर्ण विजयों के साथ ही मेवाड़ के शासकों की साम्राज्यवादी भावना अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई थी।[1]

अतः इब्राहीम लोदी के विजेता जहीरउद्दीन मुहम्मद बाबर के साथ राणा सांगा का 1527 में संघर्ष होना अवश्यम्भावी था।

बाबर का राणा सांगा के साथ सम्बन्ध
(Babar's Relations with Rana Sanga)

भारत में मुगल साम्राज्य के संस्थापक जहीरउद्दीन मुहम्मद बाबर के समक्ष पानीपत के युद्ध में दिल्ली के शासक इब्राहीम लोदी को पराजित करने के पश्चात् भी दो शत्रुओं का दमन करना शेष था। अतएव आगरा पहुंचने के पश्चात उसने कौंसिल आफ वार (१५२७) बुलाई। इस कौंसिल में अफगानों का दमन करना राजपूतों की अपेक्षा अधिक आवश्यक समझा क्योंकि नासिर खां लोहानी और मारूफ खां फरमूली के नेतृत्व में ४०–५० हजार अफगान कन्नौज के निकट संगठित हो गये

1. "In getting the better of his rivals, Rana Sanga had secured for himself the leading position in Northern India, and in inflicting a crushing defeat upon the occupant of the imperial throne of Delhi, he advanced a claim upon that throne itself" —Delhi Sultanate (Bhartiya Vidya Bhawan) p 344.

। कौंसिल के सदस्यों ने राणा सांगा की शक्ति को ठीक प्रकार नहीं समझा था। लेकिन बाबर की आत्म-कथा को पढ़ने से प्रकट होता है कि वह राणा सांगा के नेतृत्व में बढ़ती हुई राजपूत सेना को आगरा के निकट बयाना तक पहुँचना अपने राज्य के लिये हानिकारक समझता था। वह अपनी आत्मकथा में लिखता है कि "जब हम काबुल में थे तो राणा सांगा ने एक अपना दूत हमारे पास भेजा और उसके द्वारा हमें कहलाया गया कि यदि हम दिल्ली पर आक्रमण करेंगे तो वह (सांगा) स्वयं आगरा पर धावा बोल देगा। हमने इब्राहीम लोदी को पराजित किया और दिल्ली व आगरा पर अपना अधिकार जमाया। लेकिन वह काफिर (Pagan) अभी तक नहीं आया है।"

आमतौर पर बाबर ने अपनी आत्म-कथा में अतिशयोक्ति नहीं की है। उसने कहीं कहीं सत्यों को छिपाया अवश्य है लेकिन सरासर झूंठ लिखने की भी कोशिश नहीं की है। इस प्रकार बाबर के वर्णन से जाहिर होता है कि राणा सांगा ने उसके साथ वायदा-खिलाफी की थी और इसलिये वह उसकी बढ़ती हुई शक्ति का दमन करना चाहता था। लेकिन बाबर के इस वर्णन के ठीक विपरीत मेवाड़ का संक्षिप्त इतिहास नामक पांडुलिपि में लिखा हुआ है कि "जब बादशाह बाबर काबुल में राज्य करता था तो उसने विचारा कि भारतवर्ष का राज्य लोदी बादशाह करते हैं। उनको नष्ट कर दिल्ली में अपना राज्य स्थापन करो, परन्तु अज्ञात देश में जाना वहां के किसी प्राचीन राज्य की मित्रता से अच्छा है। जब उसने दिल्ली से इब्राहीम लोदी और मेटपाटेश्वर की वैमनस्यता श्रवण करी तब अपना एक अमात्य चित्र कूटाचल प्रेरणा किया उस पत्र में बाबर ने यह लिखा था इस ओर से तो मैं आकर दिल्ली पर अपना अधिकार करूंगा और उस ओर से आप आनकर आगरे में अपना राज्य स्थापन करें" यद्यपि यह ग्रंथ बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पंडित अक्षयनाथ के द्वारा लिखा गया था लेकिन इसका महत्व इसलिये अधिक है कि पं० अक्षयनाथ के एक पूर्वज बागेश्वर खानवा के युद्ध में राणा सांगा के साथ थे। राणा सांगा के दैनिक कार्यों को यह पुरोहित नोट करते थे और अपने पूर्वजों की डायरी के पन्नों के आधार पर ही पं० अक्षयनाथ ने मेवाड के संक्षिप्त इतिहास की रचना की। दो अनुसंधान ग्रंथों के लेखकों (Mewar and Mughal Emperors and Marwar and Mughal Emperors) ने इसे विश्वसनीय मान कर प्रयोग में लिया है अतः मेवाड़ के सक्षिप्त इतिहास को एकाएक असत्य कह कर नही पुकारा जा सकता है।

हो सकता है कि राणा सांगा के विरुद्ध अपने अभियान को न्यायोचित करने के लिये बाबर ने अपनी आत्म-कथा में सांगा पर वायदा-खिलाफी का आरोप लगा दिया हो। लेकिन यह स्पष्ट है कि राणा सांगा अपने समय का शक्तिशाला हिन्दू शासक था। जिस समय इब्राहीम लोदी के नेतृत्व में दिल्ली सल्तनत डगमगा रही थी उस

स्थल से भागे हुए इब्राहीम के सैनिकों का बयाना तक पीछा किया था। इस विजय के बाद आमेर के प्रदेश पर अधिकार करना महाराणा के लिए सुगम हो गया था।

इसमें संदेह नहीं कि राणा सांगा अपने वंश का सर्वाधिक महत्वाकांक्षी और शक्तिशाली राणा था। इसने एक साथ तीन शत्रुओं का सामना किया। वह मुसलमानों की बिगड़ती हुई स्थिति से लाभ उठाने का इच्छुक था। ऊपर कहा जा चुका है कि वह मेवाड़ के खोए हुए प्रदेशों को भी प्राप्त करने का इच्छुक था और साथ ही अपनी सेना को सगठित करने के लिए लालायित था। उसने अपने राज्य की सीमाएँ बयाना तक विस्तृत करली थी। सिरोही पर उसका दामाद राज्य कर रहा था। डूंगरपुर और बांसवाड़ा के शासक उसका प्राधिपत्य स्वीकार करते थे। रायसीन, कालपी और चंदेरी के राज्य उसके Vassals थे। अत उसे हिन्दूपत' (Chief of the Hindus) कहकर पुकारा जाता था तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं थी।

> सांगा राजस्थान का सर्वशक्तिशाली शासक था।

एक आधुनिक लेखक का कहना है कि अपने प्रतिद्वन्द्वियों को पराजित करने के सफल प्रयास में राणा सांगा ने स्वयं उत्तर भारत के समकालीन शासकों में प्रथम स्थान प्राप्त कर लिया था। इब्राहीम लोदी को पराजित करके उसने दिल्ली के तख्त पर भी अपना हक कायम कर लिया था। राणा सांगा की इस चमत्कारपूर्ण विजयों के साथ ही मेवाड़ के शासकों की साम्राज्यवादी भावना अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई थी।[1]

अत इब्राहीम लोदी के विजेता जहीरउद्दीन मुहम्मद बाबर के साथ राणा सांगा का 1527 में संघर्ष होना अवश्यम्भावी था।

बाबर का राणा सांगा के साथ सम्बन्ध
(Babar's Relations with Rana Sanga)

भारत में मुगल साम्राज्य के संस्थापक जहीरउद्दीन मुहम्मद बाबर के समक्ष पानीपत के युद्ध में दिल्ली के शासक इब्राहीम लोदी को पराजित करने के पश्चात् भी दो शत्रुओं का दमन करना शेष था। अतएव आगरा पहुंचने के पश्चात उसने कौंसिल आफ वार (१५२७) बुलाई। इस कौंसिल ने अफगानों का दमन करना राजपूतों की अपेक्षा अधिक आवश्यक समझा क्योंकि नासिर खां लोहानी और मारूफ खां फरमूली के नेतृत्व में ४०–५० हजार अफगान कन्नौज के निकट सगठित हो गये

1. "In getting the better of his rivals, Rana Sanga had secured for himself the leading position in Northern India, and in inflicting a crushing defeat upon the occupant of the imperial throne of Delhi, he advanced a claim upon that throne itself"
—Delhi Sultanate (Bhartiya Vidya Bhawan) p 344

थे। कौंसिल के सदस्यों ने राणा सांगा की शक्ति को ठीक प्रकार नहीं समझा था। लेकिन बाबर की आत्म-कथा को पढ़ने से प्रकट होता है कि वह राणा सांगा के नेतृत्व में बढ़ती हुई राजपूत सेना को आगरा के निकट बयाना तक पहुँचना अपने राज्य के लिये हानिकारक समझता था। वह अपनी आत्मकथा में लिखता है कि "जब हम काबुल में थे तो राणा सांगा ने एक अपना दूत हमारे पास भेजा और उसके द्वारा हमें कहलाया गया कि यदि हम दिल्ली पर आक्रमण करेंगे तो वह (सांगा) स्वयं आगरा पर धावा बोल देगा। हमने इब्राहीम लोदी को पराजित किया और दिल्ली व आगरा पर अपना अधिकार जमाया। लेकिन वह काफिर (Pagan) अभी तक नहीं आया है।"

आमतौर पर बाबर ने अपनी आत्म-कथा में अतिश्योक्ति नहीं की है। उसने कहीं कहीं सत्यों को छिपाया अवश्य है लेकिन सरासर झूंठ लिखने की भी कोशिश नहीं की है। इस प्रकार बाबर के वर्णन से जाहिर होता है कि राणा सांगा ने उसके साथ वायदा-खिलाफी की थी और इसलिये वह उसकी बढ़ती हुई शक्ति का दमन करना चाहता था। लेकिन बाबर के इस वर्णन के ठीक विपरीत मेवाड़ का संक्षिप्त इतिहास नामक पांडुलिपि में लिखा हुआ है कि "जब बादशाह बाबर काबुल में राज्य करता था तो उसने विचारा कि भारतवर्ष का राज्य लोदी बादशाह करते हैं। उनको नष्ट कर दिल्ली में अपना राज्य स्थापन करो, परन्तु अज्ञात देश में जाना वहां के किसी प्राचीन राज्य की मित्रता से अच्छा है। जब उसने दिल्ली से इब्राहीम लोदी और मेदपाटेश्वर की वैमनस्यता श्रवण करी तब अपना एक अमात्य चित्र कूटाचल प्रेरणा किया उस पत्र में बाबर ने यह लिखा था इस ओर से तो मैं आकर दिल्ली पर अपना अधिकार करूंगा और उस ओर से आप आनकर आगरे में अपना राज्य स्थापन करें" यद्यपि यह ग्रंथ बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पंडित अक्षयनाथ के द्वारा लिखा गया था लेकिन इसका महत्व इसलिये अधिक है कि पं० अक्षयनाथ के एक पूर्वज बागेश्वर खानवा के युद्ध में राणा सांगा के साथ थे। राणा सांगा के दैनिक कार्यों को यह पुरोहित नोट करते थे और अपने पूर्वजों की डायरी के पन्नों के आधार पर ही पं० अक्षयनाथ ने मेवाड़ के संक्षिप्त इतिहास की रचना की। दो अनुसंधान ग्रंथों के लेखकों (Mewar and Mughal Emperors and Marwar and Mughal Emperors) ने इसे विश्वसनीय मान कर प्रयोग में लिया है अत: मेवाड़ के संक्षिप्त इतिहास को एकाएक असत्य कह कर नहीं पुकारा जा सकता है।

हो सकता है कि राणा सांगा के विरुद्ध अपने अभियान को न्यायोचित करने के लिये बाबर ने अपनी आत्म-कथा में सांगा पर वायदा-खिलाफी का आरोप लगा दिया हो। लेकिन यह स्पष्ट है कि राणा सांगा अपने समय का शक्तिशाली हिन्दू शासक था। जिस समय इब्राहीम लोदी के नेतृत्व में दिल्ली सल्तनत डगमगा रही थी उस

स्थान से भागे हुए इब्राहीम के सैनिकों का बयाना तक पीछा किया था। इस विजय के बाद आमेर के प्रदेश पर अधिकार करना महाराणा के लिए सुगम हो गया था।

इसमें संदेह नहीं कि राणा सांगा अपने वंश का सर्वाधिक साम्राज्यवादी और शक्तिशाली राणा था। इसने एक साथ तीन शत्रुओं का सामना किया। वह मुसलमानों की बिगड़ती हुई स्थिति से लाभ उठाने का इच्छुक था। ऊपर कहा जा चुका है कि वह मेवाड़ के खोए हुए प्रदेशों को भी प्राप्त करने का इच्छुक था और साथ ही अपनी सेना को संगठित करने के लिए लालायित था। उसने अपने राज्य की सीमाएँ बयाना तक विकसित करली थी। सिरोही पर उसका दामाद राज्य कर रहा था। डूंगरपुर और बांसवाड़ा के शासक उसका आधिपत्य स्वीकार करते थे। रायसीन, काल्पी और चंदेरी के राज्य उसके Vassals थे। अतः उसे 'हिन्दूपत' (Chief of the Hindus) कहकर पुकारा जाता था तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं थी।

> सांगा राजस्थान का सर्वशक्तिशाली शासक था।

एक आधुनिक लेखक का कहना है कि अपने प्रतिद्वन्द्वियों को पराजित करने के सफल प्रयास में राणा सांगा ने स्वयं उत्तर भारत के समकालीन शासकों में प्रथम स्थान प्राप्त कर लिया था। इब्राहीम लोदी को पराजित करके उसने दिल्ली के तख्त पर भी अपना हक कायम कर लिया था। राणा सांगा की इस चमत्कारपूर्ण विजयों के साथ ही मेवाड़ के शासकों की साम्राज्यवादी भावना अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी।[1]

अतः इब्राहीम लोदी के विजेता जहीरउद्दीन मुहम्मद बाबर के साथ राणा सांगा का 1527 में संघर्ष होना अवश्यम्भावी था।

बाबर का राणा सांगा के साथ सम्बन्ध
(Babar's Relations with Rana Sanga)

भारत में मुगल साम्राज्य के संस्थापक जहीरउद्दीन मुहम्मद बाबर के समक्ष पानीपत के युद्ध में दिल्ली के शासक इब्राहीम लोदी को पराजित करने के पश्चात् भी दो शत्रुओं का दमन करना शेष था। अतएव आगरा पहुंचने के पश्चात उसने कौंसिल आफ वार (१५२७) बुलाई। इस कौंसिल ने अफगानों का दमन करना राजपूतों की अपेक्षा अधिक आवश्यक समझा क्योंकि नासिर खां लोहानी और मारूफ खाँ फरमूली के नेतृत्व में ४०–५० हजार अफगान कन्नौज के निकट संगठित हो गये

1 "In getting the better of his rivals, Rana Sanga had secured for himself the leading position in Northern India and in inflicting a crushing defeat upon the occupant of the imperial throne of Delhi, he advanced a claim upon that throne itself"
—Delhi Sultanate (Bhartiya Vidya Bhawan) p 344

बावर को यह भी डर था कि यदि वह राणा सांगा को पराजित करने मे देर करेगा तो हो सकता है कि उसकी पूर्व-विजय निष्फल हो जाय और उस हालत मे वह सुरक्षित अपने निवास स्थान (काबुल) तक नहीं पहुंच सके। राणा सांगा के साथ युद्ध से पहले बावर और सांगा की सेनायें एक दूसरे के आमने-सामने चार दिन तक (13 मार्च से 16 मार्च तक) पड़ी रहीं। इस समय बावर के सैनिक इतने अधिक हतोत्साहित और निराश थे कि उनमें स्फूर्ति उत्पन्न करने के लिए बावर को एक जोशीला भाषण देना पड़ा और काबुल से आई हुई मदद को रात में ऐसे ढंग से परेड़ करवानी पड़ी कि उसके निराश सैनिकों में पुन: नया जोश उमड़ आया लेकिन कर्नल टॉड का कहना सत्य हो सकता है कि युद्ध से पहले भी बावर ने राणा सांगा के पास सदेश भिजवाया था कि यदि वह उसका आधिपत्य स्वीकार कर ले तो युद्ध टल सकता है। युद्ध से कुछ समय पहले ही काबुल से एक ज्योतिषी आया जिसने बावर के विरुद्ध नक्षत्र बतलाये। ज्योतिषि की इस भविष्यवाणी ने बावर जैसे योद्धा के मन में भी हलचल उत्पन्न कर दी थी और उसने सांगा के पास सन्देश भिजवाया। यह स्पष्ट है कि अपने हतोत्साहित सैनिकों को धर्म-युद्ध (जिहाद) का संदेश देकर बावर ने राणा सांगा के विरुद्ध लड़ने के लिये उत्तेजित किया। बावर की दृष्टि में खानवा का युद्ध-धर्म युद्ध हो सकता है लेकिन सांगा के साथ तो खानवा के मैदान में मुसलमान और हिन्दू दोनों एक झडे के नीचे लड़े थे। बावर ने विजय के पश्चात् काफिरों के मुण्डों (heads) की मीनार जरूर बनवाई लेकिन यह कहां गारन्टी है कि मीनार जिन मुण्डों की बनवाई गई थी वह सभी मुंड केवल हिन्दुओं के ही थे ? अत: खानवा के युद्ध को धर्म-युद्ध कहना एक ऐतिहासिक असत्य होगा।

खानवा का युद्ध

बावर और राणा सांगा के बीच खानवा का सुप्रसिद्ध युद्ध आधुनिक भरतपुर जिले की रूपवास तहसील के खानवा नामक ग्राम के मैदान में शनिवार तदनुसार 16 मार्च, 1527 के दिन लड़ा गया था।

खानवा के युद्ध में (offensive) आक्रमण राणासांगा की सेना द्वारा किया गया और सुबह लगभग 9½ बजे पहला गोला राणा की सेना के वाम पक्ष की ओर से मारवाड़ की सेना ने दागा। दोपहर तक युद्ध जोरों पर रहा। ऐसा प्रतीत होता था कि कभी भी बावर की पराजय हो सकती है लेकिन धीरे धीरे राजपूत सेनानायक धराशाही होते गये और बावर की सेना को नया उत्साह मिलता गया। अचानक राणा के एक तीर का घातक घाव लगा और बेहोश होकर गिर पड़ा। बेहोशी की हालत में ही उसे बसवा के सुरक्षित स्थान पर आमेर के शासक पृथ्वीराज कछवाहा व जोधपुर की सेना के अधिनायक मालदेव ने पहुंचाया। लेकिन राणा के पश्चात् सलूम्बर का जागीरदार रतनसिंह और अज्जा अधिक समय तक

था। कर्नल टॉड लिखता है कि आमेर और मारवाड के शासक उसके समक्ष नत मस्तक होते थे। बाबर के लिये राणा सांगा एक खतरा था। उसने रणथम्भोर के निकट खण्डार के दुर्ग को विजय कर लिया था और अब वह बयाना के युद्ध मे वहा के मुस्लिम किलेदार को पराजित करके आगरा की तरफ बढ रहा था। अतः हो सकता है कि बाबर ने अपनी युद्ध-कौंसिल के सदस्यों को खामोश करने की गरज से राणा सांगा पर वायदा-खिलाफी का आरोप लगा दिया हो। फिर भी यह सोचने की बात है कि राणा सांगा तो स्वय इब्राहीम लोदी को अकेला ही खातोली के युद्ध मे पराजित कर चुका था। 1518 के बाद तो उसकी शक्ति और अधिक बढ गई थी। अतः सांगा को इब्राहीम के विरुद्ध एक विदेशी की सहायता मागने की अधिक आवश्यकता नहीं होनी चाहिये थी। लेकिन बाबर भारत-भूमि मे प्रविष्ट हो रहा था। उसने इब्राहीम लोदी के चाचा दौलत खा लोदी के साथ भी गठबंधन किया था। हो सकता है कि उसी वक्त राणा सांगा के साथ भी इब्राहीम के खिलाफ गठबन्धन करने का प्रयत्न किया हो। बाबर की आत्मकथा के अलावा और किसी भी ऐतिहासिक ग्रंथ में राणा सांगा के द्वारा बाबर के पास दूत भेजना लिखा हुआ नहीं मिलता (देखिये Marwar and Mughal Emperors Pages, 21-22)।

लेकिन यह स्पष्ट है कि बाबर और राणा सांगा के बीच का संघर्ष Clash of expectations था। राणा सांगा यह समझता था कि अन्य दूसरे आक्रमणकारियों के समान बाबर भी वापस लौट जायगा। लेकिन जब पानीपत की विजय के पश्चात् बाबर बढता हुआ आगरे तक आ गया तो सांगा को तैयारी करनी पडी। इधर पानीपत की पराजय के पश्चात् कतिपय अफगान नेता भी राणा सांगा से जा मिले थे। इनमें हसन खां मेवाती और महमूद लोदी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। अत जब तक बाबर और इब्राहीम लोदी के बीच संघर्ष चलता रहा तब तक राणा सांगा तटस्थ रहा लेकिन इसी बीच उसने अपनी सैनिक-शक्ति बढाली थी। सैनिक शक्ति बढाने के साथ साथ खण्डार तथा बयाना के मुस्लिम किलेदारों को अपने अपने किले से निकाल बाहर करके राणा सांगा ने बाबर को युद्ध के लिये उत्तेजित किया। बाबर इसको बर्दास्त नहीं कर सकता था। एक धर्मान्ध मुसलमान की तरह वह अपनी आत्मकथा में लिखता हैं कि 'Infidel Standards dominated some two hundred towns in the territories of Islam, in them mosques and shrines fell into ruin From them the wives and children of the faithful were carried away captive "[1]

इस प्रकार एक ओर बाबर अपने आपको इस्लाम का सरक्षक मानता था तो दूसरी ओर राणा सांगा अपने आपको हिन्दू धर्म और सस्कृति का पोषक समझता था।

---

1. श्रीमती बेवरीज कृत (बाबरनामा का अंग्रेजी अनुवाद, जिल्द २, पृ ५६२)

2 "Thus religious hatred added to political and economic causes brought about a complete rupture between the two indomitable rivals' —G N. Sharma, Page. 26

बाबर को यह भी डर था कि यदि वह राणा सांगा को पराजित करने मे देर करेगा तो हो सकता है कि उसकी पूर्व-विजय निष्फल हो जाय और उस हालत मे वह सुरक्षित अपने निवास स्थान (काबुल) तक नहीं पहुंच सके। राणा सांगा के साथ युद्ध से पहले बाबर और सांगा की सेनायें एक दूसरे के आमने-सामने चार दिन तक (13 मार्च से 16 मार्च तक) पड़ी रहीं। इस समय बाबर के सैनिक इतने अधिक हतोत्साहित और निराश थे कि उनमें स्फूर्ति उत्पन्न करने के लिए बाबर को एक जोशीला भाषण देना पड़ा और काबुल से आई हुई मदद को रात में ऐसे ढंग से परेड़ करवानी पड़ी कि उसके निराश सैनिकों में पुनः नया जोश उमड़ आया लेकिन कर्नल टॉड का कहना सत्य हो सकता है कि युद्ध से पहले भी बाबर ने राणा सांगा के पास संदेश भिजवाया था कि यदि वह उसका आधिपत्य स्वीकार कर ले तो युद्ध टल सकता है। युद्ध से कुछ समय पहले ही काबुल से एक ज्योतिषी आया जिसने बाबर के विरुद्ध नक्षत्र बतलाये। ज्योतिषि की इस भविष्यवाणी ने बाबर जैसे योद्धा के मन में भी हलचल उत्पन्न कर दी थी और उसने सांगा के पास सन्देश भिजवाया। यह स्पष्ट है कि अपने हतोत्साहित सैनिकों को धर्म-युद्ध (जिहाद) का संदेश देकर बाबर ने राणा सांगा के विरुद्ध लड़ने के लिये उत्तेजित किया। बाबर की दृष्टि में खानवा का युद्ध-धर्म युद्ध हो सकता है लेकिन सांगा के साथ तो खानवा के मैदान में मुसलमान और हिन्दू दोनों एक झंडे के नीचे लड़े थे। बाबर ने विजय के पश्चात् काफिरों के मुण्डों (heads) की मीनार जरूर बनवाई लेकिन यह कहां गारन्टी है कि मीनार जिन मुण्डों की बनवाई गई थी वह सभी मुंड केवल हिन्दुओं के ही थे? अतः खानवा के युद्ध को धर्म-युद्ध कहना एक ऐतिहासिक असत्य होगा।

खानवा का युद्ध

बाबर और राणा सांगा के बीच खानवा का सुप्रसिद्ध युद्ध आधुनिक भरतपुर जिले की रूपबास तहसील के खानवा नामक ग्राम के मैदान में शनिवार तदनुसार 16 मार्च, 1527 के दिन लड़ा गया था।

खानवा के युद्ध में (offensive) आक्रमण राणासांगा की सेना द्वारा किया गया और सुबह लगभग 9½ बजे पहला गोला राणा की सेना के वाम पक्ष की ओर से मारवाड़ की सेना ने दागा। दोपहर तक युद्ध जोरों पर रहा। ऐसा प्रतीत होता था कि कभी भी बाबर की पराजय हो सकती है लेकिन धीरे धीरे राजपूत सेनानायक धराशाही होते गये और बाबर की सेना को नया उत्साह मिलता गया। अचानक राणा के एक तीर का घातक घाव लगा और बेहोश होकर गिर पड़ा। बेहोशी की हालत में ही उसे बसवा के सुरक्षित स्थान पर आमेर के शासक पृथ्वीराज कछवाहा व जोधपुर की सेना के अधिनायक मालदेव ने पहुंचाया। लेकिन राणा के पश्चात् सलूम्बर का जागीरदार रतनसिंह और अज्जा अधिक समय तक

हुई। विजयी बाबर ने गाजी की उपाधि धारण करके सिद्ध कर दिया कि उसने काफिरों के विरुद्ध जिहाद किया था।

खानवा के युद्ध में राजपूतों की पराजय के कारण

कर्नल टॉड, हरविलास शारदा और कवि राजा श्यामलदास के ग्रन्थों के अनुसार खानवा के युद्ध में रायसिंह के शासक सल्हदी तँवर के द्वारा विश्वासघात ही राणासांगा की पराजय का प्रमुख कारण था। लेकिन सल्हदी तँवर तो उस समय युद्ध स्थल से भागा था जब राणा सांगा घायल होकर बसवा पहुँच चुके थे। बाबर उसके भागने से पूर्व दो युद्ध विजय कर चुका था इसलिये केवल सल्हदी के विश्वासघात को राणा की पराजय का कारण मानना युक्तिसंगत नहीं है।

राणा सांगा ने खानवा के युद्ध से पहले 'पाती पेरवन' की राजपूत परम्परा को पुनर्जीवित करके राजस्थान के प्रत्येक सरदार को युद्ध में शामिल होने का निमंत्रण दिया था। इस प्रकार खानवा के युद्ध क्षेत्र में राणा की जो लम्बी चौड़ी सेना था उसमें एकरूपता नहीं थी। भिन्न भिन्न राजपूत सैनिक अपने सरदारों के झंडों के नीचे ही लड़ सकते थे। स्वाभाविक तौर पर सेना में अनुशासन भी नहीं था।

इसके अतिरिक्त राणा के अधिकांश सैनिक पैदल थे। उनके विरोधी तेज घोड़ों पर सवार थे। अतः बाबर के मुकाबले राणा की सेना का विजयी होना असम्भव था।

राणा के पास तोपखाना (Artillery) नहीं था जब कि बाबर की सारी शक्ति तोपखाने पर ही निर्भर थी और यही उसकी विजय का प्रमुख कारण थी। किसी ने बिल्कुल ठीक कहा है ' Arrows could not answer bullets "

राणा सांगा ने बाबर की शक्ति का ठीक प्रकार से अनुमान नहीं लगाया था अन्यथा उन्हें अपनी परम्परागत युद्ध प्रणाली को छोड़कर नवीन रीति अपनानी चाहिये थी। इसके विपरीत बाबर ने विभिन्न युद्धों के अनुभव के आधार पर तुलुगमा को अपना सीधा साधन बना लिया था। अपनी सेना को दुर्ग के समान क्षेत्र में सजाकर उसकी बैलगाड़ियों के द्वारा रक्षा करने की युद्ध-प्रणाली का प्रयोग वह सफलता के साथ पानीपत के युद्ध में कर चुका था। इन सब बातों से राणा सांगा और उनके सैनिक अवगत नहीं थे।

बाबर ने युद्ध के समय अपनी पैनी दृष्टि सेना के हर भाग पर रखी थी और वह व्यक्तिगत रूप से अपने सैनिकों की देखभाल कर रहा था जबकि राणा सांगा साधारण सैनिक के समान राजपूत परम्परा के अनुसार युद्ध करने पर जुझ उठे थे जिसका परिणाम यह निकला कि वह घायल होकर मूर्छित हो गये।

राणा सांगा की पराजय का सबसे बड़ा कारण यह था कि उन्होंने अवसर का सदुपयोग नहीं किया। उस समय जबकि बाबर बयाना व्यस्त था उस समय आगरा पर अधिकार नहीं कर लिया इसका दुष्परिणाम यह निकला कि राणा को खानवा

के युद्ध-क्षेत्र में पराजय हुई। "Rana was completely out witted by Babar in diplomacy and war." प्रो० रशब्रुक विलियम्स लिखते हैं कि "The consequence of

खानवा के युद्ध का परिणाम

the battle of Khanva were most momentious the-Mughal Empire in India was now firmly established. Babar had definitely seated himself upon the throne of Ibrahim.- His days of wandering in search of a fortune now passed away..... And it is significant of the new stage in his career which this battle marks that never afterwards does he have to stake his throne and life upon the issue of a stricken field". (See An Empire Builder of the Sixteenth Century, P. 156-157.)

खानवा के युद्ध क्षेत्र में राजपूतों की पराजय अवश्य हुई लेकिन इसने भी मुगलों के दांत खट्टे कर दिये। यह स्पष्ट है कि विजयी बाबर अपने जीवन-काल में राजस्थान की ओर बढ़ने का इरादा भी नहीं कर सका पर इस युद्ध ने राजस्थान को नेतृत्वहीन कर दिया। राणा सांगा की पराजय के पश्चात् राजस्थान का नैतिक पतन प्रारम्भ हो गया। मेवाड़ शक्तिहीन होता गया और इसके स्थान पर मालदेव के नेतृत्व में मारवाड़ शक्ति-सम्पन्न हो गया। खानवा के युद्ध में हर परिवार का एक योद्धा मारा गया था। इससे भी यह स्पष्ट है कि राजपूत इस युद्ध के पश्चात् भविष्य में संगठित होकर शत्रु का मुकावला करने की वात ही नहीं सोच सके। लेनपूल ने ठीक ही लिखा है कि "The Battle of Panipat had utterly broken the power of the Afghans in India: the battle of the Khanva crushed the great confederacy of the Hindus". (See Babar by Lanepool page, 182).

खानवा के युद्ध-क्षेत्र से महाराणा को मूर्छित अवस्था में आमेर के पृथ्वीराज और जोधपुर के मालदेव ने बसवा नामक स्थान पर पहुंचाया था। वहां पहुँचने पर

साँगा के अन्तिम दिन

महाराणा की मूर्छा उड़ गई। 'महाराणा यश प्रकाश' नामक ग्रन्थ को पढ़ने से प्रकट होता है कि महाराणा को इतना अधिक दुःख हुआ कि वे रणथम्भोर के दुर्ग में एकांतवास में चले गए। बड़ी कठिनाई से एक चारण[1] उनसे भेंट करने में सफल हुआ। उसकी जोशीली कविता ने राणा को एक बार फिर से अपने विजेता बाबर का मुकाबला करने का प्रोत्साहन दिया।

इसी समय महाराणा को मालूम हुआ कि बाबर चन्देरी पर आक्रमण करने

---

1. 'महाराणा यश प्रकाश' में चारण का नाम सोढा जमनाजी दिया हुआ है। पंडित हरविलास शारदा ने उसका नाम टोडरमल चंचलिया लिखा है

के लिए काल्पी तक पहुंच गया है (दिसम्बर 1527 ई०) बाबर एरिच[1] के मार्ग से गुजरने वाला था अतः राणा सांगा पहले ही अपनी सेना सहित ऐरिच पहुंच गए लेकिन युद्ध छिड़ने से पूर्व ही महाराणा को उनके मन्त्रियों द्वारा विष दे दिया गया क्योंकि वे लोग पुन युद्ध के लिए तैयार नहीं थे। इस प्रकार 21 वर्ष शासन करने के पश्चात् 30 जनवरी 1528 ई० को महाराणा का देहावसान हुआ। राणा सांगा की मृत्यु कहां हुई, यह निश्चित नही कहा जा सकता है। राणा सागा के एरिच तक पहुँच जाने तथा काल्पी मे उनकी मृत्यु होने के बाद माण्डलगढ़ में दाह क्रिया करने की बात स्वीकार करना भौगोलिक, सामरिक एव ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा भ्रमपूर्ण है।"[2]

राणा का चरित्र

महाराणा सांगा मझौले कद के हृष्ट-पुष्ट योद्धा थे। उनका श्वेत वर्ण, लम्बे हाथ और बड़ी-बड़ी आखें थीं। यद्यपि मृत्यु के समय उनकी एक आख, एक हाथ और एक टाग[3] ही थी और उनके शरीर पर 80 घावों के निशान भी मौजूद थे लेकिन फिर भी उनका यश, प्रभुत्व और जोश कम नहीं हुआ था।

इनकी सेना मे एक लाख योद्धा और पांचसौ हाथी थे। सात बड़े बड़े राजा 9 राव व 104 रावत उनके आधीन थे। जोधपुर और आमेर के शासक इनका सम्मान करते थे। ग्वालियर, अजमेर, सीकरी, रायसीन, काल्पी, चदेरी, बूदी, गागरोन, रामपुरा और आबू के राजा इनके सामन्त थे।[4] बाबर न स्वय उनकी प्रशसा करते हुए आत्म-कथा मे लिखा कि "राणा सागा अपनी बहादुरी और तलवार के बल पर बहुत बड़ा हो गया था। मालवा, दिल्ली और गुजरात का कोई अकेला सुल्तान उसे हरा नही सकता था।" उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि मेवाड के महाराणाओं मे महाराणा सागा सबसे अधिक प्रतापी शासक हुए थे जिन्होंने अपने पुरुषार्थ के द्वारा मेवाड़ को उन्नति के शिखर पर पहुचा दिया था, यद्यपि वे भारत से तुर्कों को निकाल कर एक-छत्र हिन्दू राज्य स्थापित करने में सर्वथा असफल रहे थे।[5]

---

1. एरिच काल्पी के दक्षिण पूर्व मे 28 880 N व 78 8°E मे है।
2. डा० रघुवीरसिंह : 'पूर्व आधुनिक राजस्थान' पृ० 21 (टिप्पणी)
3. आख अपने भाई पृथ्वीराज के साथ सघर्ष करते समय फूट गई थी और एक बाहु व एक टांग इब्राहीम लोदी के साथ सघर्ष मे खो चुके थे।

—H B Sarda . Maharana Sanga, P. 158.

4. Tod : Aonantiquities of Rajasthan, I,
5. H. B Sarda Maharana Sanga P 3

Old Palaces at Mandor
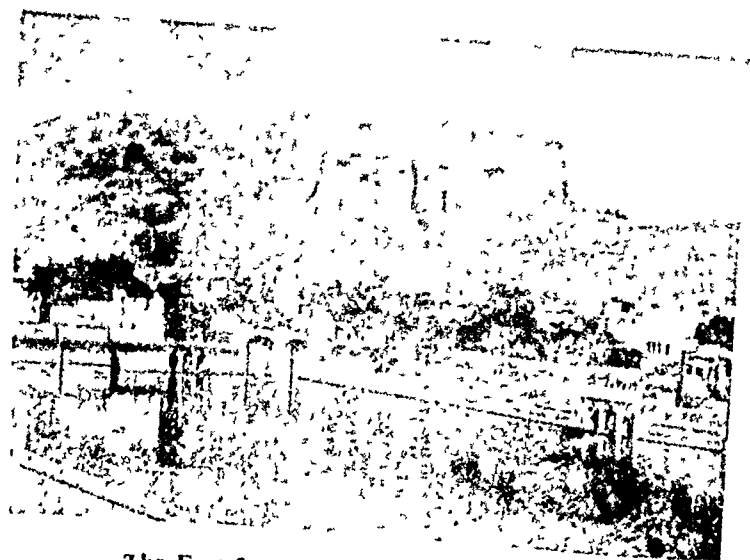
The Fort from Gulab Sagar tank, Jodhpur.

Fort of Ranthambhor

Fort of Ranthambhor

सांगा का ज्येष्ठ पुत्र भोजराज, जो जगत-प्रसिद्ध भक्त-शिरोमणी मीरांबाई का पति था, अपने पिता के जीवन-काल में ही मृत्यु को प्राप्त हो चुका था। अतः सांगा की मृत्यु के पश्चात् रतनसिंह मेवाड़ का शासक हुआ। रतनसिंह का जन्म धनसी के गर्भ से हुआ था जो मारवाड़ के राव गंगा की बहिन थी।

महाराणा सांगा के निर्बल उत्तराधिकारी 1528-1536

सांगा ने अपने जीवन-काल में ही छोटे पुत्रों-विक्रम और ऊदा को रणथम्भोर की अर्द्ध-स्वतन्त्र जागीर प्रदान कर दी थीं।[1] इस जागीर में साठ लाख की वार्षिक आय होती थी। रतनसिंह ने शासन-सत्ता संभालते ही रणथम्भोर की जागीर वापस लेनी चाही। विक्रम और ऊदा की नाबालिगी के जमाने में जागीर का प्रबन्ध उनकी माता रानी कर्णावती[2] कर रही थी जो बूंदी के राजा सूरजमल की बहिन थी अतः रतनसिंह उसकी विमाता कर्णावती के विरोध में उठ खड़ा हुआ। अपने बड़े पुत्र विक्रम को मेवाड़ की गद्दी दिलाने के प्रयत्न में मेवाड़ के कट्टर शत्रु बाबर से सहायता मांगने में भी कर्णवती को कोई हिचकिचाहट नहीं हुई। यद्यपि बाबर तो इस झगड़े में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सका लेकिन इस प्रश्न को लेकर रतनसिंह और कर्णावती के बीच विरोध बढ़ता ही गया जिसका परिणाम यह निकला कि राणा रतनसिंह राणी कर्णवती के भ्राता सूरजमल के हाथों बूंदी में 1531 में मारा गया। रतनसिंह की मृत्यु के साथ ही हाडा और सिसोदियों के उस वैर का प्रारम्भ हुआ जो शताब्दियों तक निरन्तर चलता रहा।

रतनसिंह के बाद विक्रम मेवाड़ की गद्दी पर बैठा। लेकिन यह मेवाड़ की विगड़ती हुई स्थिति को कतई नहीं संभाल सका। उसमें छिछोरापन था। अतः सरदार अप्रसन्न होकर अपने-अपने ठिकानों में चले गए। मेवाड़ में सर्वत्र अव्यवस्था फैल गई।

इसी समय गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह ने मालवा के सुल्तान महमूद खिलजी को पराजित करके (मार्च-अप्रैल, 1531) अपनी शक्ति बढ़ा ली। बहादुरशाह ने रायसीन पर धावा किया। विक्रमाजीत ने वहां के शासक सलहदी तंवर की सहायता करनी चाही। सहायता करने के चक्कर में विक्रमाजीत ने बहादुरशाह से वैर मोल ले लिया। मेवाड़ के कतिपय असन्तुष्ट सरदार भी बहादुरशाह के दरबार में पहुँच

1. राणा सांगा के इस कार्य की भर्त्सना करते हुए एक आधुनिक इतिहासकार ने लिखा है कि स्वर्गीय महाराणा की इस भूल के कारण मेवाड़ में ईर्षा और द्वेप का वातावरण उत्पन्न हुआ जिसका परिमाण यह निकला कि मेवाड़ का विकास अवरुद्ध हो गया। (See Mewar and the Mughal Emperors by Dr. G.N. Sharma, p. 46).

2. इसे कर्मवती कहकर भी पुकारा जाता था।

गये और बहादुरशाह ने चित्तौड़ पर हमला बोल दिया। विवश होकर राजमाता कर्णावती के सुझाव पर विक्रमाजीत को बहादुरशाह के साथ 24 मार्च, 1533 के दिन संधि करनी पड़ी जिसके परिणामस्वरूप राणा सांगा के द्वारा विजय किये गये मालवा के समस्त परगने तथा विजयोपहार बहादुरशाह को सौंपने पड़े।

बहादुरशाह इससे ही सन्तुष्ट नहीं हुआ। गागरोन और रणथम्भौर के किले पहले ही मेवाड़ के अधिकार से निकल चुके थे। अब बहादुरशाह को अजमेर पर अधिकार करने की इच्छा पुन. जाग्रत हो गई। अत उसने पुन· चित्तौड़ का घेरा डाल दिया। इस समय रानी कर्णावती ने बहादुरशाह के शत्रु मुगल सम्राट् हुमायूँ से सहायता चाही। पदमशाह नामक दूत के साथ रानी ने मुगल सम्राट के पास 'राखी' भेजी। हुमायूँ ने दूत का उचित सत्कार करके उसे तो भेंट सहित लौटा दिया लेकिन रानी की इच्छानुसार मेवाड़ की गुजरात की सेनाओं के विरुद्ध कोई सहायता नहीं की। हुमायूँ ने मेवाड़ की सहायता नहीं की, इसके कारण निम्नांकित थे—

(i) जब कभी एक मुस्लिम शासक हिन्दू राजा पर आक्रमण करता था तो दूसरे हिन्दू तो उसकी इस भय से सहायता नहीं करते थे कि उनकी भी बारी आ जायेगी और एक मुसलमान के विरुद्ध दूसरा मुसलमान सुल्तान मदद नहीं करता था। यही सोचकर हुमायूँ ने भी मेवाड़ की सहायता नहीं की।

(ii) जिस समय रानी कर्णावती का दूत सहायतार्थ हुमायूँ के पास पहुँचा था ठीक उसी समय बहादुरशाह ने मुगल सम्राट् के पास एक पत्र भेजा। उसमे लिखा कि बहादुरशाह जिहाद में व्यस्त है, उसके विरुद्ध मेवाड़ को सहायता करना हुमायूँ को शोभा नहीं देता। इसका मिला-जुला परिणाम यह निकला कि हुमायू आगरा से ग्वालियर तक आया और फिर वापस लौट गया।

अत रानी कर्णावती को अप्रसन्न सरदारों की सहायता पर ही निर्भर होना पड़ा। रानी के आमन्त्रण पर अप्रसन्न सरदार चित्तौड़ की रक्षा के लिए उपस्थित हुए। विक्रमाजीत और उदयसिंह को तो उनके ननसाल बूंदी भेज दिया गया और राणा कुम्भा के छोटे भाई खेमा के पौत्र रावत बाघा के नेतृत्व मे चित्तौड़ के दुर्ग की रक्षा का असफल प्रयास किया गया। रावत बाघा मारा गया और उसके बाद 8 मार्च 1535 के दिन चित्तौड़ पर बहादुरशाह का अधिकार हो गया। यह घटना चित्तौड़ के इतिहास मे 'दूसरे साके' के नाम से प्रसिद्ध है।

लेकिन चित्तौड़ विजय के साथ ही बहादुरशाह का सितारा भी अस्त हो गया। वह स्वयं हुमायू के द्वारा मन्दसौर के युद्ध म 24 अप्रैल 1535 के दिन पराजित हुआ और उसकी पराजय के साथ ही चित्तौड़ पुन राजपूतों के अधिकार मे आ गया। विक्रमाजीत भी बूंदी से वापस आ गया।

'Habits die hard' विक्रमाजीत पर यह कहावत पूर्ण रूप से चरितार्थ हुई। इतना सब कुछ भुगत लेने के बाद भी उसकी आदतों मे कोई सुधार नहीं

हुआ। परिणाम यह निकला कि 1536 के अन्तिम महीनों में राणा रायमल के कुंवर पृथ्वीराज के अनौरस पुत्र वणवीर ने विक्रमाजीत को मार कर गद्दी पर अधिकार कर लिया। अपने रास्ते के कांटे उदयसिंह, विक्रमाजीत के छोटे भाई को फना करने के प्रयत्न में वणवीर असफल रहा। स्वामिभक्त पन्ना धाय ने उदयसिंह की वणवीर से रक्षा की। मेवाड़ राजघराने के हितैषी उदयसिंह को लेकर कुम्भलगढ़ पहुंचे और वहीं 1537 A. D. में उसे मेवाड़ का शासक घोषित किया गया। यही उदयसिंह मेवाड़ शिरोमणी महाराणा प्रताप के पिता थे जिन्होंने उदयसागर और उदयपुर बसाये थे। बड़ी कोशिश के बाद उदयसिंह अपहरणकर्ता वणवीर को चित्तौड़ से तीन वर्ष के बाद निकाल बाहर करने में सफल हो सके (1540 A. D.)।

राणा सांगा की मृत्यु के पश्चात् आपसी झगड़ों और बाहरी आक्रमणों के फल-स्वरूप मेवाड़ राज्य की शक्ति क्षीण हो गई थी। अतः जब शेरशाह मारवाड़ पर अधिकार करने के बाद चित्तौड़ की तरफ बढ़ रहा था, तब उदयसिंह ने किले की चाबियां स्वतः ही सूर सुल्तान के पास जहाजपुर के मुकाम पर भिजवा दीं। लेकिन मेवाड़ पर सूर सुल्तानों का अधिक दिनों तक अधिकार नहीं रहा। शेरशाह के उत्तराधिकारी इस्लामशाह ने राजस्थान के स्वाधीन राज्यों में हस्तक्षेप करने का कोई प्रयास नहीं किया। अतः मेवाड़ के प्रशासन को सुव्यवस्थित करने का उदयसिंह को पर्याप्त अवसर प्राप्त हो गया। इसी समय (1559 A. D.) राणा ने उदयपुर की स्थापना की और 7 फरवरी 1559 के दिन उदयसागर[1] की नींव रखी।

उदयसिंह के यह कार्य तो प्रशंसनीय थे लेकिन ईर्ष्यावश मारवाड़ के शासक मालदेव के विरुद्ध शेरशाह के सेनानायक हाजीखां पठान की सहायता करके तथा फिर उसी हाजीखां के साथ रंगराय पातर नामक सुन्दरी को प्राप्त करने की राणा की लालसा ने मेवाड़ को हरमाड़ा के युद्ध में धकेल दिया। यह युद्ध 24 जनवरी 1557 के दिन लड़ा गया था। इस युद्ध में राणा उदयसिंह पराजित हुए। हरमाड़ा के युद्ध के पश्चात् समकालीन मुगल-सम्राट अकबर का ध्यान राजस्थान की ओर आकर्षित हुआ। उदयसिंह और उसके उत्तराधिकारियों को इसके बाद निरंतर दिल्ली और आगरा के मुगल बादशाहों के साथ संघर्ष करना पड़ा। स्पष्ट है कि उदयसिंह का शासन-काल मेवाड़ के इतिहास में एक महत्वपूर्ण काल था जहां से मेवाड़ और मुगलों के संघर्षमय इतिहास का प्रारम्भ होता है।

---

1. यह स्थान आधुनिक उदयपुर शहर से 8 मील पूर्व में है। उदयसागर झील $2\frac{1}{2}$ मील लम्बी व $1\frac{3}{4}$ मील चौड़ी है।

BIBRIOGLAPHY

1 Tod Annals of Mewar
2 G H Ojha History of Rajputana Vol I (Hindi)
3 J S Gehlot History of Rajputana, Vol I (Hindi)
4 G C Raychaudhary History of Mewar (up to 1303 A D)
5 The Delhi Sultanate (Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay)
6 H B Sarda Mahsrana Kumbha
7 H B Sarda Maharana Sanga
8 G N Sharma Mewar and the Mughal Emperors
9 Dr K S Lal History of Khiljis
10 Rushbrook Williams An Empire Builder of the Sixteenth Century
11 Dr M L Mathur Early History of Mewar (unpublished)
12 Dr J P Strattan Chittor & the Mewar Family

6

मारवाड़ का इतिहास (सन् 1562 तक)

(History of Marwar (up to 1562 A.D.)

राजस्थान का पश्चिमी भाग मारवाड़ के नाम से विख्यात है। चूंकि यह प्रदेश रेतीला है अतः प्राचीन काल से ही यह 'मरुस्थल'[1] 'मरुकांतार'[2] और 'मरु'[3] कहकर पुकारा जाता रहा है। जिस प्रकार मारवाड़ का प्राचीन नाम 'मरु'[4] है उसी प्रकार जैसलमेर के पूर्वी भाग का प्राचीन नाम 'माड़' है। मरु और माड़ की सीमायें परस्पर मिली हुई थीं। कालान्तर में यह दोनों देश संयुक्त हो गए और यह संयुक्त प्रदेश 'मरुमाड़' (रेगिस्तान से रक्षित देश) के नाम से पुकारा जाने लगा। मरुमाड का अपभ्रंश मारवाड है। मारवाड़ को 'मुरधर देश'[5] भी कहकर पुकारा जाता है।

मारवाड़ का प्राचीन इतिहास

प्राचीन काल में मरु देश का विस्तार समुद्र से सतलज नदी तक था[6]। अकबर के दरबारी इतिहासकार अबुलफजल ने इस प्रदेश की लम्बाई चौड़ाई 100×60 कोस लिखी है।[7] लेकिन स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् देशी राज्यों के विलीनीकरण के समय यह देश $24°37'$ और $27°42'$ उत्तर अक्षांश तथा $70°5'$ और $75°22'$ पूर्व देशान्तर के बीच फैला हुआ था और इसकी लम्बाई 320 मील व चौड़ाई 170 मील तथा क्षेत्रफल 35016 वर्गमील

मारवाड़ की भौगोलिक स्थिति

---

1. भर्तृहरि ने 'नीतिशतक' (श्लोक 49) में इस प्रदेश को 'मरुस्थल' कहकर पुकारा है।

2. वाल्मीकीय रामायण (युद्धकाण्ड, सर्ग 22), में राजपूताना के सम्पूर्ण रेगिस्तान के लिए 'मरुकांतार' शब्द का प्रयोग किया गया है।

3. भागवत (प्रथम स्कन्ध, अध्याय 10) में इसे मरुधन्व कहकर पुकारा गया है जिसका अर्थ 'मरु' नाम का रेगिस्तान है।

4. मालानी का प्रदेश माड़ कहकर पुकारा जाता था। माड का शाब्दिक अर्थ वितान अथवा चँदवा है।

5. मुरधर शब्द मरुधरा का अपभ्रंश है। मरुधरा का अर्थ मारवाड़ की भूमि है।

6. टॉड : एनाल्स एन्ड एन्टीक्वीटीज आफ राजस्थान, जिल्द द्वितीय ।

7. आइने अकबरी, जिल्द I ।

था। इसके पूर्व में जयपुर और किशनगढ़ के भूतपूर्व राज्य, अग्निकोण में अजमेर व मेवाड़, दक्षिण में सिरोही और पालनपुर (पाकिस्तान), पश्चिम में कच्छ की खाड़ी और आधुनिक पाकिस्तान का सिन्ध प्रांत, वायव्य कोण में जैसलमेर तथा उत्तर में बीकानेर के भूतपूर्व राज्य स्थित हैं।

मारवाड़ पर क्रमश: नागवंशी क्षत्रियों, मोरियों और प्रतिहारों का राज्य रहा था। प्रतिहारों का तीन-सौ वर्ष प्राचीन राज्य ग्यारहवीं शताब्दी में परमारों के अधिकार में चला गया। इस जमाने में मडोर मारवाड़ की राजधानी रही थी।

आठवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी के बीच पश्चिम की दिशा से (सिन्ध की तरफ से) मारवाड़ पर विदेशियों के निरन्तर आक्रमण हुए। खलीफा हशाम की सेनायें 739 ई० के लगभग जुनैद के नेतृत्व में भीनमाल तक आ गई थीं। इसी प्रकार 756 ई० में बलोची मुसलमानों की सेनायें मारवाड़ के दक्षिणी भाग पर चढ़ आई थीं। महमूद गजनवी सोमनाथ जाते समय नाडोल की तरफ से होता हुआ गया था। मुहम्मद गौरी का भी प्रथम आक्रमण नाडोल पर हुआ था। कहने का तात्पर्य यह है कि पश्चिम में सिन्ध के प्रदेश से लगा होने के कारण मारवाड़ विदेशी आक्रमणकारियों का प्रारम्भ से ही प्रहार सहता रहा।

यह प्रदेश रेगिस्तान है अत: वर्षा अधिक नहीं होती। फसल भी बड़ी मुश्किल से पैदा होती है। अकाल अक्सर पड़ जाता है लेकिन फिर भी मुहम्मद गौरी के द्वारा पराजित किए जाने पर कन्नौज के गहड़वाल शासक जयचन्द्र के वंशज सीहा ने 1212 ई० में इस प्रदेश को अपने निवास-स्थान के लिए चुना। इसका कारण यह हो सकता है कि पूर्व में अरावली पर्वत-शृंखलाओं तथा पश्चिम में रेगिस्तान से 'रक्षित प्रदेश' सुरक्षित समझकर सीहा ने तीर्थ यात्रा पर जाते समय मारवाड़ में अपने डेरे डाल दिए और उसके वंशजों ने कालान्तर में सम्पूर्ण मारवाड़ को अपने अधिकार में करके स्वतन्त्र राठौड़ राज्य की स्थिति सुदृढ़ की। मारवाड़ की स्वास्थ्य-प्रद जलवायु भी एक कारण हो सकती है जिससे प्रभावित होकर सीहा ने इस भाग को चुना हो।

रेगिस्तान होने के कारण यहाँ जंगलों का अभाव है। केवल अरावली पर्वत के पश्चिमी ढाल में जंगल है। अत: यहाँ इमारती लकड़ी एवं पशुओं के लिए चारे का सदैव अभाव रहा है। अनावृष्टि के कारण मारवाड़ की इस भौगोलिक स्थिति ने यहाँ के इतिहास को विशेष रूप से प्रभावित किया है। स्वास्थ्यवर्धक जलवायु के कारण यहाँ के निवासी हृष्ट-पुष्ट होते हैं।

> मारवाड़ की भौगोलिक स्थिति ने यहां के इतिहास को प्रभावित किया है

और अकाल ने यहां के लोगों को adventurous बना दिया है। जीविका के चक्कर में मारवाड़ी केवल राजस्थान के दूसरे भागों में ही जाकर नहीं

बस गए वरन् वे लोग मालवा एवं गुजरात के सरसब्ज प्रदेशों की ओर भी आकर्षित हुए। लेकिन बाहर जाकर बसने वाले मारवाड़ियों ने अपने Sweet home का मोह कभी भी नहीं त्यागा। इसी प्रकार मारवाड़ी कहीं भी हो वह अपनी भाषा को नहीं छोड़ सकता। उनका खान-पान, रस्म-रिवाज, रहन-सहन कभी नहीं बदल सकता। आतिथ्य–सत्कार में मारवाड़ी से बढ़कर आपको कोई दूसरा व्यक्ति मुश्किल से ही मिलेगा। यह कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जिनका प्रभाव प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मारवाड़ के इतिहास पर पड़ा है।

मारवाड़ में राठौड़ राज्य के संस्थापक सीहा के वंशजों एवं उसके मूल निवास-स्थान के सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं है। मारवाड़ की ख्यातों के अनुसार सीहा कन्नौज के गहड़वाल शासक जयचन्द्र का वंशज था। वंशावलियां भी यही बताती हैं। लेकिन स्वर्गीय डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने राठौड़ और गहड़वाल दो भिन्न जातियाँ सिद्ध करने का प्रयास किया और उसे जयचन्द्र का वंशधर मानने के लिए किसी प्रकार भी तैयार नहीं थे। डा० ओझा सीहा को बदायूं के राठौरों का वंशधर मानते थे।[1] परिणाम यह निकला कि एक ऐसा विवाद खड़ा हो गया जिसका सन्तोषप्रद उत्तर हमें कुमारी रोमा नियोगी के अनुसंधान ग्रन्थ History of the Gahadawal Dynasty में भी नहीं मिल सका।

> सीहा कन्नौज के जयचन्द्र का वंशज था

सीहा मारवाड़ में 1212 ई० के लगभग आया था।[2] उस समय इस प्रदेश पर चौहान, मोहिल और गोहिल लोग राज्य कर रहे थे। वे पाली[3] के पल्लिवाल ब्राह्मणों को बहुत सताया करते थे। अतः पल्लीवाल ब्राह्मणों के मुखिया जशोधर ने सीहा से वालेचा चौहानों के विरुद्ध सहायता चाही और सीहा वहीं बस गया। इसी समय सिंध की तरफ से मुसलमानों का आक्रमण हुआ और सीहा उनका मुकाबला करता हुआ 1230 में मारा गया। सीहा के पुत्र और उत्तराधिकारी आस्थान ने गोहिलों से खेड़ को छीन कर उसे अपनी राजधानी बनाया। पाली के आसपास के 84 गाँवों पर भी आस्थान ने ही अपना अधिकार जमाया था। इसने ही ईडर के भीलों को पराजित करके वहां अपने छोटे

> आस्थान

1. डा० ओझा : जोधपुर राज्य का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ 135–146.
2. डा० वी० एस० भार्गव : Marwar and the Mughal Emperors, P. 4 and f. n. 7.
3. उन दिनों पाली व्यापार का केन्द्र था। पाली के व्यापारियों के फारस और अरब के लोगों के साथ भी व्यापारिक सम्बन्ध थे। पल्लीवाल ब्राह्मण वहां धनाढ्य जाति के लोग थे।

भाई सोनिग के नेतृत्व मे राठौड राज्य स्थापित किया । जब सीहा खेड को केन्द्र बिन्दु बना कर मारवाड म राठौड राज्य का विस्तार करने मे जुटा हुआ था, उसी समय खिलजी सुल्तान जलालउद्दीन का मडोर पर आक्रमण हुआ। सम्भव है जलालउद्दीन मडोर से पश्चिम की ओर भी बढा क्योकि ख्यातो के अनुसार आस्थान जलालउद्दीन खिलजी को सेनाओ का मुकाबला करते हुए खेत रहा था । जलालउद्दीन के इस आक्रमण ने कुछ समय के लिए राठोडो के विस्तारवादी कार्यक्रम को स्थगित कर दिया ।

अत आस्थान का पुत्र और उत्तराधिकारी धूहड कुछ नही कर सका । कर्नल टॉड लिखता है कि उसने कन्नौज जीतने की असफल कोशिश की, लेकिन वह मडोर पर अधिकार करने के चक्कर मे मृत्यु को प्राप्त हो गया । इसी समय अलाउद्दीन खिलजी ने जालौर और सिवाना पर आक्रमण करके वहा के स्वतन्त्र राज्यों का अन्त कर दिया लेकिन इस आक्रमण के कारण जालौर और सिवाना की दिशा मे राठौड राज्य के विस्तार की सम्भावना भी कुछ समय के लिए स्थगित हो गई ।

धूहड

धूहड और उसके उत्तराधिकारी निरन्तर रूप से मडोर को अधिकार मे करने की कोशिश करते रहे । लेकिन 1383 ई० से पहले वे लोग मडोर पर स्थायी रूप से आधिपत्य जमाने मे सफल नहीं हो सके । इसका पहला कारण तो यह था कि 1383 ई० तक दिल्ली की गद्दी पर तुगलक वश के प्रतिभाशाली सुलतान शासन कर रहे थे । अत राठौड मडोर, सिवाना और जालोर पर अपना अधिकार स्थापित नही कर सके । दूसरा कारण यह था कि जैसलमेर के भाटी शासको तथा राठौडो के बीच भी सघर्ष चलता रहा । भाटियो की मदद पर सिध के मुसलमान भी आ जाया करते थे । आक्रमणकारी सेनाओ का मुकाबला करते हुए कतिपय राठौडों (कान्हा तथा जालणसी) को अपनी जानें भी खोनी पडी ।

1383 ई० तक राठौड मारवाड़ मे विस्तार नहीं कर सके

जालणसी के बाद पाँच पीढ़ियाँ गुजर गई । छटी पीढ़ी में वीरमदेव हुआ जिसकी 1383 में मृत्यु होने के पश्चात् उसका पुत्र चूडा मारवाड की गद्दी का स्वामी हुआ । चूडा ने 1423 ई० तक शासन किया । इसके शासन काल मे राठौर राज्य की सीमाओं का विस्तार हुआ । मडोर और नागौर को अधिकार म कर लेने के पश्चात चूडा ने खाटू डीडवाना, साम्भर और अजमेर पर आधिपत्य जमाया और चौहानो स नाडोल छीन कर अपने अधिकार में किया । इस प्रकार चूडा के शासन-काल से मारवाड के इतिहास का एक नया युग प्रारम्भ होता है । कर्नल टॉड ने बिल्कुल ठीक लिखा है कि चूडा के राज्याभिषेक

चूडा 1383 1423 A D

पहले उसके पूर्वज यत्रतत्र Raids करके अपना गुजारा चलाते थे। लेकिन 383 के बाद राठोड़ों ने नियमित रूप से विस्तारवादी कार्यक्रम अपना लिया था। [ड़ा और उसके उत्तराधिकारी दिल्ली सल्तनत की निर्बल स्थिति से पूरा-पूरा लाभ ठाने में पूर्ण सफल हुए। सौभाग्य से इस समय मेवाड़ की गद्दी पर भी कुम्भा जैसा ाक्ति-सम्पन्न शासक नहीं था। अत: चूड़ा को मारवाड़[1] का विस्तार करने का पूरा .ा अवसर प्राप्त हो गया।

राव चूडा ने मारवाड़ राज्य का गठन किया और सबको अधीन करके अपने राज्य को (Compact) बनाया। 1423 में मारवाड़ पर मुल्तान की दिशा से मुस्लिम सेनाओं का आक्रमण हुआ। आक्रमणकारी सेना का सेनापतित्व सलीम खां कर रहा था। इसी युद्ध में भाटियों और सांखलाओं ने मिलकर धोखे से राव चूंडा को मार डाला।

चूंडा की मृत्यु के पश्चात् चार वर्ष के भीतर दो निर्बल शासक मारवाड़ की गद्दी पर बैठे। यह दोनों चूंडा के छोटे पुत्र थे और इनके नाम क्रमश: कान्हा और साता थे। अत: चूंडा के ज्येष्ठ पुत्र रणमल्ल[2] ने मंडोर पर अधिकार कर लिया। रणमल्ल ने मेवाड़ की सेना की सहायता से नागोर पर भी अधिकार कर लिया। सोनगरा चौहानों से नागौर छीन लिया, सिधलों से जैतारण, दूलों से सोजत छीन कर अपने अधिकार में किया, जालौर के हसनखां मेवाती को भी पराजित किया। इस प्रकार सैयद वंशीय दिल्ली के निर्बल सुल्तानों की स्थिति से लाभ उठाकर रणमल्ल ने केवल मारवाड़ राज्य की सीमाओं का ही विस्तार नहीं किया वरन् उसे सुसंगठित भी किया। मेवाड़ के इतिहास में लिखा जा चुका है कि रणमल्ल को वहां के सरदारों ने 1438 ई० में धोखे से मार दिया था। उसकी मृत्यु के साथ ही मारवाड़ पर मेवाड़ की सेनाओं ने अधिकार कर लिया। अत: रणमल्ल के पुत्र और उत्तराधिकारी को 15 वर्ष का समय पुन: राठोड़ों का राज्य स्थापित करने में लगा। जोधा ने ही शनिवार 12 मई 1459 ई० के दिन मंडोरसे 6 मील दक्षिण

राव रणमल्ल
1427–1438 A D.

राव जोधा 1438–1489 A.D.

---

1. Rao Chunda consolidated the principality of Mewar by bringing under his rule the scattered territories and making his domain compact..

2. मंडोवर का राव रणमल्ल जिसका वर्णन प्रसंगवश सातवें अध्याय में किया जा चुका है।

मे जोधपुर शहर एव किले की नीव रखी थी।[1] जोधा के बाद से जोधपुर मारवाड राज्य की राजधानी बन गई। जोधपुर मारवाड मे राठौडो की तीसरी राजधानी है। पहले ग्रास्थान ने खेड को केन्द्र बिन्दु बनाकर विस्तार किया, तत्पश्चात् चूडा ने मडोर पर अधिकार स्थापित करके उसे राजधानी बनाया और फिर जोधा ने आधुनिक जोधपुर का शिलान्यास किया।

जोधपुर का शिलान्यास
12 May 1549 A D

इस समय अजमेर और उसके आसपास का प्रदेश मुसलमानो के अधिकार मे था। अत. जोधा के पुत्र बरसिंह और दूदा ने मडता के आस पास के 360 गाँव जीतकर मडता मे एक स्वतन्त्र राज्य की नीव रखी।

इस समय मेवाड की गद्दी पर कुम्भा का निर्बल पुत्र और उत्तराधिकारी उदयसिंह था। उसने जोधा को चुप रखने के खातिर अजमेर और साम्भर पर उसका सरलता से अधिकार हो जाने दिया। इसी समय जोधा ने नागौर का प्रदेश छापर-द्रोणपुर तक मुसलमानो से छीनकर अपने आधिपत्य मे कर लिया। उसके पुत्र बीका ने जागल देश को विजय करके वहाँ राठौडो का एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया जो उसके पीछे बीकानेर कहलाया।

इस प्रकार जोधा और उसके चौदह पुत्रो ने शक्ति के बल पर अपने लिए स्वतन्त्र राज्य पैदा कर लिए। अत जब 1489 ई० मे जोधा का देहान्त हुआ उस समय राठौडा के अधिकार मे मडोर, सोजत गोडवाड का कुछ भाग, शिव सिवाना, साभर अजमेर तथा नागौर का अधिकांश भाग आ चुका था।

जोधा के उत्तराधिकारियो (सातल और सूजा) के शासन काल मे मारवाड मे आन्तरिक अव्यवस्था फैल गई थी। अत सातल कुछ नही कर सका। उसका उत्तरराधिकारी सूजा भी केवल छानोद और रायपुर के इलाके सिंधलो से छीनकर अपने अधिकार मे लाने मे ही सफल हो सका। अत जब 1515 ई० मे सूजा का पौत्र राव गांगा मारवाड की गद्दी पर बैठा तब तक मारवाड राठौड राजपूतो का निवास स्थान (home land) बन चुका था। नई राजधानी (जोधपुर) राठौडो की प्रेरणा

जोधा के निर्बल उत्तराधिकारी सातल और सूजा (1489 से 1515 ई० तक)

1 "The Fort of Jodhpur, which is the finest in Rajputana, commands the city and standing in great magnificance on an isolated rock about 400 ft zbove the surounding plain, attracts the eye from a far" —Imeprial Gazetteer, P 197.

एव शक्ति प्रदान कर रही थी। इस समय तक सीहा के वंशज 'मरुभूमि' में सर्वत्र फैल चुके थे। उनमें से कतिपय ने अपने स्वतंत्र राज्य भी स्थापित कर लिये थे। यह लोग अपने-आपको जोधपुर नरेश के समान समझते थे। लेकिन उसका केवल इसलिए सम्मान करते थे कि वह बड़ा भाई था। अतः निर्बल शासकों के शासनकाल में यह 'छुटभइये' शक्ति ग्रहण करके जोधपुर की राजगद्दी प्राप्त करने का कभी-कभी प्रयास करते थे।[1]

सूजा के उत्तराधिकारी गांगा के राज्याभिषेक के समय मारवाड़

एक ओर तो 1515 में मारवाड़ छोटे-छोटे राज्यों में बंटा हुआ था और दूसरी ओर राठोड़ों की राजधानी मडोर के पड़ौस में नागौर के मुसलमानों का राज्य था। दक्षिण पश्चिम में जालौर में भी बिहारी पठान शासन कर रहे थे। इसी समय राणा सांगा के नेतृत्व में मेवाड़ का राज्य तीव्र गति से शक्ति ग्रहण करता जा रहा था। दिल्ली सल्तनत निर्बल होती जा रही थी। गुजरात का स्वतंत्र मुस्लिम राज्य शक्तिशाली हो गया था। गांगा को गद्दी पर बैठे ग्यारह वर्ष ही हुए थे कि मध्य एशिया के आक्रमणकारी बाबर ने दिल्ली के सुल्तान इब्राहीम लोदी को पानीपत के युद्ध में पराजित करके भारत में एक नए राजवश स्थापना की। अतः सूजा के उत्तराधिकारी गांगा के लिए मारवाड़ की राजगद्दी फूलों की सेज नहीं थी।

राव सांगा 1515-1531 A.D.

राव सांगा अपने पिता बाघा का छोटा लड़का था। वीरम इसका बड़ा भाई था। लेकिन मारवाड़ सरदारों ने गद्दी प्राप्त करने में गांगा की सक्रिय रूप से सहायता की। उस समय सरदारों के कहने से गांगा ने सोजत अपने बड़े भाई वीरम को दिया था। यह घटना दो बातें स्पष्ट करती हैं—

(i) अन्य राजपूत राज्यों के समान मारवाड के राठोड़-राज्य में भी उत्तराधिकार नियम (Law of Primogeniture) का अभाव था।

(ii) 1515 में मारवाड़ के सरदार काफी शक्तिशाली हो चुके थे।

गांगा के राज्याभिषेक के समय मारवाड़ की स्थिति सुरक्षित नहीं थी। सरदार शासक के साथ बराबरी का दावा करते थे। आसपास मेड़ता, नागौर, जालौर और सांचोर में स्वतन्त्र राज्य थे। मेड़ता में वीरम दूदावत शासन कर रहा था, नागौर पर सरखेल खां का शासन था, जालौर और सांचौर सिकन्दरखां के आधिपत्य

---

1. "It (the Rathor state of Marwar) was a conglomeration of smaller units, each being ruled by a chieftain of its own who was more often than not of the Rathor clan. In fact, the ruling faction of the state belonged to only one particular clan."

—Marwar and the Mughal Emperors.

म थे । सिकन्दरखा गुजरात के सुल्तान का सामन्त था । इस प्रकार राज्याभिषेक के समय स्थिति दृढ नही होते हुए भी गागा ने मारवाड की सीमाओ को बढाने का प्रयास किया था और उसमे उसे काफी हद तक सफलता भी मिली थी ।

गागा को राज्य विस्तार का सुअवसर प्राप्त हुआ । इसके दो कारण थे । पहला कारण तो यह था कि सौभाग्य से दिल्ली की गद्दी पर लोदी वश का निर्बल सुल्तान इब्राहीम शासन कर रहा था जो अपनी समस्याओ को ही नही सुलझा सका था अत गागा की विस्तारवादी योजनाओ के बीच म रुकावट डालना उसके लिए सम्भव नही था । दूसरा कारण यह था कि समकालीन राजस्थान म मेवाड को छोड कर और कोई राज्य इतना शक्तिशाली नही था कि वह गागा का मुकाबला करने की हिम्मत करता । मेवाड का राणा सागा राव गागा का बहनोई था । इसके अतिरिक्त गागा न सांगा को ईडर व खानवा के युद्धो म सैनिक सहायता करके उसे इतना अधिक अनुग्रहित कर दिया था कि वह मारवाड के साथ छेडछाड करने की नही सोच सकता था । इन युद्धो म मेवाड की सहायता करके मारवाड के शासक गागा ने अपनी व्यक्तिगत रूप से व अपने राज्य की ख्याति एव प्रतिष्ठा को बढाया ।

गागा ने सागा की व्यस्तता से लाभ उठाकर जालौर के मुस्लिम राज्य के उत्तराधिकार के सघर्ष म सक्रिय रूप से भाग लेकर 1525 मे अपने इच्छित उम्मीदवार गाजी खा को जालौर की गद्दी दिलाने म सहायता की । इस सहायता के द्वारा गागा ने अपना राजनैतिक प्रभुत्व बढाया ।

खानवा के युद्ध म मारवाड की सेनाओ ने कम महत्वपूर्ण भाग नही लिया था । शनिवार 16 मार्च 1527 के दिन प्रात काल साढे नौ बजे के लगभग जब युद्ध प्रारम्भ हुआ तो पहला गोला मारवाड की सेना ने ही दागा था । युद्ध क्षेत्र में मारवाड की सेना राज्य की सेना के वामपक्ष का नियत्रण कर रही थी । दोपहर बाद जब राणा सागा मूर्छित हो गया तो उस समय मारवाड की सेना के सेनापति राजकुमार मालदेव ने दूसरे साथियो के साथ सुरक्षित स्थान तक पहुँचाया था । खानवा के युद्ध मे मारवाड की सेनायें एक सामन्त की सेना के रूप मे नही भेजी गई थीं ।

खानवा के युद्ध के पश्चात राव गागा को अपने चाचा का मुकाबला करना पडा । गागा का चाचा शेखर नागौर के शासक सरखेल खा और दौलतखा की मदद लेकर मारवाड पर चढ आया था । 1529 मे यह युद्ध हुआ जिसमे शेखा स्वय मारा गया ।

12 मई 1531 के दिन गागा का झरोखे से गिर जाने के कारण देहान्त हो गया । इसने अपने 16 वर्षीय शासन में मारवाड की व्यवस्था करके इस राज्य को शक्तिशाली बनाया । जब उसकी मृत्यु हुई उस वक्त उसके पुत्र मालदेव के लिए सुरक्षित राजसिंहासन था । अत मालदेव के नेतृत्व म मारवाड का राज्य उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच सका ।

गांगा के पुत्र और उत्तराधिकारी राव मालदेव के शासनकाल में मारवाड़ का राज्य अपनी चरम पर पहुँच गया था। समकालीन फारसी के इतिहासकारों ने राव मालदेव को हिन्दुस्तान का 'हशमतवाला शासक' कहकर पुकारा है।

राव मालदेव 1531-1562 A D.

जिस समय मालदेव का राज्यतिलक हुआ उस समय जोधपुर मारवाड़ की राजधानी थी और केवल मंडोर और सोजत के प्रदेश पर ही मारवाड़ के राव का अधिकार था। लेकिन सौभाग्य से मालदेव को अपनी आकांक्षा के अनुकूल ही राजनैतिक परिस्थितियाँ प्राप्त हुईं। सांगा की मृत्यु के पश्चात् मेवाड का राज्य अपनी कठिनाइयों में उलझ गया था। भारत में नवस्थापित मुगल साम्राज्य का संस्थापक बाबर मर चुका था। बाबर का पुत्र और उत्तराधिकारी हूमायूं गुजरात के बहादुरशाह और शेरखां के साथ संघर्ष में व्यस्त था। इन परिस्थितियों से लाभ उठाने के विचार से मालदेव ने सिंहासनारूढ होते ही राज्य-विस्तार का कार्यक्रम प्रारम्भ कर दिया। सर्वप्रथम उसने भाद्राजूण के सिंघलों को पराजित किया। तत्पश्चात् जालौर के पठानों की ओर कदम बढाया। इसी समय उसने सिवाना और सांचोर के सुदृढ दुर्गों को अपने अधिकार में कर लिया। मेड़ता के स्वतन्त्र शासक वीरमदेव को पराजित करके तथा बीकानेर के शासक जैतसी को युद्ध में मौत के घाट उतार कर मालदेव ने अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार किया। अठारहवीं शताब्दी में रचित 'राजरूपक' नामक ग्रन्थ में राव मालदेव की इन विजयों का वर्णन करते हुए रतनूचारण वीरभाण ने ठीक ही लिखा है—

माल गंग गादी राव मारू
सबला किया आपरै सारू

एनाल्स एण्ड एण्टेक्वीटीज ऑफ राजस्थान का लेखक कर्नल जेम्स टाड लिखता है कि 'लूनी के आस-पास का प्रदेश जिस पर उसके पूर्वजों ने सर्वप्रथम अधिकार किया था और जो प्रदेश स्वतंत्र हो चुके थे उन्हें पुनः अपने अधिकार में किया तथा उनको अपना आधिपत्य स्वीकार करने व सैनिक सहायता देने के लिए बाध्य किया।'[1]

इसी बीच मे बहादुरशाह की मृत्यु (1537 A. D.) हो गई गुजरात के सुल्तानो का मारवाड़ के प्रदेश से गहरा सम्बन्ध रह चुका है। अतः मालदेव को बहादुरशाह की ओर से भय बना रहता था। यद्यपि सुल्तान बहादुरशाह मेवाड़ और

---

1. "The tracts on the Luni, the earliest possession of his house, which had thrown off all independence, were subjugated by him and the ancient allodial tenantry was compelled by him to hold him as their chief and to serve him with their quotas".

—Tod : Annals and Antiquities of Rajasthan II, Vol. P. 19.

दिल्लीधिपति हुमायूँ के साथ संघर्ष में इतना अधिक व्यस्त था कि उसे मारवाड़ की ओर ध्यान देने की फुरसत ही नहीं थी। उसकी मृत्यु के पश्चात् मालदेव के अवचेतन मस्तिष्क में से गुजरात के विरोध का भी डर जाता रहा। अतः उसने निश्चित होकर मारवाड़ की सीमाओं को लाँघकर अपने राज्य का विस्तार करने की कोशिश की।

सर्वप्रथम उसने नागौर के पठानों को पराजित किया। तत्पश्चात् साँभर, फतेहपुर, उदयपुर (शेखावाटी), चाटसू, टोंक, टोडा, मालपुरा, बिनाड़ा, जैतारण, डीडवाना, व पचभदरा के शासकों को पराजित किया। इस प्रकार दस वर्ष के अल्प समय में मालदेव ने मारवाड़ की सीमाओं को विस्तृत करके दिल्ली और आगरा के निकट पड़ोस तक अपना राज्य स्थापित कर लिया था। अतः जब 1540 में बाबर के पुत्र और उत्तराधिकारी हुमायूँ को शेरशाह ने बिलग्राम के युद्ध में पराजित किया उस समय तक मालदेव भारत का एक शक्तिशाली हिन्दू राजा बन चुका था। राजस्थान के राजाओं में तो उसकी प्रमुख स्थिति थी। अतः निर्वासित मुगल सम्राट् हुमायूँ को अपहरणकर्त्ता शेरशाह के विरुद्ध सहायता देने का आश्वासन देते हुए मालदेव ने हुमायूँ को मारवाड़ में आने का निमन्त्रण भिजवाया। निमन्त्रण भिजवाना यह सिद्ध करता है कि मालदेव अपने आपको इतना अधिक शक्तिशाली समझने लगा था कि वह शेरशाह से हुमायूँ का मददगार बन कर युद्ध मोल लेने के लिए तत्पर था।

जिस समय दिल्ली पर हुमायूँ शासन कर रहा था उस समय मारवाड़ का शासक राव मालदेव था। मालदेव के शासनकाल में जैसा कि फरिश्ता लिखता है "मारवाड़ अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था" हुमायूँ की कठिनाइयों से मालदेव ने पूरा पूरा फायदा उठाया था। जब हुमायूँ शेरशाह और गुजरात के बहादुरशाह के विरुद्ध युद्धों में व्यस्त था, उस समय मालदेव ने राजस्थान का अधिकांश भाग अपने अधिकार में कर लिया था।

हुमायूँ और मालदेव

अतः शेरशाह के द्वारा दूसरी बार बिलग्राम के युद्ध क्षेत्र में पराजित कर देने के बाद जब हुमायूँ की खानाबदोश स्थिति हो गई और वह घूमता २ सिंध में भक्कर नामक स्थान पर पहुँचा उस समय मारवाड़ के शासक मालदेव ने जून, 1541 में एक दूत निर्वासित मुगल सम्राट के पास भेजा और उसे अपने 20,000 घुड़सवारों की सहायता से खोया हुआ सिंहासन वापस दिलाने का आश्वासन दिया। हुमायूँ स्वभाव से दृढ़ निश्चय का व्यक्ति नहीं था और शायद उसे मालदेव के प्रस्ताव पर भी पूरा भरोसा नहीं था अतः वह सिंध में ही टक्करें मारता रहा। लेकिन हर दिशा में निराश हो जाने के पश्चात् ठीक एक वर्ष बाद उसे मालदेव का ध्यान आया और 6 मई, 1542 के दिन वह मारवाड़ की तरफ रवाना हो गया। मालदेव की राजधानी जोधपुर से काफी फासले पर कुल-ए-जोगी नामक स्थान पर उसने अपना पड़ाव डाला। मालदेव के पास तीन दूत (अतगाखाँ, समन्दर और रायमल सोनी) भेजे। समकालीन फारसी ग्रन्थों को पढ़ने से पता चलता है (जिनमें हुमायूँ के सेवक

जौहर द्वारा लिखित तजकिरात–उल–वाके पात और हूमायूं की वहन गुलवदन वेगम के द्वारा रचित "हूमायूंनामा" प्रमुख माने जाते है) कि जव हूमायूं मालदेव की सहायता चाहता था उस वक्त मालदेव ने वेरुखी से काम लिया और उसकी सहायता नहीं की। गुलवदन वेगम लिखती है कि सैनिक सहायता देने के स्थान पर मालदेव ने केवल वहुमूल्य भेटें हूमायूं के पास भिजवाईं और उसे वीकानेर देने का आश्वासन दिया। लेकिन जव मालदेव की सेवा में रहने वाले हूमायूं के भूतपूर्व पुस्तकाध्यक्ष (मुल्ला सुर्ख) ने जोधपुर से वादशाह को लिखकर भेजा कि मालदेव के इरादे ठीक नहीं है तो तुरन्त हूमायूं मारवाड छोड़कर वापस सिंध की तरफ चला गया। गुलवदन वेगम और जौहर ने जिस रूप में हूमायूं की मारवाड़ यात्रा का वर्णन किया है उसे पढ़ने से यह स्पष्ट रूप से जाहिर होता है कि मालदेव ने हूमायूं के पास स्वयं निमंत्रण भेजकर उसकी सहायता नहीं दी, यह उसकी गद्दारी थी। वापस लौटते समय जैसलमेर के शासक मालदेव की वजह से हूमायूं को काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। जौहर के अनुवादक Stewart ने जैसलमेर के मालदेव को मारवाड़ के मालदेव के साथ confuse कर दिया जिसका दुष्परिणाम यह निकला कि आधुनिक सभी इतिहासकारों ने मालदेव पर धोखेवाजी का आरोप लगाया है।

"मारवाड़ एवं मुगल सम्राट्" नामक अनुसंधान ग्रन्थ में इस प्रश्न पर पूर्ण रूप से खोज की गई है। इस ग्रन्थ के लेखक ने मालदेव के इरादों का भी जिक्र किया है कि जिनको ध्यान में रखकर उसने 1541 में हूमायूं को मारवाड़ में आने का निमन्त्रण दिया था। इसमें कोई सन्देह नहीं है (जैसा कि सभी आधुनिक इतिहासकार मानते हैं) कि मालदेव एक आकांक्षावादी शासक था जो सोलहवीं शताब्दी में मारवाड़ को वही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कराना चाहता था जो मेवाड़ को राणासांगा के शासन-काल में प्राप्त हो चुका था। इसके अलावा मालदेव यह भी जानता था कि उसके और शेरशाह के वीच एक न एक दिन युद्ध होना अनिवार्य है। अत: जव उसने देखा कि उसके द्वारा पदच्युत किये गये वीकानेकर और मेड़ता के शासक (क्रमश: कल्याण और वीरमदेव) शेरशाह के पास सहायता के लिए चले गये हैं तो मालदेव भी हूमायूं को दिल्ली की गद्दी का वास्तविक दावेदार समझता था। डा० कानूनगो का यह कथन वहुत हद तक सत्य प्रतीत होता है कि "Maldeo wanted to use Humayun as a pawn in the game of diplomacy that he hoped to play against Shershah."। लेकिन सवसे महत्वपूर्ण वात यह है जिसे आधुनिक सभी इतिहासकारों ने (Dr. S. K. Banerjee, Dr. K. R. Kanungo, Iswari Prasad, Dr. A. L. Srivastava & Dr. R. P. Tripathi) स्पष्ट नहीं नही किया है कि मालदेव ने 1541 में जव हूमायूं के पास निमन्त्रण भेजा था उस समय राजनैतिक परिस्थिति अनुकूल थी। शेरशाह स्वयं वंगाल की तरफ गया था। उसकी सेना गक्खरों के विरुद्ध युद्ध करने में व्यस्त थी। मालवा के जमींदार अव भी वगावत पर तुले हुए थे और ग्वालियर में शेरशाह का सेनानायक शुजातखां युद्ध-

रत था। यदि उस समय हूमायू सिंध मे अपनी शक्ति नष्ट करने के बजाय मारवाड आ जाता तो मालदेव अपने वायदे के मुताबिक अवश्य मदद करता। लेकिन निमंत्रण भेजने के एक साल बाद जब हूमायू मालदेव की सहायता चाहता था उस समय परिस्थितियां बदल चुकी थी। शेरशाह बगाल विजय करके लौट आया था। ग्वालियर उसके अधिकार मे आ चुका था और यदि तवकाते अकबरी का वर्णन सही है तो जिस समय हूमायू मालदेव के राज्य मे था ठीक उसी समय शेरशाह की सेना ने मालदेव की राजधानी जोधपुर से सिर्फ 80 मील दूर नागौर पर हमला किया था। इसके अलावा 1542 में जब हूमायूँ मारवाड आया उस समय उसकी शक्ति भी क्षीण हो चुकी थी। जौहर और गुलबदन के अनुसार उस समय हूमायूँ के साथ मुश्किल से 300 साथी थे। ऐसी परिस्थिति मे यदि मालदेव ने हूमायू को कोई सक्रिय मदद नहीं दी तो इसे उसकी Treachery कहकर नही पुकारा जा सकता। यदि मालदेव के इरादे नेक नहीं होते तो वह हूमायू के पास मारवाड पहुँचने पर क्यो बहुमूल्य भेटें भिजवाता अथवा उसे बीकानेर देने को क्यों भेजता? (देखिये गुलबदन बेगम का हूमायूँनामा) इसके अलावा मालदेव हूमायूँ को बंदी बनाकर शेरशाह के हवाले भी कर सकता था लेकिन उसने ऐसा नहीं किया बल्कि अमनचैन के साथ हूमायूँ को मारवाड से चले जाने दिया। यह भी हो सकता है जैसा कि वीर विनोद का लेखक लिखता है कि जब हूमायू के साथियों ने मालदेव की सीमा मे गाय काट दी तो राजपूत सरदारो की नाराजगी के कारण मालदेव को हूमायू के प्रति Cold नीति अपनानी पड़ी। कहने का तात्पर्य यह है कि हूमायू और मालदेव के सम्बन्धो का अध्ययन और वर्णन करते समय मालदेव को धोखेबाज समझना अथवा उस पर दगाबाजी का आरोप लगाना ऐतिहासिक सत्य[1] नही है।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि मालदेव न निर्वासित मुगल सम्राट को किसी भी प्रकार की मनोवाछित सहायता प्रदान नही की अत. उसे मालदेव की सीमाओ से बाहर चला जाना पडा। हूमायू के चले जाने के लगभग 18 महीने बाद शेरशाह ने मालदेव पर आक्रमण करने की योजना बनाई।

शेरशाह और मालदेव

यद्यपि कुछ आधुनिक इतिहासकार यह समझते हैं कि हूमायू की मारवाड यात्रा और शेरशाह के अभियान मे किसी प्रकार का सम्बन्ध नही है, लेकिन यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि हूमॉयू की मारवाड यात्रा के पश्चात् मालदेव पर शेरशाह की कड़ी निगाह थी। इसका प्रमाण यह है कि जब हूमायू मालदेव की राजधानी जोधपुर से कुछ फासले पर कुल एन्जोगी नामक स्थान पर ठहरा हुआ था उसी वक्त शेरशाह ने मालदेव के पास एक दूत भेज कर कहलाया था कि वह उसे बन्दी बनाकर उसके सुपर्द कर दे।

---

1. See Marwar and the Mughal F... Page 23 to 27.

इसी समय शेरशाह की सेनाएँ नागौर तक आ गई थीं। नागौर जोधपुर से सिर्फ 80 मील के फासले पर है। लेकिन शेरशाह ने जब तक रायसीन के शासक पूरणमल तोमर को पराजित नहीं कर दिया तब तक मारवाड़ का मोर्चा नहीं खोला। रायसीन की विजय के पश्चात् जब शेरशाह ने अपने अमीरों की गोष्ठी बुनाई तब उन लोगों ने सुल्तान को दक्षिण विजय का परामर्श दिया परन्तु शेरशाह ने उन्हें बताया कि मारवाड़ के शासक माल्देव को पहले पराजित करना आवश्यक है क्योंकि उसने न केवल नागौर और अजमेर तक ही अपने राज्य की सीमाओं को बढ़ा लिया है; अपितु मुसलमानों को तंग भी कर रहा है। अतः काफिर को सजा देने के लिए शेरशाह ने मारवाड़ पर आक्रमण करने का फैसला किया। सौभाग्य से इसी समय मेड़ता का निर्वाचित शासक वीरमदेव और बीकानेर के निर्वाचित शासक कल्याणमल का मन्त्री नगराज शेरशाह के पास पहुंचे और उन लोगों ने सुल्तान की अपने शत्रु माल्देव के विरुद्ध मदद चाही। शेरशाह के लिए माल्देव को पराजित करना राजनैतिक दृष्टि से भी आवश्यक था क्योंकि उसके राज्य की सीमाएँ दिल्ली से केवल 50 मील दूर तक फैल चुकी थीं। माल्देव ने शेरशाह की इच्छा का उल्लंघन करके हुमांयू को बन्दी नहीं बनाया। इससे शेरशाह असन्तुष्ट हो गया।

मारवाड़ पर आक्रमण करने के पर्याप्त कारण होते हुए भी शेरशाह माल्देव जैसे शक्तिशाली राजा पर एकाएक आक्रमण नहीं करना चाहता था। उसे पता था कि माल्देव की सेना में 50,000 घुड़सवार सैनिक थे अतएव शेरशाह ने बयाना, सांगानेर और अजमेर का सीधा मार्ग नहीं अपना कर आगरा से दिल्ली, दिल्ली से नारनोल, वहां से फतहपुर (शेखावाटी) और फिर रेत में हो कर डीडवाना का मार्ग अपनाया। डीडवाना में शेरशाह को माल्देव के सेनापति कूंपा के साथ युद्ध लड़ना पड़ा। डीडवाना से शेरशाह परवतसर, बांदर-सीन्दरी होता हुआ सुमेल की तरफ चला गया। उसने जान-बूझकर अजमेर visit नहीं किया क्योंकि उसे पता था कि अजमेर में माल्देव का जबरदस्त मोर्चा था। इस समय शेरशाह सीधा जोधपुर भी जा सकता था लेकिन उसने जानबूझकर रेतीले प्रदेश मे आगे बढ़ना ठीक नहीं समझा। यदि शेरशाह ऐसा करता तो सम्भव है कि उसका आगरा-दिल्ली का मार्ग माल्देव के द्वारा बन्द कर दिया जाता। अतः वह अजमेर से 28 मील दूर दक्षिण-पश्चिम दिशा में बाबरा नामक स्थान तक पहुंच कर ठहर गया। इसी बीच में माल्देव भी जोधपुर की तरफ पीछे हटा और शेरशाह से केवल 12 मील के फासले पर गिर्री नामक स्थान पर पहुंच कर ठहर गया। बाबरा और गिर्री के बीच में सुमेल नामक खारे पानी की बरसाती नदी है। यह स्थान मोहनपुरा रेलवे स्टेशन से केवल 2 मील दूर है। इसी मैदान में शेरशाह और माल्देव की सेनाओं के बीच 5 जनवरी 1544 के दिन युद्ध हुआ।

शेरशाह बाबरा से आगे बढ़ना नहीं चाहता था क्योंकि रेतीले प्रदेश में उसकी सेना को रसद नहीं मिल रही थीं। शेरशाह अपनी सेना की सुरक्षा के लिए पड़ाव के

चारो ओर खाइयाँ खुदवा देता था और जहाँ खाइयाँ खोदना सम्भव नहीं था वहाँ बोरियों में रेत भरवा कर उसकी प्राचीर तैयार करवाता था। इतनी कठिनाइयों को बर्दाश्त करने के बाद भी शेरशाह की मालदेव पर आक्रमण करने की हिम्मत नहीं हुई। अत उसने एक युक्ति सोची। मालदेव के सरदारों की तरफ से फर्जी पत्र शेरशाह के नाम लिखवाये गए और वे पत्र मालदेव के डेरे के पास डलवा दिए गए। इसी समय वीरम ने मालदेव को सूचित किया कि उसके सरदार शेरशाह से मिल गए हैं। वीरम का यह कृत्य उस कहावत को चरितार्थ करता है कि "चोरों से बड़े चोरी कर और साहूकार से कह कि होशियार रहना। मालदेव ने बिना कुछ सोचे विचारे 4 जनवरी 1544 की रात्रि में भाग निकलने का निश्चय कर लिया। 5 जनवरी की सुबह शेरशाह को मालूम पड़ा कि मालदेव अपनी अधिकांश सेना के साथ भाग चुका है। उसकी सेना के बचे हुए 12 000 सैनिकों के साथ शेरशाह का युद्ध हुआ। मुन्तखब उल-तवारीख का लेखक अब्दुल कादिर बदायूनी लिखता है कि 'राजपूत सैनिक अश्वारोहियों पर टूट पड़े। वे तलवारों के द्वारा लड़ने के लिए अपने घोड़ों से उतर पड़े। शेरशाह ने इन राजपूतों पर अपने हाथी झोंक दिए और तोप तथा तीरों से अपने आक्रमण का समर्थन किया। सभी राजपूत वीरता से लड़ते लड़ते मारे गए।'[1] इसी समय जब शेरशाह मुश्किल में था उस वक्त जलालखाँ जलवानी के नेतृत्व में कुमक शेरशाह की मदद के लिए आ गई। बड़ी कठिनाई से शेरशाह विजय प्राप्त करने में सफल हुआ। जब उसे विजय का समाचार सुनाया गया तो कोई खास खुशी नहीं हुई और उसने कहा, 'एक मुट्ठी बाजरे के खातिर मैंने बादशाहत खोदी होती"। शेरशाह के यह इतिहास–प्रसिद्ध शब्द प्रकट करते हैं कि विजय के उपरान्त भी शेरशाह को कोई खास लाभ नहीं हुआ था। लेकिन अगर वह हार जाता तो दिल्ली का राज्य उसके हाथ से निकल जाता। अत दिल्ली सल्तनत के इतिहास में सुमेल का युद्ध एक निर्णायक युद्ध माना जाना चाहिए।

युद्ध समाप्त होने के बाद शेरशाह ने अपनी सेना को मालदेव का पीछा करने के लिए जोधपुर भेजा और वह स्वयं अजमेर होता हुआ मेड़ता तक आया। मेड़ता को अधिकार में करने के बाद वीरमदेव को वापस लौटा दिया। मेड़ता से नागौर आया। वहाँ भी मालदेव के शासन का अन्त करने के बाद वह जोधपुर गया। मालदेव इससे पूर्व ही जोधपुर खाली करके पिपलोद के पहाड़ों में जा चुका था। अत जनवरी 1544 के अंत तक जोधपुर पर शेरशाह का सुगमता से अधिकार हो गया। शेरशाह ने जोधपुर का प्रबन्ध ख्वाजखाँ व ईसाखाँ नियाजी के हवाले कर दिया और स्वयं चित्तौड़ की तरफ बढ़ गया। जोधपुर पर शेरशाह का 524 दिन तक अधिकार रहा। तत्पश्चात मालदेव ने पुन. जोधपुर को अधिकार में कर लिया।[2]

जैसे ही शेरशाह की मृत्यु की सूचना मालदेव को मिली, वह सिवाना के पहाड़ी

1 See Marwar and the Mughal Emperors P 27-35

दुर्ग से निकला और उसने जोधपुर पर अधिकार कर लिया। शेरशाह ने भांगेसर में जो थाना कायम किया था उसे भी समाप्त कर दिया। इस प्रकार शेरशाह की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों की निर्बल स्थिति का मालदेव ने पूरा-पूरा फायदा उठाया।

शेरशाह की मृत्यु के बाद मालदेव ने पुनः मारवाड़ पर अधिकार कर लिया।

जोधपुर को पुनः अधिकार में कर लेने के बाद मालदेव ने 1550 में कान्हा से पोकरण छीन लिया, फलौदी पर आक्रमण करने के लिए सेना भेजी और जैसलमेर पर आक्रमण करने के लिए 1552 में एक सेना पंचोली नैतसी के नेतृत्व में भेजी। जैसलमेर के शासक ने मालदेव का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। बीरमदेव की मृत्यु के बाद मेड़ता पर भी मालदेव ने अपना अधिकार कर लिया। लेकिन बीरम के पुत्र जयमल को बीकानेर के राव कल्याणमल ने सहायता दी और मेड़ता माल्देव के हाथ से निकल गया। इसके बाद माल्देव ने कोई आक्रमणात्मक युद्ध नहीं किया।

1555 में निर्वासित मुगल बादशाह हुमायूं ने पुनः हिन्दुस्तान का राज्य सूर-वंश के शासक से छीन लिया। अतः शेरशाह का सेनानायक हाजीखां पठान मेवात से अजमेर की तरफ बढा और उसने अजमेर तथा नागौर पर अधिकार कर लिया जो इस वक्त मालदेव के अधिकार में थे। अतः माल्देव को हाजीखां पठान के विरुद्ध रक्षात्मक युद्ध लड़ना पड़ा। इस युद्ध में माल्देव के खिलाफ बीकानेर के कल्याणमल और मेवाड़ के राणा उदयसिंह ने हाजीखां की सहायतार्थ सेनायें भेजी थीं। अतः मारवाड़ की सेना को पीछे हटना पड़ा। लेकिन शीघ्र ही हाजीखाँ की दासी रंगराय पातर के विषय पर पठान और राणा उदयसिंह में मनमुटाव हो गया। जब राणा उदयसिंह ने हाजीखां पर सेनाएँ भेजीं तो हाजीखां ने माल्देव से सहायता चाही। हाजीखां ने राणा उदयसिंह के साथ हरमाड़ा के स्थान पर 24 जनवरी 1557 के दिन युद्ध लड़ा। इस युद्ध में राणा उदयसिंह और उसके साथी मेड़ता के जयमल को पीछे हटना पड़ा। हरमाडा के युद्ध में हाजीखां का साथ देकर माल्देव ने मेडता को पुनः छीन लिया।

मेडता का निर्वासित शासक जयमल अजमेर के मुगल सूबेदार मिर्जा शरफुद्दीन के पास सहायतार्थ पहुंचा। मेड़ता पर आक्रमण हुआ और माल्देव को इस किले से हाथ धोना पड़ा।

इस पराजय के थोड़े समय बाद ही माल्देव का देहान्त हो गया (7 नवम्बर 1562 A. D.)। मालदेव मध्यकालीन राजस्थान के शक्तिशाली महान शासकों में से एक था। उसके शासन-काल में मारवाड़ राज्य की सीमायें अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थीं। लेकिन मालदेव ने विस्तारवादी कार्यक्रम अपनाकर बीकानेर और मेड़ता के शासकों के साथ वैर मोल ले लिया था जिसके कारण 1544 में उसे राज्य से हाथ धोना पडा और 1562 में उसी वजह से मुगलों का मारवाड राज्य में प्रवेश

[ग]या । फिर भी वह अपने युग का एक माना हुआ सेनानायक था जिसने अपनी सैनिक शक्ति के बल पर मारवाड को उन्नति की चर्म सीमा पर पहुँचा दिया ।

BIBLIOGRAPHY

1. Tod : Annals and Antiquities of Rajasthan, vol. II.
2. V S. Bhargava *Marwar and the Mughal Emperors.*
3. B N Reu . Glories and Glorians Rathors.
4. Delhi Sultanate (Bhrtiya Vidya Bhawan, Bombay).
5. ओझा . जोधपुर राज्य का इतिहास, प्रथम खण्ड ।
6. रेऊ : मारवाड का इतिहास, प्रथम भाग ।
7. आसोपा मारवाड का मूल इतिहास ।

APPENDIX

अलाउद्दीन खिलजी की राजस्थान विजय

(Alauddin's Conquest of Rajasthan)

रोमन साम्राज्य के पतन का इतिहास लिखने वाले सुप्रसिद्ध लेखक एडवर्ड गिबन ने अपनी पुस्तक में लिखा है "जब तक मानव जाति अपने लाभ पहुचाने वालो की अपेक्षा अपने विनाशको की अधिक उदार प्रशसा करेगी, सैनिक यश की तृष्णा सदैव ही अत्यन्त श्रेष्ठ चरित्रो का दुर्गुण रहेगी" । कवियो और इतिहासकारो द्वारा बहुचर्चित सिकन्दर की प्रशसा ने अनेक महत्वाकाक्षी शासको की कल्पना प्रज्वलित की है और अलाउद्दीन खिलजी भी उनमे से एक है जो केवल विश्व विजय का स्वप्न ही नहीं देखा करता था बल्कि अपने सिक्को तथा सार्वजनिक प्रार्थनाओ में अपने आपको 'सिकदर सानी' कहकर पुकारने मे गर्व करता था ।

अलाउद्दीन स्वभाव से एक महत्वाकाक्षी शासक था । वह अपनी शक्ति को सुसगठित करने के साथ-साथ सारे देश मे मुस्लिम शासन को स्थापित करके स्थायी बनाना चाहता था । इसलिए उसके लिए गुजरात, राजपूताना, दक्षिण और बंगाल को विजय करना आवश्यक था । यह सब प्रदेश अलाउद्दीन के राज्यारोहण के समय मुस्लिम सल्तनत के आधिपत्य की परिधि से बाहर थे । Dr. K S. Lal लिखते हैं *कि यह समस्या "एक कसौटी है जिसके द्वारा दिल्ली के प्रत्येक शासक का मूल्याकन करना चाहिए ।"*

जिस समय अलाउद्दीन दिल्ली पर शासन कर रहा था उस वक्त राजपुताना मे 6 प्रमुख राजपूत राज्य थे जिनम से एक राज्य चित्तौड का था जिसपर गुहिलोत वश के राजपूत शासन कर रहे थे । जालौर, सिवाना और रणथम्भोर के राज्य चौहान राजपूतो के आधीन थे । मन्डोर पर राठौड राजपूतों का शासन था और जैसलमेर उस समय भाटी राजपूतों के अधीन था । सयोग की बात है कि उपरोक्त राज्यो के शासक ऐसे दुर्गों मे रह रहे थे जिनको स्थायी रूप से अधिकार मे करना किसी भी शासक के लिए सुगम कार्य नही था । यही कारण है कि ... [illegible] के

इतिहास में प्रत्येक नवीन वंश के उदय के साथ ही विजय कार्य को पुनः दोहराना पड़ता था।

1299 का वर्ष अलाउद्दीन के लिए अत्याधिक भाग्यशाली सिद्ध हुआ। इस वर्ष सुल्तान को हर स्थान पर विजय-श्री प्राप्त हुई। गुजरात-विजय करने के लिए उलुगखां और नुसरतखां के नेतृत्व में सेनायें भेजी गई और उन्हें पूर्ण से सफलता प्राप्त हुई। वापसी पर सेना राजस्थान के मार्ग से लौटी। 'तारीख़-ए-मुहम्मदशाही' का लेखक लिखता है कि सैनिकों ने जालौर के निकट विद्रोह किया था। इस प्रकार अलाई सेनाओं का 1299 में ही राजपुताना के साथ सम्पर्क स्थापित हो चुका था। गुजरात के अभियान के समय ही, जैसा कि 'तारीख-ए-मासूमी' के विवरण से प्रकट होता है, अलाई सेनाओं ने जैसलमेर को भी आक्रान्त किया था। लेकिन जैसलमेर का अभियान एक छापा मात्र था।

राजपूताना में रणथम्भोर पहली रियासत थी जिसे अलाउद्दीन ने राजपूतों के साथ शक्ति आजमाने के लिए चुना था। इसके अनेक कारण थे—1. यह दिल्ली के निकट था। 2. इसे अधिकृत करने में पूर्ववर्ती सुल्तान जलालुद्दीन असफल रहा था। 3. रणथम्भोर का किला दुर्भेद्यता के लिए प्रसिद्ध था। 4. जालौर के निकट जिन सैनिकों ने विद्रोह किया था उनके नेता मुहम्मदशाह और उसके भाई केहब्रू को रणथम्भोर के राणा ने शरण प्रदान कर दी थी।

रणथम्भोर की विजय

अतः 1300 A.D. में अलाउद्दीन ने अपने दो सेनानायकों उलगुखां और नुसरतखां को रणथम्भोर पर आक्रमण करने का आदेश दिया। बिना किसी प्रतिरोध के अलाई सेनाओं ने (झैन) पर अधिकार कर लिया और रणथम्भोर के शासक हम्मीर के पास सदेश भेजा कि यदि वह मुहम्मदशाह और उसके भाई को उन्हें सौंप दे अथवा मौत के घाट उतार दे तो शाही सेनायें वापस दिल्ली लौट जायेंगी। हम्मीर ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। अतः उलगुखां ने किले का घेरा डाल दिया। खाइयां खोदी गई और 'गरगच' निर्मित किए गए। हम्मीर के पास एक अच्छी सुसंगठित सेना थी जिसकी सख्या देते हुए, समकालीन फारसी इतिहासकार अमीर खुसरो ने लिखा है कि "राणा के पास 10,000 वेगवान घोड़े थे, राजपूत लोग किले में से अनवरत रूप से प्रक्षेपास्त्र फेंकते थे जिनमें से एक प्रक्षेपास्त्र ने नुसरतखां को घायल कर दिया और वह मर गया। शोकग्रस्त मुस्लिम सेना पर आक्रमण करने के लिए राजपूत लोग किले से बाहर निकल पड़े जिसका परिणाम यह निकला कि उलुगखां को पीछे हटना पड़ा। जब यह समाचार सुल्तान तक पहुँचा तो उसने स्वयं युद्ध-स्थल की ओर प्रस्थान करने का निश्चय किया। मार्ग में सुल्तान को अनेक कठिनाइयों का सामना अवश्य करना पड़ा। उसकी हत्या करने का भी असफल प्रयत्न किया गया फिर भी अलाउद्दीन

ने हठात् से किले का घेरा डालने का आदेश दिया। किले की दीवार तक पहुँचना असम्भव जानकर सैनिकों ने खाई के एक भाग में रेत और पत्थर से भरा। थैलों से भरने में सारा ध्यान केन्द्रित करके वे लोग किले की दीवार तक पहुँच गए। किन्तु हिन्दू लोग आग और प्रक्षेपास्त्र फेंकते रहे और इस प्रकार दो तीन हफ्ते तक मुसलमानों को किले के बुर्जों से दूर रखने में सफल हुए लेकिन जब किले में खाद्य सामग्री की कमी हो गई और स्थिति इतनी अधिक विकट हो गई कि चावल का एक दाना सोने के दो दानों के बदले में खरीदा जाने लगा तो विवश होकर हम्मीर ने किले में जौहर की आज्ञा दी और राजपूत परम्परा के अनुसार हम्मीर और उसके साथी केसरिया वस्त्र धारण करके शत्रुओं का अन्तिम मुकाबला करने के लिए किले से बाहर निकल पड़े। भयंकर युद्ध हुआ और राणा हम्मीर अपने साथियों के साथ युद्ध भूमि में धराशायी हो गए। इस प्रकार 11 जौलाई 1301 के दिन अलाउद्दीन का रणथम्भौर पर अधिकार हुआ।

रणथम्भौर के समर्पण के पश्चात् मूर्तिभंजन और लूट का चिर-परिचित दृश्य देखने में आया। अमीर खुसरो लिखता है कि 'नगर में अनेक मंदिर और भवन नष्ट कर दिए गए और कुफ्र का गढ़ इस्लाम का सदन हो गया।''

राणा हम्मीर के वीरतापूर्ण युद्ध और मृत्यु का कारण कुछ लेखक उसके हठ को बताते हैं। किन्तु यह नहीं भूल जाना चाहिए कि हम्मीर ने शरणागतों की रक्षा के हेतु राजपूत परम्परा के अनुसार अपने प्राण न्योछावर किये थे जो सर्वथा उपयुक्त था।

रणथम्भौर की सफलता ने आगे की विजयों को प्रोत्साहित किया। सुल्तान ने अपनी सेना तो बंगाल विजय करने के लिए भेजी और स्वयं चित्तौड़ की विजय के लिए चल पड़ा (28 जनवरी 1303)। अलाउद्दीन के आक्रमण के समय चित्तौड़ पर राणा रतनसिंह शासन कर रहा था जो 1301 में ही सिंहासनासीन हुआ था। अमीर खुसरो लिखता है कि 'चित्तौड़ का राणा सारे हिन्दू राजाओं में श्रेष्ठ था और हिन्दुस्तान के सब शासक उसकी श्रेष्ठता मानते थे, इसलिए चित्तौड़ को विजय करना अलाउद्दीन के लिए आवश्यक था। अलाउद्दीन के चित्तौड़ अभियान के साथ एक रोमांचकारी कथा जुड़ी हुई है। किंवदंतियों के अनुसार अलाउद्दीन ने राणा रतनसिंह की सुन्दर स्त्री पद्मिनी को प्राप्त करने की अभिलाषा से चित्तौड़ पर आक्रमण किया था लेकिन यह एक विवादस्पद प्रश्न है। चित्तौड़ का किला मालवा और दक्षिण के मार्ग में पड़ता था। इसे विजय किये बगैर अलाउद्दीन समस्त भारत की विजय करने की कल्पना साकार नहीं कर सकता था।

चित्तौड़ की विजय

चित्तौड़ का युद्ध भीषण था। दुर्ग के अन्तिम समर्पण से पूर्व (26 8 1303) महिलाओं ने जौहर किया। जब तक राजपूतों ने खुले युद्ध के पश्चात् समर्पण नहीं

कर दिया तब तक पाशीब निर्मित करके किले पर चढ़ने के सभी प्रयत्न असफल रहे। अलाउद्दीन ने चित्तौड़ के किले पर अपना अधिकार कर लिया और उसका प्रबन्ध अपने पुत्र खिज्रखां को सुपुर्द कर दिया।

1305 में अलाउद्दीन की सेनाओं ने मालवा में प्रवेश किया। मालवा का प्रसिद्ध दुर्ग मान्डू 23 नवम्बर 1305 के दिन अलाउद्दीन के अधिकार में आगया था। मालवा की विजय के पश्चात सुल्तान ने मलिक काफूर को दक्षिण भेजा और स्वयं मारवाड़ में स्थित सिवाना के दुर्ग पर अधिकार करने के लिए चल पड़ा। (2 जुलाई 1302) खजाइन-उल-फुतूह' का लेखक अमीर खुसरो लिखता है कि सिवाना के शासक परमार सीतलदेव ने रणथम्भोर और चित्तौड़ के किलों को खिलजी युद्ध पति के आघातों के सम्मुख धाराशाही होते देखा था किन्तु फिर भी उसने सुल्तान के सम्मुख समर्पण करने से इन्कार कर दिया। सीतलदेव एक शक्तिशाली और कर्मठ शासक था जिसने युद्ध में अनेक मुगलों को पराजित किया था, अनेक राजपूत राजा और राव उसका आधिपत्य मानते थे। अतः अलाउद्दीन सीतलदेव को दण्डित करने के उद्देश्य से 1302 में सिवाना पहुँच गया। शाही सेना ने किले का घेरा डालने के पश्चात् अनेक युक्तियों से उसे अधिकार में करने के प्रयत्न किये लेकिन सब प्रयत्न निरर्थक सिद्ध हुए। महीनों की कोशिश के बादशाही सेना दुर्ग की बुर्जियों को लाँघने में सफल हुई। सीतलदेव से जालौर भागने का प्रयत्न किया लेकिन वह सेना की एक छुपी हुई टुकड़ी के चक्कर में फंस गया और 10 अक्टूबर 1302 A. D. के दिन मारा गया। सिवाना पर अलाउद्दीन का अधिकार हो गया और वहां का प्रशासन उसने कमालुद्दीन गुर्ग को सौंप दिया। सुल्तान स्वयं दिल्ली लौट गया।

मारवाड़ की विजय-सिवाना

1308 में जब शाही सेना अलापखां और उसके साथी ऐनुल्युक मुल्तानी के नेतृत्व मे मालवा से लौट रही थी तब वे लोग जालौर पहुचे। अतः जालौर के शासक कान्हड़देव को भी खिलजी सुल्तान के सम्मुख 1311 में समर्पण करना पड़ा। इस विजय की समृति रखने के लिए अलाउद्दीन ने जालौर मे सोंगिर के प्रसिद्ध किले में एक मसजिद का निर्माण किया जो अभी भी विद्यमान है।

जालौर

जालौर के समर्पण के साथ ही राजपूताना की सब प्रमुख रियासतों को एक के पश्चात् एक अधिकार में कर लिया। कर्नल टॉड लिखता है कि जैसलमेर, रणथम्भौर चित्तौड़, सिवाना और जालौर तथा उनसे लगी हुई सभी रियासतें-मन्डोर, बूंदी इत्यादि आक्रांत की जा चुकी थीं। आधुनिक जोधपुर राज्य के पांडुआ नामक स्थान से वि० सं० 1358 का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है जिसमें जोगिनपुरा (दिल्ली) के अलावदी (अलाउद्दीन) को मारवाड़ का सत्तारूढ़ शासक बताया गया है लेकिन इस

समय मारवाड पर स्थायी रूप से अलाउद्दीन का आधिपत्य स्थापित हो गया था। यह कहना ऐतिहासिक नही है। राजपुताना मे अलाउद्दीन की विजय अल्पकालीन रही। देश प्रेम और सम्मान के लिए मर-मिटने वाले राजपूतो ने अलाउद्दीन के प्रतिपतियों के सम्मुख कभी स्थाई रूप से समर्पण नही किया। अपने खोये हुये प्रदेशों को पुन प्राप्त करने मे प्रयत्नशील राजपूतो ने रणथम्भोर-विजय के 6 माह पश्चात् जब उलगखा उसे छोड कर गया तो पुन. किला वापस ले लिया। खिज्रखां को अलाउद्दीन के जीवन-काल मे ही चित्तौड खाली करना पडा था। विजय के शीघ्र बाद ही जालोर भी स्वतन्त्र हो गया। स्पष्टत. राजपुताना पर अलाउद्दीन खिलजी का स्थायी रूप से अधिकार नही हो सका।

रणथम्भोर की विजय (1300 ई०) से लेकर जालोर के पतन (1311 ई०) तक अलाउद्दीन की सेनाओं ने राजस्थान मे अनवरत रूप से युद्ध किए। राजस्थान के प्रत्येक किले के सामने रक्त रजित युद्ध हुए। कभी कभी तो एक ही दुर्ग के सम्मुख वर्षो तक सघर्ष होता रहा और उसका अन्त जनसख्या के सामान्य संहार और जौहर की अग्नि के भयकर विनाश मे हुआ। इसका कारण यह था कि राजपूतो मे एकता की भावना नहीं थी। एकाकी दुर्गों ने अलाउद्दीन का प्रबल प्रतिरोध अवश्य किया। राजपूत शौर्य ने मुसलमानो को भी हठात् स्तम्भित कर दिया लेकिन वह लोग सगठित नहीं हो सके और इसलिए अलाउद्दीन को इन लागो को पराजित करने मे सफलता प्राप्त हुई। यदि सिवाना का सीतलदेव और जालोर का कान्हडदेव सगठित हो जाते तो कदाचित् दोनो राज्य, जो एक दूसरे से मुश्किल से 50 मील की दूरी पर स्थित थे, पतन से बच जाते।

राजपूतों की पराजय के कारण

एकता की भावना के अभाव के अतिरिक्त राजपूतों के पतन का एक प्रमुख कारण उनके किलो की स्थिति थी। राजस्थान के सभी किले सामान्यत पहाडो के शिखर पर बने हुए हैं। इसमे तो सदेह नही कि पहाडो की चट्टानो पर चढकर छापा मारना कठिन था, लेकिन जब कभी भी किले का घेरा पडता था तब नीचे मैदान मे तथा दुर्ग मे रहने वाले गेरिसन का मैदानी भाग से सम्बन्ध छूट जाता था। इसलिए अक्सर दुर्ग मे रसद की कमी हो जाती थी। यदि रसद की कमी नही पडती तो हम्मीर को समर्पण नही करना पडता।

इसके अलावा किलो की आन्तरिक स्थिति भी सर्वथा सन्तोषप्रद नही होती थी। बहुत से लोग तो किले के नीचे मैदान मे ही रह जाते थे जिनमे से कभी भी कोई व्यक्ति आक्रमणकारी के हाथों मे खेल कर भेदिया बन जाता था। किलो मे सफाई वगैरह का भी कोई विशेष ध्यान नहीं रखा जाता था। इसलिए छून की भयकर बीमारी फैलने की भी आशका रहती थी। इसके अतिरिक्त जाति-विचार और रूढिवादिता का स्थान सर्वोच्च था। अन्न के भडारो मे हड्डी निकल कर खाद्य सामग्री

को शत्रु अपवित्र करवा देता था। फलस्वरूप किले के गेरिसनों को आत्म-समर्पण करना पड़ता था।

राजपूतों की युद्ध-प्रणाली भी पुरातन होने के साथ-साथ दोषपूर्ण थी। दिल्ली के सुल्तानों ने मध्य-एशिया के मंगोल आक्रमणकारियों से अर्रादा, गरगच और मंजनीक जैसे युद्ध-शस्त्रों के विषय में ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उनका मुकाबला राजपूतों की हस्ति सेना कैसे कर सकती थी।

राजपूत राजाओं के साधन भी सीमित थे। उनके अधीन वीरान देश था जहां अनाज और पानी की सदैव कमी रहती थी जब कि इसके विपरीत मुसलमानों के अधीन पंजाब, अवध और गुजरात जैसे सर्वाधिक उपजाऊ प्रदेश थे।

राजपूत केवल मरना जानता है। वह स्वभाव से छल और कपट से घृणा करता है। लेकिन तुर्क लोगों का साहस पहला और छल दूसरा स्वभाव है, वह मृत्यु को महानतम दुर्भाग्य मानते हैं। इस संसार में रह कर विजय के फल का रसास्वादन करना उनका परम उद्देश्य है। इसलिए जहाँ राजपूत युद्ध में एकदम कूद पड़ता था वहां तुर्क अपने जोखिम का अनुमान लगा कर आगे बढ़ता था। राजपूत उन्मत्त हो कर लड़ता था, तुर्क युद्ध-कौशल से। राजपूत के पास कूटनीति का नाम नहीं था, किन्तु वह मुसलमानों की सफलता का राज थी। ऐसे अनेक कारण थे जिनकी वजह से राजपुताना के राजपूत शासक अलाउद्दीन की सेनाओं का सफलता के साथ सामना नही कर सके और अल्प समय के लिये उन सबको अलाउद्दीन के सम्मुख आत्म-समर्पण करना पड़ा।

BIBLIOGRPAHY

1. नैणसी की ख्यात (हिन्दी अनुवाद)
2. पद्मनाभ : कान्हड़दे प्रबन्ध
3. अमीर खुसरो : खजाइन-उल-फुतुह (अंग्रेजी अनुवाद)
4. Dr. K. S. Lal : History of the Khiljis.
5. Tod : Annals and Antiquities of Rajasthan.

9

आमेर का प्राचीन इतिहास

(Early History of Amber upto 1547 A D)

राजस्थान के उत्तर-पूर्व मे आमेर का भूतपूर्व कच्छवाहा राज्य था। यह 25°41' और 28° 34' उत्तर अक्षाश एव 74°41 'और 77°13' पूर्व देशान्तर मे बसा हुआ है। आमेर के उत्तर मे बीकानेर, लोहारू एव पटियाला के भूतपूर्व राज्य स्थित हैं। दक्षिण मे उदयपुर, कोटा, बूदी, टोंक तथा ग्वालियर के राज्य हैं। पूर्व में करौली, भरतपुर और अलवर तथा पश्चिम मे बीकानेर, जोधपुर एव किशनगढ़ के राज्य हैं। इस प्रकार उत्तर से दक्षिण तक इसकी लम्बाई 196 मील तथा चौडाई 140 मील है। 15601 वर्ग मील का भू-भाग 1950 से पहले कच्छवाहा राजाओ के अधिकार में था।

आमेर की भौगोलिक स्थिति का उसके इतिहास पर प्रभाव

शेखावाटी के रेतीले प्रदेश को छोड कर शेष भू भाग उपजाऊ है। राज्य में सर्वत्र पहाड़ पाए जाते हैं। इन पहाड़ो ने कच्छवाहों की राजधानी आमेर की रक्षा की है। पहाडों के अतिरिक्त मीठे पानी की दो नदियां—बनास और बानगंगा—भी हैं। पहाडो और नदियो के कारण आमेर को कभी पानी का अभाव अनुभव नहीं हुआ।

पहाड़ों से केवल लकडी ही प्राप्त नही होती अपितु शेर, चीता, सांभर, सूअर इत्यादि विभिन्न जातियां के जगली जानवर भी मिलते हैं जिनके कारण आमेर का राज्य शिकार के लिए काफी आकर्षक स्थान रहा था। राज्य में विभिन्न स्थानों मे तांबा, जस्ता, लोहा, अभरक इत्यादि खनिज पदार्थ भी प्राप्य हैं। इन चीजों ने आमेर की आर्थिक स्थिति को सुदृढ किया।

चूँकि आमेर मे पानी सुगमता से प्राप्त हो जाता है और भूमि उपजाऊ है, अत यह प्रदेश निवास-स्थान के लिए सर्वथा उपयोगी रहा है। यहाँ की जनसख्या 200 मनुष्य प्रति वर्ग मील रही और चूकि यह प्रदेश भारत की राजधानियों—आगरा एव दिल्ली—के निकट स्थित है और मध्यकाल मे गुजरात एवं मालवा के मार्ग मे पडता था, अत इस राज्य का इतिहास प्रभावित होता रहा जिसका विस्तृत वर्णन यथा-स्थान प्राप्त हो जाएगा।

आमेर के कच्छवाहा राज्य का सस्थापक सोढदेव माना जाता है जो नरवर से

ढूंढ़ के प्रदेश में आया था।[1] परम्परा के अनुसार सोढ़देव ग्वालियर के कच्छपघाट वंश का अन्तिम शासक था।[2] ग्वालियर शिलालेख के अनुसार कच्छपघाट वंश का अन्तिम राजा महीपाल 1104 A.D. में वहां शासन कर रहा था।[3] आमेर के राजाओं की जितनी भी पुरानी वंशावलियां उपलब्ध हैं उन सबमें ग्वालियर के अन्तिम कच्छपघाट शासक को आमेर के कछवाहा राजवंश का मूल पुरुष बतलाया गया है।[4] अतः यह मानना चाहिए कि कछवाहों का ढूंढ़ के प्रदेश में बारहवीं शताब्दी में आगमन हुआ।[5]

> आमेर के कछवाहा राजा ग्वालियर के कच्छपघाट वंश के हैं।

ढूंढ के प्रदेश में सोढदेव का प्रथम आगमन दौसा में हुआ था। उस समय दौसा में बड़गूजरों का शासन था। इनको विजयी करने के पश्चात् ही सोढ़देव तथा

---

1. देखिए नैणसी की ख्यात, जिल्द II, पृष्ठ 4

A descriptive catalogue of Bardic and Historical Mss. by Tessitory, Section I, Part I, P. 23.

—Tod : Annals and Antiquities of Rajasthan, vol. II, P. 280.

2. नैणसी जिल्द II, पृष्ठ 4; टॉड, जिल्द द्वितीय, पृष्ठ 280-81; आमेर की ख्यातें (स्वर्गीय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा संग्रह में)।

3. Bhandarkar : A list of inscriptions of Northern India. —(No. 169)

अतः टॉड का यह कथन सत्य नहीं है कि सोढदेव 967 A.D. में ढूंढ़ में आया था।

4. कतिपय शिलालेखों में (सांगानेर शिलालेख 1601 A.D., आदिनाथ शिलालेख, रेवासा शिलालेख 1604 A.D., चाटसू शिलालेख 1499 A.D. तथा बलवन शिलालेख 1288 A.D.) कच्छवाहों को कूर्म (Kurma) बतलाया गया है जिससे यह संदेह उत्पन्न हो सकता है कि कच्छपघाट और कूरमा आपस में सम्बन्धित नहीं थे। लेकिन ख्यातों और वंशावलियों में आमेर के कच्छवाह शासकों के लिए कच्छपघाट और कूरमा का प्रयोग पर्यायवाची शब्दों में किया गया है।

5. "The etymology of Dhoondhar is from a once celebrated sacrificial mount (d' hoond) on the wastern frontier, near Kalik Jobnair". —Tod, II, P. 280. Also see Annual Report of Rajputana Museum, Ajmer, for the year 1933-34; Archealogical Survey Report, vol. II, Page 25.

कछवाहों की आमेर से पहले क्रमश दौसा और रामगढ़ राजधानियाँ थीं

उसका पुत्र ढोलाराम उर्फ तेजकरण ढूढ़ड मे अपना राज्य स्थापित करने मे सफल हुए थे। तत्पश्चात् आधुनिक रामगढ़ को मीणाओ के हाथ से छीनकर ढोला ने अपनी नई राजधानी कायम की। ढोला के उत्तराधिकारी काकल ने सुसावत मीणाओ को पराजित करके आमेर पर अधिकार कर लिया।[1] काकल न ही कछवाहों के शासन को ढूढ़ड़ मे सुसगठित किया था।

पज्जून

काकल की चौथी पीढ़ी मे पज्जून हुआ है। यह सपालदक्ष के चौहान शासक पृथ्वीराज तृतीय का समकालीन और उसका सामन्त था। अत पृथ्वीराज की सेना मे रहकर गुजरात के सोलकियो और बुन्देलखण्ड के चन्देल शासको को पराजित किया। पृथ्वीराज के दरबारी कवि चन्द्रवरदाई ने लिखा है "पृथ्वीराज चौहान ने कई युद्ध लडे, उन युद्धो मे कई बहादुर सेनानायक उसके साथ थे लेकिन उन सब मे सर्वशक्तिशाली पज्जून था"[1] 1191 A D. मे कन्नौज की सेना का सामना करते हुए पज्जन मारा गया।

ढूढड मे कच्छवाहो का 1191 A D तक के विकास के इतिहास की दो विशेषतायें हैं। पहली विशेषता तो यह है कि कच्छवाहो का आमेर मे शासन किसी एक शासक के द्वारा स्थापित नही किया गया था। स्थापना और विकास का क्रम पज्जून की मृत्यु तक चलता रहा। दूसरी विशेषता यह है कि यह सोचना भी युक्तिसगत नहीं है कि 1526 से पहले आमेर का कच्छवाहा राजघराना राजस्थान में महत्वपूर्ण नही समझा जाता था।[2]

पज्जून की मृत्यु से लेकर राजा भारमल के सिंहासनारूढ होने तक का आमेर का इतिहास अन्धकारमय है क्योकि नैणसी और टॉड ने केवल शासको के नाम ही दिए है। लेकिन फिर भी इतना अवश्य ज्ञात होता है कि पज्जून के उत्तराधिकारी

---

1 आमेर से प्राप्त 954-55 A D का शिलालेख।

Bhandarkar A list of Inscriptions of Northern India, No 70,

2 "The royal house of Jaipur was no must roomgrowth of the imperial Mughal patronage, its princes were recognised far beyond the limits of their territory as "The bravest of the brave" among Rajput warriors centuries before Akbar ascended the throne of Delhi" —Sir J N Sarkar.

मलैसी ने राजवंशीय विवाह करके अपनी स्थिति को सुदृढ़ किया था।[1] तराइन की पराजय के पश्चात् चौहानों की एक शाखा ने रणथम्भोर में स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया था लेकिन रणथम्भोर के चौहानों के साथ आमेर के कच्छवाहों ने मधुर सम्बन्ध बनाये रखे। 1288 के लगभग जैत्रसिंह ने आमेर के शासक का कत्ल करके चौहानों और कच्छवाहों में वैर डाल दिया जिसका परिणाम यह निकला कि मेवाड़ के राणा कुम्भा ने आमेर और रणथम्भोर दोनों को ही अपने अधिपत्य में कर लिया।

कच्छवाहों के चौहानों के साथ सम्बन्ध

मलैसी की तीसरी पीढी में राजदेव हुआ जिसने आधुनिक आमेर को अपनी राजधानी बनाया। इसीने राजोला नामक तालाब बनवाया था और आमेर की पहाड़ी की तलहटी में एक गांव बसाया जो आज आमेर के नाम से प्रसिद्ध है। राजदेव की छठी पीढ़ी में चन्द्रसेन हुआ। चन्द्रसेन की चौहान रानी ने आमेर में महादेवजी का मन्दिर बनवाया था। इसकी पुत्रवधू अपूर्वदेवी ने लक्ष्मीनारायण मन्दिर बनवाया। चन्द्रसेन की 1503 A.D. में मृत्यु हुई थी।

आमेर का शिलान्यास

राजदेव और चन्द्रसेन की मृत्यु के बीच आमेर की गद्दी पर निर्बल शासक थे। अतः राणा कुम्भा ने अमरादरी (आमेर) को सुगमता से अपने अधिकार में कर लिया। लेकिन कुम्भा की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी उदय के शासनकाल में आमेर पुनः स्वतन्त्र हो गया। कुम्भा के पौत्र राणा सांगा के शासन-काल में आमेर का शासक चन्द्रसेन का पुत्र और उत्तराधिकारी पृथ्वीराज 'हरी-भक्त' था। कर्नल टॉड ने Annals of Mewar में लिखा है कि, 'आमेर का शासक राणा सांगा का सम्मान करता था।' इसका यह तात्पर्य नहीं है कि पृथ्वीराज ने राणा सांगा की आधीनता स्वीकार कर ली थी। चूंकि राणा सांगा एक प्रतिभाशाली शासक था और लगभग समस्त राजस्थान उसके अधिकार में था। अतः आमेर और मारवाड के शासकों के लिए उसका सम्मान करना आवश्यक था। यहां स्पष्ट करना जरूरी है कि राणा सांगा ने आमेर और मारवाड़ के राजाओं के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करके नाता जोड़ा था।[2]

आमेर के मेवाड़ के साथ सम्बन्ध

---

1. मलैसी ने खीची सरदार अनाला, आबू केदे वडा सरदार, सोलंकी, बड़गूजर, चौहान राजवंशों में विवाह किए थे। उनसे ३२ पुत्र हुए जिनके वंशजों ने कालान्तर में समस्त ढूढड़ प्रदेश को अपने अधिकार में कर लिया।

2. नैणसी II, पृष्ठ 8.
आमेर के शासक पृथ्वीराज के साथ राणा सांगा ने अपनी पुत्री का विवाह किया था।

पृथ्वीराज धर्म-परायण शासक था। वह श्रीकृष्ण का परमभक्त था। अतः उसने द्वारका की तीर्थ-यात्रा भी की थी। इसके द्वारा आमेर में नरसिंहजी का मंदिर बनवाया गया था। सीतारामजी की मूर्ति इसी ने प्रतिष्ठित की थी जो बाद में आमेर से जयपुर हटा दी गई।

खानवा के युद्ध-क्षेत्र में पृथ्वीराज राणा सांगा के साथ था। जब युद्ध भूमि में राणा सांगा मूर्छित हो गये व तब पृथ्वीराज उन लोगों के साथ था जिन्होंने अचेत राणा को बसवा नामक सुरक्षित स्थान तक पहुंचाया था[1]। लेकिन खानवा के युद्ध के कुछ सप्ताह पश्चात् ही पृथ्वीराज जैसे धर्म-परायण शासक को भी मौत के घाट उतार दिया गया (4 जनवरी 1527 A D)।

पृथ्वीराज के नौ रानियाँ थीं जिनसे 18 पुत्र व 3 पुत्रियां हुईं। 6 पुत्र तो नाबालिगी में ही मृत्यु को प्राप्त हो गए थे। शेष बारह पुत्रों में से 9 को इसने

पृथ्वीराज के पुत्रों ने बारह कोठरियां स्थापित कर लीं

अपने जीवनकाल में ही स्वतन्त्र ठिकाने प्रदान कर दिये थे। उन नौ के अतिरिक्त 3 और वंशज (Descendants of Collateral lines) हैं जिनके द्वारा स्थापित 12 ठिकाने आमेर में बारह कोठरी के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनका विवरण निम्नलिखित है—

(i) पूरनमल को नींदरा का ठिकाना दिया गया था। इसके वंशज पूरनमलोत कहलाये।
(ii) सांगा को सांगानेर के आस-पास का प्रदेश दिया गया था। इसी ने सांगानेर बसाया था। लेकिन वह निःसन्तान मर गया। अतः सांगानेर आमेर में शामिल कर लिया गया।
(iii) पंचायण को Sanriya का ठिकाना दिया गया था।
(iv) गोपाल को चौमू-सामोद का ठिकाणा प्रदान किया गया था।
(v) बलभद्र को अचरोल दिया गया था।
(vi) सुरताण को Surothe दिया गया था।
(vii) जगमाल को डिग्गी प्रदान किया गया था।
(viii) चतुर्भुज का वेगू दिया गया था।
(ix) कल्याणदास को कैलवा दिया गया था।
(x) कुम्भा को बासखो दिया गया था।
(xi) शोभाराम को नींदड दिया गया था।
(xii) नरा के पास Watka था।

पृथ्वीराज का ज्येष्ठ-पुत्र भीमसिंह था। लेकिन, 'हरि-भक्त' ने अपने द्वितीय

1. मेवाड़ का संक्षिप्त इतिहास—प० अक्षयनाथ (पाण्डुलिपि) पृष्ठ-136-37

पुत्र पूरनमल को उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था ग्रत: भीमसिंह ने पृथ्वीराज की हत्या कर दी। पूरनमल की मृत्यु के पश्चात् भीमसिंह ने ग्रामेर की गद्दी पर ग्रपना ग्रधिकार कर लिया। यद्यपि भीमसिंह भी ग्रधिक समय तक जीवित नहीं रहा ग्रौर उसे भी उसके पुत्र ग्रासकरण ने मौत के घाट उतार दिया, लेकिन पूरनमल के पुत्र सूजा ने ग्रामेर का राज्य प्राप्त करने के उद्देश्य से ग्रपहरणकर्ता के विरुद्ध ग्रजमेर के मुगल सूवेदार मिर्जा शरफुद्दीन से सहायता चाही। इसी समय भीमसिंह के उत्तराधिकारी रतनसिंह को सांगा (पृथ्वीराज के पुत्र) ने ग्रपने श्वसुर बीकानेर के शासक जैतसी की सहायता से पराजित करके ग्रामेर पर ग्रधिकार कर लिया। लेकिन साँगा नि:संतान मरा था। ग्रत: उसकी मृत्यु पर भीमसिंह के छोटे लड़के ग्रासकरण ने ग्रामेर पर कब्जा कर लिया। ग्रासकरण को भारमल ने (पृथ्वीराज का पुत्र) ने पराजित करके ग्रामेर पर ग्रधिकार कर लिया। ग्रासकरण भारमल के विरुद्ध हाजीखां पठान के पास सहायतार्थ पहुँचा। हाजीखां ने प्रयत्न करके भारमल ग्रौर ग्रासकरण में समझौता करा दिया ग्रौर ग्रासकरण को नरवर का राज्य दिलवा दिया।

इस प्रकार 1547 में जब भारमल ग्रामेर का शासक हुग्रा उस वक्त ग्रामेर की स्थिति शोचनीय थी। निर्वल शासकों के शासनकाल में स्वाभाविक रूप से सामन्त शक्तिशाली हो गए थे। उत्तराधिकार के फसादों ने केवल सामन्तों को ही शक्तिशाली नहीं बनाया, ग्रपितु गद्दी की लालसा रखने वाले कतिपय निर्वल दावेदार मुसलमानों के पास भी सहायतार्थ गए जिसका प्रत्यक्ष परिणाम यह निकला कि मुसलमानों का ग्रामेर के राज्य पर प्रभाव बढ़ने लगा।

इन ग्रान्तरिक निर्बलताग्रों के ग्रतिरिक्त ग्रामेर के शासकों को वाह्य शत्रुग्रों का भी सामना करना पड़ा। राणा सांगा की मृत्यु के पश्चात् मेवाड़ के राज्य की तो लगभग ग्रामेर जैसी ही स्थिति हो गई थी, लेकिन माल्देव के नेतृत्व में मारवाड़ का राठौड़ राज्य राजस्थान में प्रभुत्वशाली हो गया। माल्देव ने ग्रामेर के चार प्रमुख इलाकों[1] पर भी ग्रपना ग्रधिकार कर लिया था। मारवाड़ की इस बढ़ती हुई ताकत से रक्षा करने के लिए ग्रामेर के शासकों को मुसलमानों की शरण लेनी पड़ी। स्पष्ट है कि राजा भारमल को विरासत में ग्रापत्तियां प्राप्त हुईं जिनका हल करने के हेतु भारमल को समकालीन मुगल–सम्राट के साथ संधि करनी पड़ी। इसका वर्णन यथास्थान किया जायगा।

BIBLIOGRAPHY

1. Tod : Annals and Antiquities of Rajasthan, Vol. II.
2. Nensi's Khyat (Hindi Translation) Vol. II.
3. Sir J. N. Sarkar : History of Jaipur State (Unpublished)
4. V. S. Bhargava : Amber before its Submission to Akbar.

---

1. चाटसू, टोडा, मालपुरा व लालसोट माल्देव के ग्रधिकार में थे।
—रेऊ : मारवाड़ का इतिहास, जिल्द प्रथम, पृष्ठ 142.

10

चौहानो का हाडावती मे उत्कर्ष एव विकास (1707 A D) तक

(Rise and Growth of Chauhans in Horaoti up to 1707 A D)

सपालदक्ष क शासक वाकपति क शासनकाल मे चौहानो का राज्य विन्ध्याचल पवन तक फैल गया था । इसलिये साभर क श सक विध्या नपति क नाम से सम्बोधित किए जाते थे[1] । वाक्पति क लघुभ्राता लक्ष्मण न 943 ई० के लगभग नाडोल मे एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया । वहाँ 200 वर्षों तक इसक वशज राज्य करते रहे । लेकिन कुतुबुद्दीन ऐबक न 1196 ई में नाडोल पर अधिकार कर लिया । अत माणिक्यराव II मेवाड क दक्षिण पूर्व म पहुँचा और वहाँ उसन एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया । उसकी राजधानी बम्बावदा था । इसी माणिकराव की छठी पीढ़ी मे हरराज अथवा हाडोराव एक प्रतापी वीर उत्पन्न हुआ जिसक वशज हाडा चौहान कहलाये[2] । हाडाराव क वशज देवीसिंह ने आधुनिक बूदी तक अपन राज्य का विस्तार करक 1241 ई० मे बूदी को अपनी राजधानी बनाया था[3] ।

हाडौती मे चौहानों का उत्कर्ष

कालातर मे बूदी के हाडा चौहानो के राज्य की सीमाए आधुनिक चम्बल नदी तक विस्तृत हो गई । उन दिनो चम्बल नदी के दाहिने तट पर अकेलगढ के भीलों का अधिकार था । अत अकेलगढ के पास बूदी के शासक समरसी का भयकर युद्ध हुआ जिसम भीलो का सरदार कोटया बुरी तरह पराजित हुआ[4] । तदुपरात 1264 A D मे आधुनिक कोटा[5] शहर पर समरसी के पुत्र जैतसिंह का अधिकार हो गया और कोटा का परगना जैतसिंह को जागीर बन गई ।

विकास

---

1 देखिये बिजोलिया शिलालेख ।

2 देखिये नाडोल अचलगढ और मैनाल के शिलालेख डा० मथुरालाल शर्मा कृत कोटा राज्य का इतिहास जिल्द प्रथम ।

—Dr Dasharath Sharma Early Chauhan Dynasties

3 देवीसिंह ने आषाढ कृष्णा नवमी सम्वत 1298 के दिन बूदी पर अपना अधिकार स्थापित किया था । वशभास्कर द्वितीय भाग पृष्ठ 1626 27

4 देखिए वशभास्कर तृतीय भाग P 1618–79

5 यदि भौगोलिक दृष्टि से देखा जाय तो भूतपूर्व कोटा का प्रदेश सर्वथा राज्य-स्थापन क योग्य था । इस भू भाग मे चम्बल और उसकी सहायक नदियाँ

सन् 1546 ई० में कोटा और बूंदी पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। आक्रमणकारी केसरखां और डोकरखां नामक पठान थे। लेकिन खानवा के युद्ध से पूर्व हाडा चौहानों ने पुन: कोटा और बूंदी को अपने अधिकार में कर लिया। यहां का शासक नारायणदास मेवाड़ के राजा सांगा का समकालीन था और इसलिए उसने राणा का खानवा के युद्ध में साथ दिया था।[1] लेकिन 1531 ई० के लगभग केसरखां और डोकरखां ने पुन: कोटा पर अधिकार कर लिया। कोटा को मुसलमानों के प्रभाव से मुक्त करने के लिए बूंदी के प्रतिभाशाली शासक राव सुर्जन को काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और अन्त में वह 26 वर्षीय मुस्लिम शासन का अन्त करने में सफल हुआ। अकबर ने 1569 A. D. में रणथम्भौर का घेरा डाल दिया। राव सुर्जन को अकबर के सम्मुख आत्म-समर्पण करना पड़ा। वह अकबर का मनसबदार बन गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र और उत्तराधिकारी भोज ने अपने छोटे पुत्र हृदयनारायण को कोटा का शासक नियुक्त किया। मुगल सम्राट अकबर ने इस नियुक्ति को स्वीकृति प्रदान कर दी थी।[2] हृदयनारायण ने जहांगीर के शासन-काल में नूरजहां के आदेश से विद्रोही

हृदयनारायण

काली सिंध, पार्वती, परवन आऊ जल का संग्रह करती हैं। इन नदियों के कारण आस-पास का प्रदेश पर्याप्त उपजाऊ है और उपजाऊ इलाका होने के कारण ही कोटा की आबादी 131 मनुष्य प्रति वर्ग मील हो गई।

नदियों के अतिरिक्त भूतपूर्व कोटा राज्य में पर्वतों की भी कमी नहीं है। मुख्य पर्वत मुकन्दरा के हैं। इन पर्वतों से घास, लकड़ी, महुआ, गोंद, शहद, मोम इत्यादि यहां के निवासियों को मिलता रहा है। इसी भाग में मक्का, तिल्ली, कपास व अफीम पैदा की जाती है जिसके कारण भूतपूर्व कोटा राज्य की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हुई। यहां से प्राप्त खनिज पदार्थों ने भी आर्थिक स्थिति को ठीक करने में सक्रिय योग दिया है।

जलवायु उग्र होते हुए भी (गर्मी के दिनों में भीषण गर्मी तथा शीत काल में कड़ी ठण्ड) कोटा में घास और पानी की बहुतायत है। इसके अलावा यह Main Line पर भी है, इसीलिए तो 1948 से पहले और तत्पश्चात् कोटा निरंतर औद्योगिक उन्नति करता जा रहा है। आज तो इसे राजस्थान का कानपुर कहकर पुकारा जाने लगा है।

1. देखिये वंशभास्कर, तृतीय भाग, पृष्ठ 2019-2026

2. Tod : Annals & Antiquities of Rajasthan, vol II.

डा० मथुरालाल शर्मा लिखते है कि "हृदयनारायण ने कोटा राज्य का फरमान अकबर से प्राप्त किया और इसके आधार पर वह कोटे का राजा माना

शाहजादा खुर्रम का दमन करने के लिए अपनी सेना सहित हाजीपुर (आधुनिक इलाहाबाद के निकट) के युद्ध क्षेत्र में भाग लिया था। लेकिन वह रणक्षेत्र से भाग खड़ा हुआ। अतः जहाँगीर ने उससे कोटा का शासन वापस ले लिया।[1]

अतः बूँदी के राव रतन ने पहले कोटा का शासन अस्थायी रूप से अपने हाथों में ले लिया और फिर जहाँगीर की इच्छानुसार अपने पुत्र माधोसिंह को कोटा का राजा मानना प्रारम्भ किया। दक्षिण में रहते हुए माधोसिंह के खुर्रम के साथ सम्बन्ध हो गये थे। अतः राव रतन की मृत्यु के पश्चात् 1631 ई० में बूँदी कोटा से पृथक हो गया। माधोसिंह ने सर्वप्रथम राज्याभिषेक संस्कार सम्पन्न किया और 'महाराजाधिराज' की पदवी धारण की। मुगल राज्य सेवा में वह 2000 जात 2500 सवार के मनसबदार था।[2]

माधोसिंह कोटा का प्रथम "राजा" था

इस प्रकार माधोसिंह कोटा के प्रथम स्वतन्त्र शासक थे। उनके राज्याभिषेक के समय दक्षिण में मुकन्दरा व शेरगढ़ तक, पूर्व में पलायथा और मांगरोल तक, उत्तर में बड़ोद तक और पश्चिम में केवल नान्ता (चम्बल के बाये किनारे पर स्थित) तक का प्रदेश उनके अधिकार में था। उनकी मृत्यु के समय बारा और मऊ के परगने उनके अधिकार में आ चुके थे। "वर्तमान कोटा राज्य का सबसे अधिक उपजाऊ और बसा हुआ भाग माधोसिंहजी का प्राप्त किया हुआ है"।[3]

कोटा राज्य की स्थापना

माधोसिंह के शासन काल में कोटा राज्य की सीमाओं का जो विस्तार हुआ उसका मूल कारण इनकी मुगल प्रशासन में अपूर्व सेवा थी। खानेजहाँ लोदी के विद्रोह का दमन करने के लिए मुगल सम्राट् शाहजहाँ ने जो सेना दक्षिण में भेजी थी उस सेना के अग्रिम भाग के सेनापति माधोसिंह थे। माधोसिंह के सैनिकों ने ही खानेजहाँ लोदी व उसके दो पुत्रों के टुकड़े-टुकड़े करके कटे हुए सिर बादशाह को नजर किये थे।[4] अतः शाहजहाँ ने प्रसन्न होकर इन्हें चार अतिरिक्त परगने प्रदान किये और इनके मनसब में भी 500 की वृद्धि की। उपहार स्वरूप मुगल सम्राट् के

माधोसिंह की एक मनसबदार के रूप में मुगल साम्राज्य के लिए सेवायें

1. ओझा, राजपूताने का इतिहास, तृतीय भाग पृष्ठ 825

2. Tuzuk-i-Jahangiri vol II P 294-96, वंश भास्कर तृतीय भाग पृष्ठ 2496, डा० मथुरालाल शर्मा कृत कोटा राज्य का इतिहास, जिल्द प्रथम, पृष्ठ 45

3. कोटा राज्य का इतिहास, P 107

4. बादशाहनामा, जिल्द I, भाग II P 348-50

द्वारा जीरापुर, खैरावाद, चेचट, और खिलचीपुर के परगने शाहजहाँ के द्वारा प्रदान किये गये थे।[1]

तत्पश्चात् जुझारसिंह-बुंदेला के विद्रोह का दमन करने के लिए शाहजहां ने जो सेना 1635 A. D. में भेजी थी उस सेना में भी माधोसिंह थे। इनके भरसक प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप ही जुझारसिंह पराजित हुआ था[2]। इसी प्रकार 1637 ई० में जो मुगल सेना कन्धार पर अधिकार करने के लिए भेजी गई थी उसमें भी माधोसिंह शामिल थे। इस अवसर पर भी शाहजहां ने प्रसन्न होकर इनके मन्सब में 500 जात व सवार की वृद्धि की थी।[3]

1646 ई० में बल्ख और बदक्शां पर आक्रमण करने के लिए जो मुगल सेना भेजी गई उसके हरावल में माधोसिंह थे। अब्दुलहमीद लाहौरी लिखता है कि बल्ख के प्रदेश में स्थित कमरू और कन्दज के किलों पर मुगलों को अधिकार राजपूतों के शौर्य के कारण ही प्राप्त हुआ था[4]। बल्ख में रहते हुए माधोसिंह वहाँ के निर्वासित शासक नजरमुहम्मद और उसके मददगार तूरान के शासक अब्दुलअजीज की संयुक्त सेनाओं का इस बहादुरी से मुकाबला किया कि वे लोग बल्ख से मुगलों को हटाने में विफल हुए[5]। अतः बल्ख अभियान की समाप्ति पर मुगल सम्राट् शाहजहाँ ने इनका उचित सम्मान किया तथा बल्ख के किले की रक्षा करने के एवज में वांखा व मऊ के परगने बूंदी नरेश से जीतकार माधोसिंह को दे दिये।[6]

इस प्रकार माधोसिंह ने मुगलों के साथ मित्रतापूर्ण नीति का अनुसरण करके अपने राज्य की सीमाओं का ही विस्तार नहीं किया अपितु अपने व्यक्तिगत गौरव व प्रतिष्ठा में भी वृद्धि की। मुगल प्रशासनिक सेवा में इन्हें जो मन्सब प्रदान किए गए थे उनसे वार्षिक आय लगभग $3\frac{1}{2}$ लाख रुपया होती थी, वे मुगल दरबार के उन पांच हजारी हिन्दू मन्सबदारों में से एक थे कि जो इने गिने उमरावों को ही दिया जाता था। डा० मथुरालाल शर्मा ने इनके लिए ठीक ही लिखा है "निरंतर जान को हथेली पर रखे हुए पहले जहांगीर की और फिर शाहजहां की सेवा करने के कारण ही माधोसिंहजी 43 परगनों के राजा बने थे। उनको बादशाह से पंचहजारी मन्सब के अतिरिक्त नक्कारा और निशान मिला था, और राजा की पदवी प्राप्त हुई थी। उनके जीवन काल में उन्होंने कभी बादशाह की अप्रसन्नता का अनुभव नहीं किया। इसीलिए उनका राज्य उत्तरोत्तर विस्तृत होता गया।[7]

1. वंशभास्कर, तृतीय भाग, P. 2595.
2. वादशाहनामा, जिल्द प्रथम, द्वितीय भाग P. 113–115
3. अब्दुलहमीद लाहौरी, द्वितीय भाग, P. 224.
4. लाहौरी, जिल्द 2, P. 483–88.
5. लाहौरी, जिल्द 2, p. 566–71; 614–18; 620–24; 642–57.
6. वंश भास्कर, तृतीय भाग, p–2630,
7. कोटा राज्य का इतिहास, जिल्द प्रथम, p. 133

माधोसिंह अपने समय के सुसंस्कृत, नीति-निपुण-शासक थे। वे उर्दू और संस्कृत के ज्ञाता थे। पहले शाहजादा खुर्रम को हरा कर कैद करना और फिर उसी शाहजादे से सम्राट् बनने के पश्चात् निरंतर गौरव व सम्मान प्राप्त करना इनकी नीति-निपुणता का सबल प्रमाण है। यह अपने युग के एक सफल शासन-प्रबन्धक भी थे। अपने राज्य को 43 परगनों मे बाँट रखा था और प्रत्येक परगने मे चौधरी, कानूनगो व ठाकुर नियुक्त कर रखा था। प्रथम दो कर्मचारी वंश परम्परागत होते थे और उनकी नियुक्ति भी मुगल सम्राट् के द्वारा की जाती थी। इनको तनख्वाह भी नही मिलती थी, भूमि का कुछ प्रतिशत रसूम के रूप मे मिलता था। लेकिन 'ठाकुर' पूर्णरूपेण राजा का नौकर होता था जो परगने का शासन करता था और शांति रक्षा के लिए जिम्मेवार था। अपने राज्य मे आन्तरिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए माधोसिंह ने स्थायी सेना भी रख छोडी थी जो पीलखाना और शुतरखाना में विभाजित थी। इन्होंने कई इमारतें, किले, शहरपनाह व बुर्ज भी बनवाए थे। इनके समय मे बडामहल, बोलसरा की ड्योढ़ी, नक्कारखाने का दरवाजा, सैलारगाँजी का दरवाजा, राजधानी किला, कैथूनीपोल, पाटनपोल, व किशोरपुरा के दरवाजे बनवाए गए। मधुकरगढ के नाम से एक छोटा सा नगर भी बसाया गया था[1] (यह स्थान कोटा से बारह कोस के फासले पर है) इस प्रकार माधोसिंह भूतपूर्व कोटा राज्य के मूल पुरुष एवं उस राज्य को शक्ति सम्पन्न बनाने वाले शासक थे।

माधोसिंह का प्रशासन

बल्ख से लौटने पर माधोसिंह बीमार पडे और 48 वर्ष की अल्प आयु में ही उनका 1649 मे देहान्त हो गया। अत उसका ज्येष्ठ पुत्र मुकुन्दसिंह सिंहासनारूढ हुआ।

राजा मुकुन्दसिंह

शाहजहाँ ने इन्हे 3000 जात व 2000 सवार का मन्सब प्रदान किया। मुगल मनसबदार होने के नाते इन्हें धरमत के युद्ध मे भाग लेना पडा। शाहजहा ने जो सेना जोधपुर नरेश महाराजा जसवन्तसिंह के नेतृत्व मे विद्रोही शाहजादो (औरंगजेब व मुराद) का मुकाबला करने के लिए भेजी थी उस सेना के हरावल मे मुकुन्दसिंह था।[2] उसी युद्ध मे अन्य राजपूत सरदारो के साथ मुकुन्दसिंह भी मारे गए।

अपने 9 वर्ष के शासन-काल मे मुकुन्दसिंह ने अपना ध्यान मुख्यत शासन-प्रबन्ध सुव्यवस्थित करने मे लगाया।

सेना तीन भागों मे (पीलखाना, शुतरखाना व तोपखाना) माधोसिंह के

1 मथुरालाल शर्मा कृत कोटा राज्य का इतिहास, जिल्द I, पृष्ठ 138-39

2 वंशभास्कर, तृतीय भाग, p-2667.

शासनकाल में ही बांट दी गई थी। मुकुन्दसिंह ने उसको और अधिक सुदृढ़ किया।

मुकुन्दसिंह का प्रशासन

मुगल Pattern पर इसने भी कतिपय राजपूतों को घुड़सवारों की चाकरी के लिए जागीरें प्रदान कीं। इन जागीरदारों को निश्चित संख्या में घोड़े रखने पड़ते थे और समय पड़ने पर अपने घुड़सवारों के साथ राज्य सेना में शामिल होना पड़ता था। इस प्रकार राज्य की आय का अधिकांश भाग सेना पर खर्च किया जाता था। सैनिक जागीरें केवल राजपूतों को ही नहीं वरन् गूजर, मीणा, अहीर, भील, सहरिया और मुसलमानों को भी दी जाती थी। इसके अतिरिक्त चारण, ब्राह्मण, खवास, पसावन इत्यादि को भी चाकरी के ऐवज में जागीर प्रदान की गई थी। इस प्रकार राज्य का अधिकांश भाग जागीरों में बांट दिया गया था।

इसने जागीरदारों को श्रेणियों में विभक्त कर दिया जो जागीरदार देसथी और जागीरदार हजूरथीं थीं। प्रथम श्रेणी के जागीरदार प्रायः अपने स्थान पर रहते थे। अपने स्थानों पर शान्ति एवं व्यवस्था बनाए रखना इनका काम था। दूसरी श्रेणी के जागीरदार मुगल सेना में सम्मिलित होते थे। लेकिन तीसरी श्रेणी में वह आते थे जिनका अपने पैतृक राज्य में हिस्सा था और इसीलिए उन्हें जागीरें दी गई थीं। पलायथा, कोटड़ा, कोयला व सांगोद के जागीरदार इस श्रेणी में आते थे।

लेकिन जागीरदारों की वास्तविक हैसियत घोड़ों की संख्या से आंकी जाती थी। जो कम घोड़े रखता था उसको कम जागीर मिलती थी और जो अधिक घोड़े रखता था उसको अधिक। जागीरदार अपने पट्टों के अनुसार निश्चित संख्या के घोड़े रखते थे अथवा नहीं इसकी जांच परगने का हाकिम करता था।

जागीरदार के गांवों से भी राज्य जकात, राहदारी व मसादती (शासन कर) नामक कर वसूल करता था। इसके अतिरिक्त माल हांसिल का कुछ अंश भी वसूल किया जाता था।

मुकुन्दसिंह ने भूमि का प्रबन्ध सुचारू रूप से किया था। फसल के वक्त माल हासिल का तखमीना तैयार किया जाता था। फिर पटेल, पटवारी, चौधरी व हवालगीर किसानों के साथ सम्भावित उपज को कूंत कर उसका बांटा नियत करते थे। फसल को नष्ट होने से बचाने की जिम्मेदारी जागीरदारों की होती थी। यदि किसान को बीज नहीं मिलता था तो राज्य की ओर से दिलाया जाता था। संकटकालीन परिस्थितियों में किसानों को तकावी भी दी जाती थी। इसके अलावा कई गांवों में सरकारी हवाले (खेत) भी थे। लेकिन मुकुन्दसिंह के भूमि–प्रबन्ध की सबसे बड़ी विशेषता यह थी, कि इसने राजा और कृषकों का सीधा सम्बन्ध कायम कर दिया था। अषाढ़ मास में गांवों के पटेलों को पगडियां और अंगोछे परगने के अधिकारी 'पहरावणी' के रूप में प्रदान करते थे। मुकुन्दसिंह ने लगान नगद व किस्म में वसूल करना जारी रखा। लगान का पूरा पूरा हिसाब रखा जाता था और लगान वसूल

किशोरसिंह केवल एक योद्धा ही नहीं थे वरन् कला के प्रोत्साहन दाता भी थे। इन्होंने कई इमारतें, तालाब, घाट, कुण्ड व बावड़ियां बनवाई थीं। कोटा शहर मे किशोरपुरा मोहल्ला इनके द्वारा ही बसाया गया था और किशोरपुरा दरवाजे का नाम करण इनके द्वारा ही किया गया था।

युद्ध तथा सार्वजनिक निर्माण के कार्यों में काफी खर्चा हो गया था। अतः इनके शासन-काल मे दुगाला व हलौटी नामक कर परगना मऊ व बड़ौद के निवासियों से वसूल किया गया। शायद इसीलिए इनके शासन-काल मे बेगार (निःशुल्क सेवा) भी प्रारम्भ हुई थी। मुसलमानो से पुनर्विवाह पर 'दाली' नाम का कर वसूल किया जाता था। यह कर केवल निम्न जाति के हिन्दुओं तथा मुसलमानों से ही वसूल किया जाता था।

साराश यह है कि किशोरसिंह के शासन-काल मे कोटा राज्य दृढ, सुरक्षित और ऋणमुक्त हुआ। उनके राज्य में सर्वत्र शान्ति और व्यवस्था थी।

अप्रेल 1696 मे जिंजी के युद्ध में आहत होकर किशोरसिंह वीरगति को प्राप्त हो गये।

किशोरसिंह के उत्तराधिकारी रामसिंह ने 1696 से 1707 ई० तक राज्य किया। यह अपने पिता के द्वितीय पुत्र थे। अत दक्षिण से कोटा वापस आने पर इन्हें अपने बड़े भाई विशनसिंह के विरुद्ध युद्ध करना पड़ा। उसमें विजयी होने के पश्चात् इनका राजतिलक हुआ।

राव रामसिंह

औरंगजेब की ओर से इन्हे कंवरपदा मे ही 1000 का मनसब मिला हुआ था। किशोरसिंह की मृत्यु का समाचार पाकर मुगल सम्राट ने इन्हे 3000 जात व सवार का मनसब तथा कोटा का राज्य वतन जागीर के रूप में प्रदान किया।

शाही सेवा मे रहते हुए इन्होने मराठो व जाटों के विद्रोहों का दमन किया। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् इन्होंने शाहजादा आजम का पक्ष ग्रहण किया और उत्तराधिकार के युद्ध मे रामसिंह आजम के साथ विजयी मुअज्जम की सेना के हाथों मारे गय।

रामसिंह कोटा के प्रथम शासक थे जिन्हे औरंगजेब के द्वारा राव की पदवी प्रदान की गई थी[1]। इनके पहले कोटा के शासक राजा[2] के नाम से सम्बोधित किये जाते थे।

रामसिंह के शासन-काल मे जमीन का नापना और उस पर कर निश्चित करना शायद बादशाह द्वारा निश्चित किये हुए कानूनगो के हाथ से निकल कर राजा

1. मुन्शी मूलचन्द कृत 'तवारीख राज्य कोटा' P. 126.

कामराज के 'इबरतनामा' में सर्वप्रथम रामसिंह के लिए 'राव' का प्रयोग किया गया है।

2. अब्दुलहमीद लाहौरी का कहना है कि शाहजहां ने माधोसिंह को 'राजा' की पदवी प्रदान की थी।

के हाथ में आ गया था।' इनके शासन-काल में भूमि का प्रबन्ध बहुत उत्तम था। उत्तमता और व्यवस्था का इससे अनुमान किया जा सकता है कि परगने के प्रत्येक मुख्य कस्बे से निर्खनामा प्रति मास कोटा भेजा जाता था।[1]

रामसिंह ने सार्वजनिक निर्माण-कार्य की ओर भी ध्यान दिया। यह कोटा के पहले शासक थे जिनके समय में कोटा से उदयपुर, आमेर व बासवहाला के साथ आवागमन होता था। अतः इनके शासन-काल में व्यापार की अभिवृद्धि हुई। इसका प्रमाण यह है कि कोटा के बाजार में मखमल, मशरू, चिकन, महमूदी चिकन, बुरहानपुरी इलायचा, मुलतानी छींट, ताश कीमखाब जैसे बहुमूल्य कपड़े बिका करते थे।

कोटा शहर का परकोटा इनके शासन काल में ही बनवाया गया था। आधुनिक कोटा का मुख्य बाजार रामपुरा तथा उसका दरवाजा इन्होंने बनवाया था।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि राव रामसिंह कोटा के उन प्रतिभाशाली शासकों में से एक थे जिनके शासन-काल में राज्य की सर्वतोन्मुखी उन्नति हुई। 20 जून 1707 के दिन जाजव के युद्ध में वे वीरगति को प्राप्त हुए।

राव रामसिंह के उत्तराधिकारी महाराव भीमसिंह प्रथम (1707-1720 A. D.) के शासन काल में कोटा राज्य ने सर्वतोन्मुखी उन्नति की। कोटा के वर्तमान महाराव भीमसिंह द्वितीय के स्वर्गवासी पिता महाराव उम्मेदसिंह द्वितीय के शासन-काल में कोटा राज्य का प्रशासन राजस्थान में अव्वल दर्जे का माना जाता था। इसका कारण यह था कि स्वर्गीय महाराव साहिब बहादुर ने कतिपय अनुभवी अफसरों को राज्य के विभिन्न विभागों का अध्यक्ष बना रखा था। इन विभागाध्यक्षों में प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक के पितामह स्वर्गीय रायबहादुर पं० श्रीरामजी भार्गव भी एक थे जो न्याय-विभाग के मुखिया (Head of Judiciary) थे।

BIBLIOGRAPHY

1. Tod : Annals and Antiquities of Rajasthan Vol. II.
2. Elliot & Dowson : History of India as told by its own historians, Vol. VI & VII.
3. अतरालिया ठाकुर लक्ष्मणदास द्वारा लिखित कोटा का इतिहास।
4. पं० रामकरण का इतिहास।
5. मुन्शी मूलचन्द की "तवारीख राज्य कोटा हिस्सा अव्वल"
6. वंशभास्कर लेखक सूरजमल मिश्र, चार भागों में 4043 पृष्ठ का यह ग्रंथ सम्वत् 1897 में लिखा गया था। इस ग्रंथ में कोटा राज्य का प्राचीन इतिहास भरा पड़ा है। सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ है।
7. डा० मथुरालाल शर्मा कृत "कोटा राज्य का इतिहास" प्रथम भाग।
8. राजपूताने का इतिहास लेखक जगदीशसिंह गहलोत, भाग2, पृष्ठ 3-155.

---

1. डा० मथुरालाल शर्मा: कोटा राज्य का इतिहास', जिल्द I., पृष्ठ 244.

करने में शिथिलता नहीं की जाती थी। यद्यपि जमीन का लगान सीधा किसानों से वसूल किया जाता था, लेकिन कभी कभी, गांव मुकाते पर भी दे दिए जाते थे। इस प्रणाली से राज्य को तो लाभ होता था लेकिन किसानों को हानि उठानी पड़ती थी। सौभाग्य से यह प्रथा राज्य मे विशेष रूप से प्रचलित नहीं थी।

मुकुन्दसिंह के शासनकाल में राजश्री जगतसिंह गौड राजमन्त्री थे। लेकिन हवालगीर और दीवान के बीच में कोई बड़ा अफसर नहीं होता था। राजा का हुक्म सीधा हवालगीर व चौधरी के नाम जारी किया जाता था। परगनों मे न्याय अदालतें भी थीं जिन्हें चौंतरा कहकर पुकारा जाता था। चौंतरा के सिपाही, चपरासी इत्यादि की नियुक्ति दरबार की आज्ञा से मंत्री करता था।

राज्य परगनों मे विभक्त था। प्रत्येक परगने में एक चौधरी, एक कानूनगो एक हवालगीर व एक फोतेदार (कोषाध्यक्ष) होता था। चूंकि राज्य मे अनाज का सस्ता भाव था, अत इन कर्मचारियों को वेतन कम ही मिलता था।

मुकुन्दसिंह के शासनकाल मे पांच परगने कोटा राज्य मे शामिल हुए जिनमे से एक गागरोण का कस्बा था।

कोटा से झालावाड जाते समय मुकन्दरा की नाल मे सड़क के किनारे अबला मीनी के महल पड़ते हैं। यह महल मुकुन्दसिंह ने अपनी खवास के लिए बनवाये थे। इनके पास ही एक गांव बसाया जिसे मुकन्दरा कह कर पुकारा जाता है। यहीं एक दरवाजा भी बनवाया था जो आज तक विद्यमान है।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि मुकुन्दसिंह कोटा के उन प्रतिभाशाली राजाओं मे से एक था जिसने राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था की नीव रखी थी और एक सच्चे राजपूत की भांति मुगल सम्राट की सेवा मे इसने अपने प्राण त्याग दिए।

राजा जगतसिंह

मुकुन्दसिंह की मृत्यु के पश्चात् जगतसिंह का 1658 ई० मे राज्याभिषेक हुआ। राज्याभिषेक के समय इनकी आयु केवल 14 वर्ष की थी। शाहजहां के उत्तराधिकारी और उत्तराधिकार के युद्ध के विजेता औरंगजेब का फरमान प्राप्त होते ही जगतसिंह मुगल सम्राट की सेवा मे उपस्थित हुए। खजुआ के युद्ध म इन्होंने शुजा के विरुद्ध युद्ध किया और उस युद्ध मे औरंगजेब की विजय तक यह मैदान मे डटे रहे। औरंगजेब ने इन्हें अपनी सेना मे हरावल म रखा था।

तत्पश्चात् मुगल सम्राट ने इन्हें दक्षिण मे नियुक्त किया। 1680 से 83 के बीच यह निरन्तर दक्षिण मे ही रहे और वहीं किसी युद्ध मे मृत्यु को प्राप्त हुए।[1]

1. जगतसिंहजी औरंगाबाद और बुरहानपुर के आस-पास किसी लड़ाई मे (अधिक सम्भव है हैदराबाद के युद्ध म) शेख मिनहाज से लड़ते हुए मारे गये।

इनके शासन-काल में महत्वपूर्ण परिवर्तन यह आया कि राजमन्त्री को प्रधान कह कर सम्बोधित किया जाने लगा। राज्य की ओर से जो पट्टे-परवाने जारी किए जाते थे उन पर प्रधान आदि सबके नाम लिखे जाने लगे।

जगतसिंह को खजुआ की विजय के पश्चात् औरंगजेब ने बारां व मऊ के परगने पुनः प्रदान किये जिन्हें मुकुन्दसिंह की मृत्यु के पश्चात् बूंदी के शासक शत्रुशाल को दे दिया गया था। जगतसिंह भी मुगल सेना में 2000 के मन्सबदार थे।

जगतसिंह के कोई सन्तान नहीं थी। अतः 1684 ई० में माधोसिंह के सबसे छोटे पुत्र किशोरसिंह को राजगद्दी पर बैठाया गया। यह सांगोद के जागीरदार थे।

राजा किशोर सिंह

ऐसा माना जाता है कि जब जगतसिंह की दक्षिण में मृत्यु हुई तब किशोरसिंह उनके साथ वहीं पर था। इनके कोटा पहुँचने से पहले ही जागीरदारों ने कोयला के प्रेमसिंह को राजतिलक दे दिया था। लेकिन प्रेमसिंह एक महीने से अधिक राज्य नहीं कर सके। इसके दो कारण थे। एक कारण तो यह था कि कतिपय सरदार प्रेमसिंह के पक्ष में नहीं थे। दूसरा कारण यह था कि जगतसिंह के साथ किशोरसिंह ने खजुआ व दक्षिण के युद्धों में भाग लेकर मुगल सम्राट् से 1000 का मन्सब व्यक्तिगत रूप से प्राप्त कर लिया था। अतः औरंगजेब ने जगतसिंह की मृत्यु के बाद खिलअत व फरमान देकर तुरन्त किशोरसिंह को कोटा के लिए रवाना कर दिया। अतः किशोरसिंह के कोटा पहुँचने पर सरदारों ने प्रेमसिंह पर अयोग्यता का आरोप लगाकर उसे पुनः कोयला भेज दिया और किशोरसिंह को राजा स्वीकार किया।

किशोरसिंह के राज्याभिषेक से सम्बन्धित इस घटना से यह स्पष्ट होता है कि

मुगलों का राजनैतिक प्रभुत्व

कोटा पर मुगल सम्राट् का राजनैतिक प्रभुत्व अधिक सबल था तथा सरदारों की उत्तराधिकार के सम्बन्ध में सलाह भी नहीं ली जाती थी।

राज्याभिषेक के बाद किशोरसिंह दक्षिण लौट गए। अपने शासन के 12 वर्ष इन्होंने निरन्तर रूप से युद्धों में ही व्यतीत किये थे। दक्षिण के अतिरिक्त इन्होंने मुगल सेना में रहकर राजस्थान में मेवाड़ व मारवाड़ की संयुक्त सेना के विरुद्ध युद्ध लडा, भरतपुर के विद्रोही जाट सरदार राजाराम का दमन किया।

निरन्तर शाही सेवा में रहने के कारण इनके मन्सब में अभिवृद्धि हुई। मृत्यु के समय इनका मन्सब 4000 जात व 3000 सवारों का था। बीजापुर के युद्ध में अपूर्व वीरता दिखाने के ऐवज में औरंगजेब ने इन्हें कुवाई का परगना प्रदान किया और जाटों के विरुद्ध वीरता दिखाने के पुरस्कार में केशोराय पाटन का परगना बूंदी से छीनकर दिया गया था।

किशोरसिंह केवल एक योद्धा ही नहीं थे वरन् कला के प्रोत्साहन दाता भी थे। इन्होंने कई इमारतें, तालाब, घाट, कुण्ड व बावड़ियाँ बनवाई थीं।[1] कोटा शहर में किशोरपुरा मोहल्ला इनके द्वारा ही बसाया गया था और किशोरपुरा दरवाजे का नाम-करण इनके द्वारा ही किया गया था।

युद्ध तथा सार्वजनिक निर्माण के कार्यों में काफी खर्चा हो गया था। अतः इनके शासन-काल में दुशाला व हलौटी नामक कर परगना मऊ व बड़ौद के निवासियों से वसूल किया गया। शायद इसीलिए इनके शासन-काल में बेगार (निःशुल्क सेवा) भी प्रारम्भ हुई थी। मुसलमानों से पुनर्विवाह पर 'छाली' नाम का कर वसूल किया जाता था। यह कर केवल निम्न जाति के हिन्दुओं तथा मुसलमानों से ही वसूल किया जाता था।

सारांश यह है कि किशोरसिंह के शासन-काल में कोटा राज्य दृढ़, सुरक्षित और ऋणमुक्त हुआ। उनके राज्य में सर्वत्र शान्ति और व्यवस्था थी।

अप्रैल 1696 में जिंजी के युद्ध में आहत होकर किशोरसिंह वीरगति को प्राप्त हो गये।

किशोरसिंह के उत्तराधिकारी रामसिंह ने 1696 से 1707 ई० तक राज्य किया। यह अपने पिता के द्वितीय पुत्र थे। अत दक्षिण से कोटा वापस आने पर इन्हें अपने बड़े भाई विशनसिंह के विरुद्ध युद्ध करना पड़ा। उसमें विजयी होने के पश्चात् इनका राजतिलक हुआ।

राव रामसिंह

औरंगजेब की ओर से इन्हें कंवरपदा में ही 1000 का मन्सब मिला हुआ था। किशोरसिंह की मृत्यु का समाचार पाकर मुगल सम्राट ने इन्हें 3000 जात व सवार का मन्सब तथा कोटा का राज्य वतन जागीर के रूप में प्रदान किया।

शाही सेवा में रहते हुए इन्होंने मराठों व जाटों के विद्रोहों का दमन किया। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् इन्होंने शाहजादा आजम का पक्ष ग्रहण किया और उत्तराधिकार के युद्ध में रामसिंह आजम के साथ विजयी मुअज्जम की सेना के हाथों मारे गये।

रामसिंह कोटा के प्रथम शासक थे जिन्हें औरंगजेब के द्वारा राव की पदवी प्रदान की गई थी।[1] इनके पहले कोटा के शासक राजा[2] के नाम से सम्बोधित किये जाते थे।

रामसिंह के शासन-काल में जमीन का नापना और उस पर कर निश्चित करना शायद बादशाह द्वारा निश्चित किये हुए कानूनगो के हाथ से निकल कर राजा

1. मुन्शी मूलचन्द कृत 'तवारीख राज्य कोटा' P. 126.
कामराज के 'इबरतनामा' में सर्वप्रथम रामसिंह के लिए 'राव' का प्रयोग किया गया है।

2. अब्दुलहमीद लाहौरी का कहना है कि शाहजहां ने माधोसिंह को 'राजा' की पदवी प्रदान की थी।

के हाथ में आ गया था।' इनके शासन-काल में भूमि का प्रबन्ध बहुत उत्तम था। उत्तमता और व्यवस्था का इससे अनुमान किया जा सकता है कि परगने के प्रत्येक मुख्य कस्बे से निर्खनामा प्रति मास कोटा भेजा जाता था।[1]

रामसिंह ने सार्वजनिक निर्माण-कार्य की ओर भी ध्यान दिया। यह कोटा के पहले शासक थे जिनके समय में कोटा से उदयपुर, आमेर व बासबहाला के साथ आवागमन होता था। अतः इनके शासन-काल में व्यापार की अभिवृद्धि हुई। इसका प्रमाण यह है कि कोटा के बाजार में मखमल, मसरू, चिकन, महमूदी चिकन, बुरहानपुरी इलायचा, मुल्तानी छींट, ताश कीमखाब जैसे बहुमूल्य कपड़े बिका करते थे।

कोटा शहर का परकोटा इनके शासन काल में ही बनवाया गया था। आधुनिक कोटा का मुख्य बाजार रामपुरा तथा उसका दरवाजा इन्होंने बनवाया था।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि राव रामसिंह कोटा के उन प्रतिभाशाली शासकों में से एक थे जिनके शासन-काल में राज्य की सर्वतोन्मुखी उन्नति हुई। 20 जून 1707 के दिन जाजव के युद्ध में वे वीरगति को प्राप्त हुए।

राव रामसिंह के उत्तराधिकारी महाराव भीमसिंह प्रथम (1707-1720 A. D.) के शासन काल में कोटा राज्य ने सर्वतोन्मुखी उन्नति की। कोटा के वर्तमान महाराव भीमसिंह द्वितीय के स्वर्गवासी पिता महाराव उम्मेदसिंह द्वितीय के शासन-काल में कोटा राज्य का प्रशासन राजस्थान में अव्वल दर्जे का माना जाता था। इसका कारण यह था कि स्वर्गीय महाराव साहिब बहादुर ने कतिपय अनुभवी अफसरों को राज्य के विभिन्न विभागों का अध्यक्ष बना रखा था। इन विभागाध्यक्षों में प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक के पितामह स्वर्गीय रायबहादुर पं० श्रीरामजी भार्गव भी एक थे जो न्याय-विभाग के मुखिया (Head of Judiciary) थे।

BIBLIOGRAPHY

1. Tod : Annals and Antiquities of Rajasthan Vol. II.
2. Elliot & Dowson : History of India as told by its own historians, Vol. VI & VII.
3. अतरालिया ठाकुर लक्ष्मणदास द्वारा लिखित कोटा का इतिहास।
4. पं० रामकरण का इतिहास।
5. मुन्शी मूलचन्द की "तवारीख राज्य कोटा हिस्सा अव्वल"
6. वंशभास्कर लेखक सूरजमल मिश्र, चार भागों में 4043 पृष्ठ का यह ग्रंथ सम्वत् 1897 में लिखा गया था। इस ग्रंथ में कोटा राज्य का प्राचीन इतिहास भरा पड़ा है। सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ है।
7. डा० मथुरालाल शर्मा कृत "कोटा राज्य का इतिहास" प्रथम भाग।
8. राजपूताने का इतिहास लेखक जगदीशसिंह गहलोत, भाग2, पृष्ठ 3-155.

---

1. डा० मथुरालाल शर्मा: कोटा राज्य का इतिहास', जिल्द I., पृष्ठ 244.

11

बीकानेर राज्य का उत्थान एवं विकास १६६६ ई० तक

(Rise and Growth of Bikaner State upto 1699 A. D)

अरावली पर्वत के उत्तर-पश्चिम की मरुभूमि प्राचीन काल मे जांगल देश[1] के नाम से पुकारी जाती थी । आधुनिक राजस्थान का यही उत्तरी भाग (27°12' से 30°12' के बीच का भाग) पन्द्रहवी शताब्दी में राठौडो के अधिकार में आ गया तत्पश्चात बीकानेर के नाम से सम्बोधित कहकर पुकारा जाने लगा । इसके उत्तर मे फीरोजपुर जिला,

भौगोलिक स्थिति का इतिहास पर प्रभाव

उत्तर-पूर्व में हिसार का जिला, उत्तर-पश्चिम मे भावलपुर (पाकिस्तान), दक्षिण में जोधपुर, दक्षिण-पूर्व मे जयपुर तथा दक्षिण-पश्चिम मे जैसलमेर के जिले हैं । इस प्रदेश मे मरुभूमि है, पहाड नही हैं । केवल बीकानेर नगर के दक्षिण मे जोधपुर और जयपुर की सीमाओ के निकट पहाड हैं जिनकी ऊँचाई भी समुद्र की सतह से 1651 फीट से अधिक नही है । अधिकाश भाग मे रेत के टीले हैं जो 20 फीट से लेकर कही-कही 100 फीट तक ऊँचे हो जाते हैं । इस प्रदेश मे केवल दो नदियां हैं (काटली और घग्गर) । *यह नदियां भी सिर्फ बरसाती हैं अत नहरो (यमुना एव गंगा नहर)* की सहायता से सिंचाई की जाती है । झीलें अवश्य चार[2] हैं लेकिन वे सब मीठे पानी की नही हैं । अत इस प्रदेश मे कुए और तालाबो को विशेष महत्व दिया जाता है । पहाड़ों का अभाव है अतएव वर्षा भी कम होती है । इसके उपरान्त जलविहीन भूमि का अधिकाश भाग अनुपजाऊ है । इसलिए यहा केवल एक ही फसल पैदा की जाती है । मुख्यत खेती मोठ, बाजरा, ज्वार, तिल और रुई की उपज । गंगा नहर से सिंचित प्रदेश मे गेहू, जौ, चना, सरसो, मक्का पैदा की जाती है । तरबूज और ककडी यहां की प्रमुख फसल है । लेकिन अब नहरो की सुविधा के कारण नारगी, नीबू अनार

1. जहाँ आकाश स्वच्छ और उन्नत हो, जल और वृक्षो की कमी हो और खेजडा, कैर, बिल्व, आक, पीलु और बेर के वृक्ष हो, उस प्रदेश को जागल देश कहते हैं । (देखिए शब्द कल्पद्रुम, काण्ड 2, पृष्ठ 529).

महाभारत मे भद्र देश (पजाब का वह भाग जो चिनाव व सतलज के बीच में स्थित है) एव कुरु देश से मिले हुए भाग को जांगल देश कहकर पुकारा गया है । (देखिए महाभारत, वनपर्व (अध्याय 10, श्लोक 11 तथा उद्योगपर्व (अध्याय 54, श्लोक 7)

2. गजनेर, कोलायत, छापर एव लूणकरणसर की झीलें । अन्तिम दोनो झीलें खारे पानी की हैं ।

अमरूद, केले आदि भी पैदा होने लगे हैं । इस प्रदेश में मूली, गाजर व प्याज अधिक सुगमता से पैदा किया जा सकता है । जल की कमी के कारण इस प्रदेश में पेड़ नहीं हैं । अतः न तो सघन जंगल ही हैं और न शेर, चीता, रींछ जैसे भयंकर जन्तु ही मिलते है ।

पहाड़ों का अभाव होने पर भी कोलायत और गजनेर की रेतीली सतह के नीचे इमारती पत्थर और चूने के कंकड़ मिलते हैं । दुलमेरा[1] नामक स्थान से लाल रंग का पत्थर मिला है जो सख्त नहीं होता । पलाना में कोयला और बीदासर के निकट तांबे की खानें भी हैं । इन खनिज पदार्थो ने बीकानेर के व्यापार को प्रोत्साहित किया है ।

इस प्रदेश में भेड़ें अधिकता से पाई जाती हैं अतः ऊन के कम्बल, लोइयाँ, दरियाँ, गलीचे बहुत अच्छे बनते हैं । इसके अतिरिक्त यहां पर मिश्री भी बडी अच्छी तैयार की जाती है । अतः प्राचीन काल से ही बीकानेर का व्यापार बढ़ा-चढ़ा रहा है ।

स्पष्ट है कि बीकानेर की विशेष भौगोलिक स्थिति ने इस प्रदेश के इतिहास को प्रभावित किया है । मरुभूमि में, जहाँ जल और अनाज का अभाव है, लोग साधारणतः जाना पसन्द नहीं करते । जलवायु भी आरोग्यपद होते हुए सूखी है । गर्मी में अधिक गर्मी और सर्दी में अधिक सर्दी पड़ना यहा की विशेषता है । घास भी सिर्फ उस वक्त पैदा होती है जब वर्षा हो । अतः जानवरों को भी चारे का अभाव सहन करना पड़ता है । परिणामतः इस प्रदेश की जनसंख्या बहुत कम है । प्रत्येक वर्गमील पर 41 मनुष्यों का औसत आता है । अतः बीकानेर के कतिपय राजा महाराजाओं को इस प्रदेश को आकर्षक बनाने के लिए विशेष प्रयत्न करने पड़े । निर्यात अधिक होने के कारण यहां के निवासियों की बचपन से ही व्यापार के प्रति अभिरुचि होना स्वाभाविक है । जब उन्हें स्वदेश में व्यापार का Scope नजर नहीं आता तो यहाँ के मारवाड़ी (व्यापारी) भारत के दूसरे भागों में जाकर व्यापार करते हैं । यदि बीकानेर मरुभूमि नहीं होता तो कदाचित यहाँ के रहने वालों को जीविका-उपार्जन के लिए दूसरे भागों में नहीं जाना पड़ता । उस सूरत में मारवाड़ी सभ्यता और संस्कृति का बंगाल और आसाम की सभ्यता और संस्कृति के साथ समागम भी नहीं होता ।

राठौड़ों का बीकानेर पर पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में अधिकार हुआ था । उनसे पहले यहां जोहिए, चौहान, परमार, भाटी और जाटों का अधिकार था । आधुनिक बीकानेर का उत्तरी भाग जोहियों के अधिकार में था । नागौर से छापर

राठौड़ों से पहले

द्रोणपुर तक का प्रदेश चौहानों के अधिकार में था । चौहानों से इस प्रदेश को साखलों (परमारों) ने अपने अधिकार में ले लिया था । पश्चिम का समस्त प्रदेश भाटियों के अधिकार में रहा था । शेष भाग जाटों के अधिकार में था ।

---

1. बीकानेर शहर से 42 मील पूर्व में यह स्थान है ।

11

बीकानेर राज्य का उत्थान एवं विकास १६९९ ई० तक

(Rise and Growth of Bikaner State upto 1699 A. D.)

अरावली पर्वत के उत्तर-पश्चिम की मरुभूमि प्राचीन काल मे जांगल देश[1] के नाम से पुकारी जाती थी। आधुनिक राजस्थान का यही उत्तरी भाग (27°12′ और 30°12′ के बीच का भाग) पन्द्रहवी शताब्दी मे राठोडो के अधिकार मे आ गया तत्पश्चात् बीकानेर के नाम से सम्बोधित कहकर पुकारा जाने लगा। इसके उत्तर मे फीरोजपुर जिला, उत्तर-पूर्व में हिसार का जिला, उत्तर-पश्चिम में भावलपुर (पाकिस्तान), दक्षिण मे जोधपुर, दक्षिण-पूर्व मे जयपुर तथा दक्षिण-पश्चिम मे जैसलमेर के जिले हैं। इस प्रदेश मे मरुभूमि है, पहाड नही हैं। केवल बीकानेर नगर के दक्षिण मे जोधपुर और जयपुर की सीमाओ के निकट पहाड हैं जिनकी ऊंचाई भी समुद्र की सतह से 1651 फीट से अधिक नहीं है। अधिकाश भाग मे रेत के टीले हैं जो 20 फीट से लेकर कहीं-कहीं 100 फीट तक ऊंचे हो जाते हैं। इस प्रदेश मे केवल दो नदिया हैं (काटली और घग्गर)। यह नदिया भी सिर्फ बरसाती हैं अत. नहरो (यमुना एव गगा नहर) की सहायता से सिंचाई की जाती है। झीलें अवश्य चार[2] हैं लेकिन वे सब मीठे पानी की नहो हैं। अत इस प्रदेश मे कुए और तालाबो को विशेष महत्व दिया जाता है। पहाडो का अभाव है अतएव वर्षा भी कम होती है। इसके उपरान्त जलविहीन भूमि का अधिकाश भाग अनुपजाऊ है। इसलिए यहा केवल एक ही फसल पैदा की जाती है। मुख्यत खेती मोठ, बाजरा, ज्वार, तिल और रूई की उपज। गगा नहर से सिंचित प्रदेश मे गेहू, जौ, चना, सरसो, मक्का पैदा की जाती है। तरबूज और ककडी यहां की प्रमुख फसल है। लेकिन अब नहरो की सुविधा के कारण नारगी, नीबू अनार,

भौगोलिक स्थिति का इतिहास पर प्रभाव

---

1. जहां आकाश स्वच्छ और उन्नत हो, जल और वृक्षों की कमी हो और खेजडा, कैर, बिल्व, आक, पीलु और बेर के वृक्ष हो, उस प्रदेश को जागल देश कहते हैं। (देखिए शब्द कल्पद्रुम, काण्ड 2, पृष्ठ 529).

महाभारत मे मद्र देश (पजाब का वह भाग जो चिनाब व सतलज के बीच मे स्थित है) एव कुरु देश से मिले हुए भाग को जागल देश कहकर पुकारा गया है। (देखिए महाभारत, वनपर्व (अध्याय 10, श्लोक 11 तथा उद्योगपर्व (अध्याय 54, श्लोक 7)

2 गजनेर, कोलायत, छापर एव लूणकरणसर की झीलें। अन्तिम दोनो झीलें खारे पानी की है।

यद्यपि बीका ने अपने बाहुबल से नया राज्य स्थापित किया था लेकिन धर्म-परायण होने के नाते वह राज्य-वृद्धि को देशनोख की करणीजी की कृपा का फल समझता था।

बीका के पुत्र और उत्तराधिकारी नरा कुछ मास राज्य करने के पश्चात् मृत्यु को प्राप्त हो गया। लेकिन नरा का उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई लूणकरण हुआ

लूणकरण

जिसने 1505 से 1526 तक बीकानेर पर राज्य किया। इन 21 वर्षों में उसने दद्रेवा, फतहपुर, चायलवाड़े, नागौर, जैसलमेर व नारनौल पर आक्रमण किए। अन्तिम अभियान में वह स्वयं मारा गया। इन अभियानों के परिणामस्वरूप दद्रेवा, फतहपुर व चायलवाड़े पर लूणकरण का अधिकार हो गया। लूणकरण केवल एक विजेता ही नहीं था वरन प्रजा-हितैषी, साहित्य-प्रेमी व दानी शासक भी था। इसलिए उसे कलियुग का कर्ण कहकर पुकारा जाता था। दुर्भिक्ष के समय वह खुले हाथ से प्रजा की सहायता करता था।[1]

लूणकरण का पुत्र और उत्तराधिकारी जैतसी मध्ययुगीन राजस्थान के प्रतिभाशाली शासकों में से एक हुआ है। इसने आमेर के उत्तराधिकार के संघर्ष में अपने

जैतसी 1526–1542

भान्जे[2] सांगा की सहायता करके उसे राज-सिंहासन दिलवाया। इसी प्रकार जैतसी ने मारवाड़ के शासक राव गांगा की नागौर के अभियान में सहायता की थी। इसका बाबर के पुत्र कामरान के साथ भी युद्ध हुआ था। 1542 में मारवाड़ के शासक मालदेव की आक्रमणकारी सेना का मुकाबला करता हुआ, जैतसी युद्ध में मारा गया। उस समय इसने अपना परिवार सिरसा भेज दिया था और अपने मंत्री नगराज को सहायतार्थ दिल्ली के सूर सुल्तान शेरशाह के पास भेजा था।

मालदेव का बीकानेर पर अधिकार अवश्य हो गया था लेकिन शेरशाह के

कल्याणमल 1544–1574

द्वारा सुमेल के युद्ध में पराजित किए जाने के उपरान्त मालदेव के हाथ से जोधपुर के साथ साथ बीकानेर भी निकल गया। अतः विजयी शेरशाह ने बीकानेर का टीका जैतसी के पुत्र और उत्तराधिकारी कल्याणमल को दिया।[3]

---

1. 'जैतसी रो छन्द' में उसे कलियुग का कर्ण कहकर पुकारा गया है (देखिए छन्द 54 इत्यादि)।

2. जैतसी की बहिन बालाबाई का विवाह आमेर के शासक पृथ्वीराज हरिभक्त साथ हुआ था। इसी के गर्भ से सांगा हुआ था जिसका अपने सौतेले भाई रतनसिंह के साथ गद्दी के लिए संघर्ष चला था।

3. देखिए जयसोम रचित 'कर्मचन्द्र वंशोत्कीर्तनकं काव्यम श्लोक 221-224.

जांगल देश का विजेता बीका जोधपुर के राव जोधा की सांखली रानी नौरंगदे का ज्येष्ठ पुत्र था। इसका जन्म भाद्रपद श्रावण सुदी 15 वि० सं० 1495 (5 8 1438 A D) के दिन हुआ था। 27 वर्ष की अवस्था में (सितम्बर 1465 A D) बीका ने 100 घुड़सवार तथा 500 राजपूत योद्धाओं के साथ बीकानेर की दिशा में प्रस्थान किया।

बीका 1472 1504 A D

बीका के स्मारक लेख में लिखा हुआ है— पिता के वचन सुनकर बीका ने प्रणाम किया तथा राजा के छोटे भाई (कांधल) द्वारा प्रेरित होकर शत्रुओं के समूह का नाश करके नया राज्य स्थापित किया।[1] लेकिन इस स्मारक लेख से यह स्पष्ट नहीं होता कि बीका के पिता ने उससे क्या वचन कहे थे? राजा के कौन से भाई ने उसे प्रेरणा दी थी? कौन-कौन से शत्रुओं को पराजित करके बीका ने नया राज्य स्थापित किया? इसका उत्तर नैणसी की ख्यात में मिल सकता है। नैणसी लिखता है कि जांगलू का शासक सांखला नापा को बिलोचों ने दबाया था। अतः वह सहायतार्थ जोधपुर के राव जोधा के पास पहुँचा। जोधा ने बीका और उसके चाचा कांधल को सेना देकर रवाना किया था। कोडमदेसर[2] पहुँचकर इसने 1472 A D में अपने आपको राजा घोषित किया। तत्पश्चात जांगलू पहुँच कर सांखलों के 84 गांव अपने अधिकार में करके राज्य का विस्तार करना प्रारम्भ किया। इस राज्य-विस्तार के कार्यक्रम में बीका को जैसलमेर के भाटियों तथा उनके वंशज पूगल के भाटियों से टक्कर लेनी पड़ी। अतः अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के खातिर बीका ने 12 अप्रैल 1488 के दिन राती घाटी पर एक गढ़ का निर्माण करवाना प्रारम्भ किया। उस गढ़ के इर्द-गिर्द एक नगर भी बसाया जिसका नामकरण उसने अपने नाम के पीछे बीकानेर किया। बीका को जाटों से भी युद्ध लड़ने पड़े थे। उसने जाटों के प्रदेश को शीघ्र अपने अधिकार में कर लिया। इस प्रकार बीका ने दरावर, सिरसा, भटिंडा, भटनेर, नागौर, नरहड़ पर अधिकार कर लिया और नागौर को दो बार जीता। इस प्रकार उसके अधिकार में चालीस हजार वर्गमील भूमि आ गई थी।[3] इसने अपने जीवनकाल में जोधपुर, खण्डेला और रिवाड़ी पर भी चढ़ाई की थी। 17 जून 1504 के दिन बीका का देहान्त हो गया।[4]

---

1 श्रुत्वा पितृवच प्रणाम मकरोद् भूपानुज प्रेरित ।
हत्वा शत्रुवन स्वभिश (?) महित राज्य पर प्राप्तवान ॥

2 नैणसी की ख्यात।
कोडमदेसर आधुनिक बीकानेर शहर से 15 मील पश्चिम में एक छोटा गांव है।

3 ओझा द्वारा उद्धरित 'जैतसी रो छन्द' (छन्द 43 से 47)। यह पुस्तक बीका की मृत्यु के केवल 31 वर्ष बाद बीठू सूजा ने लिखी थी।

4 ओझा बीकानेर राज्य का इतिहास प्रथम जिल्द, पृष्ठ 108–9

यद्यपि बीका ने अपने बाहुबल से नया राज्य स्थापित किया था लेकिन धर्म-परायण होने के नाते वह राज्य-वृद्धि को देशनोख की करणीजी की कृपा का फल समझता था।

बीका के पुत्र और उत्तराधिकारी नरा कुछ मास राज्य करने के पश्चात् मृत्यु को प्राप्त हो गया। लेकिन नरा का उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई लूणकरण हुआ

लूणकरण

जिसने 1505 से 1526 तक बीकानेर पर राज्य किया। इन 21 वर्षों में उसने दद्रेवा, फतहपुर, चायलवाड़े, नागौर, जैसलमेर व नारनोल पर आक्रमण किए। अन्तिम अभियान में वह स्वयं मारा गया। इन अभियानों के परिणामस्वरूप दद्रेवा, फतहपुर व चायलवाड़े पर लूणकरण का अधिकार हो गया। लूणकरण केवल एक विजेता ही नहीं था वरन प्रजा-हितैषी, साहित्य-प्रेमी व दानी शासक भी था। इसलिए उसे कलियुग का कर्ण कहकर पुकारा जाता था। दुर्भिक्ष के समय वह खुले हाथ से प्रजा की सहायता करता था।[1]

लूणकरण का पुत्र और उत्तराधिकारी जैतसी मध्ययुगीन राजस्थान के प्रतिभाशाली शासकों में से एक हुआ है। इसने आमेर के उत्तराधिकार के संघर्ष में अपने

जैतसी 1526–1542

भान्जे[2] सांगा की सहायता करके उसे राजसिंहासन दिलवाया। इसी प्रकार जैतसी ने मारवाड़ के शासक राव गांगा की नागौर के अभियान में सहायता की थी। इसका बाबर के पुत्र कामरान के साथ भी युद्ध हुआ था। 1542 में मारवाड़ के शासक मालदेव की आक्रमणकारी सेना का मुकाबला करता हुआ, जैतसी युद्ध में मारा गया। उस समय इसने अपना परिवार सिरसा भेज दिया था और अपने मंत्री नगराज को सहायतार्थ दिल्ली के सूर सुल्तान शेरशाह के पास भेजा था।

मालदेव का बीकानेर पर अधिकार अवश्य हो गया था लेकिन शेरशाह के

कल्याणमल 1544–1574

द्वारा सुमेल के युद्ध में पराजित किए जाने के उपरान्त मालदेव के हाथ से जोधपुर के साथ साथ बीकानेर भी निकल गया। अत: विजयी शेरशाह ने बीकानेर का टीका जैतसी के पुत्र और उत्तराधिकारी कल्याणमल को दिया।[3]

---

1. 'जैतसी रो छन्द' में उसे कलियुग का कर्ण कहकर पुकारा गया है (देखिए छन्द 54 इत्यादि)।

2. जैतसी की बहिन बालाबाई का विवाह आमेर के शासक पृथ्वीराज हरिभक्त साथ हुआ था। इसी के गर्भ से सांगा हुआ था जिसका अपने सौतेले भाई रत्नसिंह के साथ गद्दी के लिए संघर्ष चला था।

3. देखिए जयसोम रचित 'कर्मचन्द्र वंशोत्कीर्तनकं काव्यम श्लोक 221–224.

शेरशाह की मृत्यु के बाद जब मालदेव ने पुन विजय का क्रम प्रारम्भ किया तो कल्याणमल ने मेडता के शासक जयमल की सैनिक सहायता की थी। इसी प्रकार जब शेरशाह के गुलाम हाजीखाँ का मालदेव के साथ हरमाडा के स्थान पर युद्ध हुआ तब भी कल्याणमल ने 500 सैनिक हाजीखाँ की सहायतार्थ भेजे थे। विद्रोही बैरमखाँ को भी आश्रय प्रदान किया था।[1]

1570 A D मे जब मुगल सम्राट अकबर नागौर मे ठहरा हुआ था उस वक्त अन्य राजपूत राजाओ की तरह कल्याणमल भी अकबर की सेवा मे उपस्थित हुआ था इसी समय कल्याणमल की भतीजी (कान्हा की पुत्री) की शादी[2] अकबर के साथ की गई थी। कल्याणमल अपने ज्येष्ठ पुत्र रायसिह को अकबर की सेवा मे छोडकर बीकानेर लौट गया जहा 24 1 1574 के दिन उसका देहान्त हो गया।

कल्याणमल की मृत्यु के उपरान्त उसका ज्येष्ठ पुत्र रायसिह बीकानेर का स्वामी हुआ उसने अपनी उपाधि महाराजाधिराज और महाराजा धारण की।[3] रायसिह प्रारम्भ से ही मुगल साम्राज्य की सेवा मे था। जुलाई 1572 मे जो सेना गुजरात पर आक्रमण करने के लिए भेजी गई थी, रायसिह उसके साथ था।

महाराजा रायसिह
1575 1612A D

अक्तूबर 1572 मे अकबर ने रायसिह को सरकार जोधपुर का मुगल अधिकारी नियुक्त करके गुजरात का मार्ग निष्कटक रखने का भार उसके ऊपर सौंप दिया ताकि राणा प्रताप उस मार्ग का अवरुद्ध नही कर सकें। जोधपुर पर रायसिह का अधिकार लगभग तीन वर्ष तक रहा।[4]

---

1 देखिए अकबरनामा, जिल्द 2, पृष्ठ 159, तबकाते अकबरी (इलियट और डाउसन, जिल्द 5, पृष्ठ 265) मुशी देवीप्रसाद : 'राव कल्याणमलजी का जीवन-चरित्र, पृष्ठ 106

2 कान्हा कल्याणमल का सगा छोटा भाई था जो जैतसी की छोटी रानी काश्मीरदे के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। देखिए अकबरनामा जिल्द II, पृष्ठ 358–59.

3. Tessitory : Bardic and Historical Mss, Section II (Poetry), 41 Journal of Asiatic Society of Bengal (1916 A D.) Vol. XII, P. 96. । बीकानेर के किले के दरवाजे (सूरजपोल दरवाजे) पर जो बडी प्रशस्ति है, उसमे रायसिह को 'महाराजाधिराज महाराजा' सम्बोधित किया गया है। इसके पहले बीकानेर के सब शासक अपने को 'राव' कहते थे। कल्याणमल ने अवश्य 'महाराजाधिराज महाराज' की उपाधि धारण की थी जैसा कि उसके स्मारक-लेख से स्पष्ट है।

4. देखिए ओझा कृत बीकानेर राज्य का इतिहास, जिल्द I, पृष्ठ 167.

गुजरात-विजय के कुछ समय पश्चात् इब्राहीमहुसैन मिर्जा, मुहम्मदहुसैन मिर्जा और शाह मिर्जा ने विद्रोह खड़े कर दिए। इन विद्रोहों का दमन करने के लिए जो मुगल सेना दिसम्बर 1573 में भेजी गई थी, रायसिंह उसके साथ था जब इब्राहीम-हुसैन मिर्जा युद्ध के मैदान से भाग खड़ा हुआ तो रायसिंह ने ही उसका नागौर तक पीछा किया था। कटौली के युद्ध में बुरी तरह पराजित होकर मिर्जा भागकर पंजाब की ओर चला गया।

1574 में अकबर ने राव माल्देव के पुत्र चन्द्रसेन को दंडित करने के लिए एक सेना भेजी, रायसिंह इस सेना के साथ था। इसके दो वर्ष बाद रायसिंह को सिरोही के शासक सुरताण देवड़ा का दमन करने के लिए भेजा गया। रायसिंह ने इसे पराजित किया और उसे बादशाह की सेवा में उपस्थित किया।

1581 में मिर्जा हकीम के विद्रोह का दमन करने के लिए जो शाही सेना भेजी गई थी, रायसिंह उस सेना के साथ भी था। 1585 में बलूचिस्तान के विद्रोहियों का दमन करने के लिए रायसिंह को भेजा गया था। 1586 में अकबर ने रायसिंह की नियुक्ति राजा भगवन्तदास कच्छवाहा के साथ लाहौर के प्रबन्ध के लिए की थी।

नवम्बर 1591 में रायसिंह को खानखाना के साथ कन्धार-विजय करने के लिए नियुक्त किया गया। इस समय रायसिंह शाही सेना में 4000 का मन्सबदार था।

1593 में इसे दक्षिण में नियुक्त किया गया। इसी समय इसे जूनागढ़ दिया गया था। 1597 में उसे पुनः दक्षिण में नियुक्त किया गया। अहमदनगर विजय हो जाने के बाद भी रायसिंह को बदस्तूर दक्षिण में ही रखा गया। 1603 में उसे शाहजादा सलीम के साथ मेवाड़ के अभियान पर भेजा गया।

जहांगीर ने 1605 में रायसिंह के मन्सब में वृद्धि की। 22 जनवरी 1612 के दिन बुरहानपुर में रहते हुए रायसिंह की मृत्यु हो गई। इससे स्पष्ट है कि रायसिंह को जहांगीर के शासन-काल में दक्षिण के अभियानों में नियुक्त किया गया था।

उपरोक्त सैनिक-सेवाओं के ऐवज में रायसिंह को शाही सेना में उच्च मन्सब प्राप्त हुआ। अपनी मृत्यु के समय रायसिंह पांच हजार का मन्सबदार था। रायसिंह के शासनकाल में ही बीकानेर राजघराने का दिल्ली और आगरा के मुगल सम्राटों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध प्रारम्भ हुआ। इस घनिष्ट सम्बन्ध के परिणामस्वरूप रायसिंह की 'वतन जागीर' में समय-समय पर जो इजाफे किये गये, उनके कारण बीकानेर राज्य का विकास हुआ। शम्साबाद, नागौर, सोरठ, और जूनागढ़ के परगने रायसिंह को समय-समय पर प्रदान किये गये थे। पाउलेट ने रायसिंह के एक फरमान के आधार पर, जो उसे 1599 में प्रदान किया गया था, रायसिंह को 47 परगनों का शासक लिखा है। इन 47 परगनों में से सूबा, अजमेर, हिसार, भटनेर तथा मुल्तान के कतिपय परगनें रायसिंह के अधिकार में थे। समकालीन मुगल

शेरशाह की मृत्यु के बाद जब मालदेव ने पुन विजय का क्रम प्रारम्भ किया तो कल्याणमल ने मेड़ता के शासक जयमल को सैनिक सहायता की थी। इसी प्रकार जब शेरशाह के गुलाम हाजीखाँ का मालदेव के साथ हरमाड़ा के स्थान पर युद्ध हुआ तब भी कल्याणमल ने 500 सैनिक हाजीखाँ की सहायतार्थ भेजे थे। विद्रोही बैरमखाँ को भी आश्रय प्रदान किया था।[1]

1570 A D मे जब मुगल सम्राट अकबर नागौर में ठहरा हुआ था उस वक्त अन्य राजपूत राजाओं की तरह कल्याणमल भी अकबर की सेवा मे उपस्थित हुआ था इसी समय कल्याणमल की भतीजी (कान्हा की पुत्री) की शादी[2] अकबर के साथ की गई थी। कल्याणमल अपने ज्येष्ठ पुत्र रायसिंह को अकबर की सेवा में छोड़कर बीकानेर लौट गया जहा 24 1. 1574 के दिन उसका देहान्त हो गया।

कल्याणमल की मृत्यु के उपरान्त उसका ज्येष्ठ पुत्र रायसिंह बीकानेर का स्वामी हुआ उसने अपनी उपाधि महाराजाधिराज और महाराजा धारण की।[3] रायसिंह प्रारम्भ से ही मुगल साम्राज्य की सेवा मे था। जुलाई 1572 मे जो सेना गुजरात पर आक्रमण करने के लिए भेजी गई थी, रायसिंह उसके साथ था।

महाराजा रायसिंह
1575 1612A D

अक्तूबर 1572 मे अकबर ने रायसिंह का सरकार जोधपुर का मुगल अधिकारी नियुक्त करके गुजरात का मार्ग निष्कटक रखने का भार उसके ऊपर सौंप दिया ताकि राणा प्रताप उस मार्ग को अवरुद्ध नही कर सकें। जोधपुर पर रायसिंह का अधिकार लगभग तीन वर्ष तक रहा।[4]

---

1 देखिए अकबरनामा, जिल्द 2, पृष्ठ 159, तबकाते अकबरी (इलियट और डाउसन, जिल्द 5, पृष्ठ 265) मुशी देवीप्रसाद : 'राव कल्याणमलजी का जीवन-चरित्र, पृष्ठ 106

2 कान्हा कल्याणमल का सगा छोटा भाई था जो जैतसी की छोटी रानी काश्मीरदे के गर्भ मे उत्पन्न हुआ था। देखिए अकबरनामा जिल्द II, पृष्ठ 358-59.

3. Tessitory : Bardic and Historical Mss, Section II (Poetry), 41 Journal of Asiatic Society of Bengal (1916 A D.) Vol. XII, P. 96. । बीकानेर के किले के दरवाजे (सूरजपोल दरवाजे) पर जो बड़ी प्रशस्ति है, उसमे रायसिंह को 'महाराजाधिराज महाराजा' सम्बोधित किया गया है। इसके पहले बीकानेर के सब शासक अपने को 'राव' कहते थे। कल्याणमल ने अवश्य 'महाराजाधिराज महाराज' की उपाधि धारण की थी जैसा कि उसके स्मारक-लेख से स्पष्ट है।

4. देखिए ओझा कृत बीकानेर राज्य का इतिहास, जिल्द 1, पृष्ठ 167.

दक्षिण में बोहरी (बुरहानपुर के निकट) नामक ग्राम में सूरसिंह का देहान्त हो गया।

महाराजा कर्णसिंह 1631–1669

सूरसिंह की मृत्यु के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र कर्णसिंह बीकानेर का शासक हुआ। मुगल सम्राट शाहजहां ने इसे राज्याभिषेक के समय दो हजार जात तथा डेढ़ हजार सवार का मन्सब प्रदान किया।

राज्याभिषेक के तुरन्त बाद इसे मलिक अम्बर के पुत्र फतहखां के खिलाफ दक्षिण में भेजा गया। दक्षिण में रहते हुए ही कर्णसिंह ने परेंडे की चढाई में भी भाग लिया था (1632 A D.)। 1636 में इसे शाहजी पर चढ़ाई करने के लिए भेजा गया।

कर्णसिंह ने जोधपुर नरेश महाराजा जसवन्तसिंह के ज्येष्ठ भ्राता और नागौर के शासक अमरसिंह पर भी चढाई की थी। पूंगल के विद्रोही राव सुदर्शन भाटी पर उसने चढाई करके अधीन किया। शाहजहां ने उसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर उसे ढाई हजार जात और दो हजार सवार का मन्सब दिया तथा दौलताबाद का किलेदार नियुक्त किया। 1652 में कर्णसिंह तीन हजार जात और दो हजार सवार का मन्सबदार हो गया था।

औरङ्गजेब ने बादशाह बनने के बाद 1660 में कर्णसिंह की नियुक्ति दक्षिण में की थी। वहां रहते हुए 1666 में इसने चाँदा के जमींदार के विरुद्ध चढाई में भाग लिया। तत्पश्चात् इसे सीमान्त प्रदेश में नियुक्त किया गया। लेकिन सीमांत प्रदेश में रहते हुए कर्णसिंह ने मुस्लिम विरोधी कार्य किए। अतएव औरङ्गजेब ने इसकी नियुक्ति औरङ्गाबाद में करदी। वहां रहते हुए ही 1669 में कर्णसिंह का देहान्त हो गया।

कर्णसिंह बीकानेर के उन प्रतिभाशाली वीर शासकों में से एक था जिसने अपनी वीरता के बल पर व्यक्तिगत ख्याति को बढ़ाने के साथ ही साथ अपने राज्य की प्रतिष्ठा को भी बढाया। राजस्थानी ख्यातों के लेखक लिखते है कि औरङ्गजेब सब राजपूत राजाओं को मुसलमान बनाना चाहता था लेकिन उसकी इस इच्छा को कर्णसिंह ने असफल कर दिया। अतः समस्त राजपूत राजाओं की ओर से बीकानेर के महाराजा को 'जंगलधर पादशाह' की उपाधि दी गई जो अब तक चली आती है।

वीर होने के साथ-साथ कर्णसिंह स्वयं विद्वान थे और विद्वानों के आश्रयदाता भी थे। अतः उनके राजकीय संरक्षण में पं० गंगानन्द मैथिल, भट्ट होसिहक और कवि मुद्गल ने कई ग्रंथों की रचना की जिनमें से तीन ग्रन्थ अब भी राजकीय पुस्तकालय (अनूप संस्कृत पुस्तकालय) में विद्यमान है।

सम्राट (अकबर और जहांगीर) इस पर विश्वास करते थे और इसे मुगल-साम्राज्य का स्तम्भ मानते थे।

रायसिंह केवल एक योद्धा ही नहीं-बल्कि व्यक्तिगत रूप से दानी व्यक्ति भी था। विद्वानों का आश्रयदाता था। मुन्शी देवीप्रसाद ने इसे 'राजपूताने का कर्ण' कहकर पुकारा था। वह स्वयं एक उच्चकोटि का कवि था।[1] अतः उसके आश्रय में कई उत्तम ग्रन्थों की रचना हुई।

रायसिंह को भवन-निर्माण की भी रुचि थी। बीकानेर का सुदृढ़ और विशाल किला उसके शासनकाल में ही बनवाया गया था। उसके मन्त्री कर्मचन्द जैन के संरक्षण एवं प्रोत्साहन के कारण कतिपय जैन मन्दिरों का भी जीर्णोद्धार हुआ।

महाराजा दलपतसिंह 1612-13

रायसिंह की मृत्यु के पश्चात् जहांगीर ने उसकी इच्छा के विरुद्ध भी बीकानेर राज्य का टीका सूरसिंह को न देकर दलपतसिंह को दिया जबकि रायसिंह अपने राज्य का टीका सूरसिंह को दे गया था। फिर भी जहांगीर की इच्छानुसार दलपतसिंह ही बीकानेर का शासक हुआ।

तत्पश्चात् अगस्त 1612 में इसे ठट्ठा भेजा गया था। दलपतसिंह और सूरसिंह में छापर के निकट युद्ध हुआ—उस युद्ध में दलपतसिंह हार गया, उसे बन्दी बना लिया गया। तत्पश्चात् जहांगीर ने ही उसे मृत्यु-दण्ड दे दिया। इस प्रकार दलपतसिंह का एक-वर्षीय शासन-काल समाप्त हुआ।

महाराजा सूरसिंह 1613-1631

जहांगीर के हुक्म से सूरसिंह बागी शहजादे खुर्रम का दमन करने गया। इस समय उसे तीन हजार जात एवं दो हजार सवारों का मन्सब प्रदान किया गया था। शाहजहां ने बादशाह बनने के बाद सूरसिंह का मन्सब बढ़ाकर चार हजार जात और ढाई हजार सवार कर दिया था। 1628 में इसे काबुल भेजा गया था। वहां से लौटने के बाद जूझारसिंह बुंदेला के विद्रोह का दमन करने के लिए ओरछा भेजा गया। इसके बाद खानजहां लोदी का दमन करने के लिए जो शाही सेना भेजी गयी थी—उसके साथ सूरसिंह को भेजा गया था। इन सेवाओं के कारण सूरसिंह की—मुगल साम्राज्य में प्रतिष्ठा बढ़ी। खुर्रम ने अपने एक निशान में उसे 'उच्च कुल के राजाओं में सर्वश्रेष्ठ राजा लिखा है'—अतः उसे नागौर एवं मारोठ के परगने पुनः प्रदान कर दिए जो रायसिंह की मृत्यु के पश्चात् दलपतसिंह के हाथ से निकल गए थे।

1. 'रायसिंह महोत्सव' तथा 'ज्योतिष-रत्नाकर' नामक ग्रन्थ रायसिंह ने स्वयं लिखे थे। पहला ग्रन्थ वैद्यक का है।

रूप से उल्लेखनीय है। इसने और महाराजा अनूपसिंह ने संगीत के कई ग्रन्थ लिखे थे।

अनूपगढ़ का दुर्ग इसी के द्वारा बनवाया गया था। कहने का तात्पर्य यह है कि अनूपसिंह एक विद्वान, विद्याप्रेमी, विद्वानों को आश्रय प्रदान करने वाला शासक था। औरंगजेब के शासनकाल में दक्षिण भारत के कई हिन्दू मन्दिरों की मूर्तियों को नष्ट होने से इन्होंने बचाया था। इनके विद्याप्रेम की स्मृति बीकानेर का 'अनूप संस्कृत पुस्तकालय' है जहां संस्कृत भाषा के अनुपम हस्तलिखित ग्रंथों का संग्रह आज भी मौजूद है।

स्पष्ट है कि बीकानेर के राठौड़ राजा कुशल योद्धा थे। उनमें से अधिकांश शासक स्वयं विद्वान थे और विद्यानुरागी होने के नाते, विद्वानों के आश्रयदाता भी थे। रायसिंह से अनूपसिंह तक जिन शासकों ने बीकानेर पर शासन किया था उनके तथा केन्द्रीय सत्ता के सम्बन्ध मधुर रहे थे। अतः मुगल साम्राज्य के विभिन्न युद्धों में, इन लोगों ने जो महत्वपूर्ण भाग लिए उसकी वजह से बीकानेर के राठौड़ राज्य के गौरव एवं प्रतिष्ठा की वृद्धि हुई। बीकानेर राजघराने के प्रगतिशील विचारों के इतिहास की कोई भी विद्यार्थी सराहना किए बिना नहीं रह सकता। इन प्रगतिशील विचारों का ही परिणाम है कि बीकानेर जैसा 'मरुस्थल' उन धनाढ्य व्यक्तियों का निवास-स्थान बन गया जिनका व्यापार आज भारत के विभिन्न भागों में चलता है।

BIBLIOGRAPHY

1. पाउलेट : गजैटियर ऑफ बीकानेर स्टेट।
2. ओझा : बीकानेर राज्य का इतिहास, प्रथम खण्ड।
3. कविराजा श्यामलदास : वीर-विनोद।
4. डा० रघुवीरसिंह जी : पूर्व आधुनिक राजस्थान।

सिंह को 2000 जात तथा डेढ हजार मन्सब प्रदान करके बीकानेर का राज्य सौंप दिया था। करणसिंह की मृत्यु के पश्चात औरङ्गजेब ने एक फरमान अनूपसिंह के पास भेजा था। उसमे भविष्य मे योग्यतापूर्वक बीकानेर का शासन करने के लिए लिखा है।

महाराजा अनूपसिंह
1669–1698

1670 मे मुगल सेनायें मराठो का दमन करने के लिए महावतखा के नेतृत्व मे भेजी गई थीं। इस समय अन्य सरदारो के साथ अनूपसिंह को भी भेजा गया था। पांच वर्ष तक दक्षिण मे रहने, विभिन्न युद्धो मे वीरता दिखाने के ऐवज में मुगल सम्राट की ओर से अनूपसिंह को 8 जुलाई 1675 के दिन 'महाराजा' का खिताब दिया गया था। तत्पश्चात् 1677 मे महाराजा की नियुक्ति औरङ्गाबाद के शासक के रूप मे की गई।

जिस समय अनूपसिंह आदूणी के विद्रोहियो का दमन करने मे लगा हुआ था उस समय उसे सूचना मिली कि खारवारा और रायमलवाली के भाटियों ने विद्रोह कर दिया है। अत॰ उसे अपनी सेना का एक भाग बीकानेर उपद्रवकारियो का दमन करने के लिए भेजना पडा।

जोधपुर नरेश महाराजा जसवन्तसिंह की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र अजीतसिंह को जोधपुर का राज्य प्रदान करने की प्रार्थना अनूपसिंह ने मुगल सम्राट से की थी। यद्यपि इस प्रार्थना का कोई नतीजा नही निकला। अन्यथा यह सिद्ध करती है कि सकट काल मे राजपूत एकता के सूत्र मे बाध जा सकते थे।

1680 मे बादशाह औरंगजेब की आज्ञा से अनूपसिंह मोरोजीपन्त नामक मराठा सरदार का दमन करने के लिए रवाना हुआ। 1681 मे बीजापुर के अभियान मे भी इसने सक्रिय रूप से भाग लिया। बीजापुर के पतन के पश्चात् 1686 मे अनूपसिंह को सक्खर का शासक नियुक्त कर दिया गया था। गोलकुण्डा के अभियान में भी इसने महत्वपूर्ण भाग लिया था। तत्पश्चात् 1689 मे अमतियाजगढ़ आदूणी के शासक के रूप मे इसे नियुक्त किया गया।

8 मई 1698 के दिन महाराजा अनूपसिंह का देहान्त हुआ। उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि महाराजा अनूपसिंह अपने जमाने का एक सबल योद्धा था। लेकिन योद्धा होने के अलावा वह सस्कृत भाषा का एक अच्छा विद्वान और विद्वानों का आश्रयदाता था। विद्यानाथ, मणिराम दिक्षीत, भद्रराय, अनन्तभट्ट और श्वेताम्बर उदयचन्द्र उसके दरबार मे आश्रय पाते थे। इन विद्वानों ने सस्कृत भाषा के कई महत्वपूर्ण ग्रन्थो की रचना की थी। कई ग्रन्थो का राजस्थानी भाषा मे अनुवाद भी कराया गया था।

इसके अतिरिक्त महाराजा अनूपसिंह एक अच्छा सगीतकार भी था। औरंगजेब के शासन-काल मे जो सगीतकार मुगल-दरबार से निकाले गये थे-उनमे से अनेकों ने बीकानेर जाकर शरण ली थी। इन सगीतकारो मे भावभट्ट का नाम विशेष

रूप से उल्लेखनीय है। इसने और महाराजा अनूपसिंह ने संगीत के कई ग्रन्थ लिखे थे।

अनूपगढ़ का दुर्ग इसी के द्वारा बनवाया गया था। कहने का तात्पर्य यह है कि अनूपसिंह एक विद्वान, विद्याप्रेमी, विद्वानों को आश्रय प्रदान करने वाला शासक था। औरंगजेब के शासनकाल में दक्षिण भारत के कई हिन्दू मन्दिरों की मूर्तियों को नष्ट होने से इन्होंने बचाया था। इनके विद्याप्रेम की स्मृति बीकानेर का 'अनूप संस्कृत पुस्तकालय' है जहां संस्कृत भाषा के अनुपम हस्तलिखित ग्रंथों का संग्रह आज भी मौजूद है।

स्पष्ट है कि बीकानेर के राठौड़ राजा कुशल योद्धा थे। उनमें से अधिकांश शासक स्वयं विद्वान थे और विद्यानुरागी होने के नाते, विद्वानों के आश्रयदाता भी थे। रायसिंह से अनूपसिंह तक जिन शासकों ने बीकानेर पर शासन किया था उनके तथा केन्द्रीय सत्ता के सम्बन्ध मधुर रहे थे। अतः मुगल साम्राज्य के विभिन्न युद्धों में, इन लोगों ने जो महत्वपूर्ण भाग लिए उसकी वजह से बीकानेर के राठौड़ राज्य के गौरव एवं प्रतिष्ठा की वृद्धि हुई। बीकानेर राजघराने के प्रगतिशील विचारों के इतिहास की कोई भी विद्यार्थी सराहना किए बिना नहीं रह सकता। इन प्रगतिशील विचारों का ही परिणाम है कि बीकानेर जैसा 'मरुस्थल' उन धनाढ्य व्यक्तियों का निवास-स्थान बन गया जिनका व्यापार आज भारत के विभिन्न भागों में चलता है।

BIBLIOGRAPHY

1. पाउलेट : गजैटियर ऑफ बीकानेर स्टेट।
2. ओझा : बीकानेर राज्य का इतिहास, प्रथम खण्ड।
3. कविराजा श्यामलदास : वीर-विनोद।
4. डा० रघुवीरसिंह जी : पूर्व आधुनिक राजस्थान।

12

मारवाड़ का इतिहास 1562 से 1707 तक

(History of Marwar from 1562 to 1707 A D)

7 नवम्बर 1562 के दिन राव मालदेव की मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के पूर्व ही अकबर का जोधपुर राज्य के कुछ भाग पर अधिकार हो चुका था। 12 मार्च 1558 के दिन जैतारण को मुगल सेनाओं ने अपने अधिकार में कर लिया था। राव मालदेव ने जैतारण के शासक की प्रार्थना पर उसकी कोई सहायता नहीं की थी। जैतारण की विजय से प्रोत्साहन पाकर अजमेर के मुगल सूबेदार मिर्जा शरफुद्दीन ने मेडता पर भी अधिकार कर लिया। मेडता के निर्वासित शासक जयमल ने अपने स्वर्गवासी पिता वीरम के समान मालदेव के विरुद्ध अकबर से सहायता चाही थी। अकबरी सेनाओं को मेडता पर आक्रमण करने का सीधा बहाना मिल गया। इस प्रकार मालदेव के हाथ से उसकी मृत्यु से पूर्व ही जैतारण और मेडता निकल गए थे।

> मुगलों का मारवाड मे प्रवेश मालदेव के जीवनकाल मे ही हो चुका था।

1562 के बाद अकबर की राजस्थान में सामान्य रूप से तथा मारवाड मे विशेष रूप से रुचि हो गई थी। अकबर की रुचि के निम्न कारण थे—

(1) "शेरशाह के द्वारा पराजित होने पर जब निर्वासित मुगल सम्राट हुमायू फारस के शाह के पास सहायतार्थ पहुँचा तब" जरबीउल खवानीन का लेखक शेख-फरीद भाखरी लिखता है कि, " शाह ने हुमायू को सलाह दी थी कि 'यदि भारत में मुगलो को अपना राज्य स्थायी रूप से स्थापित करना है तो राजपूत राजाओं को वश मे करना चाहिए।" बैरमखा के परामर्श पर शाह की इस सलाह को ध्यान मे रखकर ही अकबर राजस्थान की ओर आकर्षित हुआ था।

(2) 1560 मे बैरमखा ने अकबर के विरुद्ध विद्रोह किया। विद्रोह काल मे वह बीकानेर व नागौर गया था। अत अकबर का इन स्थानो के प्रति ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक था।

(3) मारवाड का राज्य गुजरात और मालवा के मार्ग मे पड़ता था। अत यदि अकबर को गुजरात और मालवा के समृद्धिशाली प्रदेशों को अपने अधिकार मे बनाये रखना था तो उसका मारवाड पर आधिपत्य स्थापित करना जरूरी था।

(4) अकबर को अजमेर के शेख सलीम चिश्ती के प्रति अटूट भक्ति थी। अत वह लगभग प्रतिवर्ष शेख की दरगाह को जियारत करने के लिए अजमेर आया

करता था। अतः वह अजमेर तथा उसके आस-पास के प्रदेशों को अपने अधिकार में रखने के लिए प्रोत्साहित हो गया।

(5) अपने शासन-काल के प्रारम्भिक वर्षों मे अकबर साम्राज्यवादी भावना से प्रेरित था। अतः विभिन्न राजपूत राज्यों को अपने अधिकार में करके अपने राज्य का विस्तार करने की लालसा अकबर के मस्तिष्क में थी जबकि उसने मारवाड़ को अधिकार में करने की योजना बनाई थी।

सौभाग्य से माल्देव की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों (उदयसिंह, राम तथा चन्द्रसेन) के बीच उत्तराधिकार के लिए जो संघर्ष हुआ उससे अकबर के लिए

राव चन्द्रसेन

मारवाड़ की विजय सुलभ हो गई। यद्यपि माल्देव ने अपने जीवनकाल में ही राम और उदयसिंह को उत्तराधिकार से वंचित करके चन्द्रसेन को अपना उत्तराधिकारी बना दिया था लेकिन फिर भी इन दोनों ने क्रमशः सोजत और गागाणी में विद्रोह का झण्डा उठाकर तथा उदयसिंह ने लोहावटी के युद्ध में (दिसम्बर 1562) चन्द्रसेन के साथ सशस्त्र युद्ध लड़कर मारवाड़ को अशक्त बना दिया। केवल इतने पर ही यह दोनों भाई संतुष्ट नहीं हुए बलिक राम ने नागौर के मुग़ल हाकिम हुसैन कुलीबेग से चन्द्रसेन के विरुद्ध सहायता चाही। हुसेन कुलीबेग ने जोधपुर पर आक्रमण भी किया (1563-64)। चन्द्रसेन को जोधपुर का किला खाली करके भाद्राजूण चला जाना पड़ा। तत्पश्चात् मारवाड़ का केवल दक्षिणी भाग राव माल्देव के उत्तराधिकारी चन्द्रसेन के पास रह गया था।

इसी प्रकार माल्देव के उत्तराधिकारियों के बीच ईर्ष्या और वैमनस्यता के वातावरण ने अकबर की मारवाड़-विजय को सुगम बना दिया था।

ऊपर लिखा जा चुका है कि 1562 के बाद अकबर की राजस्थान में अभिरुचि दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। 1570 में तो वह स्वयं नागौर तक आ गया था। उस समय राजस्थान के लगभग सभी राजपूत राजा उसके दरबार में उपस्थित हुए थे। इसी समय जोधपुर का शासक चन्द्रसेन भी उसके दरबार में पहुंचा। उसका बड़ा भाई उदयसिंह पहले ही अकबर की सेवा ग्रहण कर चुका था। यद्यपि अकबर ने चन्द्रसेन का राज्योचित सत्कार भी किया था, लेकिन वह अधिक समय तक अकबर के दरबार में नहीं ठहर सका। अतः अपने पुत्र रायसिंह को नागौर छोड़ कर चला गया। चन्द्रसेन 1570 में अकबर से अपनी राजधानी जोधपुर प्राप्त करने के उद्देश्य से नागौर गया था लेकिन चन्द्रसेन को अपने उद्देश्य में सफलता नहीं मिली। चन्द्रसेन के नागौर से चले जाने के पश्चात् अकबर ने समावली का प्रदेश उदयसिंह को जागीर के रूप में प्रदान कर दिया। जोधपुर का शासन बीकानेर के शासक रायसिंह को सौंप दिया गया। इस प्रकार जोधपुर मे फूट डालने की कोशिश की गई।

चन्द्रसेन का पीछा करने के लिए मुग़ल सेनायें भेजी गई। इन सेनाओं ने भाद्राजूण और सिवाना के किलों पर अधिकार कर लिया। अतः चन्द्रसेन को अपना

अपना खोया राज्य पुनः प्राप्त करने के लिए अजमेर व जोधपुर के आसपास के प्रदेशों में छापे मारने पड़े। अकबर ने चन्द्रसेन का दमन करने के लिए शिमालखाँ, राजा रायसिंह और जगमल सहित एक शक्तिशाली सेना रवाना की। अतः चन्द्रसेन को कांगुड़ा के पहाड़ों में जाकर शरण लेनी पड़ी। चन्द्रसेन का पीछा करने के प्रयत्न में कतिपय मुगल सेनानायकों को अपनी जान से हाथ धोने पड़े। अतः मीर बख्शी शाहबाजखाँ के नेतृत्व में 1576–77 में एक शक्तिशाली सेना रवाना की गई। इस सेना ने सिवाना तथा दुनाड़ा के किले चन्द्रसेन के हाथ से छीन लिए। चन्द्रसेन homeland wanderer बन गया और पारवाड़ के पहाड़ों में जाकर रहने लगा। इस समय जैसलमेर के शासक रावल हरराय ने पोकरण का प्रदेश चन्द्रसेन के सेनानायक पचोली आनन्द से छीन लिया। अन्तिम समय में चन्द्रसेन सिरोही की ओर गया और वहाँ से डूंगरपुर गया लेकिन मुगल सेनाएं उसका बराबर पीछा कर रही थीं। अतः चन्द्रसेन पुनः अजमेर की ओर रवाना हुआ। अजमेर के निकट सारण के पहाड़ों में जनवरी 1581 में उसका देहान्त हो गया।

ऐसा कहा जाता है कि मेवाड़ के राणा कीका (प्रताप) के समान मारवाड़ के राव चन्द्रसेन ने भी अकबर के सम्मुख अपना मस्तक नहीं नवाया। चन्द्रसेन और प्रताप की तुलना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि चन्द्रसेन तो 1570 में अकबर के दरबार में उपस्थित हो गया था जब कि राणा प्रताप राजा भगवन्तदास तथा कुंवर मानसिंह के प्रयत्नों के बावजूद भी अकबर के पास जाने को तैयार नहीं हुआ था। इसके अलावा चन्द्रसेन अपने जीवनकाल में जोधपुर प्राप्त करने में सफल नहीं हो सका था। सफल तो प्रताप भी नहीं हुआ था लेकिन प्रताप ने मेवाड़ की नई राजधानी चावण्ड में कायम कर ली थी जबकि चन्द्रसेन की एक Homeless wanderer के रूप में सारण में मृत्यु हुई। अतः चन्द्रसेन व प्रताप की एक दूसरे से तुलना करना तो कठिन है, लेकिन यह अवश्य सत्य है कि चन्द्रसेन राजस्थान के उन शक्तिशाली राजाओं में एक था जिन्होंने अकबर को लोहे के चने चबा दिये थे।

चन्द्रसेन की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारियों (मोटा राजा उदयसिंह, गजसिंह तथा सूरसिंह) के शासनकाल में मारवाड़ के मुगल राजघराने के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रहे। इन घनिष्ट सम्बन्धों का प्रारम्भ 1583 में हुआ था जबकि अकबर ने जोधपुर के राज्य का टीका चन्द्रसेन के पुत्र रायसिंह को न देकर उसके पिता के बड़े भाई मोटा राजा उदयसिंह को दिया।

मोटा राजा उदयसिंह

मारवाड़ राज्य का टीका उदयसिंह को प्रदान करने के साथ ही साथ अकबर ने जोधपुर भी उदयसिंह को सौंप दिया था जो पिछले 20 वर्षों से मुगलों के अधिकार में था। उदयसिंह के राज्याभिषेक के साथ ही मारवाड़ के इतिहास में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आए —

(1) चूंकि चन्द्रसेन की मृत्यु के पश्चात मारवाड़ के सरदार उदयसिंह को

गद्दी पर बैठाने के लिए तैयार नहीं थे अतः उसे इन सरदारों के विरुद्ध अकबर की सहायता लेनी पड़ी । स्वाभाविक रूप से उदयसिंह के बाद मारवाड़ की गद्दी पर जितने भी शासक बैठे उन सबको मुगल सम्राट के द्वारा टीका दिया गया। टीका के साथ ही पैतृक राज्य 'वतन जागीर' के रूप में प्रदान किया जाता था। प्रत्येक नए राजा को टीका देते समय पूरा राज्य नहीं दिया जाता था । अतः हरएक नए राजा को अपनी सैनिक योग्यता सिद्ध करके अतिरिक्त परगने प्राप्त करने पड़े।

(2) उदयसिंह और उसके उत्तराधिकारी मुगल सेना में मन्सबदार थे। अतः उन लोगों को Auxiliary Commondars के रूप में विभिन्न अभियानों में भाग लेना पड़ता था। परिणामतः वे लोग Absentee ruler बन गए।

(3) मुगल मन्सबदार के रूप में मारवाड़ के राजाओं ने जो कार्य किये उनके परिणामस्वरूप मारवाड़ के प्रशासन तथा संस्कृति पर मुगलों की छाप पड़े बगैर नहीं रह सकी। इसका स्पष्ट परिणाम यह निकला कि 1583 के बाद मारवाड़ के सरदारों की शक्ति कम हो गई। वे लोग अपने राजा को बड़े भाई के रूप में नहीं बल्कि राजा के रूप में इज्जत करने लगे।

अकबर ने उदयसिंह को राज्याभिषेक के तुरन्त बाद गुजरात-अभियान पर भेजा। तत्पश्चात् वह सिरोही के शासक का दमन करने के लिए भेजा गया।

उदयसिंह ने मुगल राजघराने के साथ घनिष्ट सम्बन्ध कायम करने के अभिप्राय से अपनी पुत्री मानीबाई[1] की शादी शाहजादे सलीम के साथ 1586-87 में सम्पन्न की। यही मानीबाई शाहीहरम में पहुँचने के बाद जोधाबाई तथा 'जगतगुसाई' के नाम से विख्यात हुई। खुर्रम (शाहजहां) इसी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। यद्यपि मानीबाई ने जहाँगीर तथा शाहजहाँ की नीति को प्रभावित नहीं किया लेकिन राजनैतिक दृष्टि से इस विवाह का बड़ा महत्व है।[2] अतएव कर्नल टॉड का यह कहना सत्य नहीं है कि "The name of Udai appears one of evil portent in the annals of Rajasthan". यदि मोटा राजा उदयसिंह ने जोधाबाई की शादी करके मुगल राजघराने के साथ घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित नहीं किये होते तो कदाचित् मारवाड़ की उन्नति और विकास नहीं होता।

इसी विवाह के बाद उदयसिंह की नियुक्ति 1588 में सिरोही के शासक सुरताण का दमन करने के लिए की गई। जुलाई 1592 में उसे लाहौर का शासक

---

1. मानीबाई की शादी अकबर के साथ नहीं हुई और न अकबर ने फतेहपुर-सीकरी में तथाकथित जोधाबाई का महल इसके लिए बनवाया था।

See present writer's paper—"Princess Jodhabai" published in the Journal of Indian History. University of Kerala, (December 1964.)

2. See Marwar and Mughal Emperors P. P. 58-61.

नियुक्त किया गया और इसी वर्ष उसे दक्षिण मे नियुक्त किया गया । जुलाई 1595 मे मोटा राजा का लाहौर मे देहान्त हो गया था । अपनी मृत्यु के समय मोटा राजा उदयसिंह 1500 का मन्सबदार था । उसके अधिकार मे जोधपुर, सोजत, सिवाना फलोदी, सातलमेर एव जैतारण के परगने थे, जबकि 1583 मे उसे केवल सोजत का परगना टीका के साथ प्रदान किया गया था । उसके पुत्र और उत्तराधिकारी सूरसिंह के लिए एक सुरक्षित राजसिंहासन 1595 मे था । भारत का मुगल सम्राट मारवाड के राजा के प्रति शत्रुता का दृष्टिकोण नही रखता था । अतएव उदयसिंह की राजवशीय विवाह की नीति की केवल Sentimental grounds पर ही आलोचना की जा सकती है । वैसे उसकी नीति मारवाड के लिए सर्वथा लाभप्रद सिद्ध हुई ।

मोटाराजा उदयसिंह मारवाड का पहला शासक था जिसे विन्ध्याचल पर्वत के पार दक्षिण मे भेजा गया था । तत्पश्चात यह क्रम जारी रहा ।

सवाई राजा सूरसिंह उर्फ सूरजसिंह राठौड 1595-1619 A D.

अकबर ने उदयसिंह की मृत्यु के बाद उसके छोटे पुत्र सूरसिंह को मारवाड का टीका दिया तथा 16 परगने (9 परगने मारवाड के 4 परगने गुजरात के, एक परगना दक्षिण का तथा एक मेवाड का) व 2000 जात तथा सवार का मन्सब प्रदान किया ।

राज्याभिषेक के पश्चात् पहले तो सूरसिंह की नियुक्ति गुजरात मे की गई और बाद में 1599 मे शाहजादा दानियाल के नेतृत्व मे दक्षिण में की गई । दक्षिण मे रहते हुए अहमदनगर की विजय मे सूरसिंह ने सक्रिय रूप से सहयोग प्रदान किया । मलिक अम्बर के विरुद्ध सूरसिंह ने अत्यधिक वीरता दिखलाई थी, अत मुगल सम्राट अकबर ने उसे उचित सत्कार प्रदान किया । दक्षिण से लौटने पर 1603–4 मे अकबर ने जैतारण का परगना सूरसिंह को उसकी प्रार्थना पर प्रदान किया था । नौ वर्ष तक निरतर युद्धो मे वीरता दिखलाने के कारण सूरसिंह का व्यक्तिगत गौरव एव प्रतिष्ठा ही नही बढी, अपितु मारवाड राज्य की ख्याति भी बढी ।

अत अकबर के पुत्र और उत्तराधिकारी जहागीर ने सूरसिंह की नियुक्ति मेवाड अभियान पर भेजी जाने वाली सेना मे की । मेवाड की मुगलों के साथ 1615 मे जो सधि हुई उस सधि के समय सूरसिंह मौजूद था । मुगल सेना के सेनानायक खुर्रम ने मेवाड अभियान मे सूरसिंह के स्थानीय भौगोलिक ज्ञान का पूरा पूरा लाभ उठाया था । अत जहागीर ने प्रसन्न होकर अपने राज्यकाल के दसवें वर्ष मे सूरसिंह को 5000 जात तथा 3000 सवार का मन्सबदार नियुक्त किया । यह एक उच्च मन्सब था जो उस काल मे एक हिन्दू को प्रदान किया जाता था । खानेजहा लोदी के साथ दक्षिण मे विद्रोहियो का दमन करने के ऐवज मे सूरसिंह के मन्सब मे 300 सवारो की वृद्धि की गई थी । उसके पुत्र और उत्तराधिकारी (मनोनीत) गजसिंह को जालौर जागीर मे प्रदान किया गया था । गजसिंह ने जालौर पर अधिकार करने के लिए जो सशस्त्र युद्ध लडा, उसमे अपूर्व वीरता का परिचय दिया था ।

दक्षिण में रहते हुए महीकर नामक स्थान पर (बुरहानपुर के निकट) सूरसिंह का स्वर्गवास हो गया। जहांगीर ने अपनी आत्मकथा में सूरसिंह के लिए लिखा है—"यह उस राव मालदेव का पोता था, जो हिन्दुस्तान के प्रतिष्ठित जमींदारों में से था। राजा की बराबरी करने वाला जमींदार वही था। उसने एक लड़ाई में राजा पर भी विजय पाई थी। राजा सूरसिंह ने मेरे पिता अकबर का और मेरा कृपापात्र होने से बड़े दर्जे और मन्सब को प्राप्त किया था। उसका देश और राज्य उसके बाप-दादा के देश और राज्य से बढ़ गया।"

सूरसिंह वास्तव में Absentee ruler हो गया था क्योंकि उसे अधिकांश समय अपनी जन्मभूमि से बाहर रहना पड़ा था। अतः उसकी अनुपस्थिति में भाटी गोविन्ददास ने दीवान के रूप में राज्य के प्रशासन को चलाया। भाटी गोविन्ददास का प्रशासन बीसवीं शताब्दी तक मारवाड़ में चलता रहा। यह प्रशासन मुगल प्रशासन के ढांचे (Pattern) पर था।

स्वर्गीय राजा की मृत्यु के समय गजसिंह जोधपुर में था। अतः जोधपुर का प्रबन्ध राजसिंह कूंपावत को सौंपकर गजसिंह तुरन्त महीकर की ओर रवाना हो गया। जहांगीर ने दराबखां के द्वारा टीका भिजवाया।

राजा गजसिंह 1619-1638

टीका के साथ जोधपुर के सात परगने तथा 3000 जात 2000 सवार का मन्सब भी गजसिंह को प्रदान किया गया था।

दक्षिण में रहकर गजसिंह और दराबखाँ (अब्दुलरहीम खानखाना का पुत्र) ने अहमदनगर के विद्रोही सरदारों का दमन किया। दराबखां के बाद जब शाहजादा खुर्रम ने मलिक अम्बर के साथ संधि कर ली तो गजसिंह जोधपुर लौट आया। दक्षिण में वीरता का प्रदर्शन करने के ऐवज में 4000 जात व 3000 सवार का मन्सब व जालोर तथा सांचोर के परगने गजसिंह को प्रदान किए गए।

शाहजादे खुर्रम का विद्रोह दमन करने के लिए जो सेना जहांगीर के द्वारा भेजी गई थी उस सेना के साथ गजसिंह को भेजा गया था (मई 1623)। इसी समय फलोदी की जागीर तथा 5000 जात व 4000 सवार का मन्सब भी गजसिंह को प्रदान किया गया था। 16 अक्टूबर 1624 के दिन हाजीपुर के युद्ध में शाही सेना ने शाहजादा खुर्रम को पराजित किया। इस युद्ध में मेवाड़ का भीम सीसोदिया खुर्रम की सेना में था। इस युद्ध के पश्चात् 5000 जात व 5000 सवार का मन्सब गजसिंह को प्रदान किया गया था। तत्पश्चात् गजसिंह की नियुक्ति दक्षिण में बुरहानपुर की रक्षा के लिए की गई थी।

जहांगीर के पुत्र और उत्तराधिकारी शाहजहां ने गजसिंह की नियुक्ति आगरा के निकट भोमियों के उत्पात दबाने के लिए की। तदुपरान्त इसकी नियुक्ति दक्षिण में खानेजहां लोदी का विद्रोह दमन करने के लिए की गई। दक्षिण में रहकर गजसिंह ने जिस वीरता का परिचय दिया उसके ऐवज में अक्तूबर 1630 में गजसिंह को

महाराजा की उपाधि तथा मारोठ का परगना प्रदान किया गया । अगले वर्ष इसे भ्रासफखा के साथ बीजापुर अभियान मे नियुक्त किया गया था । मई 1630 के दिन गजसिंह का आगरा मे देहान्त हुआ था । उस वक्त तक दक्षिण मे महाराजा गजसिंह काफी अधिक समय तक रह चुके थे ।

1538 से 1638 के बीच का समय मारवाड के इतिहास में शान्ति और समृद्धि का काल था क्योंकि यहा के शासकों ने मुगल सम्राटो के साथ मधुर सम्बन्ध रख थे अत बाह्य आक्रमण नहीं हुआ । सूरसिंह और गजसिंह ने दक्षिण के युद्धो मे अनवरत रूप से भाग लिया अत बीजापुर व गोलकुण्डा की सम्पत्ति इनके साथ मारवाड के अनुपजाऊ प्रदेश मे आई । यहां के राजाओ का गौरव एव ख्याति बढ़ी ।[1] चूंकि एक शताब्दी तक मारवाड के मुगलों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रहे थे अतः मारवाड के प्रशासन पर मुगल प्रशासन का प्रभाव पडा । मोटा राजा उदयसिंह के बाद से मारवाड के राजाओं ने अपने सरदारो से पेशकस वसूल करना शुरू कर दिया था । सूरसिंह के शासन काल में सरदारों को विभिन्न श्रेणियों मे विभक्त कर दिया गया । सूरसिंह के शासनकाल मे ही मारवाड के कर्मचारियों के designation मुगल कर्मचारियों के अनुकूल किये गये । नये कर्मचारी दीवान, बक्शी, हाकिम, कारकून, दफ्तरी, दरोगा, फोतेदार और वाकया नवीस कह कर पुकारे जाने लगे । इस प्रकार उन सरदारों को नियन्त्रण में किया गया जो राव चन्द्रसेन के शासन काल तक अपने आपको बराबर का समझते थे । अत अब मारवाड मे उत्तराधिकार के लिए सघर्ष नही होने लगे । जिन प्रदेशो को चूँडा और मालदेव अपनी तलवार के बल पर नहीं जीत सके थे वही परगने सूरसिंह और उसके उत्तराधिकारी के शासनकाल मे सुगमता से आगए । इस प्रकार एक ओर तो मारवाड का विकास हुआ और दूसरी ओर मुगल सम्राट के बढते हुए प्रभाव के कारण मारवाड़ के राजा वास्तविक अर्थ में जमींदार बन गये । वह अपने पैतृक राज्य को भी उस वक्त ही प्राप्त कर सकता था जब तक उसको मुगल सम्राट के द्वारा टीका प्रदान नही कर दिया जाता था । मुगल सेवा मे मन्सबदार होने के कारण इन राजाओ को अपने राज्य से बाहर रहना पडता था और जब कभी वे अपने राज्य मे लौटते थे तो मुगल सम्राट् से छुट्टी लेनी पडती थी । मुगल दरबार म रहने के कारण इन राजाओ को मुगल दरबार का etiquette सीखना पडता था । इन राजाओ की वेश-भूषा, रहन-सहन तथा खान-पीन पर भी मुगल सभ्यता का पर्याप्त प्रभाव पडा ।

अपने पिता गजसिंह की मृत्यु के समय जसवन्तसिंह अपनी ससुराल बूदी मे

---

1 'तस्यात्मज श्री गजसिंहनामा-ख्यातो घरणासा विदितैक कीर्ति ।
तस्नमहारा पद सुनाम्ना-त्याजज्जय राजकुले बलिष्ठम्",
—अजित चरित्र, पृष्ठ-37 ।

था। इसका बड़ा भाई अमरसिंह राठौड़ आगरा में मौजूद था। यद्यपि गजसिंह ने अपने जीवन-काल में ही जसवन्तसिंह को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत कर दिया था और मुगल सम्राट् शहजहां ने स्वर्गीय महाराजा की इच्छानुसार टीका भी जसवन्तसिंह को ही दिया था लेकिन फिर भी जसवन्तसिंह को भय था कि कहीं उसे राजगद्दी से वंचित नहीं कर दिया जाय। अत: वह बूंदी से सीधा आगरा गया और वहां से 25 मई 1638 के दिन टीका, राजा का खिताब तथा 4000 जात व सवार का मन्सब प्राप्त किया। राज्याभिषेक के समय जसवन्तसिंह की आयु 12 वर्ष के लगभग थी, अतएव शाहजहां ने आसोप ठाकुर राजसिंह कूपांवत को जोधपुर का दीवान नियुक्त किया। जोधपुर राज्य के इतिहास में यह पहला मौका था जब दीवान की नियुक्ति मुगल सम्राट् के द्वारा की गई थी।

महाराजा जसवन्तसिंह I
1638-1678

टीका के साथ तो जसवन्तसिंह को मारवाड़ के केवल पांच परगने ही दिए गए थे लेकिन जब जसन्तसिंह शाहजहां के साथ पेशावर जा रहा था तो उस समय 13 जनवरी 1639 के दिन जैतारण का परगना तथा 5000 जात व सवार का मन्सब जसवन्तसिंह का इख्तियारपुर के स्थान पर प्रदान किया गया।

फरवरी 1640 में जसन्तसिंह जोधपुर पहुँचा और वहां राज्याभिषेक संस्कार सम्पन्न किया। इसी समय राजसिंह कूपांवत की मृत्यु हो गई और उसके स्थान पर शाहजहां ने महेशदास राठौड़ को जोधपुर का दीवान नियुक्त किया—तत्पश्चात् जसवन्तसिंह को शाहजादा दारा के साथ कन्धार अभियान पर रवाना किया गया। लेकिन फारस के शाह सफी की मृत्यु के कारण सेना को वापस बुला लिया गया और जसवन्तसिंह को जोधपुर लौट जाने की आज्ञा मिल गई। जोधपुर पहुंच कर जसवन्तसिंह ने महेशदास राठौड़ के स्थान पर मेडतियां गोपालदास को अपना दीवान नियुक्त किया। महेशदास ने विद्रोह भी किया, लेकिन उसे तुरन्त दबा दिया गया।

1645 में जसवन्तसिंह को आगरे का सूबेदार नियुक्त किया गया था। दो वर्ष बाद हिण्डोन का परगना जसवन्तसिंह को प्रदान किया गया जो उसके अधिकार में करीब 9 वर्ष तक रहा।

शाहजादा औरंगजेब के साथ इसे दुबारा कंधार भेजा गया (जनवरी 1649 में) लेकिन यह काबुल से ही वापस आगया था। अक्तूबर 1650 में सातलमेर का परगना भी जैसलमेर के शासक रावल मनोहरदास की मृत्यु के बाद जसवन्तसिंह को प्रदान किया गया। इसके ऐवज़ में मुगल सम्राट् ने सबलसिह को जैसलमेर की गद्दी दिलवाने का आदेश जसवन्तसिंह को भेजा। अपहरणकर्ता रामचन्द्र को खरोड़ा के युद्ध में पराजित करके (5 अक्टूबर 1650 में) जसवन्तसिंह ने सबलसिंह को जैसलमेर की गद्दी दिलवाई।

तत्पश्चात् जनवरी 1654 में जसवन्तसिंह को 'महाराजा' का खिताब व

1000 जात व सवार का मनसब प्रदान किया गया जिनमें से 5 00 सवार सिह अस्पा सवार थे।

1656 में जालोर का परगना जसवन्तसिंह को इनाम दिया गया। इस प्रकार 1657 में जब मुगल सम्राट शाहजहाँ के चारों पुत्रों के बीच उत्तराधिकार का संघर्ष छिड़ा उस वक्त तक महाराजा जसवन्तसिंह हिन्दुस्तान के राजाओं में श्रेष्ठ और फौज सामान तथा रौब दाब में प्रथम समझा जाता था जिसे शाहजहाँ सही अर्थ में मुगल साम्राज्य का एक स्तम्भ समझता था[1]।

अतः विद्रोही शाहजादों (औरंगजेब व मुराद) के विरुद्ध सेना देकर जसवन्तसिंह को आगरा से 17 दिसम्बर 1657 के दिन रवाना किया गया। महाराजा 6 फरवरी 1658 के दिन उज्जैन पहुँचा। उज्जैन पहुँचने पर ज्ञात हुआ कि शाहजादा मुराद अपनी विलायत गुजरात से रवाना होने की तैयारी कर रहा है। 21 मार्च 1658 के दिन मुराद वास्तव में खाचरोद पहुँच गया। अतः जसवन्तसिंह उसका सामना करने के लिए खाचरोद जा पहुँचा। खाचरोद में उसे मालूम पड़ा कि औरंगजेब दक्षिण से रवाना हो चुका है और उसने नर्मदा नदी को भी पार कर लिया है अतः जसवन्तसिंह वापस उज्जैन आया। उसके उज्जैन पहुँचने से पहले ही मुराद और औरंगजेब की सेनाएँ देपालपुर के स्थान पर संयुक्त हो चुकी थीं (14 अप्रेल 1658)। औरंगजेब ने देपालपुर के पड़ाव से कविराय नामक दूत महाराजा जसवन्तसिंह के पास भेजा और उससे कहलाया कि वह तो केवल बादशाह सलामत की तबियत का हाल पूछने[2] आगरा जा रहा है अतएव उसे उसका रास्ता नहीं रोकना चाहिए। जसवन्तसिंह ने दूत द्वारा उपर्युक्त उत्तर भिजवा दिया कि उसे शाहजादों का रास्ता रोकने का आदेश सम्राट की ओर से दिया गया है और यदि वास्तव में शाहजादे बादशाह सलामत की तन्दुरुस्ती मालूम करने आगरा जा रहे हैं तो इतनी बड़ी सेनाएँ लेकर जाने की क्या जरूरत है? इस उत्तर को प्राप्त करके औरंगजेब के पास जसवन्तसिंह की सेना का मुकाबला करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं बचा। दोनों शाहजादों की सेनाओं ने धरमत के स्थान पर पड़ाव डाला। इसी स्थान पर 16 अप्रेल 1658 के दिन धरमत का प्रसिद्ध युद्ध लड़ा गया जिसमें औरंगजेब और मुराद की विजय तथा जसवन्तसिंह की पराजय हुई। जसवन्तसिंह की पराजय के निम्नलिखित कारण थे —

(1) शाही सेना केवल नाम मात्र के लिए उसके सेनापतित्व में भेजी गई थी।

---

1 रुक्ने रकीने दौलत व सितूने कवीम सल्तनत' —आलमगीरनामा मुहम्मद काजिम कृत पृष्ठ 32।

2 सितम्बर 1657 में शाहजहाँ दिल्ली में बहुत सख्त बीमार पड़ा। साम्राज्य में खबर फैल गई कि शाहजहाँ की मृत्यु हो गई है और उसके बड़े लड़के दारा ने उसकी मृत्यु की खबर जानबूझ कर छिपा रखी है।

सेना के मुस्लिम सैनिक महाराजा की अपेक्षा सहायक सेनानायक कासिमखाँ के प्रति अधिक भक्ति रखते थे। इन लोगों ने साजिश करके तोपखाने का कुछ भाग 16 अप्रेल की रात को रेत में दबा दिया था। इसी प्रकार विभिन्न राजपूत मन्सबदारों के सैनिक महाराजा जसवन्तसिंह की आज्ञा मानने की अपेक्षा अपने-अपने सरदारों की आज्ञा की बाट जोहते थे।

(ii) राजपूत Artillery के युद्ध में इतने अधिक पारंगत नहीं थे जितनी औरंगजेब एंव मुराद की सेनाएँ पारंगत थीं। अतः जब विपक्षी सेना ने मुर्शिद कुली खां के नेतृत्व में तोपें दागना शुरू किया तो राजपूत भाग खड़े हुए। शाही सेना में औरंगजेब की सैना के समान फ्रेंच और इंगलिश तोपची भी नहीं थे।

उज्जैन से लौटने पर जसवन्तसिंह ने युद्ध के लिए जो मैदान चुना वह सर्वथा उपयुक्त नहीं था। जमीन समतल बनाने के लिए बांध की दीवार तरासने के चक्कर में जसवन्तसिंह के सैनिकों ने 200 गज की भूमि को दलदली बना दिया था।

यहां पर स्पष्ट करना आवश्यक है कि धरमत के युद्ध-क्षेत्र में महाराजा जसवन्तसिंह स्वयं नहीं भागा था। खड़िया जग्गा द्वारा रचित "वचनिका राठौड़ रतनसिंहरी" को पढ़ने से स्पष्ट जाहिर है कि जब राजपूत एक के बाद एक धराशाही होने लगे तो दुर्गादास राठौड के पिता आसानीबाग्रात ने अपने साथियों को सम्बोधित करके कहा कि राठौड़ वीर कुल शिरोमणि महाराजा जसवन्तसिंह को बचाना अत्यन्त आवश्यक है। अतएव कतिपय सरदारों ने महाराजा की घोड़ी महबूबजहाँ की लगाम पकड़कर उन्हें युद्धस्थल से बाहर निकाला था।[1] यद्यपि जसवन्तसिंह के हटाए जाने के बाद भी शाही सेना रतलाम के राजा रतनसिंह राठौड़ के नेतृत्व में लड़ती रही लेकिन औरंगजेब की विजय तथा शाहीसेना की पराजय अवश्यम्भावी थी। अतः जसवन्तसिंह के चले जाने के बाद युद्ध अधिक समय तक नहीं चला।

युद्ध के बाद महाराजा जसवन्तसिंह 29 अप्रेल 1658 के दिन जोधपुर पहुँचा। समकालीन विदेशी यात्री बर्नीयर लिखता है कि जोधपुर पहुँचने पर महाराजा की रानी ने युद्ध-स्थल से भागे हुए पति का स्वागत करने से इन्कार कर दिया। बर्नीयर के वर्णन का समर्थन जहांनआरा की आत्मकथा तथा खफीखां की 'मुन्तखबाब-उल-लुबाब' से होता है। केवल अन्तर इतना है कि बर्नीयर ने रानी को उदयपुर के महाराणा की पुत्री लिखा है जबकि रानी मेवाड़ के महाराणा राजसिंह की साली थी, पुत्री नहीं।

जसवन्तसिंह जोधपुर में अधिक दिन नहीं ठहरा। जोधपुर का प्रबन्ध सुन्दरदास को सौंपकर वह स्वयं अजमेर पहुँच गया। अजमेर में ही उसे सामूगढ़ के युद्ध में औरंगजेब और मुराद की सेनाओं के द्वारा दारा को पराजित किए जाने का समाचार

---

1. See present writer's Theses "Marwar and Mughal Emperors" Page 95-97.

मिला था। यही पर उसे औरंगजेब का फरमान भी मिला था जिसमे उसने महाराजा को आदेश दिया था कि वह अजमेर से जोधपुर लौट जाए। लेकिन जसवन्तसिंह स्वय सम्राट से मिलने के लिए सतलज नदी तक गया और वहाँ भेंट करके दिल्ली लौट आया।

दिल्ली से जसवन्तसिंह औरंगजेब के साथ शाह शुजा की सेनाओ का मुकाबला करने गया। इटावा (उत्तर-प्रदेश) के निकट खजुवा के युद्ध से पूर्व ही जसवन्तसिंह औरंगजेब की सेना मे गडबडी मचाकर वापस लौट आया।

खजुआ के युद्ध-क्षेत्र से लौटने के बाद महाराजा जोधपुर लौट गया और उसने एक बडी सेना एकत्रित की। इस समय औरंगजेब को यह सदेह था कि जसवन्त सिंह दारा के साथ मिल गया है अत उसने महाराजा को दारा से जुदा रखने के लिए मिर्जा राजा जयसिंह को आदेश दिया कि वह जसवन्तसिंह के पास पत्र लिखकर दारा का साथ न देने का परामर्श दे और दूसरी ओर उसने फरवरी 1659 मे जोधपुर का राज्य जसवन्तसिंह के भतीजे रायसिंह को देने का वायदा करके अमीनखाँ और रायसिंह के नेतृत्व मे एक सेना जोधपुर की ओर रवाना की। औरंगजेब अपने मनसूबो मे सफल हुआ क्योकि देवराय के युद्ध मे महाराजा ने दारा की कोई सहायता नही की। जसवन्तसिंह ने दारा को सहायता का निमत्रण भेज कर और फिर केवल मिर्जा राजा जयसिंह का पत्र प्राप्त होने पर उसकी सहायता नही करके अपने पूर्वज मालदेव की कहानी को दुहरा दिया था। मिर्जा राजा जयसिंह ने जसवन्तसिंह को दारा की सहायता नहीं करने के लिए क्यो लिखा? एक आधुनिक लेखक का तो कहना है कि मिर्जा राजा ने दारा को धोखा नही दिया था।[1] फिर जयसिंह का पत्र लिखने की क्या आवश्यकता थी और जसवन्तसिंह ने राजपूती परम्परा को त्याग कर दारा की सैनिक सहायता क्यो नही की? यह रहस्यास्पद है।

दारा की सहायता नही करने के ऐवज मे महाराजा जसवन्तसिंह का मुगल साम्राज्य मे गौरव एव प्रतिष्ठा पुन स्थापित हो गई। औरङ्गजेब ने 1659 के अन्त मे महाराजा को गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया। तीन वर्ष तक जसवन्तसिंह गुजरात का सूबेदार रहा। 1662 मे इसे शाइस्ता खा के साथ दक्षिण मे शिवाजी का दमन करने के लिए नियुक्त किया गया।

जसवन्तसिंह ने दारा की सहायता नहीं की

50,000 सैनिको के साथ जिनमे राव भाऊसिंह, राव रामसिंह सीसोदिया, आसफ खा, नामदार खाँ, मुखलिसखाँ, कुतुबुद्दीनखाँ तथा देवीसिंह जैसे प्रतिष्ठा प्राप्त

1. देखिये "Was Jaisingh treacherous to Dara?" by Dr C B Tripathi published in Proceedings of Indian History Congress

मन्सबदार थे, जसवन्तसिंह 1662 के अन्त में दक्षिण पहुंच गया। 15 अप्रेल 1663 की रात में शिवाजी ने शाइस्तखां के खेमे पर छापा मारा। समकालीन विदेशी यात्री बर्नीयर लिखता है कि "ऐसा सन्देह किया जाता है कि जसवन्तसिंह और शिवाजी के मध्य गुप्त समझौता हो चुका था। इस गुप्त समझौते के बाद ही शिवाजी ने शाइस्ताखां पर छापा मारा तथा सूरत पर आक्रमण किया।" 'नक्शा-ए-दिलकश' का लेखक भीमसेन बुरहानपुरी इस वक्त दक्षिण में मौजूद था। उसका वर्णन भी यही बतलाता है कि जसवन्तसिंह और शिवाजी के बीच गुप्त समझौता हो चुका था लेकिन आलमगीरनामा और फतूहाते आलमगीरी में महाराजा के विरुद्ध ऐसा आरोप नहीं लगाया गया है। आलमगीरनामा तो सरकारी कागजात के आधार पर लिखा गया था और इसे स्वयं औरङ्गजेब ने देखा भी था, उस ग्रन्थ में इस घटना का वर्णन तक नहीं है। इससे यही निष्कर्ष निकल सकता है कि कदाचित् औरङ्गजेब महाराजा जसवन्तसिंह पर शिवाजी के साथ मिल जाने का संदेह नहीं करता था। 5 अप्रेल की घटना के बाद औरंगजेब ने शाइस्ताखाँ को बंगाल में बदल दिया था लेकिन जसवन्तसिंह को बदस्तूर दक्षिण में रखा। इतना ही नहीं, महाराजा को खिल्लअतें भी प्रदान की गई। अतः मैंने एक लेख में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि 5 अप्रेल की घटना में महाराजा जसवन्तसिंह का किसी प्रकार हाथ नहीं था।[3] कर्नल जेम्स टॉड और 'औरङ्गजेब' के आधुनिक इतिहासकार स्वर्गीय सर जदुनाथ सरकार इस दु:खद घटना को महाराजा की Slothfulness and Connivance का परिणाम मानते हैं। पाठक स्वयं सोच सकते हैं कि यदि जसवन्तसिंह तथा शिवाजी के बीच कोई गुप्त समझौता होता तो आलमगीरनामा तथा फतूहाते आलमगीरी में इसका अवश्य वर्णन होता। कम से कम मारवाड़ की ख्यातों में तो अवश्य वर्णन मिलता। 1666 में जब शिवाजी औरङ्गजेब के दरबार में उपस्थित हुआ और उसे पंचहजारी मन्सबदारों की श्रेणी में खड़े होने का आदेश दिया गया तब शिवाजी ने महाराजा जसवन्तसिंह को अपने आगे खड़े हुए देखकर आमेर के कुंवर रामसिंह से

> जसवन्तसिंह की मिली-भगत से शिवाजी ने शाइस्ताखां पर छापा नहीं मारा था

---

1. महाराजा जसवन्तसिंह के नाम शाही फरमान कांकरिया तालाब के मुकाम पर 4.11.1662 के दिन पहुंचा था। महाराजा April 1663 में दक्षिण पहुँच गया था।

2. शाइस्ताखां का डेरा पूना स्थित रंगमहल में था जहां शिवाजी का बचपन में लालन-पालन हुआ था। अतः शिवाजी इस महल के कौने-कौने से परिचित थे।

3. See my paper 'Jaswant Singh and his alleged league in Shivaji's night attack on Shaista Khan, published in Rajasthan University Studies (Arts).

कहा था, "यह जसवन्तसिंह जिसको मेरे सिपाहियों ने पराजित किया था, मैं उसके पीछे खड़ा किया जाऊँ? इन सबका क्या तात्पर्य है?"[1] यदि शिवाजी और जसवन्तसिंह के बीच वास्तव में किसी प्रकार की understanding कभी भी रही होती, तो शिवाजी को उपरोक्त शब्द कहने की क्या आवश्यकता थी? इसके बाद दो वर्ष तक जसवन्तसिंह ने शिवाजी के विरुद्ध कतिपय युद्ध लड़े और उसे काबू में करने का भरसक प्रयत्न भी किया।

1666 में महाराजा जसवन्तसिंह को शाहजादा मुअज्जम के साथ उत्तर पश्चिमी सीमान्त प्रदेश की रक्षा के लिए नियुक्त किया गया। इसी बीच फारस के शाह

जसवन्तसिंह की मुगल साम्राज्य के लिए सेवायें

की मृत्यु हो गई। शाह की मृत्यु के पश्चात् आक्रमण का कोई खतरा नहीं रहा। अतः इन दोनों को वापिस बुला लिया गया।

मिर्जा राजा जयसिंह की मृत्यु के पश्चात महाराजा जसवन्तसिंह को पुनः दक्षिण में नियुक्त किया गया। कुछ समय पश्चात् बादशाह ने महाराजा का स्थानान्तर दक्षिण से गुजरात में कर दिया। 1672 में महाराजा जसवन्तसिंह को जमरूद का थानेदार नियुक्त किया गया। इसी स्थान पर 28 नवम्बर 1678 के दिन महाराजा की मृत्यु हो गई। मृत्यु तेज बुखार के कारण हुई थी, महाराजा को विष नहीं दिया गया था जैसा कि डा० स्मिथ ने Oxford History of India में लिखा है।

मआसिर-उल-उमरा का लेखक लिखता है, 'वैभव तथा सेना की संख्या की अधिकता से यह भारत के अच्छे राजाओं में गिने जाते थे।'[2] महाराजा जसवन्तसिंह

जसवन्तसिंह का चरित्र और मूल्यांकन

ने 40 वर्षों तक राज्य किया। इनके शासनकाल में मारवाड की उन्नति एवं समृद्धि हुई। जब तक यह जीवित रहे तब तक औरंगजेब न तो हिंदुओं पर जजिया ही लगा सका और न हिंदुओं को उच्च सेवा से ही दूर रख सका बल्कि जब उसने उत्तर भारत के मंदिरों को नष्ट करना प्रारम्भ किया तो महाराजा ने जमरूद में रहते हुए कहा था कि वे काबुल की मस्जिदों को नष्ट कर देंगे।[3] अतएव इन्हें यदि 'हिन्दू जाति का सूर्य' कहकर पुकारा जाता था तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं थी।

---

1 देखिए डा० जदुनाथ सरकार कृत शिवाजी और उनका युग पृष्ठ 141

2 मआसिर-उल-उमरा, भाग प्रथम, पृष्ठ 174

3 देखिये पंडित रामकरण आसोपा कृत 'मारवाड का मूल इतिहास, पृष्ठ 190.

महाराजा जसवन्तसिंह स्वयं विद्वान और एक अच्छे कवि थे और विद्वानों को संरक्षण प्रदान करने वाले राजा थे। इन्हें आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में अच्छा ज्ञान था। उम्मेदभवन राजमहल में स्थित पुस्तक प्रकाश नामक पुस्तकालय इनके द्वारा ही स्थापित किया गया था। इन्होंने स्वयं कई ग्रन्थ लिखे थे जो 'पुस्तक प्रकाश' में आज भी उपलब्ध हैं।

जसवन्तसिंह के जीवन काल में ही उनके दोनों पुत्रों-महाराजकुमार जगतसिंह एवं पृथ्वीसिंह का देहान्त हो चुका था। अतः उनकी मृत्यु के समय कोई भी पुत्र उनका अन्तिम संस्कार करने के लिए जीवित नहीं था, लेकिन उनकी दो रानियां (रानी जादमन और रानी नरुकी) अवश्य गर्भवती थीं। अतएव इन दोनों को सती होने से रोक दिया गया। इन्हीं के गर्भ से लाहौर में दो राजकुमार (अजीतसिंह और दलथमन) उत्पन्न हुए (21 फरवरी 1679)। राजकुमारों तथा रानियों सहित स्वर्गीय महाराजा के सरदार अप्रेल 1679 में बादशाह औरंगजेब की आज्ञानुसार दिल्ली पहुंचे। जमसूद से दिल्ली पहुंचने में कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा इसका विस्तृत वर्णन मेरे अनुसन्धान ग्रंथ 'Marwar and the Mughal Emperors' में मिल जायेगा।

जसवन्तसिंह की मृत्यु के पश्चात् उत्पन्न राजकुमारों को मुगल बादशाह ने जोधपुर का राज्य नहीं दिया

14 अप्रेल 1679 के दिन स्वर्गीय महाराजा के सरदारों ने सम्राट से गुसलखाने मे भेंट की। सरदार यह चाहते थे कि जोधपुर का राज्य महाराजा के पुत्रों को लौटा दिया जाए। औरंगजेब ने जसवन्तसिंह की मृत्यु के तुरन्त बाद जोधपुर को खालसा कर दिया था और वहां का प्रबन्ध करने के लिए ताहिरखां को फौजदार नियुक्त कर दिया था (फरवरी 1679 में)। खिदमतगुजारखाँ को जोधपुर दुर्ग का किलेदार तथा अब्दुलरहीम को शहर कोतवाल नियुक्त करके जोधपुर भेजा जा चुका था। तात्पर्य यह है कि औरंगजेब ने महाराजा जसवन्तसिंह की मृत्यु की सूचना पाते ही जोधपुर को अपने अधिकार में करने का पूरा पूरा प्रबन्ध कर लिया था। औरंगजेब के आधुनिक इतिहासकार सर जदुनाथ सरकार का कहना है कि बादशाह आलमगीर निम्नांकित कारणों से जोधपुर को अपने अधिकार में रखना चाहता था और इसलिए उसने महाराजा के मृत्योपरान्त पुत्रों को जोधपुर का टीका नहीं दिया था।

(1) सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में जोधपुर का राठौड़ राज्य एक शक्तिशाली हिन्दू राज्य था। यदि यह राज्य जसवन्तसिंह के पुत्र और उत्तराधिकारी अजीतसिंह को प्रदान कर दिया जाता तो कदाचित् औरंगजेब मन्दिरों के विनाश तथा हिन्दुओं पर जजिया लगाने की योजना को लागू नहीं कर सकता था क्योंकि जोधपुर नरेश त्रसित हिन्दू प्रजा की आशा का केन्द्र-बिन्दु बन सकता था।

(2) महाराजा जसवन्तसिंह ने धरमत, खजुआ व देवराय के युद्धों में औरंगजेब

का विरोध किया था। अत वह जसवन्तसिंह के तथाकथित गुनाहों का बदला उसके नाबालिग उत्तराधिकारी से लेना चाहता था।

(3) हिन्दू को उसी समय मुस्लिम बनाया जा सकता था जब कि जोधपुर के स्वतन्त्र राज्य को समाप्त कर दिया जाय।

लेकिन राठोड़ों में कोई नेता नहीं होते हुए भी अपनी कौम और मातृभूमि की रक्षा के लिए जोश था। अत. बीस हजार राठौर योद्धा जोधपुर शहर के इर्द गिर्द एकत्रित हो गए और उन लोगों ने सम्राट् की नीति का विरोध किया। राजपूतों की शक्ति कम करने की गरज से कतिपय राठौड सरदारों के नाम फरमान जारी किए गए और उन्हे जागीर तथा मन्सब प्रदान किए गए। लेकिन जब इससे भी सफलता नजर नहीं आई तो स्वर्गीय महाराजा के भतीजे इन्द्रसिंह को जोधपुर का 'राजा' नियुक्त कर दिया गया और उससे इसके ऐवज मे तीन लाख रुपया बतौर पेशकस वसूल की गई। इन्द्रसिंह को जोधपुर मे सरदारों का सहयोग और समर्थन प्राप्त नहीं हो सका अत उसे दो महीने बाद ही जोधपुर की गद्दी से हटा दिया गया। जोधपुर मे स्थान स्थान पर विद्रोह हो रहे थे। इन विद्रोहो के और दूसरे कारण नही थे जैसा कि अलीगढ विश्व विद्यालय के एक आधुनिक अनुसन्धान छात्र ने अपने लेख मे सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। यह तो राठोडो मे अपनी कौम व देश को स्वतन्त्रता की भावना थी जिससे प्रेरित होकर वे लोग स्थान स्थान पर मुगलों का विरोध कर रहे थे। औरगजेब को भी इन विद्रोहो को शान्त करने मे साम्राज्य की समस्त शक्ति दाव पर लगानी पडी थी।[1] अत जसवन्तसिंह की मृत्यु के पश्चात् मारवाड के राठौडों ने मुगल साम्राज्य के विरुद्ध 30 वर्ष तक जो सघर्ष किया उसे स्वतन्त्रता का युद्ध कहकर पुकारना ही वाजिब है। यह कोई साधारण विद्रोह नहीं था।

> अपनी स्वतन्त्रता के लिए राठौड़ों ने मुगल साम्राज्य के विरुद्ध युद्ध लड़ा था

एक ओर तो मारवाड मे सशस्त्र सघर्ष छिडा हुआ था और दूसरी ओर औरगजेब ने जसवन्तसिंह के बच्चो को दिल्ली में नजरबन्द कर रक्खा था अत राठौड सरदार रघुनाथ भाटी रणछोड जोधा व दुर्गादास ने यह तय किया कि दुर्गादास तो महाराज अजीतसिंह तथा रानियों को लेकर जोधपुर रवाना हो जाए और वह दोनो मुगल सेनाओ का उस वक्त तक मुकाबला करते रहें जब तक अजीतसिंह दिल्ली से कुछ दूर नही पहुँच जाता। रूपसिंह राठौड की हवेली से बालक अजीतसिंह को

> दिल्ली से अजीतसिंह को किस प्रकार निकाल कर सुरक्षित मारवाड पहुँचाया गया था ?

---

1 समकालीन विदेशी यात्री मनूसी के शब्दों में "Aurangzeb put in pledge the whole of his kingdom" Storia do Mogor, II, p 2-0

बलूंदा के ठाकुर मोहकमसिंह की पत्नी के साथ गुप्त रूप से बाहर भेज दिया गया और मुकुन्ददास खीची को उसका गार्ड नियुक्त किया गया। 'वाकया सरकार अजमेर और रणथम्भोर' का लेखक लिखता है- स्वर्गीय महाराजा की दो दासियों ने दूधवाली के वेश में अजीतसिंह को हवेली से बाहर निकाला था। तत्पश्चात् मोहकमसिंह की पत्नी के हवाले कर दिया गया और मुकुन्ददास खीची सपेरे के वेश में बालक अजीतसिंह की रक्षा में साथ साथ गया। लेकिन यह लोग दिल्ली से 4-5 कोस ही आए थे कि इनका पीछा करते हुए हामिदखां आ गया। अतः रणछोड़ जोधा अपने 100 राजपूतों के साथ अजीतसिंह की पार्टी से जुदा हो कर हामिदखां का मुकाबला करने लगा। 2-3 कोस फासला तय करने पर इन लोगों को फिर मुगलों ने आ घेरा। अतः दुर्गादास ने 2-3 घड़ी तक पीछा करने वाली सेना का मुकाबला किया। इस प्रकार कठिनाईयों को पार करके यह लोग अजीतसिंह को 23 जुलाई 1679 के दिन मारवाड़ पहुँचाने में सफल हुए।

अजीतसिंह को पकड़ने में असफल मुगल सेनानायकों ने एक दूधवाली के बच्चे को औरगजेब के हवाले कर दिया। बादशाह ने उसका नाम मुहम्मदीराज रक्खा तथा उसके लालन-पालन का उत्तरदायित्व अपनी पुत्री जैबुन्निसा बेगम के सुपुर्द कर दिया।

अजीतसिंह को मारवाड़ में छिपा कर रक्खा गया

मारवाड़ में अजीतसिंह को पहले बलूंदा में तथा फिर सिरोही के कालिन्द्री ग्राम में जयदेव नामक पुष्करणा ब्राह्मण के यहां रखा गया। लेकिन जब सिरोही के राव ने राठौड़ों को अजीतसिंह के सिरोही राज्य की सीमाओं से बाहर ले जाने पर मजबूर किया तो फिर बालक महाराजा को अरावली पर्वतमालाओं में छिपा कर रक्खा गया। दुर्गादास के प्रयत्नों से राणा राजसिंह ने मेवाड़ में केलवा की जागीर अजीतसिंह के निर्वाह के लिए प्रदान की।

औरंगजेब ने अजीतसिंह को पकड़ने का उत्तरदायित्व ताहिरखां और इन्द्रसिंह पर डाला। लेकिन यह दोनों सफल नहीं हुए। अतः ताहिरखां को पदच्युत कर दिया गया और इन्द्रसिंह को 2 महीने के बाद ही गद्दी से उतार दिया गया। बादशाह अजीतसिंह को पकड़ना चाहता था और दुर्गादास तथा उसके दूसरे साथी उसकी रक्षा करने में प्रयत्नशील थे। औरंगजेब ने राठौड़ों का दमन करने का कार्य अपने तृतीय पुत्र शाहजादे अकबर को सौंपा और उसके साथ पादशाहकुलीखाँ, शम्मखां, मामूरखां,

औरंगजेब की मारवाड़-नीति

नैमखां जैसे वीर और अनुभवी सेना-नायक नियुक्त किए। मारवाड़ को ज़िलों में विभक्त कर दिया गया और प्रत्येक ज़िले (परगने) का प्रबन्ध एक फौजदार को सौंप दिया गया। इस प्रकार बादशाह ने मारवाड़ को

प्रत्यक्ष रूप से मुगल प्रशासन मे मिला लिया । औरगजेब की इस नीति ने राठौडों को मुगल साम्राज्य के विरुद्ध सगठित हो कर विरोध करने के लिए प्रोत्साहित किया । उन लोगो ने मेवाड के पडौसी राज्य से भी सहायता प्राप्त की । मेवाड के राणा राजसिंह के मुगल सम्राट औरगजेब के साथ व्यक्तिगत रूप से मधुर सम्बन्ध थे लेकिन फिर भी वह मारवाड को सहायता देने के लिए तैयार हो गए । इसका कारण यह हो सकता है कि राणा राजसिंह मेवाड को पुन गौरव एव प्रतिष्ठा के पद पर आसीन करना चाहते थे । राणा सागा की मृत्यु के पश्चात् मेवाड की गौरव गरिमा फीकी पड गई थी । जसवन्तसिंह के नेतृत्व मे मारवाड शक्तिशाली हो गया था । नेतृत्वविहीन मारवाड की सहायता करके राणा राजसिंह ने यह सिद्ध कर दिया था कि सकटकाल म राजपूत शत्रु के विरुद्ध सगठित हो सकते थे । अत औरगजेब को मेवाड के विरुद्ध सेनाए भजनी पडी । देबारी के युद्ध में (4 जनवरी 1680) मेवाड और मारवाड की सयुक्त सेना को औरगजेब की सेना ने पराजित किया । मेवाड की राजधानी उदयपुर मे स्थित जगदीशजी के मन्दिर तक मुगल सैनिक पहुच गए । इस प्रकार उदयपुर का बरबाद करके मुगल सेनाए तो वापस अजमेर आ गई लेकिन औरगजेब अजीतसिंह को पकडने के मनसूबे मे सफल नही हो सका ।

जब औरगजेब की सेनायें मेवाड म लड रही थी तब शाही शक्ति को विभाजित करने के उद्देश्य से दुर्गादास राठोड और सोनिग ने अपने साथियो सहित जालोर, सोजत सिवाना व जैतारण मे विद्रोह कर दिये । ऐसा प्रतीत होता है कि औरगजेब की नीति ने मारवाड म जन साधारण का मुगल साम्राज्य का विरोधी और अशुभ चितक बना दिया था । औरगजेब ने इन विद्रोहो का दमन करने के लिए इन्द्रसिंह के अलावा हामिदखां तथा नवाब मुकरमखां के नेतृत्व म सेनायें भेजी थी लेकिन कोई नतीजा नही निकला । मारवाड की हर दिशा म लोकप्रिय विद्रोह हो रहे थे जिसकी वजह से मुगलो की स्थिति शोचनीय हो गई थी और मारवाड का व्यापार एव वाणिज्य भी लगभग समाप्त हो गया था । [1]

अतएव औरगजेब को शाहजादे अकबर को मेवाड से मारवाड भेजना पडा ।

---

1 "All parts of Marwar, Jalor and Siwana in the south, Didwana in the north and Sambhar in the north-east were invaded by Ajit's partisans The Rathor bands spread over the Country and they appeared unexpectedly in different quarters and after having secured a success over a weak Mughal outpost kept the land in perpetual turmoil Even the trade routes were closed by them"

—J N Sarkar, History of Aurangzeb, III P 347

जून 1680 में सोजत को अपना base of operation बनाकर अकबर ने राठौड़ों का दमन करने की योजना बनाई थी। 11 अक्तूबर 1680 के दिन इसने नाडोल के युद्ध में राठौडों को पराजित भी किया था। अकबर को नाडोल से दिलवाड़ा होते हुए मेवाड़ पर आक्रमण करना था। लेकिन देमूरी के घाटे की दुर्गम पहाड़ियों के कारण अकबर सम्राट के आदेशानुसार शीघ्र कार्य नहीं कर सका। वह मेवाड़ और मारवाड़ में राजपूतों का दमन करने में असफल रहा अतः बादशाह उससे क्रुद्ध हो गया। बादशाह की नाराजगी के कारण अकबर और औरंगजेब के बीच कोई पत्र-व्यवहार नहीं हुआ। इस अवसर का दुर्गादास राठौड़ ने फायदा उठाया। तहव्वरखां उर्फ पादशाहकुलीखां के द्वारा अकबर को औरंगजेब के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए सफलता-पूर्वक प्रोत्साहित कर दिया गया। यही एक तरीका था जिससे औरंगजेब की ताकत को कम किया जा सकता था ताकि मारवाड़ बर्बाद होने से बच सके। राणा राजसिंह की मृत्यु के पश्चात् (22.11.1680) उसके पुत्र और उत्तराधिकारी ने राठौड़ों का उतने उत्साह के साथ साथ देना बन्द कर दिया था। अतः अकबर को बादशाह बनने के सब्ज बाग दिखाकर दुर्गादास राठौड़ मारवाड़ में औरंगजेब के अभियान की तीव्रता को कम करने में सफल हुआ। अकबर ने 3 जनवरी 1681 के दिन नाडोल के स्थान पर अपने आपको बादशाह घोषित कर दिया। भारत में मुगल साम्राज्य का इतिहास उत्तराधिकार के लिए लड़े गये संघर्षों की कहानियों से भरा पड़ा है। अतः यदि अकबर ने भी अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया तो इसमें कोई नई बात नहीं थी।

> औरंगजेब के पुत्र अकबर ने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया

लेकिन शाहजादा अकबर अपने आलसी स्वभाव के कारण सफलता प्राप्त नहीं कर सका। औरंगजेब को जैसे ही अकबर के विद्रोह की सूचना मिली वैसे ही उसने अकबर के नाम पत्र लिखकर उन्हें राजपूतों के खेमों के पास डलवा दिया। औरंगजेब के इन पत्रों को पढ़कर राजपूत अकबर पर सन्देह करने लगे। औरंगजेब और अकबर की सेनाओं के बीच युद्ध छिड़ने से पूर्व ही राजपूत अकबर को छोड़कर भाग खड़े हुए (25 जनवरी 1681) लेकिन अकबर के पास कोई चारा नहीं था। वह भी उनके पीछे पीछे हो लिया और जैतारण से 20 मील दूर पुनः राठौड़ों के साथ जा मिला। औरंगजेब की सतर्कता और चालाकी ने विद्रोह का दमन करने में सफलता प्राप्त की। राठोड़ों की शक्ति को विभाजित करने के उद्देश्य से उसने जसवन्तसिंह की विधवा हाड़ीरानी को वाराँ का परगना प्रदान किया। पादशाहकुलीखाँ को उसके श्वसुर इनायतखां के द्वारा अकबर से जुदा कर दिया और फिर जाली पत्र लिखकर राठोड़ों को अकबर से अलग कर दिया अन्यथा उसे (औरंगजेब को) हिन्दुस्तान की बादशाहत से हाथ धोने पड़ते।

> औरंगजेब की चालाकी के कारण अकबर का विद्रोह असफल हो गया।

राठौड़ो ने अकबर को विद्रोह करने के लिए प्रोत्साहित करके केवल औरंगजेब की शक्ति ही विभाजित नही की, अपितु इसके द्वारा अजीतसिंह के लिए महाराजा की उपाधि तथा 7000 जात व सवार का मन्सब भी प्राप्त किया। इस प्रकार एक ओर तो औरंगजेब अजीतसिंह को जसवन्तसिंह का पुत्र मानने से ही इन्कार कर रहा था और दूसरी ओर उसके पुत्र ने अजीतसिंह को जोधपुर का 'महाराजा' स्वीकार किया।

औरंगजेब ने अकबर का पीछा करने के लिए अपने बड़े लड़के मुअज्जम को नियुक्त किया लेकिन दुर्गादास राठौड उसे जालौर, साचोर होता हुआ मेवाड ले गया। वहां महाराणा जयसिंह की बेरुखी देखकर उसे डूंगरपुर ले गया। डूंगरपुर से दक्षिण मे शम्भाजी के पास (शिवाजी के पुत्र और उत्तराधिकारी) ले गया (11 जून 1681 A D)। दुर्गादास ने अकबर का साथ क्यो दिया, इसके दो कारण हो सकते हैं —

(i) अकबर को शम्भाजी के दरबार मे ले जाकर कदाचित् दुर्गादास राठौड मराठा मैत्री स्थापित करना चाहता था।

(ii) अकबर को दक्षिण ले जाकर दुर्गादास ने औरंगजेब का ध्यान मारवाड से हटाकर दक्षिण की ओर कर दिया। औरंगजेब भी दक्षिण भारत की ओर प्रस्थान कर गया।

औरंगजेब के दक्षिण रवाना होते ही राठौड सरदारों को मारवाड मे जगह जगह उत्पात मचाने की खुली छूट मिल गई। इसका परिणाम यह निकला कि कतिपय स्थलो पर मुगलो के पैर उखड गए। भाद्राजूण मे मुगल सैनिको को जोधा उदयभान व ऊदावत जगरामसिंह ने पराजित किया, बालोतरा मे अखयराज ने मुगलों के पैर उखाड दिये और कानाना के युद्ध-क्षेत्र मे पुरदीलखां को पराजित करके सिवाना के दुर्ग पर राजपूतों ने अपना अधिकार जमा लिया। अपने इन उत्पातों के कारण राठौडों ने मारवाड का अधिकार मुगलो के लिए महगा कर दिया और वे लोग आतंकित हो गए।[1]

> मारवाड़ मे कौमी स्वतन्त्रता के लिए स्थान २ पर उपद्रव हुए

दुर्गादास अकबर को फारस की ओर भेजकर स्वयं अगस्त 1687 मे सुरक्षित मारवाड पहुच गया। लेकिन मारवाड पहुचने पर उसे यह जानकर अत्यधिक

1 "They had no common plan of actions. Their only object was to attack the Mughals wherever they could. The desultory warfare afforded many examples of Rathor bravery and devotion, but its actual effect was merely to keep the Mughal garrisons in constant alarm and to make their occupation of Marwar financially ruinors." —J N. Sarkar.

खेद हुआ कि अजीतसिंह को मार्च 1687 में प्रकट कर दिया गया था। अतः वह स्वयं अजीत के दरबार में सिवाना नहीं गया। दुर्जनसाल हाडा के साथ मिलकर उसने जहाँ तहाँ मुगलों पर छापे मारने का कार्यक्रम अपना लिया। चूंकि औरंगजेब स्वयं दक्षिण में बुरी तरह जूझ गया था, अतः उसने मारवाड़ का प्रबन्ध गुजरात के सूबेदार शुजातखां के सुपुर्द कर दिया। शुजातखां साल में छः महीने मारवाड़ में रहने लगा। शुजातखां ने दुर्गादास का पीछा करने का कार्य हाशिमबेग और मुहम्मद काजिमबेग के सुपुर्द किया। इन लोगों ने दुर्गादास के गांव वगैरा जला दिए लेकिन दुर्गादास को पकड़ने में सफलता नहीं मिली।

जोधपुर के अमीन और फतूहाते आलमगीरी के लेखक ईसरदास नागर ने शुजातखां के इशारे पर दुर्गादास के साथ वार्तालाप प्रारंभ की। इसी दौरान दुर्गादास ने ईशरदास नागर को सिखाकर भेजा कि यदि उसके घर-बार को कोई नुकसान नहीं पहुंचाया जायगा तो वह शाहजादे अकबर की पुत्री सैफुन्निसा बेगम को उसके पितामह के हवाले कर सकता है। यह पत्र शुजातखां के पास से औरंगजेब के पास तक जा पहुंचा। बादशाह की आज्ञा से सैफुन्निसा बेगम को दुर्गादास व ईसरदास नागर साथ लेकर दक्षिण भारत गए (मई 1698 में)। औरंगजेब ने प्रसन्न होकर दुर्गादास को इनाम व मन्सब प्रदान किया और मेड़ता की जागीर उसे देने का फरमान शुजातखां के नाम भेजा। तत्पश्चात् बागी शाहजादे के पुत्र बुलन्द अख्तर को भी औरंगजेब के हवाले करने के लिए ईसर दास ने दुर्गादास को फुसलाना प्रारम्भ किया। दुर्गादास ने बुलन्द अख्तर को तो हवाले कर दिया लेकिन साथ ही बादशाह से प्रार्थना की कि अजीतसिंह को माफी बख्श दी जावे तथा सिवाना, जालौर व सांचोर की जागीर उसे प्रदान की जाए।[1] औरंगजेब ने दुर्गादास की प्रार्थना स्वीकार कर ली। दुर्गादास व अजीतसिंह दोनों को ही बादशाह की ओर से मन्सब तथा जागीर प्रदान की गई। 1698-99 के साल में मारवाड़ में अनावृष्टि के कारण अकाल पड़ गया था। अतः अजीतसिंह ने आर्थिक परेशानियों की वजह से बादशाह से मन्सब तथा जागीर प्रदान करने के लिए प्रार्थना की थी।

> शुजातखां के प्रयत्नों से मारवाड़ और मुगलों के बीच क्षणिक शांति स्थापित हो गई थी

शुजातखां की मृत्यु के साथ-साथ यह शान्ति-समझौता भी भंग हो गया। शुजात खां के उत्तराधिकारी शाहजादा आजम ने पुनः कठोर नीति अपना ली। दुर्गादास को गिरफ्तार करने की कोशिश की गई। इसी समय अजीतसिंह व दुर्गादास के बीच मनोमालिन्य हो गया अतः औरंगजेब ने भी reconciliation की नीति त्याग दी। 1702 में पुनः युद्ध प्रारम्भ हो गया।

> शुजात खाँ की मृत्यु के पश्चात् पुनः युद्ध छिड़ गया

1. मिरात-ए-अहमदी, I, पृष्ठ 341.

लेकिन औरंगजेब के जीवनकाल में अजीतसिंह जोधपुर पर अधिकार करने में सफल नहीं हो सका। औरंगजेब की मृत्यु होने के एक महीने के भीतर अजीतसिंह ने जोधपुर पर अधिकार कर लिया था (12 3 1707)। बादशाह औरंगजेब की मृत्यु के साथ ही मारवाड का स्वतन्त्रता संग्राम का संघर्ष भी समाप्त हो गया।

औरंगजेब की नीति का परिणाम

बादशाह औरंगजेब की नीति ने मारवाड के राठोड़ों को हमेशा के लिए मुगल साम्राज्य का अशुभ चिन्तक बना दिया था। 'The insults which had been offered to Ajit Singh and to Hindu religion and the ruthless and unnecessary sterity of the Emperor's Compaigns in Marwar left a sore which could not be healed A race which had been the right arm of the Mughal Emperors was now hopelessly alienated, and never again served the throne without distrust".

औरंगजेब की मृत्यु के बाद अजीतसिंह ने जोधपुर पर अधिकार कर लिया

औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों मुअज्जम और आजम के बीच राजगद्दी के लिए जाजू नामक स्थान पर 8 जून 1707 के दिन युद्ध लड़ा गया। जाजू के युद्ध से पहले दोनों ही पक्षों ने अजीतसिंह की सहायता चाही थी लेकिन अजीतसिंह उत्तराधिकार के इस सशस्त्र संघर्ष में तटस्थ रहा। अत जाजू के युद्ध के विजेता मुअज्जम ने बादशाह बनने के पश्चात् अजीतसिंह का दमन करने के लिए एक सेना मिहराब खां के नेतृत्व में भेजी। अजीतसिंह ने खून-खराबी से मारवाड को बचाने के लिए बादशाह बहादुरशाह के पास अजमेर के मुकाम पर अपने दो विश्वासपात्र सरदारों (मुकन्दसिंह व बख्तसिंह) को भेजा। जब बहादुरशाह मेड़ता पहुंचा तो अजीतसिंह खानखाना के साथ उसके दरबार में उपस्थित हुआ (11 मार्च 1708)। बादशाह ने अजीतसिंह को महाराजा की उपाधि व मन्सब प्रदान किए लेकिन इस वक्त जोधपुर का पैतृक राज्य अजीतसिंह को नहीं दिया गया।

अजीतसिंह, सवाई जयसिंह और महाराणा अमरसिंह का संयोग

बहादुरशाह अजीतसिंह और जयसिंह (सवाई) को अपने साथ दक्षिण ले गया। वह अपने भाई कामबक्श के विद्रोह का दमन करने के लिए दक्षिण गया था। उत्तर भारत में अपनी अनुपस्थिति में बहादुरशाह इन राजपूत राजाओं को स्वच्छन्द रूप से छोड़ कर नहीं जाना चाहता था। इस वक्त दुर्गादास भी बादशाह के साथ गया था। लेकिन जब शाही सेना सूबा मालवा में मण्डलेश्वर नामक स्थान पर पहुंची तो अजीतसिंह, जयसिंह व दुर्गादास वापस लौट गए। लौटते वक्त इन दोनों राजाओं की महाराणा से देबारी के स्थान पर भेंट हुई। 1527 के बाद मौका था जब मेवाड, मारवाड,

और आमेर के राजा मुगल बादशाह के विरुद्ध संगठित हुए थे । संगठित सेना ने पहले जोधपुर पर अधिकार किया (18 जुलाई 1708) और फिर साँभर के युद्ध में मुगलों को पराजित करके सवाई जयसिंह को आमेर का राज्य दिलवाया । तत्पश्चात् नागौर के राव इन्द्रसिंह को पराजित किया और डीडवाना के मुगल फौजदार को पराजित किया। इस प्रकार उत्तर भारत में बादशाह की अनुपस्थिति का अजीतसिंह ने पूरा पूरा फायदा उठाया । अतः दक्षिण से लौटने के बाद बहादुरशाह ने जोधपुर वतन-जागीर के रूप में अजीतसिंह को 2 अक्टूबर 1708 के दिन प्रदान किया ।

इस प्रकार बहादुरशाह की मृत्यु के समय (Feb. 1712 में) अजीतसिंह जोधपुर का महाराज, सोरठ का फौजदार तथा शाही सेना में 4000 जात व सवार का मन्सबदार था । उसने शाही दरबार में अपना प्रभाव बढ़ाना शुरू कर दिया था ।

अतः बहादुरशाह के पुत्र और उत्तराधिकारी जहांदारशाह के अल्प शासनकाल में अजीतसिंह का मन्सब बढ़कर 7000 जात व सवार का हो गया । उसके विद्रोही जाट सरदार चूड़ामन के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित हो गए और उसकी गणना भारत के महान् एवं शक्तिशाली हिन्दू शासकों में की जाने लगी ।

अजीतसिंह की मुगल साम्राज्य में स्थिति

जहांदारशाह के उत्तराधिकारी फर्रुखसीयर के शासन–काल में अजीतसिंह की प्रतिष्ठा और अधिक बढ़ गई थी । यद्यपि उसे 1714 में अपनी पुत्री इन्द्रकंवर का डोला बादशाह को देना पड़ा था, लेकिन फर्रुखसीयर की मृत्यु के समय उसकी स्थिति इतनी अधिक बढ़ गई थी कि वह सैयद बन्धुओं के साथ 'बादशाह निर्माता' बन गया था ।[1] फर्रुखसीयर की मृत्यु के बाद इसने रफीउदरजात को एक हाथ पकड़ कर तख्त पर बिठाया था । अजीतसिंह की प्रार्थना पर रफीउदरजात ने हिन्दुओं से जजिया वसूल करना बंद कर दिया । उसकी पुत्री इन्द्रकंवर को पुनः जोधपुर लौट जाने की अनुमति दे दी ।[2]

"Thus Ajitsingh became one of the leading Rajput Rajas of Hindustan besides being a very important grandee of the Mughal Empireduing, the years immediately following assassination of Farrukhsiyar."

1. "Maharaja Ajitsingh played an active part at the time of Farrukhsiyar's deposition. The might preceding the Emperor's deposition Ajitsingh remained in the Fort Palace and his men were posted on the guard." Irvine, Later Mughals, vol. I, P. 380.

2. "In the reign of no former Emperor had any Raja been so presumptuous as to take his daughter, after she had been married to a king and admitted to the honour of Islam." Khafi Khan's 'Muntakhab ul-Lubab' (Elliot's Eng. Trans. vol VII p. 47[illegible])

लेकिन औरंगजेब के जीवनकाल म अजीतसिंह जोधपुर पर अधिकार करने में सफल नही हो सका। औरंगजेब की मृत्यु होने के एक महीने के भीतर अजीतसिंह ने जोधपुर पर अधिकार कर लिया था (12 3 1707)। बादशाह औरंगजेब की मृत्यु के साथ ही मारवाड का स्वतन्त्रता सग्राम का सघर्ष भी समाप्त हो गया।

औरंगजेब की नीति का परिणाम

बादशाह औरंगजेब की नीति ने मारवाड के राठोडों को हमेशा के लिए मुगल साम्राज्य का अशुभ चिन्तक बना दिया था। "The insults which had been offered to Ajit Singh and to Hindu religion and the ruthless and unnecessary srerity of the Emperor's Com paigns in Marwar left a sore which could not be healed A race which had been the right arm of the Mughal Emperors was now hopelessly alienated, and never again served the throne without distrust"

औरंगजेब की मृत्यु के बाद अजीतसिंह ने जोधपुर पर अधिकार कर लिया

औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात उसके पुत्रो मुअज्जम और आजम के बीच राज गद्दी के लिए जाजू नामक स्थान पर 8 जून 1707 के दिन युद्ध लडा गया। जाजू के युद्ध से पहले दोनो ही पक्षो ने अजीतसिंह की सहायता चाही थी लेकिन अजीतसिंह उत्तराधिकार के इस सशस्त्र सघर्ष मे तटस्थ रहा। अत जाजू के युद्ध के विजेता मुअज्जम ने बादशाह बनने के पश्चात् अजीतसिंह का दमन करने के लिए एक सेना मिहराब खा के नेतृत्व मे भेजी। अजीतसिंह ने खून-खराबी से मारवाड को बचाने के लिए बादशाह बहादुरशाह के पास अजमेर के मुकाम पर अपने दो विश्वासपात्र सरदारो (मुकन्दसिंह व बख्तसिंह) को भेजा। जब बहादुरशाह मेडता पहुचा तो अजीतसिंह खानखाना के साथ उसके दरबार मे उपस्थित हुआ (11 मार्च 1708)। बादशाह ने अजीतसिंह को महाराजा की उपाधि व मनसब प्रदान किए लेकिन इस वक्त जोधपुर का पैतृक राज्य अजीतसिंह को नही दिया गया।

अजीतसिंह, सवाई जयसिंह और महाराणा अमरसिंह का सयोग

बहादुरशाह अजीतसिंह और जयसिंह (सवाई) को अपने साथ दक्षिण ले गया। वह अपने भाई कामबक्श के विद्रोह का दमन करने के लिए दक्षिण गया था। उत्तर भारत से अपनी अनुपस्थिति मे बहादुरशाह इन राजपूत राजाओ को स्वच्छद रूप से छोड कर नही जाना चाहता था। इस वक्त दुर्गादास भी बादशाह के साथ गया था। लेकिन जब शाही सेना सूबा मालवा में मडलेश्वर नामक स्थान पर पहुची तो अजीतसिंह, जयसिंह व दुर्गादास वापस लौट गए। लौटते वक्त इन दोनो राजाओं की महाराणा से देबारी के स्थान पर भेंट हुई। 1527 के बाद यह पहला मौका था, जब मेवाड, मारवाड

और आमेर के राजा मुगल बादशाह के विरुद्ध संगठित हुए थे । संगठित सेना ने पहले जोधपुर पर अधिकार किया (18 जुलाई 1708) और फिर सांभर के युद्ध में मुगलों को पराजित करके सवाई जयसिंह को आमेर का राज्य दिलवाया । तत्पश्चात् नागौर के राव इन्द्रसिंह को पराजित किया और डीडवाना के मुगल फौजदार को पराजित किया । इस प्रकार उत्तर भारत में बादशाह की अनुपस्थिति का अजीतसिंह ने पूरा पूरा फायदा उठाया । अतः दक्षिण से लौटने के बाद बहादुरशाह ने जोधपुर वतन-जागीर के रूप में अजीतसिंह को 2 अक्टूबर 1708 के दिन प्रदान किया ।

इस प्रकार बहादुरशाह की मृत्यु के समय (Feb. 1712 में) अजीतसिंह जोधपुर का महाराज, सोरठ का फौजदार तथा शाही सेना में 4000 जात व सवार का मन्सबदार था । उसने शाही दरबार में अपना प्रभाव बढ़ाना शुरू कर दिया था ।

अजीतसिंह की मुगल साम्राज्य में स्थिति

अतः बहादुरशाह के पुत्र और उत्तराधिकारी जहांदारशाह के अल्प शासनकाल में अजीतसिंह का मन्सब बढ़कर 7000 जात व सवार का हो गया । उसके विद्रोही जाट सरदार चूड़ामन के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित हो गए और उसकी गणना भारत के महान् एवं शक्तिशाली हिन्दू शासकों में की जाने लगी ।

जहांदारशाह के उत्तराधिकारी फर्रुखसीयर के शासन-काल में अजीतसिंह की प्रतिष्ठा और अधिक बढ़ गई थी । यद्यपि उसे 1714 में अपनी पुत्री इन्द्रकंवर का डोला बादशाह को देना पड़ा था, लेकिन फर्रुखसीयर की मृत्यु के समय उसकी स्थिति इतनी अधिक बढ गई थी कि वह सैयद बन्धुओं के साथ 'बादशाह निर्माता' बन गया था ।[1] फर्रुखसीयर की मृत्यु के बाद इसने रफीउदरजात को एक हाथ पकड़ कर तख्त पर बिठाया था । अजीतसिंह की प्रार्थना पर रफीउदरजात ने हिन्दुओं से जजिया वसूल करना बंद कर दिया । उसकी पुत्री इन्द्रकंवर को पुनः जोधपुर लौट जाने की अनुमति दे दी ।[2]

"Thus Ajitsingh became one of the leading Rajput Rajas of Hindustan besides being a very important grandee of the Mughal Empireduing, the *years immediately following* assassination *of* Farrukhsiyar."

---

1. "Maharaja Ajitsingh played an active part at the time of Farrukhsiyar's deposition. The might preceding the Emperor's deposition Ajitsingh remained in the Fort Palace and his men were posted on the guard." Irvine, Later Mughals, vol. I, P. 380.

2. "In the reign of no former Emperor had any Raja been so presumptuous as to take his daughter, after she had been married to a king and admitted to the honour of Islam." Khafi Khan's 'Muntakhab ul-Lubab' (Elliot's Eng. Trans. vol. VII, p. 479.)

अजीतसिंह और सैयद बन्धुओं का प्रभाव फर्रुखसियर, रफीउद्दौला और मुहम्मदशाह के शासनकाल के प्रथम वर्षों में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया।

अजीतसिंह 'बादशाह निर्माता' था।

प्रकृति का नियम है कि जिसका उत्थान होता है उसका पतन भी अवश्यंभावी है। अजीतसिंह का भी पतन हुआ लेकिन उसका पतन उसकी हत्या के साथ हुआ। अजीतसिंह की उसके छोटे पुत्र बख्तसिंह ने जोधपुर में 23 व 24 जून 1724 की रात को हत्या कर दी। अजीतसिंह की हत्या के साथ ही मारवाड़ का प्रभुत्वशाली युग भी समाप्त हो गया।

इसमें तो संदेह नहीं कि अजीतसिंह मारवाड़ के उन प्रमुख शासकों में से एक था जिसके शासन-काल में राठौड़ राज्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। लेकिन अजीतसिंह के चरित्र में दो बड़े दोष थे। प्रथम दोष तो यह था कि इसने दुर्गादास राठौड़ के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया, दूसरा दोष इसके चरित्र में व्यभिचार था जिसकी वजह से बख्तसिंह ने इसकी हत्या की थी। अन्यथा इसने अपनी पटुता के कारण मारवाड़ को उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा दिया था।

मंडोर के राव रणमल्ल की बारहवीं पीढ़ी में उत्पन्न करणोत राठौड़ के वंश

**दुर्गादास राठौड़
1638-1718**

सलवा ठाकुर आसकरण का पुत्र दुर्गादास राठौड़ था। इसका जन्म 13 अगस्त 1638 के दिन हुआ था। धरमत के युद्ध में यह अपने पिता के साथ मौजूद था और जब महाराजा जसवन्तसिंह का देहान्त हुआ तब यह जमरूद में उपस्थित था।

जमरूद से जिस प्रकार इसने अपने दूसरे साथियों के साथ स्वर्गीय महाराजा के बाल बच्चों को मारवाड़ पहुँचाया और मारवाड़ में जिस प्रकार 25 वर्ष तक जातीय स्वतन्त्रता के लिए मुगलों के विरुद्ध संघर्ष जारी रखा इसका संक्षेप में वर्णन पिछले पृष्ठों में यथास्थान किया जा चुका है। मारवाड़ राज्य के लिए इसकी सेवाएँ अकबर महान् के वकील-ए-सल्तनत बैराम खां से किसी रूप में कम नहीं थी।

महाराजा अजीतसिंह से मनमुटाव हो जाने के बाद भी दुर्गादास निरंतर अजीतसिंह के इर्दगिर्द रहा था। अजमेर के मुगल सूबेदार शफीखां ने षड्यन्त्र करके अजीतसिंह का अपमान की कोशिश की थी, तब दुर्गादास ने ही अजीतसिंह को सचेत किया था। मुगल बादशाह बहादुरशाह के साथ जब अजीतसिंह व जयसिंह 1708 में दक्षिण जा रहे थे तब दुर्गादास ने ही मंडलेश्वर के स्थान पर अजीतसिंह को परामर्श दिया था कि उसे मारवाड़ लौट जाना चाहिए। उसका परामर्श अजीतसिंह के लिए फायदेमंद साबित हुआ। बहादुरशाह की उत्तर भारत में अनुपस्थिति में अजीतसिंह ने जोधपुर तथा मारवाड़ के अन्य भागों पर अधिकार कर लिया। सांभर के युद्ध में भी दुर्गादास ने भाग लिया था। मुगल साम्राज्य के सरकारी कागजों (अखबारात) में

दुर्गादास का जिक्र 1716 ई० तक मिलता है। पंडित विश्वेश्वरनाथ रेऊ के अनुसार दुर्गादास का 1718 में रामपुरा में देहान्त हुआ था। अतः उसका सिपरा नदी के तट पर दाह संस्कार सम्पन्न किया गया जहां उसकी छतरी आज तक मौजूद है।

अजीतसिंह से मतभेद हो जाने के पश्चात् दुर्गादास मेवाड़ चला गया था! महाराणा ने उसके निर्वाह के लिए जागीर भी प्रदान करदी थी। यद्यपि उसकी मृत्यु के पश्चात् दुर्गादास के वंशजों के साथ मारवाड के राजाओं ने अच्छा व्यवहार किया और उसकी औलाद को कानाना, बागावास, समदड़ी की जागीरें भी प्रदान की लेकिन उसके जीवन-काल में उसे मारवाड छोड़कर जाना पड़ा था। मारवाड़ की ख्यातों में अजीतसिंह और दुर्गादास के बीच मनमुटाव के कारण नहीं दिए गए हैं लेकिन सम्भवतः मनमुटाव के दो कारण हो सकते हैं :—

(i) मुगल शाहजादे अकबर को दक्षिण ले जाते वक्त दुर्गादास मुकुन्ददास खीची तथा दूसरे सरदारों को आदेश दे गया था कि महाराज अजीतसिंह को Concealment से बाहर नहीं निकाला जाए लेकिन दुर्गादास की अनुपस्थिति में सरदारों ने अजीतसिंह को प्रकट कर दिया। अत: मारवाड़ लौटने पर दुर्गादास अजीतसिंह के दरबार मे उपस्थित नहीं हुआ। दुर्गादास से ईर्षा रखने वाले सरदारों ने इस अवसर से लाभ उठाया और अजीतसिंह के दुर्गादास के विरुद्ध कान भरे।

(ii) जैसे जैसे दुर्गादास का मुगल साम्राज्य और पड़ौसी राज्यों में प्रभाव बढ़ता गया वैसे-वैसे ही मारवाड़ में उसके विरोधियों की भी संख्या बढ़ती गई जिन्होंने अजीतसिंह के उसके विरुद्ध कान भरे। दुर्गादास को जब इच्छित सम्मान अजीतसिंह के द्वारा प्रदान नहीं किया गया तब वह स्वयं मारवाड़ छोड़कर मेवाड़ चला गया। महाराजा अजीतसिंह के द्वारा उसे मारवाड़ से देश निकाला नहीं दिया गया था।

BIBLIOGRAPHY

1. Tod : Annals and Antiquities of Rajasthan, vol. II.
2. G.H. Ojha : History of Jodhpur State (Hindi) vol. I & II.
3. B. N. Reu : Marwar-ka-Itihas (Hindi) vol. I & II.
4. Pt. R. K. Asopa : Marwar-ka-Mool-Itihas.
5. V.S. Bhargava : Marwar and Mughal Emperors (1526-48) Published by Munshi Ram Manohar Lal, Delhi.
6. Shyamal Das : Vir Vinod (Udaipur)
7. B. N. Reu : Rathod Durga Das.

अजीतसिंह और सैयद बन्धुओं का प्रमुख रफीउद्दरजात, रफीउद्दौला और बादशाह मुहम्मदशाह के शासनकाल के प्रथम वर्षों में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया।

अजीतसिंह 'बादशाह निर्माता' था।

प्रकृति का नियम है कि जिसका उत्थान होता है उसका पतन भी अवश्यम्भावी है। अजीतसिंह का भी पतन हुआ लेकिन उसका पतन उसकी हत्या के साथ हुआ। अजीतसिंह की उसके छोटे पुत्र बख्तसिंह ने जोधपुर में 23 व 24 जून 1724 की रात को हत्या कर दी। अजीतसिंह की हत्या के साथ ही मारवाड़ का प्रभुत्वशाली युग भी समाप्त हो गया।

इसमें तो संदेह नहीं कि अजीतसिंह मारवाड़ के उन प्रमुख राजाओं में से एक था जिसके शासन-काल में राठौड़ राज्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। लेकिन अजीतसिंह के चरित्र में दो बड़े दोष थे। प्रथम दोष तो यह था कि इसने दुर्गादास राठौड़ के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया, दूसरा दोष इसके चरित्र में व्यक्तिगत था जिसकी वजह से बख्तसिंह ने इसकी हत्या की थी अन्यथा इसने अपनी पटुता के कारण मारवाड़ को उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा दिया था।

मण्डोवर के राव रणमल्ल की बारहवीं पीढ़ी में उत्पन्न करणोत राठौड़ के वंशज

दुर्गादास राठौड़ 1638-1718

सालवा ठाकुर आसकरण का पुत्र दुर्गादास राठौड़ था। इसका जन्म 13 अगस्त 1638 के दिन हुआ था। धरमत के युद्ध में यह अपने पिता के साथ मौजूद था और जब महाराजा जसवन्तसिंह का देहान्त हुआ तब यह जमरूद में उपस्थित था।

जमरूद से किस प्रकार इसने अपने दूसरे साथियों के साथ स्वर्गीय महाराजा के बाल बच्चों को मारवाड़ पहुँचाया और मारवाड़ में किस प्रकार 25 वर्ष तक जातीय स्वतन्त्रता के लिए मुगलों के विरुद्ध संघर्ष जारी रखा इसका संक्षेप में वर्णन पिछले पृष्ठों में यथास्थल किया जा चुका है। मारवाड़ राज्य के लिए इसकी सेवाएँ अकबर महान् के वकील ए-सल्तनत बैराम खां से किसी रूप में कम नहीं थी।

महाराजा अजीतसिंह से मनमुटाव हो जाने के बाद भी दुर्गादास निरंतर अजीतसिंह के इर्दगिर्द रहा था। अजमेर के मुगल सूबेदार शफीखां ने षडयन्त्र करके अजीतसिंह को फंसाने की कोशिश की थी, तब दुर्गादास ने ही अजीतसिंह को सचेत किया था। मुगल बादशाह बहादुरशाह के साथ जब अजीतसिंह व जयसिंह 1708 में दक्षिण जा रहे थे तब दुर्गादास ने ही मडलेश्वर के स्थान पर अजीतसिंह को परामर्श दिया था कि उसे मारवाड़ लौट जाना चाहिए। उसका परामर्श अजीतसिंह के लिए फायदेमंद साबित हुआ। बहादुरशाह की उत्तर भारत में अनुपस्थिति में अजीतसिंह ने जोधपुर तथा मारवाड़ के अन्य भागों पर अधिकार कर लिया। सांभर के युद्ध में भी दुर्गादास ने भाग लिया था। मुगल साम्राज्य के सरकारी कागजों (अखबारात) में

पठान के साथ किया था। इस प्रकार भारमल ने आसकरण के सम्भावित मददगार हाजीखां की सहानुभूति प्राप्त करके अपने प्रतिद्वन्दी के पक्ष को निर्बल कर दिया। मच्छीवाड़ा के युद्ध में विजयी मुगल सम्राट् हूमांयू ने नारनोल में मजनूनखां को अपना सूबेदार नियुक्त किया था यद्यपि मच्छीवाड़ा के युद्ध में सूर सल्तनत का अन्त हो चुका था। लेकिन सूर सुल्तानों के भूतपूर्व सेवक यत्र-तत्र मौजूद थे। ऐसे सेवकों में हाजीखां पठान भी एक था जो इस समय मेवात का स्वामी था। मेवात का स्वामी होने के नाते इसने नारनोल का घेरा डाल दिया। घेरे में भारमल हाजीखां के साथ था। इस समय मजनूनखां की प्रार्थना पर भारमल ने ही कोशिश करके नारनोल के मुगल गेरिसन के जान और माल की सुरक्षा करवाई थी। अपने इस कूटनीतिज्ञतापूर्ण कार्य के द्वारा भारमल ने मुगल दरबार मे मजनूनखां के व्यक्तित्व में एक ऐहसानमंद दोस्त उत्पन्न कर लिया था।

पानीपत के द्वितीय युद्ध में सूर सल्तनत को पुनः स्थापित करने की समस्त आशाएं धूलिधूसरित हो चुकी थीं। अतः पानीपत की विजय के पश्चात् जब मजनून खां ने राजा भारमल की सहायता की कहानी अपने स्वामी मुगल सम्राट् अकबर को सुनाई तो स्वाभाविक रूप से बादशाह अकबर ने राजा भारमल से मिलना चाहा। मजनून खां के प्रयत्नों से अकबर और राजा भारमल की दिसम्बर 1556 में दिल्ली में भेंट हुई।

भारत में मुगलों का सितारा बुलन्दी पर देखकर भारमल का भतीजा सूजा अजमेर के मुगल सूबेदार मिर्जा शरफुद्दीन के पास सहायतार्थ पहुंचा। मिर्जा शरफुद्दीन ने नव संस्थापित मुगल साम्राज्य के विस्तार का इसे स्वर्ण अवसर समझकर सूजा को आमेर की गद्दी दिलाने के बहाने 1561 में आक्रमण किया। इस समय भारमल इस स्थिति में नहीं था कि मिर्जा शरफुद्दीन का सामना कर सके। अतः उसने मिर्जा को टांका देना स्वीकार किया और बतौर जमानत अपने पुत्र जगन्नाथ तथा भतीजे रायसिंह व खंगर को मिर्जा के हवाले कर दिया।

अगले वर्ष फिर सूजा के भड़काने पर मिर्जा शरफुद्दीन आमेर पर आक्रमण करने की सोचने लगा। इस बार उसका इरादा भारमल के परिवार को जड़ मूल से नष्ट करके आमेर को अधिकार में करने का था।[2] आक्रमण की आशंका से त्रस्त भारमल पहाड़ियों में आश्रय लेने की सोच रहा था कि उसी समय उसे खबर मिली कि मुगल सम्राट् अकबर शेख सलीम चिश्ती की दरगाह की जियारत करने अजमेर जा रहा है (जनवरी 1562) अतः मजनूनखां के एक मित्र चगताई खां के द्वारा भारमल ने मुगल बादशाह से भेंट करने की इच्छा प्रकट की। चगताईखां ने अकबर से कलावली (टोडा के पास) के मुकाम पर भारमल की तरफ से अर्ज की।

1. देखिए अकबरनामा (बेवरिज कृत अंग्रेजी अनुवाद) जिल्द II पृष्ठ 69-70.
2. अकबरनामा, जिल्द II, पृष्ठ 241.

13

आमेर का इतिहास 1548 से 1700 ई० तक

(History of Amber from 1548 to 1700 A D)

आमेर के शासक राजा भारमल[1] के राज्याभिषेक के साथ केवल कच्छवाहों के इतिहास का ही नहीं अपितु राजस्थान के इतिहास का एक नया अध्याय प्रारम्भ होता है।[2] भारमल अपने पिता पृथ्वीराज 'हरिभक्त' का चौथा पुत्र था जो उसकी राठौड रानी अपूर्वदेवी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद पूरनमल आमेर का राजा बना लेकिन पूरनमल की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र सूजा को नाबालिग होने के कारण गद्दी नहीं मिल सकी। गद्दी पृथ्वीराज के पुत्र भीम को मिली। भीम के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र रतनसिंह गद्दी पर बैठा लेकिन इसे आसकरण ने मार दिया जो स्वय इसका सौतेला भाई था। आसकरण मुश्किल से 16 दिन ही राज्य कर सका होगा कि आमेर के सरदारों ने सगठित होकर उसे गद्दी से उतारने का निश्चय कर लिया और उसके स्थान पर भारमल को राजा बनाया।

राजा भारमल 1548-1574

राज्याभिषेक के समय (1 जून 1548) भारमल की अवस्था 50 वर्ष की थी। आमेर की गद्दी के दावेदार (सूजा और आसकरण) प्रयत्नशील थे। इधर मारवाड के शासक मालदेव ने आमेर के अधिकाश भाग[3] को अपने अधिकार मे कर लिया था। आसकरण गद्दी प्राप्त करने की इच्छा से मारत के सूर सुल्तान इस्लामशाह के सेवक हाजीखा पठान के पास जा चुका था। सूजा की मा राठौड राजकुमारी थी। अत वह सहायतार्थ अपने ननसाल पहुच गया था। इन परिस्थितियो मे गद्दी को सुरक्षित रखने के खातिर भारमल को भी पठानो की शरण लेनी पडी। हाजीखा पठान के साथ कतिपय युद्धो मे भारमल ने भाग लिया था। आमेर की वशावलियों के अनुसार इसने अपनी पुत्री, बाई किशनावती का वैवाहिक सम्बन्ध भी हाजीखा

---

1 कतिपय समकालीन शिलालेखों मे इसे भारहमल्ल लिखा गया है। यह शिलालेख सस्कृत भाषा मे हैं। वशावलियो में इसका नाम भारमल लिखा हुआ है जबकि फारसी तवारीखों मे पहाडमल अथवा बिहारीमल लिखा मिलता है।

2 'With the accession of Bihar Mal a completely new chapter opens in the history not only of Jaipur but also of all Rajputana "–Sir J N Sarkar

3 जैसा कि मारवाड के इतिहास मे लिखा जा चुका है कि आमेर के चार परगने मालदव के अधिकार मे आ चुके थे।

पठान के साथ किया था। इस प्रकार भारमल ने आसकरण के सम्भावित मददगार हाजीखां की सहानुभूति प्राप्त करके अपने प्रतिद्वन्दी के पक्ष को निर्बल कर दिया। मच्छीवाड़ा के युद्ध में विजयी मुगल सम्राट् हूमांयू ने नारनोल में मजनूनखां को अपना सूबेदार नियुक्त किया था यद्यपि मच्छीवाड़ा के युद्ध में सूर सल्तनत का अन्त हो चुका था। लेकिन सूर सुल्तानों के भूतपूर्व सेवक यत्र-तत्र मौजूद थे। ऐसे सेवकों में हाजीखां पठान भी एक था जो इस समय मेवात का स्वामी था। मेवात का स्वामी होने के नाते इसने नारनोल का घेरा डाल दिया। घेरे में भारमल हाजीखां के साथ था। इस समय मजनूनखां की प्रार्थना पर भारमल ने ही कोशिश करके नारनोल के मुगल गेरिसन के जान और माल की सुरक्षा करवाई थी। अपने इस कूटनीतिज्ञतापूर्ण कार्य के द्वारा भारमल ने मुगल दरबार मे मजनूनखां के व्यक्तित्व में एक ऐहसानमंद दोस्त उत्पन्न कर लिया था।

पानीपत के द्वितीय युद्ध में सूर सल्तनत को पुन: स्थापित करने की समस्त आशाएं धूलिधूसरित हो चुकी थीं। अत: पानीपत की विजय के पश्चात् जब मजनून खां ने राजा भारमल की सहायता की कहानी अपने स्वामी मुगल सम्राट् अकबर को सुनाई तो स्वाभाविक रूप से बादशाह अकबर ने राजा भारमल से मिलना चाहा। मजनून खां के प्रयत्नों से अकबर और राजा भारमल की दिसम्बर 1556 में दिल्ली में भेंट हुई।[1]

भारत में मुगलों का सितारा बुलन्दी पर देखकर भारमल का भतीजा सूजा अजमेर के मुगल सूबेदार मिर्जा शरफुद्दीन के पास सहायतार्थ पहुंचा। मिर्जा शरफुद्दीन ने नव संस्थापित मुगल साम्राज्य के विस्तार का इसे स्वर्ण अवसर समझकर सूजा को आमेर की गद्दी दिलाने के बहाने 1561 में आक्रमण किया। इस समय भारमल इस स्थिति में नहीं था कि मिर्जा शरफुद्दीन का सामना कर सके। अत: उसने मिर्जा को टांका देना स्वीकार किया और बतौर जमानत अपने पुत्र जगन्नाथ तथा भतीजे रायसिंह व खंगर को मिर्जा के हवाले कर दिया।

अगले वर्ष फिर सूजा के भड़काने पर मिर्जा शरफुद्दीन आमेर पर आक्रमण करने की सोचने लगा। इस बार उसका इरादा भारमल के परिवार को जड़ मूल से नष्ट करके आमेर को अधिकार में करने का था।[2] आक्रमण की आशंका से त्रस्त भारमल पहाड़ियों में आश्रय लेने की सोच रहा था कि उसी समय उसे खबर मिली कि मुगल सम्राट् अकबर शेख सलीम चिश्ती की दरगाह की जियारत करने अजमेर जा रहा है (जनवरी 1562) अत: मजनूनखां के एक मित्र चगताई खां के द्वारा भारमल ने मुगल बादशाह से भेंट करने की इच्छा प्रकट की। चगताईखां ने अकबर से कलावली (टोडा के पास) के मुकाम पर भारमल की तरफ से अर्ज की।

---

1. देखिए अकबरनामा (बेवरिज कृत अंग्रेजी अनुवाद) जिल्द II पृष्ठ 69–70.
2. अकबरनामा, जिल्द II, पृष्ठ 241.

बादशाह ने इजाजत दे दी । धुमाचे पहले तो दौसा के मुकाम पर रूपसी ने सम्राट से भेंट की । रूपसी दौसा का स्वामी था । दौसा के निवासी मिर्जा शरफुद्दीन के अत्याचारो से इतने अधिक आतंकित थे कि शाही पड़ाव दिन भर दौसा रहा और कोई भी व्यक्ति सम्राट को दिखाई नहीं दिया, लोग अपने अपने मकान खाली करके भाग खड़े हुए थे । इसका अकबर के मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ा । अन्त जब 20 जनवरी 1562 के दिन सांगानेर के मुकाम पर राजा भारमल सम्राट् के सम्मुख उपस्थित हुआ तो उस काफी इनाम वगैरह दिए गए । भारमल अपने कई रिश्तेदारो तथा प्रमुख सरदारो सहित अकबर की सेवा मे उपस्थित हुआ था । अकबर तो Complete Submission चाहता था अत भारमल ने अधीनता स्वीकार करली अतएव 20 जनवरी 1562 के बाद आमेर के कछवाहा राजघराने का भाग्य सितारा चमक उठा ।

अकबर का दरबारी इतिहासकार अबुलफजल लिखता है कि "The Rajah, in order to bring himself out of the rank of (mere) landholders *and to make himself one of the grandees of the court*, proposed to give his eldest daughter in marriage to the Emperor "[1] अकबर ने विवाह की स्वीकृति दे दी और सांगानेर के मुकाम से ही भारमल को चगताईखां के साथ विवाह की तैयारी करने के लिए रवाना कर दिया । रवाना करते समय राजा भारमल को इनाम भी दिया गया था ।

अजमेर से लौटते समय साभर के स्थान पर राज्योचित ढंग से बाई हरखा का अकबर के साथ 6 फरवरी 1562 के दिन विवाह सम्पन्न हुआ । सामर स रतनपुरा[2] तक उसके सभी सम्बन्धी शाही लश्कर के साथ आए । यहीं पर भारमल के पुत्र और उत्तराधिकारी भगवन्तदास तथा उसके पुत्र मानसिंह का अकबर से परिचय कराया गया । अपने कई रिश्तेदारो के साथ भगवन्तदास व मानसिंह बादशाह के साथ आगरे के लिए रवाना हो गए और राजा भारमल आमेर लौट गया (10 फरवरी 1562) ।

अकबर ने राजा भारमल की पुत्री से विवाह करके भारत मे मुगल साम्राज्य की स्थिति को सुदृढ किया । डा० बेनीप्रसाद के शब्दों मे ' It gave the country a line of remarkable sovereigns it secured to four generations of Mughal Emperors the Services of some of the greatest captains and diplomats that mediaeval India produced "[3] शाही हरम मे यह राज कुमारी मरियमजमानी के नाम से प्रसिद्ध हुई । इसी के गर्भ से सलीम (बादशाह जहांगीर) उत्पन्न हुआ था । अकबर का यह विवाह दूसरे अन्तर्जातीय विवाहों से भिन्न

1 अकबरनामा (बेवरिज कृत अंग्रेजी अनुवाद) जिल्द II, Page 242

2 रतनपुरा जयपुर से 8 मील पूर्व मे है ।

3 History of Jehangir (1930) P 2

था। बाई हरखा का अपने सम्बन्धियों से सम्बन्ध विच्छेद नहीं हुआ था।[1] इसका भाई व भतीजा मुगल साम्राज्य के विश्वासपात्र सेना नायकों में से थे जिन्होंने अकबरी सेनाओं के साथ कन्धा से कन्धा मिलाकर भारत में मुगलों की स्थिति को सुदृढ़ करने में सक्रिय सहयोग दिया। भारमल, उसके पुत्र भगवन्तदास तथा पौत्र मानसिंह के प्रयत्नों के कारण दूसरे राजपूत राजाओं के मुगल साम्राज्य के साथ राजनैतिक एवं वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हुए। यद्यपि मरियमजमानी ने अकबर की प्रशासनिक नीति को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नहीं किया, लेकिन हिन्दू धर्म का मुस्लिम धर्म व संस्कृति के साथ अकबर के शासन-काल में जो समन्वय हुआ उसका एक कारण यह विवाह था।[2]

भारमल जीवन-पर्यन्त अकबर का विश्वासपात्र बना रहा। 1572 में उसकी रानी को शाहजादा दानियाल का लालन-पालन सुपुर्द किया गया था। 1573 में उसे अकबर ने अपनी अनुपस्थिति में मुगल राजधानी की देखभाल का उत्तरदायित्व सौंपा था। आगरा में रहते हुए भारमल ने आगरा की अफगानों के अचानक आक्रमण से रक्षा की तथा दिल्ली की रक्षा के लिए उस समय सेना भेजी जब सरनाल के युद्ध में पराजित इब्राहीम हुसेन मिर्जा भागकर पंजाब की ओर आया था और बादशाह स्वयं दिल्ली से बहुत दूर गुजरात में था। अपनी इन सेवाओं के फलस्वरूप राजा भारमलकी मुगल सेवामें उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। अपनी मृत्यु के समय (27 Jan.,1574) वह (राजा भारमल) पांचहजारी का मन्सबदार था[3] जो उस समय अकबर के शासन-काल का उच्चतम मन्सब माना जाता था। इस प्रकार राजा भारमल ने अकबर की अधीनता स्वीकार करके तथा मुगलों के साथ राजवंशीय विवाह करके केवल अपनी स्थिति को ही सुदृढ नहीं किया, वरन् उसने आमेर राज्य के गौरव की भी वृद्धि की थी। अतः केवल Sentimental Grounds पर आमेर की राजकुमारी के विवाह की आलोचना करके राजा भारमल के व्यक्तित्व की आभा को घटाने के जो प्रयत्न इतिहासकारों के द्वारा किए गए हैं वे मेरे ख्याल से उचित नहीं हैं। अकबर ने भारमल की पुत्री को मुगल हरम में उच्च स्थान दिया था। वह अपने जीवन-काल में अकबर की पटरानी बनी रही और मृत्यु के पश्चात् भी उसे अकबर के निकट ही सिकन्दरा में दफनाया गया।[4]

---

1. अपने भाई भूपत की मृत्यु पर मरियमजमानी 'उजर ख्वाई' आमेर आई थी। (देखिए अकबरनामा, अंग्रेजी अनुवाद, जिल्द 3, पृष्ठ 49)।

2. See my paper 'Mughal--Rajput Matrimonial Alliances' contributed to Journal of Indian History, University of Kerala, Trivandrum.

3. मआसिसल उमरा (हिन्दी अनुवाद) भाग प्रथम, पृष्ठ 267.

4. Dr. A. L Srivastava : Medieaval Indian Culture

भारमल के दस पुत्र थे जिनमें सबसे बड़ा पुत्र भगवन्तदास था और दूसरे नम्बर भगवानदास था ।[1] यद्यपि संस्कृत शिलालेखो तथा समकालीन राजस्थानी ग्रंथो[2] मे भगवन्तदास को भारमल के पश्चात् आमेर का राजा लिखा गया है लेकिन जहांगीर ने अपनी आत्म कथा में भारमल के पश्चात् भगवानदास को और उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके दत्तक पुत्र मानसिंह को आमेर का राजा होना लिखा है । चूंकि जहांगीर स्वयं राजा भारमल की पुत्री से उत्पन्न हुआ था और उसका विवाह भी आमेर की राजकुमारी मानमती के साथ हुआ था अत जहांगीर के कथन को एकाएक असत्य नहीं माना जा सकता । लेकिन अकबर के दरबारी इतिहासकार अबुलफजल को गलत मानने का भी कोई कारण नजर नहीं आता । अबुलफजल ने अपने ग्रन्थ 'अकबरनामा' मे स्पष्ट रूप से लिखा है कि भगवन्तदास आमेर का टीकाई राजकुमार था ।[3] अकबर के शासन काल मे जितने युद्ध लड़े गए उनमें भगवन्तदास तथा उसके पुत्र मानसिंह ने ही भाग लिया था । अकबरनामा को पढ़ने से कही भी नजर नहीं आता कि भगवन्तदास का भाई भगवानदास भी शाही सेवा मे था । दो तीन स्थलो पर भगवानदास का प्रयोग अवश्य किया गया है लेकिन प्रसंग से स्पष्ट हो जाता है कि भगवन्तदास का प्रयोग पर्यायवाची शब्दो के रूप में किया गया है । अतएव यह कहना बड़ा मुश्किल है कि अकबर ने भगवन्तदास को ही आमेर की गद्दी का टीका नहीं देकर उसके भाई भगवानदास को आमेर का राज्य दिया हो । नैणसी ने तथा आमेर की ख्यातो और वंशावलियो के रचयिताओं ने भगवानदास के लिए भी 'राजा' का प्रयोग किया है । नैणसी एक स्थान पर तो आमेर का टीका भगवन्तदास को मिलना लिखता है और दूसरे स्थान पर भगवानदास को आमेर का 'राजा' लिखता है ।[4] वंशावलियो को पढ़ने से यह भी स्पष्ट जाहिर होता है कि भगवानदास लवान का 'राजा' था ।[5] अत मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि भारमल की मृत्यु के पश्चात् आमेर के कतिपय सरदारो ने भगवन्तदास की अनुपस्थिति

राजा भगवन्तदास
1574–1589

---

1 *नैणसी की ख्यात, जिल्द 1, पृष्ठ 291 (राज० पुरातन ग्रन्थमाला द्वारा* प्रकाशित)

2 *देखिए जम्वारामगढ़ शिलालेख 1613 A D का रागमंजरी लेखक* पुंडरीक विट्ठल

इस ग्रन्थ की रचना मानसिंह के भाई माधोसिंह के संरक्षण में हुई थी । अत इस ग्रन्थ को एकाएक गलत नहीं माना जा सकता है ।

3. अकबरनामा (बेवरिज कृत अनुवाद) जिल्द 2, पृष्ठ 244

4 नैणसी ख्यात, जिल्द 1, पृष्ठ 297

5. जयपुर की वंशावली (सीतामऊ पुस्तकालय की प्रति), आमेर की ख्यातें (स्वर्गीय ओझाजी के संग्रह में)

में भगवानदास को 'राजा' घोषित कर दिया हो।[1] लेकिन आमेर की मुगलों के साथ सन्धि हो जाने के पश्चात् यह सरदार उतने अधिक शक्तिशाली नहीं रहे थे जितने भारमल के राज्याभिषेक के समय थे। अतः जब अकबर ने आमेर का टीका भगवन्तदास को दे दिया तो सरदारों ने भगवन्तदास का विरोध करना उचित नहीं जानकर भगवानदास को 'लवान' दिलवा दिया। हो सकता है कि जहांगीर की आत्मकथा के अनुवादक Rogers & Beveridge ने भगवन्तदास के स्थान पर भगवानदास लिख दिया हो। जहांगीर की आत्मकथा के अतिरिक्त और किसी समकालीन फारसी और राजस्थानी भाषा के ग्रन्थ में भगवानदास को आमेर का राजा होना नहीं लिखा गया है। अतः जब तक तुजुक–ए–जहांगीरी की फारसी मूल प्रति नहीं देख ली जाए तब तक के लिए 'अकबरनामा' को आधार मानकर भारमल की मृत्यु के पश्चात् उसके ज्येष्ठ पुत्र भगवन्तदास को ही आमेर का राजा मानना चाहिए।

भगवन्तदास मुगल मन्सबदार के रूप में

भारमल की पुत्री के साथ विवाह करके अकबर उसके भाई भगवन्तदास तथा भतीजे मानसिंह के साथ 13 फरवरी 1562 के दिन आगरा पहुँचा था।

इसी वर्ष भगवन्तदास बादशाह अकबर के साथ उत्तर प्रदेश के आधुनिक ऐटा जिले में स्थित साकित नामक गांव में शिकार के लिए गए हुए थे। वहां पहुँचने पर अकबर को मालुम हुआ कि परोख (Paraunkh) ग्राम के निवासी लूट मार करके अमन और शांति को भंग करते हैं। अतः बादशाह अपने 400 सवारों के साथ परोख गांव तक पहुँच गया। यहां अकबर का जीवन खतरे में पड गया था। लेकिन भगवन्तदास उसके साथ थे और उन्होंने पूर्ण वफादारी के साथ सम्राट की रक्षा की।

रणथम्भौर अभियान (फरवरी 1569) में भगवन्तदास अकबर के साथ था। इसके द्वारा ही रणथम्भौर के स्वामी सुरजन हाड़ा ने बादशाह के पास संधि का संवाद भिजवाया था जिसे अकबर ने स्वीकार कर लिया। राव सुरजन हाड़ा शांतिपूर्वक किला खाली करके चला गया। अकबर की रणथम्भौर विजय के साथ किंवदंती प्रचलित है कि बादशाह कुँवर भगवन्तदास के साथ मशालची बनकर किले के भीतर गया, सुरजन ने अकबर को उसके लम्बे हाथों की वजह से पहचान लिया इत्यादि इत्यादि। इस किंवदती को राजस्थान के इतिहासकार कर्नल जेम्स टॉड और डा० वी०

---

1. See my paper 'The Successor of Raja Bharmall of Amber contributed to Journal of Andhra, Historical Research Society, No. 3

ए० स्मिथ ने स्वीकार भी किया है लेकिन समकालीन ग्रन्थों में इस घटना का कहीं वर्णन नहीं मिलता। अतः किवदन्ती को ऐतिहासिक सत्य नहीं माना जा सकता।

1570 में नागौर के मुकाम पर जैसलमेर के शासक रावल हरराय ने अपनी पुत्री का विवाह अकबर के साथ करने की इच्छा प्रकट की। उस वक्त भगवन्तदास भी कदाचित बादशाह के साथ नागौर में मौजूद था क्योंकि इसे ही जैसलमेर की राजकुमारी का डोला लाने के लिए भेजा गया था।

दिसम्बर 1572 में अकबर के गुजरात अभियान में भगवन्तदास बादशाह के साथ था। सरनाल के युद्ध में इसने वफादारी और बहादुरी का परिचय दिया।[1] अतः इसे झंडा और नक्कारा प्रदान किया गया जो इससे पहले हिंदू राजा को प्रदान नहीं किया गया था।

भगवन्तदास को मेवाड़ के राणा प्रताप को समझाने के लिए भी भेजा गया था कि वह शांतिपूर्वक अकबर की आधीनता स्वीकार कर ले।

अब तक भगवन्तदास ने मुगल साम्राज्य की जो सेवा की थी वह कुंवर के रूप में की थी। उसका पिता राजा भारमल जीवित था। लेकिन फारसी के इतिहासकारों ने 1562 के पश्चात् जिस किसी घटना का वर्णन किया वहाँ भगवन्तदास के लिए राजा का प्रयोग किया। राजपूत परम्परा के अनुसार पिता के जीवनकाल में उसके पुत्र को 'राजा' कहकर सम्बोधित नहीं किया जाता। ऐसा प्रतीत होता है कि फारसी की तवारीख लेखकों ने इस परम्परा को कोई विशेष महत्व नहीं दिया। उनकी नकल करके आधुनिक इतिहासकारों ने भी इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। अन्यथा कछवाहों के इतिहास की तथाकथित उलझन स्वयं सुलझ जाती। भारमल की सही मृत्यु तिथि निश्चित करने में भी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता और यह भी स्पष्ट हो जाता कि भारमल की मृत्यु के पश्चात् आमेर की गद्दी का अधिकारी कौन हुआ था।

1573 में अकबर ने गुजरात पर आक्रमण करने के लिये जो सेना भेजी थी उसके Advance Guard में शुजातखाँ और सैयद महमूद के अलावा भगवन्तदास तथा रामसिंह को भी भेजा गया था। अहमदाबाद के युद्ध से पहले हतोत्साहित मुगल सेना को उत्साहवर्द्धन भगवन्तदास के द्वारा ही कराया गया था।

अहमदाबाद की विजय के पश्चात् बादशाह अकबर की आज्ञा से भगवन्तदास-सितम्बर-अक्तूबर 1573 में राणा प्रताप से मिलने के लिए गोगुन्दा भेजे गये थे। भगवन्तदास के समझाने बुझाने पर राणा प्रताप अपने पुत्र और उत्तराधिकारी

1. इस युद्ध में बादशाह के दाए व बाए भाग में भगवन्तदास तथा उसका पुत्र मानसिंह था। अकबर के पास मुट्ठी भर सैनिक होते हुए भी वह शत्रु को पराजित करने में सफल हुआ था। अतः विजय होने के पश्चात् उसने भगवन्तदास को उचित सम्मान प्रदान किया था।

अमरसिंह को उनके साथ अकबर की राजधानी भेजने को तैयार हो गए । राणाप्रता
अपने चौदह वर्षीय पुत्र अमरसिंह को भगवन्तदास के साथ अकबर के दरबार में भेजने
को क्यों राजी हो गए इनका उत्तर हमें पूर्व आधुनिक राजस्थान नाम ग्रंथ में मिलत
है । लेखक के शब्दों में "राणा प्रताप को अकबर की पूरी सैनिक शक्ति का ठीक पत
था एवं अकबर की ओर से सैनिक चढ़ाई द्वारा विशेष दबाव न पड़ने तक व
खुलकर मुगल सत्ता का विरोध करने को तत्पर नहीं था । अतएव स्वयं मुगल दरबा
में जाने से स्पष्ट शब्दों में इन्कार न कर मीठी-मीठी बातों तथा ऊपरी दिखा
द्वारा ही वह इन अवसरों को टालने का प्रयत्न करना चाहता था" (पृ-52

तत्पश्चात् जून 1574 में राजा भगवन्तदास अकबर बादशाह के साथ बिहा
व बंगाल विजय करने के लिए पटना गए ।

1576 में राजा को राणा प्रताप के विरुद्ध कुतुबुद्दीनखां के साथ Advance
Guard में भेजा गया लेकिन इन्हें सफलता नहीं मिली और अकबर कुछ समय
लिए भगवन्तदास से अप्रसन्न हो गया । वहां से यह बागड़ की तरफ गए । बांसवा
के शासक रावल प्रताप तथा डूंगरपुर के शासक रावल आसकरण को अकबर
अधीनता स्वीकार करने के लिए तैयार किया गया ।

1579 में जब भगवन्तदास और कुंवर मानसिंह पंजाब में नियुक्त थे त
ही काबुल में मिर्जा हकीम ने विद्रोह कर दिया था । अतः इन दोनों को सैयद
और मिर्जा युसुफखां के साथ काबुल जाने की आज्ञा दी गई ।

अकबर का विश्वासपात्र होने के नाते बादशाह समय-समय पर रा
भगवन्तदास के मान-सम्मान को बढ़ावा देता रहता था । मध्ययुगीन भारत में य
बादशाह किसी सरदार के घर जाता था तो इसे बहुत बड़ी बात समझी जाती थी
अतः अकबरनामा का लेखक अबुलफजल बड़े फख्र के साथ लिखता है कि लाहोर
अकबर ने भगवन्तदास की हवेली पर जाकर उसे अनुकम्पित किया ।

अकबर का सम्बन्धी और विश्वासपात्र होते हुए भी भगवन्तदास ने 'दीन इलाह
स्वीकार करने से साफ मना कर दिया । यद्यपि अकबर ने उसे तथा उसके पु
मानसिंह को ना तो दीनइलाही ग्रहण करने के लिए बाध्य ही किया और ना उ
किसी प्रकार की ताड़ना ही दी थी । केवल भगवन्तदास और मानसिंह ही हि
सरदार नहीं थे जिन्होंने 'दीनइलाही' स्वीकार करने से इन्कार किया था बल्कि टोडरम
ने भी इसे स्वीकार नहीं किया था । बीरबल के अलावा किसी हिन्दू सरदार ने दीन
इलाही स्वीकार नहीं किया था। अतः इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए
भगवन्तदास किसी रूप में अकबर का विरोधी हो गया था । वह तो अन्त समय त
उसका वफादार सेनानायक बना रहा ।

जनवरी 1583 में जब अकबर ने प्रशासनिक नियुक्तियां की तब रा
भगवन्तदास को रायसिंह के साथ लाहौर का सूबेदार नियुक्त किया ।

ए० स्मिथ ने स्वीकार भी किया है लेकिन समकालीन ग्रन्थों में इस घटना का कहीं वर्णन नहीं मिलता। ग्रतः किवदन्ती को ऐतिहासिक सत्य नहीं माना जा सकता।

1570 में नागौर के मुकाम पर जैसलमेर के शासक रावल हरराय ने अपनी पुत्री का विवाह अकबर के साथ करने की इच्छा प्रकट की। उस वक्त भगवन्तदास भी कदाचित बादशाह के साथ नागौर मे मौजूद था क्योंकि इसे ही जैसलमेर की राजकुमारी का डोला लाने के लिए भेजा गया था।

दिसम्बर 1572 में अकबर के गुजरात अभियान में भगवन्तदास बादशाह के साथ था। सरनाल के युद्ध मे इसने वफादारी और बहादुरी का परिचय दिया।[1] ग्रत इसे झंडा और नक्कारा प्रदान किया गया जो इससे पहले हिंदू राजा को प्रदान नहीं किया गया था।

भगवन्तदास को मेवाड़ के राणा प्रताप को समझाने के लिए भी भेजा गया था कि वह शांतिपूर्वक अकबर की अधीनता स्वीकार कर ले।

अब तक भगवन्तदास ने मुगल साम्राज्य की जो सेवा की थी वह कुंवर के रूप में की थी। उसका पिता राजा भारमल जीवित था। लेकिन फारसी के इतिहासकारों ने *1562* के पश्चात् जिस किसी घटना का वर्णन किया वहाँ भगवन्तदास के लिए राजा का प्रयोग किया। राजपूत परम्परा के अनुसार पिता के जीवनकाल में उसके पुत्र को 'राजा' कहकर सम्बोधित नहीं किया जाता। ऐसा प्रतीत होता है कि फारसी की तवारीख लेखकों ने इस परम्परा को कोई विशेष महत्व नहीं दिया। उनकी नकल करके आधुनिक इतिहासकारों ने भी इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। अन्यथा कछवाहों के इतिहास की तथाकथित उलझन स्वयं सुलझ जाती। भारमल की सही मृत्यु तिथि निश्चित करने मे भी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता और यह भी स्पष्ट हो जाता कि भारमल की मृत्यु के पश्चात् आमेर की गद्दी का अधिकारी कौन हुआ था।

1573 मे अकबर ने गुजरात पर आक्रमण करने के लिये जो सेना भेजी थी उसके Advance Guard में शुजातखाँ और सैयद महमूद के अलावा भगवन्त दास तथा रामसिंह को भी भेजा गया था। अहमदाबाद के युद्ध से पहले हतोत्साहित मुगल सेना को उत्साहवर्द्धन भगवन्तदास के द्वारा ही कराया गया था।

अहमदाबाद की विजय के पश्चात् बादशाह अकबर की आज्ञा से भगवन्तदास-सितम्बर-अक्तूबर 1573 मे राणा प्रताप से मिलने के लिए गोगुन्दा भेजे गये थे। भगवन्तदास के समझाने बुझाने पर राणा प्रताप अपने पुत्र और उत्तराधिकारी

1. इस युद्ध मे बादशाह के दाए व बाए भाग मे भगवन्तदास तथा उसका पुत्र मानसिंह था। अकबर के पास मुट्ठी भर सैनिक होते हुए भी वह शत्रु को पराजित करने में सफल हुआ था। अतः विजय होने के पश्चात् उसने भगवन्तदास को उचित सम्मान प्रदान किया था।

(i) प्रतापसिंह (ii) मोहनदास (iii) अखैराज। आमेर की ख्यातों में भी भगवन्तदास के किसी पुत्र का नाम मानसिंह होना नहीं पाया जाता। जगतसिंह नाम का कोई भाई राजा भगवंतदास का नहीं था। अतएव अबुलफजल तथा शिलालेखों का वर्णन एकाएक गलत नहीं माना जा सकता क्योंकि वे स्पष्ट रूप से लिखते हैं कि मानसिंह राजा भगवंतदास का पुत्र था।

राजा मानसिंह का अधिकांश समय मुगल-साम्राज्य की सेवा में आमेर से बाहर ही बीता था अतः इनका जीवन-काल तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है :—

(i) 1562 से 1574 के बीच का समय जबकि मानसिंह ने भंवर (राजा भारमल के पौत्र) के रूप में मुगल साम्राज्य की सेवा की।

(ii) 1574 से 1589 के बीच में कुंवर मानसिंह ने अकबर की सेवा की।

(iii) 1589 से 1614 के बीच आमेर के राजा मानसिंह ने मुगल साम्राज्य की सेवा की।

10 फरवरी 1562 के दिन मानसिंह का अकबर से परिचय कराया गया था। बादशाह के साथ ही यह अपने पिता भगवन्तदास सहित 13 फरवरी के दिन मुगल राजधानी आगरा पहुंचा था।

1569 में अकबर के रणथम्भौर अभियान के समय मानसिंह अपने पिता भगवन्तदास सहित शाही सेना में मौजूद था। सुरजन हाड़ा ने इसके तथा भगवन्तदास के द्वारा ही संधि का पैगाम बादशाह तक भिजवाया था।

1572 में बादशाह अकबर के आदेश से मानसिंह विद्रोही फौलादखां के पुत्रों को पकड़ने के लिए ईडर गया था। इसी वर्ष (दिसम्बर मास में) इन्हें अपने पिता के साथ सूरत पर अधिकार करने के लिए भेजा गया था। सूरत के मुकाम पर अकबर अपने चुने हुए सरदारों के साथ पुर्त्तगालियों के द्वारा भेंट की गई शराब पी रहा था। उस समय अकबर और मानसिंह के बीच बात ही बात में तलवारें खिच गई थी लेकिन सैयद मुजफ्फर तथा दूसरे सरदारों ने बीच में पड़कर शीघ्र सम्राट् का गुस्सा शान्त करवा दिया।

1573 में अकबर ने मानसिंह को राणा प्रताप के पास भेजा था। मानसिंह ने जून 1573 में राणा प्रताप से उदयसागर की पाल पर भेंट की। मानसिंह चाहता था कि राणा उसके साथ शाही दरबार में चला जाए लेकिन राणा प्रताप इसके लिए तैय्यार नहीं हुआ। मानसिंह की राणा से इस भेंट के साथ सुप्रसिद्ध किंवदंती जुड़ी हुई है जिसके अनुसार राणा ने अपने निमंत्रित अतिथि मानसिंह के साथ-भोजन के समय अपमानजनक व्यवहार किया। अबुलफजल स्पष्ट रूप से लिखता है कि मानसिंह ने राणा प्रताप के साथ उसकी राजधानी उदयपुर में भेंट की थी। भेंट उदयपुर में नहीं, बल्कि उदयसागर के स्थान पर हुई थी जो उदयपुर शहर से 6

फरवरी 1585 मे राजा भगवन्तदास ने अपनी पुत्री मानबाई का विवाह
और मुस्लिम प्रथा के अनुसार शाहजादा सलीम के साथ सम्पन्न किया । यह
राजा भगवन्तदास की हवेली से ही की गई थी और लडकी के मा बाप ने हिन्दू
की परम्परा के अनुसार कन्यादान भी दिया था । अत इस विवाह का मुगलकाल
भारत के इतिहास मे सांस्कृतिक दृष्टि से विशेष महत्त्व है ।

इस विवाह के कुछ समय पश्चात् ही अकबर ने राजा भगवन्तदास को 50
का मन्सब प्रदान किया था ।

दिसम्बर 1585 मे अकबर ने भगवन्तदास को काश्मीर-विजय करने के
भेजा । मार्च 1586 ई० मे राजा ने काश्मीर के शासक को अकबर के दरबार
प्रस्तुत किया ।

1586 मे राजा भगवन्तदास को काबुल भेजने की आज्ञा दी गई । वहाँ
वापस लौटने पर लाहोर में 14 नवम्बर 1589 के दिन भगवन्तदास की इस्तफ
रोग से मृत्यु हो गई । अकबर की आज्ञा से शाहजादा सलीम आमेर शोक प्रकट क
के लिए आया । अकबर ने स्वय इसके पुत्र और उत्तराधिकारी मानसिंह को
व्यक्तिगत पत्र भी भेजा था । इस प्रकार राजा भगवन्तदास को अपने जीवनकाल
भारत के समकालीन मुगल सम्राट अकबर का पूर्ण सहयोग विश्वास एव सम्मान प्रा
था । इसके कारण वह अपने पैतृक राज्य आमेर मे ना केवल अनुशासन ही स्थापित
सका, वरन् आमेर के राज्य का गौरव व प्रतिष्ठा राजस्थान की प्राकृतिक सीमाओ
लाघकर पजाब, गुजरात तथा मुगल साम्राज्य के दूसरे भागो मे पहुचाया । इस
मिला-जुला परिणाम यह निकला कि आमेर का राज्य शीघ्र ही राजस्थान का प्रमु
राजपूत राज्य बन गया ।

मानसिंह का जन्म पौष बदि 13 वि० स० 1607 (1550 A D
के दिन ग्राम मोजमाबाद[1] मे हुआ था । जहागीर ने अपनी आत्मकथा मे इसे आमे

के राजा भगवानदास का भतीजा लिखा है
मआसिरुल उमरा के अनुवादक श्री ब्रजर
दास ने इन्हे राजा भगवतदास के भाई जगत
सिह का पुत्र बताया है लेकिन 'मआसिरु
उमरा' में इन्हें राजा भगवतदास का पुत्र ही लिखा गया है । आमेर से प्राप्त शिलालेखो
ख्यातों तथा वशावलियो में इन्हें राजा भगवन्तदास का पुत्र लिखा गया है ।

नैणसी ने अपनी ख्यात में भगवानदास के तीन पुत्रों का वर्णन किया

1. नैणसी, भाग I, पृष्ठ 297

कुवर सग्रामसिहजी (नवलगढ) का लेख 'Rajasthani Painting' म
मानसिंह का जन्म स्थान ग्राम मोजमाबाद लिखा है । मोजमाबाद दूदू के पास है
जिस हवेली मे मानसिंह का जन्म हुआ था उसका फोटो सलग्न है ।

तट पर मानसिंह अपने वहादुर सैनिकों के साथ मौजूद था। लेकिन ः
आज्ञानुसार इन लोगों ने मिर्जा हकीम की सेना का कोई विरोध नहीं कि
स्वयं काबुल वापस लौट गया। जून 1581 में जब बादशाह अकबर स्वयं
तब कुंवर मानसिंह भी उसके साथ था। काबुल की विजय में मान
साथियों सहित सक्रिय सहयोग दिया था। अतः युद्ध समाप्ति के पश्
को सिंधु नदी के तट की सुरक्षा के लिए नियुक्त किया गया।

मानसिंह ने भी अपने पिता तथा दूसरे हिन्दू सरदारों के साथ दं
स्वीकार करने से इन्कार किया था।

1584 में अब्दुल्लाखां उजबेग ने बदख्शां को अपने अधिकार में
अतः बदख्शां का निर्वासित शासक सुलेमान मिर्जा अपने पौत्र शाहर
साथ अकबर की सहायतार्थ काबुल आया। उस समय सीमान्त प्रदेश के गः
ने बादशाह अकबर की ओर से शाहरुख मिर्जा का स्वागत किया था और
उसे अकबर की राजधानी फतहपुर सीकरी ले गया जहां बादशाह
राजकुमार से 5 जनवरी 1585 के दिन भेंट की।

दिसम्बर 1585 में मानसिंह ने काबुल पर अधिकार कर लिया
मिर्जा हकीम के नाबालिग पुत्रों को बन्दी बनाया गया तथा रावलपिंडी
उनका बादशाह से परिचय कराया गया।

इसी वर्ष अकबर ने मानसिंह को काबुल का सूबेदार नियुक्त किय
रहते हुए इसने रोशनाईयों के विद्रोह का दमन किया। मानसिंह काबुल
वायु को पसन्द नहीं करता था और साथ ही उसका शासन भी कठो
अफगान लोग बुरी तरह पीड़ित थे। अतः दिसम्बर 1587 में मानसिंह क
हटाकर बिहार का सूबेदार नियुक्त किया गया। बिहार जाने से पहले मा
में कुछ समय ठहरा था। इसी वक्त बदख्शा के निर्वासित शासक सुलेम
इसने अकबर से परिचय कराया (24 फरवरी 1587)।

बिहार के सूबेदार के रूप में मानसिंह ने विद्रोहियों का कठोरता
करके वहां शांति और व्यवस्था कायम की। बिहार की आधुनिक राः
उसका हैडक्वार्टर थी। सर्वप्रथम गिधौर के राजा पूरनमल को उसने परा
तत्पश्चात् खड़गपुर के शासक संग्रामसिंह को पराजित किया। इसके
शासक अनन्त चीरू पर आक्रमण किया। इसी समय मानसिंह के पुत्र
बंगाल के विद्रोहियों को हाजीपुर के स्थान पर बुरी तरह पराजित किया

मील की दूरी पर स्थित है। मनुष्यजन्म भ्रम से उदयपुर और उदयसागर को एक ही समझ बैठा। आमेर की ख्यातों में इस भेंट का निम्न प्रकार वर्णन किया गया है—

"अर राणाजी पवर पाय हेरे आया आपस में घुप समाचार हुवा जदि राणाजी पई आज आपकी मिजमानी छै महाराज पई पीर पाणी कराज्यो। सो राणा जी तयारी करी। अर जीमण की तयारी मगाई। पुरसगारी हुई। अर राणाजी न पई आप भी जीमण बैठो। राणाजी पई आप जीमूं जदि हजूर पई आप जीमबा बैठ्स्यांतो म्हे भी जीमस्यां। जदि राणाजी पई म्हारे सिरानी छै आप जीमो जदि आप उठ बैठ्या।" (पृष्ठ 15)[1]

अतः राणाप्रताप और मानसिंह की भेंट को केवल दंतकथा कहकर अस्वीकार नहीं किया जा सकता। लेकिन इस भेंट के साथ मानसिंह का अपने 'फूफा' अकबर के साथ मेवाड़ आने की जो बात राणाप्रताप के मुख से परवर्ती चारण व भाटों के द्वारा कहलाई गई है वह अनेक युगों बाद प्रचलित होने वाली कल्पनापूर्ण कथा ही सकती है। मूलकथानक ऐतिहासिक घटना से लेकर उनमें कल्पना का पुट दे दिया गया है। मानसिंह के असफल हो जाने के बाद ही बादशाह ने भगवन्तदास को प्रताप के पास भेजा था।

तत्पश्चात् अकबर मानसिंह को अपने पिता के साथ बंगाल अभियान पर पटना तक ले गया था।

मार्च 1576 में अकबर ने मेवाड़ पर चढ़ाई करने का निश्चय किया। मेवाड़ पर भेजी जाने वाली सेना का प्रधान सेनापति कुंवर मानसिंह कछवाहा नियुक्त किया गया। मानसिंह 2 अप्रेल 1576 के दिन अजमेर से मेवाड़ के लिए रवाना हुआ। जून 1576 में राणा प्रताप तथा मानसिंह के बीच हल्दीघाटी के स्थान पर युद्ध हुआ। इस युद्ध[2] में राणा प्रताप की पराजय तथा मानसिंह की विजय हुई।

जनवरी 1580 में कुंवर मानसिंह ने काश्मीर के निर्वासित शासक युसुफखां को फतहपुर सीकरी के स्थान पर अकबर से परिचित कराया।

इसी वर्ष मानसिंह को अपने पिता भगवन्तदास के साथ मिर्जा हकीम के विद्रोह का दमन करने के लिए काबुल जाने की आज्ञा दी गई। सिंध नदी के पश्चिमी

---

1 नैणसी ने इस भेंट का इन शब्दों में वर्णन किया है.—

"(राणा) मेहमानी करी। जीमण पगा विरस हुवो। तद मानसिंह दरगाह गयो।" ख्यात, जिल्द 1, पृष्ठ 39.

राजप्रशस्ति में भी लिखा हुआ है कि भोजन के समय राणाप्रताप तथा मानसिंह के बीच मनोमालिन्य हो गया था—

"मानसिंहेन तस्यासी द्वेमनस्यं भुजे दिजो"

2. हल्दीघाटी के युद्ध का वर्णन विस्तार से 'मेवाड़ के इतिहास' नामक अध्याय में किया गया है।

तट पर मानसिंह अपने बहादुर सैनिकों के साथ मौजूद था। लेकिन बादशाह की आज्ञानुसार इन लोगों ने मिर्जा हकीम की सेना का कोई विरोध नहीं किया और वह स्वयं काबुल वापस लौट गया। जून 1581 में जब बादशाह अकबर स्वयं काबुल गया तब कुंवर मानसिंह भी उसके साथ था। काबुल की विजय में मानसिंह ने अपने साथियों सहित सक्रिय सहयोग दिया था। अतः युद्ध समाप्ति के पश्चात् मानसिंह को सिंधु नदी के तट की सुरक्षा के लिए नियुक्त किया गया।

मानसिंह ने भी अपने पिता तथा दूसरे हिन्दू सरदारों के साथ दीन इलाही को स्वीकार करने से इन्कार किया था।

1584 में अब्दुल्लाखां उजबेग ने बदख्शां को अपने अधिकार में कर लिया। अतः बदख्शां का निर्वासित शासक सुलेमान मिर्जा अपने पौत्र शाहरुख मिर्जा के साथ अकबर की सहायतार्थ काबुल आया। उस समय सीमान्त प्रदेश के गवर्नर मानसिंह ने बादशाह अकबर की ओर से शाहरूख मिर्जा का स्वागत किया था और अपने साथ उसे अकबर की राजधानी फतहपुर सीकरी ले गया जहां बादशाह ने निर्वासित राजकुमार से 5 जनवरी 1585 के दिन भेंट की।

दिसम्बर 1585 में मानसिंह ने काबुल पर अधिकार कर लिया। उस समय मिर्जा हकीम के नाबालिग पुत्रों को बन्दी बनाया गया तथा रावलपिंडी के मुकाम पर उनका बादशाह से परिचय कराया गया।

इसी वर्ष अकबर ने मानसिंह को काबुल का सूबेदार नियुक्त किया। काबुल में रहते हुए इसने रोशनाईयों के विद्रोह का दमन किया। मानसिंह काबुल के ठंडे जलवायु को पसन्द नहीं करता था और साथ ही उसका शासन भी कठोर था जिससे अफगान लोग बुरी तरह पीड़ित थे। अतः दिसम्बर 1587 में मानसिंह को काबुल से हटाकर बिहार का सूबेदार नियुक्त किया गया। बिहार जाने से पहले मानसिंह लाहौर में कुछ समय ठहरा था। इसी वक्त बदख्शा के निर्वासित शासक सुलेमान मिर्जा का इसने अकबर से परिचय कराया (24 फरवरी 1587)।

बिहार के सूबेदार के रूप में मानसिंह ने विद्रोहियों का कठोरता के साथ दमन करके वहां शांति और व्यवस्था कायम की। बिहार की आधुनिक राजधानी पटना उसका हैडक्वार्टर थी। सर्वप्रथम गिधौर के राजा पूरनमल को उसने पराजित किया। तत्पश्चात् खड़गपुर के शासक संग्रामसिंह को पराजित किया। इसके बाद गया के शासक अनन्त चीरू पर आक्रमण किया। इसी समय मानसिंह के पुत्र जगतसिंह ने बंगाल के विद्रोहियों को हाजीपुर के स्थान पर बुरी तरह पराजित किया।

1568 ई० से पहले मुसलमानों का उड़ीसा में प्रवेश नहीं हुआ था। इस वर्ष उड़ीसा के हिन्दू शासक राजा मुकुन्ददेव को बंगाल के अफगान शासक सुलेमान

मानसिंह को उड़ीसा-विजय

करानी ने पराजित किया। 1572 में सुलेमान की मृत्यु के पश्चात् बंगाल के प्रदेश पर मुगलों का आधिपत्य स्थापित हो गया। 1580 और 83 के बीच बंगाल में अफगानों के कतिपय विद्रोह हुए थे। इसी समय में कुतुलुखां लोहानी ने उड़ीसा पर अपना

मील की दूरी पर स्थित है। अबुलफजल भ्रम से उदयपुर और उदयसागर को एक ही समझ बैठा। आमेर की ख्यातो मे इस भेंट का निम्न प्रकार वर्णन किया गया है —

"अर राणाजी पवर पाय डेरै आया आपम मे सुप समाचार हुवा जदि राणाजी पई आज आपको मिजमानी छै महाराज पई पीर घणी कराज्यो। सो राणा जी तयारी करी अर जीमण की तयारी मगाई। पुरसगारी हुई। अर राणाजी न पई आप भी जीमण वैठो। राणाजी पई आप जीमू जदि हजूर यई आप जीमवा वैठस्योतो म्हे भी जीमस्या। जदि राणाजी पई म्हारे गिरानी छै आप जीमो जदि आप उठ वैठया।" (पृष्ठ 15)[1]

अत राणाप्रताप और मानसिंह की भेंट को केवल दतकथा कहकर अस्वीकार नही किया जा सकता। लेकिन इस भेंट के साथ मानसिंह का अपने 'फूफा' अकबर के साथ मेवाड आने की जो बात राणाप्रताप के मुख से परवर्ती चारण व भाटो के द्वारा कहलाई गई है वह अनेक युगो बाद प्रचलित होने वाली कल्पनापूर्ण कथा हो सकती है। मूलकथानक एतिहासिक घटना से लेकर उसमे कल्पना का पुट दे दिया गया है। मानसिंह के असफल हो जाने के बाद ही बादशाह ने भगवन्तदास को प्रताप के पास भेजा था।

तत्पश्चात् अकबर मानसिंह को अपने पिता के साथ बगाल अभियान पर पटना तक ले गया था।

मार्च 1576 मे अकबर ने मेवाड पर चढाई करने का निश्चय किया। मेवाड पर भेजी जाने वाली सेना का प्रधान सेनापति कुवर मानसिंह कछवाहा नियुक्त किया गया। मानसिंह 2 अप्रेल 1576 के दिन अजमेर से मेवाड के लिए रवाना हुआ। जून 1576 मे राणा प्रताप तथा मानसिंह के बीच हल्दीघाटी के स्थान पर युद्ध हुआ। इस द्ध[2] मे राणा प्रताप की पराजय तथा मानसिंह की विजय हुई।

जनवरी 1580 मे कुवर मानसिंह ने काश्मीर के निर्वासित शासक युसुफखां को फतहपुर सीकरी के स्थान पर अकबर से परिचित कराया।

इसी वर्ष मानसिंह को अपने पिता भगवन्तदास के साथ मिर्जा हकीम के विद्रोह का दमन करने के लिए काबुल जाने की आज्ञा दी गई। सिंध नदी के पश्चिमी

---

1 नैणसी ने इस भेंट का इन शब्दों में वर्णन किया है —

"(राणा) मेहमानी करी। जीमण पगा विरस हुवो। तद मानसिंह दरगाह गयो।" ख्यात, जिल्द 1, पृष्ठ 39

राजप्रशस्ति मे भी लिखा हुआ है कि भोजन के समय राणाप्रताप तथा मानसिंह के बीच मनोमालिन्य हो गया था—

"मानसिंहेन तत्यासी द्वेमनस्यं भुजे दिशो"

2. हल्दीघाटी के युद्ध का वर्णन विस्तार में 'मेवाड के इतिहास' नामक अध्याय में किया गया है।

तट पर मानसिंह अपने बहादुर सैनिकों के साथ मौजूद था। लेकिन बादशाह की आज्ञानुसार इन लोगों ने मिर्जा हकीम की सेना का कोई विरोध नहीं किया और वह स्वयं काबुल वापस लौट गया। जून 1581 में जब बादशाह अकबर स्वयं काबुल गया तब कुंवर मानसिंह भी उसके साथ था। काबुल की विजय में मानसिंह ने अपने साथियों सहित सक्रिय सहयोग दिया था। अतः युद्ध समाप्ति के पश्चात् मानसिंह को सिंधु नदी के तट की सुरक्षा के लिए नियुक्त किया गया।

मानसिंह ने भी अपने पिता तथा दूसरे हिन्दू सरदारों के साथ दीन इलाही को स्वीकार करने से इन्कार किया था।

1584 में अब्दुल्लाखां उजबेग ने बदक्शां को अपने अधिकार में कर लिया। अतः बदक्शां का निर्वासित शासक सुलेमान मिर्जा अपने पौत्र शाहरुख मिर्जा के साथ अकबर की सहायतार्थ काबुल आया। उस समय सीमान्त प्रदेश के गवर्नर मानसिंह ने बादशाह अकबर की ओर से शाहरुख मिर्जा का स्वागत किया था और अपने साथ उसे अकबर की राजधानी फतहपुर सीकरी ले गया जहां बादशाह ने निर्वासित राजकुमार से 5 जनवरी 1585 के दिन भेंट की।

दिसम्बर 1585 में मानसिंह ने काबुल पर अधिकार कर लिया। उस समय मिर्जा हकीम के नाबालिग पुत्रों को बन्दी बनाया गया तथा रावलपिंडी के मुकाम पर उनका बादशाह से परिचय कराया गया।

इसी वर्ष अकबर ने मानसिंह को काबुल का सूबेदार नियुक्त किया। काबुल में रहते हुए इसने रोशनाईयों के विद्रोह का दमन किया। मानसिंह काबुल के ठंडे जलवायु को पसन्द नहीं करता था और साथ ही उसका शासन भी कठोर था जिससे अफगान लोग बुरी तरह पीड़ित थे। अतः दिसम्बर 1587 में मानसिंह को काबुल से हटाकर बिहार का सूबेदार नियुक्त किया गया। बिहार जाने से पहले मानसिंह लाहौर में कुछ समय ठहरा था। इसी वक्त बदक्शा के निर्वासित शासक सुलेमान मिर्जा का इसने अकबर से परिचय कराया (24 फरवरी 1587)।

बिहार के सूबेदार के रूप में मानसिंह ने विद्रोहियों का कठोरता के साथ दमन करके वहां शांति और व्यवस्था कायम की। बिहार की आधुनिक राजधानी पटना उसका हैडक्वार्टर थी। सर्वप्रथम गिधौर के राजा पूरनमल को उसने पराजित किया। तत्पश्चात् खड़गपुर के शासक संग्रामसिंह को पराजित किया। इसके बाद गया के शासक अनन्त चीरू पर आक्रमण किया। इसी समय मानसिंह के पुत्र जगतसिंह ने बंगाल के विद्रोहियों को हाजीपुर के स्थान पर बुरी तरह पराजित किया।

मानसिंह की उड़ीसा-विजय

1568 ई० से पहले मुसलमानों का उड़ीसा में प्रवेश नहीं हुआ था। इस वर्ष उड़ीसा के हिन्दू शासक राजा मुकुन्ददेव को बंगाल के अफगान शासक सुलेमान करानी ने पराजित किया। 1572 में सुलेमान की मृत्यु के पश्चात् बंगाल के प्रदेश पर मुगलों का आधिपत्य स्थापित हो गया। 1580 और 83 के बीच बंगाल में अफगानों के कतिपय विद्रोह हुए थे। इसी समय में कुतलूखां लोहानी ने उड़ीसा पर अपना

मील की दूरी पर स्थित है। अबुलफजल भ्रम से उदयपुर और उदयसागर को एक ही समझ बैठा। आमेर की ख्यातों में इस भेंट का निम्न प्रकार वर्णन किया गया है —

"अर राणाजी पवर पाय डेरै आया आपस मे सुप समाचार हूवा जदि राणाजी पई आज आपकी मिजमानी छै महाराज पई पीर पणी कराज्यो। सो राणा जी तयारी करी' अर जीमण की तयारी मगाई। पुरसगारी हुई। अर राणाजी न पई आप भी जीमण बैठो। राणाजी पई आप जीमू जदि हजूर पई आप जीमवा बैठस्योतो म्हे भी जीमस्यां। जदि राणाजी पई म्हारे गिरानी छै आप जीमो जदि आप उठ बैठया।" (पृष्ठ 15)[1]

अत राणाप्रताप और मानसिंह की भेंट को केवल दतकथा कहकर अस्वीकार नही किया जा सकता। लेकिन इस भेंट के साथ मानसिंह का अपने 'फूफा' अकबर के साथ मेवाड आने की जो बात राणाप्रताप के मुख से परवर्ती चारण व भाटो के द्वारा कहलाई गई है वह अनेक युगो बाद प्रचलित होने वाली कल्पनापूर्ण कथा हो सकती है। मूलकथानक ऐतिहासिक घटना से लेकर उसम कल्पना का पुट दे दिया गया है। मानसिंह के असफल हो जाने के बाद ही बादशाह ने भगवन्तदास को प्रताप के पास भेजा था।

तत्पश्चात् अकबर मानसिंह को अपने पिता के साथ बगाल अभियान पर पटना तक ले गया था।

मार्च 1576 मे अकबर ने मेवाड पर चढाई करन का निश्चय किया। मेवाड पर भेजी जाने वाली सेना का प्रधान सेनापति कुवर मानसिंह कछवाहा नियुक्त किया गया। मानसिंह 2 अप्रैल 1576 के दिन अजमेर से मेवाड के लिए रवाना हुआ। जून 1576 मे राणा प्रताप तथा मानसिंह के बीच हल्दीघाटी के स्थान पर युद्ध हुआ। इस द्ध[2] मे राणा प्रताप की पराजय तथा मानसिंह की विजय हुई।

जनवरी 1580 मे कुवर मानसिंह ने काश्मीर के निर्वासित शासक युसुफखा को फतहपुर सीकरी के स्थान पर अकबर से परिचित कराया।

इसी वर्ष मानसिंह को अपने पिता भगवन्तदास के साथ मिर्जा हकीम के विद्रोह का दमन करने के लिए काबुल जाने की आज्ञा दी गई। सिंध नदी के पश्चिमी

---

1 नैणसी ने इस भेंट का इन शब्दों में वर्णन किया है —

"(राणा) मेहमानी करी। जीमण पगा विरस हुवो। तद मानसिंह दरगाह गयो।" ख्यात, जिल्द 1, पृष्ठ 39

राजप्रशस्ति मे भी लिखा हुआ है कि भोजन के समय राणाप्रताप तथा मानसिंह के बीच मनोमालिन्य हो गया था—

'मानसिंहेन तस्यासी द्वेमनस्यं भुजे दिजो"

2. हल्दीघाटी के युद्ध का वर्णन विस्तार मे 'मेवाड़ के इतिहास' नामक अध्याय मे किया गया है।

तट पर मानसिंह अपने बहादुर सैनिकों के साथ मौजूद था। लेकिन बादशाह की आज्ञानुसार इन लोगों ने मिर्जा हकीम की सेना का कोई विरोध नहीं किया और वह स्वयं काबुल वापस लौट गया। जून 1581 में जब बादशाह अकबर स्वयं काबुल गया तब कुंवर मानसिंह भी उसके साथ था। काबुल की विजय में मानसिंह ने अपने साथियों सहित सक्रिय सहयोग दिया था। अतः युद्ध समाप्ति के पश्चात् मानसिंह को सिंधु नदी के तट की सुरक्षा के लिए नियुक्त किया गया।

मानसिंह ने भी अपने पिता तथा दूसरे हिन्दू सरदारों के साथ दीन इलाही को स्वीकार करने से इन्कार किया था।

1584 में अब्दुल्लाखां उजबेग ने बदख्शां को अपने अधिकार में कर लिया। अतः बदख्शां का निर्वासित शासक सुलेमान मिर्जा अपने पौत्र शाहरुख मिर्जा के साथ अकबर की सहायतार्थ काबुल आया। उस समय सीमान्त प्रदेश के गवर्नर मानसिंह ने बादशाह अकबर की ओर से शाहरुख मिर्जा का स्वागत किया था और अपने साथ उसे अकबर की राजधानी फतहपुर सीकरी ले गया जहां बादशाह ने निर्वासित राजकुमार से 5 जनवरी 1585 के दिन भेंट की।

दिसम्बर 1585 में मानसिंह ने काबुल पर अधिकार कर लिया। उस समय मिर्जा हकीम के नाबालिग पुत्रों को बन्दी बनाया गया तथा रावलपिंडी के मुकाम पर उनका बादशाह से परिचय कराया गया।

इसी वर्ष अकबर ने मानसिंह को काबुल का सूबेदार नियुक्त किया। काबुल में रहते हुए इसने रोशनाईयों के विद्रोह का दमन किया। मानसिंह काबुल के ठंडे जलवायु को पसन्द नहीं करता था और साथ ही उसका शासन भी कठोर था जिससे अफगान लोग बुरी तरह पीड़ित थे। अतः दिसम्बर 1587 में मानसिंह को काबुल से हटाकर बिहार का सूबेदार नियुक्त किया गया। बिहार जाने से पहले मानसिंह लाहौर में कुछ समय ठहरा था। इसी वक्त बदख्शा के निर्वासित शासक सुलेमान मिर्जा का इसने अकबर से परिचय कराया (24 फरवरी 1587)।

बिहार के सूबेदार के रूप में मानसिंह ने विद्रोहियों का कठोरता के साथ दमन करके वहां शांति और व्यवस्था कायम की। बिहार की आधुनिक राजधानी पटना उसका हैडक्वार्टर थी। सर्वप्रथम गिधौर के राजा पूरनमल को उसने पराजित किया। तत्पश्चात् खड़गपुर के शासक संग्रामसिंह को पराजित किया। इसके बाद गया के शासक अनन्त चीरू पर आक्रमण किया। इसी समय मानसिंह के पुत्र जगतसिंह ने बंगाल के विद्रोहियों को हाजीपुर के स्थान पर बुरी तरह पराजित किया।

1568 ई० से पहले मुसलमानों का उड़ीसा में प्रवेश नहीं हुआ था। इस वर्ष उड़ीसा के हिन्दू शासक राजा मुकुन्ददेव को बंगाल के अफगान शासक सुलेमान

मानसिंह की उड़ीसा-विजय

करानी ने पराजित किया। 1572 में सुलेमान की मृत्यु के पश्चात् बंगाल के प्रदेश पर मुगलों का आधिपत्य स्थापित हो गया। 1580 और 83 के बीच बगाल मे अफगानों के कतिपय विद्रोह हुए थे। इसी समय मे कुतुलुखां लोहानी ने उड़ीसा पर अपना

अधिकार कर लिया था। अब बिहार में शांति स्थापित कर लेने के पश्चात् मानसिंह को उड़ीसा पर आक्रमण करने का निश्चय करना पड़ा। आक्रमण का कारण यह था कि कुतुलुखाँ के नेतृत्व में अफगानों ने मुगल प्रदेशों पर धावे मारने शुरू कर दिये थे और कतिपय स्थानों से मुगल फौजदारों के पांव उखाड़ दिए थे। चूंकि मानसिंह ने सफलतापूर्वक बिहार में विद्रोहियों का दमन किया था अतएव बादशाह ने उड़ीसा में व्यवस्था करने का काय भी मानसिंह को सौंपा लेकिन मानसिंह उस समय निम्न कारणों से तुरत उड़ीसा पर आक्रमण करने के लिए तैयार नहीं था —

(i) उसके सैनिक बिहार में युद्ध लड़ते लड़ते थक गए थे।

(ii) बगाल का मुगल सूबेदार सैदखाँ अपने सैनिकों को मानसिंह की सहायता के लिए भेजने को तैयार नहीं था अत उसे (मानसिंह) पहाड़ख्याँ तथा राय पत्रदास (बगाल के प्रमुख जमींदारों) को सैनिक सहायता देने के लिए तैयार करने में समय लग गया।

अतएव मानसिंह अकबर से आज्ञा प्राप्त होने के लगभग एक वर्ष बाद (1589) बदवान के मार्ग से उड़ीसा पर आक्रमण करने के लिए रवाना हुआ। आक्रमणकारी सेना का अग्रिम भाग मानसिंह के पुत्र जगतसिंह के नेतृत्व में था। लेकिन जगतसिंह की अनुभवहीनता के कारण मुगलों को सफलता नहीं मिली, स्वयं जगतसिंह को भाग कर बकुरा जिले में स्थित विशनगढ़ के दुर्ग में शरण लेनी पड़ी। स्वाभाविक रूप से मुगलों और उड़ीसा के नए शासक (कुतुलुखाँ के पुत्र नासिर खाँ) के बीच सधि हो गई (अगस्त 1589)। इस सधि के अनुसार नासिरखाँ को उड़ीसा का शासक स्वीकार किया गया। उसने मुगल बादशाह का आधिपत्य स्वीकार किया तथा अकबर के नाम से खुतबा पढ़वाना भी मजूर किया। इसी सधि की एक शर्त के अनुसार पुरी जिले में स्थित जगन्नाथ का मंदिर मुगल सम्राट के प्रत्यक्ष नियत्रण में रखना तय पाया। मानसिंह का यह कृत्य उसकी कूटनीतिज्ञता का सबल प्रमाण था।[1]

लेकिन यह सधि क्षणिक सिद्ध हुई क्योंकि सधि की शर्तें अफगानों और उड़ीसा के राजा रामचन्द्र देव के अनुकूल नहीं थीं। अकबर ने स्वयं इस सधि को (reluctantly) अनिच्छा से स्वीकृति प्रदान की थी। 1589 में मानसिंह को बिहार छोड़कर जाना पड़ा क्योंकि राजा भगवन्तदास की 14 नवम्बर 1589 के दिन मृत्यु हो गई थी। मानसिंह की अनुपस्थिति से फायदा उठाकर असन्तुष्ट रामचन्द्रदेव ने विशनगढ़ के राजा पर धावा बोल दिया क्योंकि उसने मानसिंह के पुत्र जगतसिंह को शरण दी

---

1 'This was a stroke of diplomacy which aimed at conciliating the Hindu sentiment and create a congenial atmosphere for posing the Mughals as the saviour of Hindu religion against the *brutal aggressaions of the Afghans and there by preparing ground* for crushing of the Afghans"

थी। अतः रामचन्द्र देव की हरकतों को उसने प्रतिद्वन्द्वियों (उड़ीसा के भूतपूर्व शासक मुकुन्ददेव के पुत्रों) ने शीघ्र बादशाह अकबर के कानों तक पहुँचा दिया।[1] अतएव मानसिंह को उड़ीसा के विरुद्ध नवम्बर 1591 में पुनः कूच करना पड़ा। इस समय बंगाल की सेना भी राजा मानसिंह के साथ थी। यद्यपि बंगाल की सेना मानसिंह को पूर्ण सहयोग प्रदान नहीं कर रही थी, लेकिन फिर भी राजा मानसिंह ने नासिरखां के संधि पैगाम को स्वीकार नहीं किया क्योंकि वह अच्छी तरह जानता था कि अफगान लोग मुगलों को भुलावे में डालकर अपनी शक्ति बढ़ाना चाहते थे। मानसिंह के नेतृत्व में मुगल सेना निरंतर बढ़ती गई। नासिर खां और उसके साथियों को Seraengarh के किले में शरण लेनी पड़ी। इस प्रकार 1592 में उड़ीसा मुगल साम्राज्य का अङ्ग बन गया।

नासिरखां को पराजित करने के पश्चात् मानसिंह ने उड़ीसा के अन्य शक्तिशाली जमींदारों का भी दमन किया। लेकिन मानसिंह की उड़ीसा विजय मुगलों की अन्यत्र विजयों से भिन्न थी।[2] ना तो उड़ीसा के राजा रामचंद्रदेव को मुगलों ने टीका देकर नियुक्त किया था और ना ही मानसिंह ने वहाँ कोई नया शासन स्थापित किया। जब रामचंद्रदेव ने अकबर का आधिपत्य स्वीकार कर लिया तो उसका राज्य छीनकर किसी दूसरे राजा को नहीं दिया गया।

बंगाल व विहार के सूबेदार के रूप में

अकबर ने मानसिंह से प्रसन्न होकर उसे विहार के अतिरिक्त बंगाल का सूबा भी प्रदान किया। बंगाल में मानसिंह ने राजमहल की स्थापना की जो कालान्तर में इस सूबे की राजधानी बन गई। उसने शेरगढ़ के निकट एक किले का भी शिलान्यास किया।

तत्पश्चात् कुर्कविहार के शासक राजा लक्ष्मीनारायण के साथ राजनैतिक वार्तालाप करके मानसिंह ने उसे बादशाह अकबर का आधिपत्य स्वीकार करने के लिए तैयार कर लिया। कुर्कविहार में विद्रोहियों का दमन करते हुए मानसिंह का पुत्र दुर्जनसिंह खेत रहा।

बंगाल का सूबेदार नियुक्त होने के पश्चात् मानसिंह ने ढ़ाका पर आक्रमण किया और वहां के शासक केदार राय को अकबर का आधिपत्य स्वीकार करने पर

---

1. Madalapanji : History of Orissa by R. D. Banerjee etc.

2. एक आधुनिक लेखक के शब्दों में, "His (Ramchandra Deo's) succession to the throne of Orissa did not depend on personal pleasure of the Mughals. Mansingh was not free to impose his own will in recognising whomsoever as the king of Orissa, only because he liked or disliked one or other."

अधिकार कर लिया था। अब बिहार में शांति स्थापित कर लेने के पश्चात् मानसिंह को उड़ीसा पर आक्रमण करने का निश्चय करना पड़ा। आक्रमण का कारण यह था कि कुतुलुखां के नेतृत्व में अफगानों ने मुगल प्रदेशों पर छापे मारने शुरू कर दिये थे और कतिपय स्थानों से मुगल फौजदारों के पांव उखाड़ दिए थे। चूंकि मानसिंह ने सफलतापूर्वक बिहार में विद्रोहियों का दमन किया था अतएव बादशाह ने उड़ीसा में व्यवस्था करने का कार्य भी मानसिंह को सौंपा लेकिन मानसिंह उस समय निम्न कारणों से तुरंत उड़ीसा पर आक्रमण करने के लिए तैयार नहीं था —

(i) उसके सैनिक बिहार में युद्ध लड़ते लड़ते थक गए थे।

(ii) बंगाल का मुगल सूबेदार सैदखां अपने सैनिकों को मानसिंह की सहायता के लिए भेजने को तैयार नहीं था अतः उसे (मानसिंह) पहाड़खां तथा राय पत्रदास (बंगाल के प्रमुख जमींदारों) को सैनिक सहायता देने के लिए तैयार करने में समय लग गया।

अतएव मानसिंह अकबर से आज्ञा प्राप्त होने के लगभग एक वर्ष बाद (1589) बर्दवान के मार्ग से उड़ीसा पर आक्रमण करने के लिए रवाना हुआ। आक्रमणकारी सेना का अग्रिम भाग मानसिंह के पुत्र जगतसिंह के नेतृत्व में था। लेकिन जगतसिंह की अनुभवहीनता के कारण मुगलों को सफलता नहीं मिली, स्वयं जगतसिंह को भाग कर बकुरा जिले में स्थित बिशनगढ़ के दुर्ग में शरण लेनी पड़ी। *स्वाभाविक रूप से मुगलों और उड़ीसा के नए शासक* (कुतुलुखां के पुत्र नासिर खां) के बीच संधि हो गई (अगस्त 1589)। इस संधि के अनुसार नासिरखां को उड़ीसा का शासक स्वीकार किया गया। उसने मुगल बादशाह का आधिपत्य स्वीकार किया तथा अकबर के नाम से खुत्बा पढ़वाना भी मंजूर किया। इसी संधि की एक शर्त के अनुसार पुरी जिले में स्थित जगन्नाथ का मंदिर मुगल सम्राट के प्रत्यक्ष नियंत्रण में रखना तय पाया। मानसिंह का यह कृत्य उसकी कूटनीतिज्ञता का सबल प्रमाण था।[1]

लेकिन यह संधि क्षणिक सिद्ध हुई क्योंकि संधि की शर्तें अफगानों और उड़ीसा के राजा रामचन्द्र देव के अनुकूल नहीं थी। अकबर ने स्वयं इस संधि की (reluctantly) अनिच्छा से स्वीकृति प्रदान की थी। 1589 में मानसिंह को बिहार छोड़कर जाना पड़ा क्योंकि राजा भगवन्तदास की 14 नवम्बर 1589 के दिन मृत्यु हो गई थी। मानसिंह की अनुपस्थिति से फायदा उठाकर असन्तुष्ट रामचन्द्रदेव ने बिशनगढ़ के राजा पर धावा बोल दिया क्योंकि उसने मानसिंह के पुत्र जगतसिंह को शरण दी

1 "This was a stroke of diplomacy which aimed at conciliating the Hindu sentiment and create a congenial atmosphere for posing the Mughals as the saviour of Hindu religion against the brutal aggressaions of the Afghans and there by preparing ground for crushing of the Afghans"

थी। अतः रामचन्द्र देव की हरकतों को उसने प्रतिद्वन्द्वियों (उड़ीसा के भूतपूर्व शासक मुकुन्ददेव के पुत्रों) ने शीघ्र बादशाह अकबर के कानों तक पहुँचा दिया।[1] अतएव मानसिंह को उड़ीसा के विरुद्ध नवम्बर 1591 में पुनः कूच करना पड़ा। इस समय बंगाल की सेना भी राजा मानसिंह के साथ थी। यद्यपि बंगाल की सेना मानसिंह को पूर्ण सहयोग प्रदान नहीं कर रही थी, लेकिन फिर भी राजा मानसिंह ने नासिरखां के संधि पैगाम को स्वीकार नहीं किया क्योंकि वह अच्छी तरह जानता था कि अफगान लोग मुगलों को भुलावे में डालकर अपनी शक्ति बढ़ाना चाहते थे। मानसिंह के नेतृत्व में मुगल सेना निरंतर बढ़ती गई। नासिर खां और उसके साथियों को Seraengarh के किले में शरण लेनी पड़ी। इस प्रकार 1592 में उड़ीसा मुगल साम्राज्य का अङ्ग बन गया।

नासिरखां को पराजित करने के पश्चात् मानसिंह ने उड़ीसा के अन्य शक्तिशाली जमींदारों का भी दमन किया। लेकिन मानसिंह की उड़ीसा विजय मुगलों की अन्यत्र विजयों से भिन्न थी।[2] ना तो उड़ीसा के राजा रामचंद्रदेव को मुगलों ने टीका देकर नियुक्त किया था और ना ही मानसिंह ने वहाँ कोई नया शासन स्थापित किया। जब रामचंद्रदेव ने अकबर का आधिपत्य स्वीकार कर लिया तो उसका राज्य छीनकर किसी दूसरे राजा को नहीं दिया गया।

बंगाल व बिहार के सूबेदार के रूप में

अकबर ने मानसिंह से प्रसन्न होकर उसे बिहार के अतिरिक्त बंगाल का सूबा भी प्रदान किया। बंगाल में मानसिंह ने राजमहल की स्थापना की जो कालान्तर में इस सूबे की राजधानी बन गई। उसने शेरगढ़ के निकट एक किले का भी शिलान्यास किया।

तत्पश्चात् कुर्कबिहार के शासक राजा लक्ष्मीनारायण के साथ राजनैतिक वार्तालाप करके मानसिंह ने उसे बादशाह अकबर का आधिपत्य स्वीकार करने के लिए तैयार कर लिया। कुर्कबिहार में विद्रोहियों का दमन करते हुए मानसिंह का पुत्र दुर्जनसिंह खेत रहा।

बंगाल का सूबेदार नियुक्त होने के पश्चात् मानसिंह ने ढाका पर आक्रमण किया और वहां के शासक केदार राय को अकबर का आधिपत्य स्वीकार करने पर

1. Madalapanji : History of Orissa by R. D. Banerjee etc.

2. एक आधुनिक लेखक के शब्दों में, "His (Ramchandra Deo's) succession to the throne of Orissa did not depend on personal pleasure of the Mughals. Mansingh was not free to impose his own will in recognising whomsoever as the king of Orissa, only because he liked or disliked one or other."

प्राप्त किया। ढाका को मानसिंह ने अपना हेडक्वार्टर बना लिया। बगाल मे कतिपय विद्रोहों का दमन करके मानसिंह ने वहां शांति और व्यवस्था स्थापित की। 1593 मे अकबर ने मानसिंह को शाहजादा मुराद की सहायता के लिए दक्षिण जाने की आज्ञा दी। लेकिन आज्ञा जारी करते समय बादशाह ने लिखा था कि मानसिंह उसी सूरत में दक्षिण के लिए रवाना हो जब बगाल में उसकी आवश्यकता नहीं हो। चूंकि मानसिंह दक्षिण नही गया था अत यह स्पष्ट है कि बगाल की परिस्थितियां अनुकूल नहीं थी।

1597 में मानसिंह को सलीम के साथ मेवाड के राणा अमरसिंह के विरुद्ध जाने की आज्ञा दी गई। इस समय अजमेर मे रहते हुए सलीम का मस्तिष्क विकृत हो गया और उसने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह करने का तय किया। बादशाह इस वक्त दक्षिण में था। मानसिंह ने सलीम को सलाह दी थी कि वह बगाल जाकर वहां के विद्रोही अफगानों का दमन करे। लेकिन सलीम ने मानसिंह की सलाह न मानकर मुगल राजधानी आगरा की ओर कूच किया। बगाल मे उपद्रव और विद्रोह के समाचार पाकर राजा मानसिंह को भी सलीम के साथ ही साथ राजस्थान से रवाना होना पडा।

शाहजादा सलीम, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, आमेर की राजकुमारी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। इसका विवाह भी मानसिंह की बहिन से हुआ था। लेकिन फिर भी मानसिंह ने विद्रोह काल म शाहजादा सलीम का साथ नहीं दिया।

सलीम के विद्रोह के प्रति मानसिंह का दृष्टिकोण

इसके कई कारण हो सकते हैं। यहां केवल इतना लिखना ही पर्याप्त होगा कि मानसिंह सलीम के रहन-सहन के तरीके से प्रसन्न नही था। मानसिंह अपने दूरदर्शी दृष्टिकोण के बल पर यह जान गया था कि सलीम अपने इरादों मे सफल नहीं हो सकता। इसलिए उसने सलीम को विद्रोह के लिए प्रोत्साहित करने के स्थान पर बगाल जाकर बलवाइयों का दमन करने की नेक सलाह दी थी। लेकिन सलीम ने मानसिंह की इस सलाह को ठुकरा दिया। अत मानसिंह ने विद्रोही शहजादे का साथ ही नही दिया वरन् उसके विद्रोह का दमन करने मे भी एक वफादार मन्सबदार के रूप में अपनी योग्यता का परिचय दिया। इसका मिलाजुला परिणाम यह निकला कि अकबर ने अपने शासन काल के अन्तिम वर्ष मे राजा मानसिंह को 7000 जात व 6000 सवार का मन्सब प्रदान किया जो उसके शासन काल में किसी भी सरदार–हिंदू अथवा मुसलमान–को प्रदान किया जाने वाला ऊंचा से ऊंचा मन्सब था।

अकबर की मृत्यु से कुछ समय पूर्व सलीम को राजगद्दी से वंचित करने के उद्देश्य से मिर्जा अजीज कोका तथा राजा मानसिंह के द्वारा सलीम के पुत्र खुसरो को

गद्दी पर वैठाने का असफल प्रयास किया गया था।[1] "यद्यपि शाहजादे खुसरो के लिए मानसिंह का विशेष पक्षपात होने के कारण" सलीम बादशाह वनने के वाद उससे वहुत प्रसन्न नहीं था, लेकिन "उसके शासन काल में भी मानसिंह की पिछली मान मर्यादा अक्षुण वनी रही"। वह 1606 A. D. तक निरन्तर वंगाल का सूवेदार भी वना रहा।

1611 में उसे अहमदनगर अभियान पर अब्दुल्लाखाँ, खानेखाना आदि के साथ नियुक्त किया गया। दक्षिण में रहते हुए एलिचपुर के स्थान पर 6 जुलाई 1614 के दिन मानसिंह की इहलोक-लीला समाप्त हो गई। उसकी मृत्यु के कुछ ही मास पूर्व सात हजारी का मन्सव प्रदान करके जहांगीर ने उसका अपूर्व सम्मान किया।

मानसिंह की मृत्यु

मानसिंह के शासन काल में आमेर की सीमाएँ पूर्ववत् वनी रहीं। वंगाल-विहार की वीस वर्षीय सूवेदारी के समय में उसके निजी ऐश्वर्य एवं सम्पत्ति में भी वृद्धि हुई। इस प्रकार अकवर महान का शासन काल आमेर के कछवाहा शासकों के लिए सौभाग्यपूर्ण प्रमाणित हुआ। राजा भारमल, भगवन्तदास व मानसिंह को जो सम्मान एवं गौरव प्राप्त हुआ था और उसके साथ ही साथ उनके कई भाई, वेटों तथा दूरस्थ सम्वन्धियों को वड़े वड़े मन्सव व ऊंचे पद प्राप्त हुए थे वैसा मान व गौरव मानसिंह के उत्तराधिकारियों को प्राप्त नहीं हो सका।

मुगल सम्राट अकवर ने 1562 के पश्चात् अपनी मृत्यु तक राजपूत राज्यों के प्रति जो नीति अपनाई थी उसे उपरोक्त विवेचन के आधार पर उदारवादी सहिष्णु नीति कहकर पुकारा जा सकता है। अकवर इस वात को समझ चुका था कि यदि भारत में मुगल साम्राज्य की जड़ दृढ़ करनी है तो राजपूतों को जीतना (win over) आवश्यक है। दिल्ली सल्तनत के इतिहास ने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि केवल सैनिक शक्ति के वल पर ही राजपूत राज्यों को स्थायी रूप से मुगल सम्राट् के अधीन नहीं किया जा सकता। अकवर के शासन काल के प्रारम्भिक वर्षों में मुगल सरदारों के द्वारा जो विद्रोह किए गए थे उनके वाद अकवर ने यही फैसला किया था कि केवल मुगल सरदारों की शक्ति पर साम्राज्य में स्थायी शांति और व्यवस्था स्थापित नहीं हो सकती। अतः जव 1562 में आमेर के राजा भारमल ने अकवर की अधीनता स्वीकार करने की इच्छा प्रकट की तो अकवर ने उसकी प्रार्थना को अविलम्ब स्वीकार कर

अकवर की राजपूत राज्यों के प्रति नीति

1. "Public good as well as private interest prompted Mansingh, Aziz Koka and a host of other nobles to ensure the accession of Sultan Khushrou."

बाध्य किया। ढाका को मानसिंह ने अपना हेडक्वार्टर बना लिया। बंगाल में कतिपय विद्रोहों का दमन करके मानसिंह ने वहां शांति और व्यवस्था स्थापित की। 1593 में अकबर ने मानसिंह को शाहजादा मुराद की सहायता के लिए दक्षिण जाने की आज्ञा दी। लेकिन आज्ञा जारी करते समय बादशाह ने लिखा था कि मानसिंह उसी सूरत में दक्षिण के लिए रवाना हो जब बंगाल में उसकी आवश्यकता नहीं हो। चूंकि मानसिंह दक्षिण नहीं गया था अतः यह स्पष्ट है कि बंगाल की परिस्थितियां अनुकूल नहीं थी।

1597 में मानसिंह को सलीम के साथ मेवाड़ के राणा अमरसिंह के विरुद्ध जाने की आज्ञा दी गई। इस समय अजमेर में रहते हुए सलीम का मस्तिष्क विकृत हो गया और उसने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह करने का तय किया। बादशाह इस वक्त दक्षिण में था। मानसिंह ने सलीम को सलाह दी थी कि वह बंगाल जाकर वहां के विद्रोही अफगानों का दमन करे। लेकिन सलीम ने मानसिंह की सलाह न मानकर मुगल राजधानी आगरा की ओर कूच किया। बंगाल में उपद्रव और विद्रोह के समाचार पाकर राजा मानसिंह को भी सलीम के साथ ही साथ राजस्थान से रवाना होना पड़ा।

शाहजादा सलीम, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, आमेर की राजकुमारी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। इसका विवाह भी मानसिंह की बहिन से हुआ था। लेकिन फिर भी मानसिंह ने विद्रोह काल में शाहजादा सलीम का साथ नहीं दिया।

सलीम के विद्रोह के प्रति मानसिंह का दृष्टिकोण

इसके कई कारण हो सकते हैं। यहां केवल इतना लिखना ही पर्याप्त होगा कि मानसिंह सलीम के रहन सहन के तरीके से प्रसन्न नहीं था। मानसिंह अपने दूरदर्शी दृष्टिकोण के बल पर यह जान गया था कि सलीम अपने इरादों में सफल नहीं हो सकता। इसलिए उसने सलीम को विद्रोह के लिए प्रोत्साहित करने के स्थान पर बंगाल जाकर बलवाइयों का दमन करने की नेक सलाह दी थी। लेकिन सलीम ने मानसिंह की इस सलाह को ठुकरा दिया। अतः मानसिंह ने विद्रोही शहजादे का साथ ही नहीं दिया वरन उसके विद्रोह का दमन करने में भी एक वफादार मन्सबदार के रूप में अपनी योग्यता का परिचय दिया। इसका मिलाजुला परिणाम यह निकला कि अकबर ने अपने शासन काल के अन्तिम वर्ष में राजा मानसिंह को 7000 जात व 6000 सवार का मन्सब प्रदान किया जो उसके शासन काल में किसी भी सरदार–हिंदू अथवा मुसलमान–को प्रदान किया जाने वाला ऊंचा से ऊंचा मन्सब था।

अकबर की मृत्यु से कुछ समय पूर्व सलीम को राजगद्दी से वंचित करने के उद्देश्य से मिर्जा अजीज कोका तथा राजा मानसिंह के द्वारा सलीम के पुत्र खुसरो को

गद्दी पर बैठाने का असफल प्रयास किया गया था।[1] "यद्यपि शाहजादे खुसरो के लिए मानसिंह का विशेष पक्षपात होने के कारण" सलीम बादशाह बनने के बाद उससे बहुत प्रसन्न नहीं था, लेकिन "उसके शासन काल में भी मानसिंह की पिछली मान मर्यादा अक्षुण्ण बनी रही"। वह 1606 A. D. तक निरन्तर बंगाल का सूबेदार भी बना रहा।

1611 में उसे अहमदनगर अभियान पर अब्दुल्लाखां, खानेखाना आदि के साथ नियुक्त किया गया। दक्षिण में रहते हुए एलिचपुर के स्थान पर 6 जुलाई

मानसिंह की मृत्यु

1614 के दिन मानसिंह की इहलोक-लीला समाप्त हो गई। उसकी मृत्यु के कुछ ही मास पूर्व सात हजारी का मन्सब प्रदान करके जहांगीर ने उसका अपूर्व सम्मान किया।

मानसिंह के शासन काल में आमेर की सीमाएँ पूर्ववत् बनी रहीं। बंगाल-विहार की बीस वर्षीय सूबेदारी के समय में उसके निजी ऐश्वर्य एवं सम्पत्ति में भी वृद्धि हुई। इस प्रकार अकबर महान का शासन काल आमेर के कछवाहा शासकों के लिए सौभाग्यपूर्ण प्रमाणित हुआ। राजा भारमल, भगवन्तदास व मानसिंह को जो सम्मान एवं गौरव प्राप्त हुआ था और उसके साथ ही साथ उनके कई भाई, बेटों तथा दूरस्थ सम्बन्धियों को बड़े बड़े मन्सब व ऊंचे पद प्राप्त हुए थे वैसा मान व गौरव मानसिंह के उत्तराधिकारियों को प्राप्त नहीं हो सका।

मुगल सम्राट अकबर ने 1562 के पश्चात् अपनी मृत्यु तक राजपूत राज्यों के प्रति जो नीति अपनाई थी उसे उपरोक्त विवेचन के आधार पर उदारवादा सहिष्णु नीति कहकर पुकारा जा सकता है। अकबर इस बात को समझ चुका था कि यदि

अकबर की राजपूत राज्यों के प्रति नीति

भारत में मुगल साम्राज्य की जड़ दृढ़ करनी है तो राजपूतों को जीतना (win over) आवश्यक है। दिल्ली सल्तनत के इतिहास ने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि केवल सैनिक शक्ति के बल पर ही राजपूत राज्यों को स्थायी रूप से मुगल सम्राट् के अधीन नहीं किया जा सकता। अकबर के शासन काल के प्रारम्भिक वर्षों में मुगल सरदारों के द्वारा जो विद्रोह किए गए थे उनके बाद अकबर ने यही फैसला किया था कि केवल मुगल सरदारों की शक्ति पर साम्राज्य में स्थायी शांति और व्यवस्था स्थापित नहीं हो सकती। अतः जब 1562 में आमेर के राजा भारमल ने अकबर की अधीनता स्वीकार करने की इच्छा प्रकट की तो अकबर ने उसकी प्रार्थना को अविलम्ब स्वीकार कर

1. "Public good as well as private interest prompted Mansingh, Aziz Koka and a host of other nobles to ensure the accession of Sultan Khushrou."

लिया। इसी समय भारमल ने अपने सम्बन्धों को घनिष्ठ बनाने की गरज से अपनी पुत्री का सम्राट के साथ विवाह करना चाहा। अकबर ने इसे भी स्वीकार करके अर्न्तजातीय विवाह की एक ऐसी नज़ीर अपने उत्तराधिकारियो के लिए प्रस्तुत की जो मुगल साम्राज्य के हित में सर्वथा लाभप्रद सिद्ध हुई। अकबर ने कतिपय राजपूत राजघरानों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध ही स्थापित नहीं किए, बल्कि इन राजपूत राजाओं की सैनिक योग्यता का विभिन्न विजयो मे पूरा पूरा उपयोग किया। अकबर ने प्रत्येक अभियान मे एक मुसलमान व एक हिन्दू सरदार को सेना नायक बनाने की नीति बना ली थी। इन सैनिक सेवाओं के ऐवज मे मन्सब व अतिरिक्त जागीरें प्रदान की जाने लगी। बहुत शीघ्र अकबर का इन राजपूत राज्यो पर पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो गया। पहले राणा के मरने के बाद अकबर उसके पुत्र को उसकी इच्छानुसार उत्तराधिकारी स्वीकार करता था। लेकिन बाद मे उसने तथा उसके उत्तराधिकारियों ने अपनी इच्छा से भी राजा नियुक्त करने शुरू कर दिए थे। चूंकि अकबर की नीति पूर्ण आधिपत्य स्थापित करने की थी अत उसने प्रत्येक नए राजा के ललाट पर 'टीका' लगाने की रस्म जारी की। बाद मे यह रस्म एक ऐसी परिपाटी बन गई जिसका प्रयोग सम्राट की अनुपस्थिति में उसके नुमाइन्दे भी करने लगे। आमेर मारवाड, बीकानेर तथा कोटा राज्य के इतिहास इस बात के साक्षी है कि अकबर ने अपनी उदार एव सहिष्णु नीति के द्वारा राजपूत राज्यों को पूर्ण रूपेण अपने अधिकार मे कर लिया था। यदि अकबर ने ऐसी नीति नही अपनाई होती तो कदाचित् राजपूत राजाओं की सेवाए अपने दूसरे साथी राज्यों को पदाक्रान्त करने में उपयुक्त नही कही जा सकती थी। अकबर ने किस प्रकार पारिवारिक फसादो का बहाना बनाकर आमेर व मारवाड के राज्यों पर अपना राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित किया इसका वर्णन पिछले पृष्ठों में कर दिया गया है।

आमेर के राजा 1614 से 1621 तक

मानसिंह का ज्येष्ठ पुत्र जगतसिंह उसके जीवन काल मे ही 9 अक्तूबर 1599 के दिन आगरा म मृत्यु को प्राप्त हो चुका था। अत अपने जीवित ज्येष्ठ पुत्र महासिंह को मानसिंह ने अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था लेकिन मुगल बादशाह जहांगीर ने मानसिंह की इच्छा तथा उत्तराधिकार सम्बन्धी हिन्दू प्रथा की उपेक्षा करके मानसिंह के एक मात्र जीवित पुत्र

भाऊसिंह

भाऊसिंह को 27 6 1615 के दिन आमेर के राज्य का टीका, चार हजारी मन्सब तथा मिर्जाराजा की उपाधि दी। महासिंह को सन्तुष्ट करने के खातिर गढाह (आधुनिक जबलपुर) की जागीर तथा 'राजा' की उपाधि प्रदान की गई। महासिंह स्वय तो अपनी नई जागीर के लिए चला गया लेकिन पुत्र और पत्नियो को अपने साथ नहीं ले गया था। दक्षिण में रहते हुए महासिंह की 26 वर्ष की अल्प आयु म ही देहान्त हो गया। उस समय इसका पुत्र जयसिंह केवल पांच वर्ष का था।

भाऊसिंह अपने भतीजे महासिंह के नाबालिग पुत्र जयसिंह को ग्रामेर की गद्दी का एक प्रबल दावेदार समझता था। वह अपने पुत्र बद्रीसिंह के लिए सुरक्षित राजगद्दी छोड़ना चाहता था। अतः महासिंह की विधवा महारानी दमयन्ती अपने अल्पवयस्क पुत्र जयसिंह को लेकर दौसा चली गई, वहाँ से महारानी ने बादशाह जहांगीर के पास एक दूत भेजा जिसने मांडू के मुकाम पर सम्राट् से भेंट की। उस समय नूरजहां बेगम तथा ग्रासफखां की सिफारिश पर बादशाह जहांगीर ने 1500 का मन्सब बालक जयसिंह को प्रदान किया। ऐसा लगता है कि जहांगीर ने महासिंह की मृत्यु की खबर पाकर यह कृपा उसके पुत्र पर की थी। तत्पश्चात् रणथम्भोर के मुकाम पर जयसिंह जहांगीर के दरबार में उपस्थित हुआ।

भाऊसिंह ने केवल $6\frac{1}{2}$ वर्ष राज्य किया। 27 नवम्बर 1621 के दिन बुरहानपुर में उसका देहान्त हो गया। भाऊसिंह की मृत्यु से पूर्व ही उसका एक मात्र पुत्र बद्रीसिंह भी मृत्यु को प्राप्त हो चुका था। अतः जब 18 दिसम्बर 1621 के दिन हरद्वार के मुकाम पर भाऊसिंह की मृत्यु का समाचार बादशाह जहांगीर को प्राप्त हुआ तो मुगल दरबार में स्थित ग्रामेर के वकील राय मुकुन्ददास ने नूरजहां बेगम की सहानुभूति प्राप्त करके ग्रामेर के राज्य का टीका बादशाह जहांगीर से जयसिंह को दिलवा दिया। इस प्रकार दिसम्बर 1621 में जयसिंह 'राजा' की उपाधि, 2000 जात व 1000 सवार का मन्सब, प्राप्त करके ग्रामेर की गद्दी पर बैठा।

मिर्जा राजा जयसिंह
1621–1667 A. D.

मानसिंह के इन उत्तराधिकारियों को मानसिंह अथवा उसके पिता भगवन्तदास का सा मान और गौरव प्राप्त नहीं हो सका था। अतः जयसिंह को मुगल प्रशासन में अपने राजघराने की प्रतिष्ठा पुनः स्थापित करने के लिए घोर प्रयत्न करने पड़े।

जयसिंह का खुर्रम के विद्रोह-दमन में भाग

1622 में नूरजहां बेगम ने शाहज़ादे खुर्रम के विद्रोह का दमन करने के लिए सभी राजपूत राजाओं को निमंत्रित किया। उस समय जयसिंह को भी बुलाया गया। नूरजहां बेगम का जयसिंह के नाम 21 जनवरी 1623 का तुगरा यह स्पष्ट बताता है कि विद्रोही शाहजादा खुर्रम यदि ग्रामेर के राज्य में से गुजरे तो उसका पूर्ण रूप से दमन किया जाए। 12 मार्च के दिन जयसिंह दिल्ली पहुंचा और उसका मन्सब बढ़ाकर 3000 जात व 1500 सवार कर दिया गया।

ग्रामेर से जयसिंह की अनुपस्थिति में बिलोचपुर के युद्ध में पराजित विद्रोही खुर्रम ग्रामेर पहुंचा और उसने 21 अप्रैल 1623 के दिन ग्रामेर को लूटा। जयसिंह खुर्रम का पीछा करता हुआ 17 अगस्त के दिन मांडू और फिर बुरहानपुर पहुंचा।

16 अक्तूबर 1624 के दिन जयसिंह ने खुर्रम के विरुद्ध हाजीपुर का युद्ध लड़ा। इस युद्ध में जयसिंह शाही सेना के रिजर्व भाग में था। युद्ध में जयसिंह ने

लिया। इसी समय भारमल ने अपने सम्बन्धों को घनिष्ठ बनाने की गरज से अपनी पुत्री का सम्राट के साथ विवाह करना चाहा। अकबर ने इसे भी स्वीकार करके अन्तर्जातीय विवाह की एक ऐसी नजीर अपने उत्तराधिकारियों के लिए प्रस्तुत की जो मुगल साम्राज्य के हित में सर्वथा लाभप्रद सिद्ध हुई। अकबर ने कतिपय राजपूत राजघरानों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध ही स्थापित नहीं किए, बल्कि इन राजपूत राजाओं की सैनिक योग्यता का विभिन्न विजयों में पूरा पूरा उपयोग किया। अकबर ने प्रत्येक अभियान में एक मुसलमान व एक हिन्दू सरदार को सेना नायक बनाने की नीति बना ली थी। इन सैनिक सेवाओं के ऐवज में मन्सब व अतिरिक्त जागीरें प्रदान की जाने लगी। बहुत शीघ्र अकबर का इन राजपूत राज्यों पर पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो गया। पहले राजा के मरने के बाद अकबर उसके पुत्र को उसकी इच्छानुसार उत्तराधिकारी स्वीकार करता था। लेकिन बाद में उसने तथा उसके उत्तराधिकारियों ने अपनी इच्छा से भी राजा नियुक्त करने शुरू कर दिए थे। चूंकि अकबर की नीति पूर्ण अधिपत्य स्थापित करने की थी अतः उसने प्रत्येक नए राजा के ललाट पर 'टीका' लगाने की रस्म जारी की। बाद में यह रस्म एक ऐसी परिपाटी बन गई जिसका प्रयोग सम्राट की अनुपस्थिति में उसके नुमाइन्दे भी करने लगे। आमेर, मारवाड़, बीकानेर तथा कोटा राज्य के इतिहास इस बात के साक्षी हैं कि अकबर ने अपनी उदार एवं सहिष्णु नीति के द्वारा राजपूत राज्यों को पूर्ण रूपेण अपने अधिकार में कर लिया था। यदि अकबर ने ऐसी नीति नहीं अपनाई होती तो कदाचित् राजपूत राजाओं की सेवाएं अपने दूसरे साथी राज्यों को पदाक्रान्त करने में उपयुक्त नहीं कही जा सकती थी। अकबर ने किस प्रकार पारिवारिक फसादों का बहाना बनाकर आमेर व मारवाड़ के राज्यों पर अपना राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित किया इसका वर्णन पिछले पृष्ठों में कर दिया गया है।

आमेर के राजा 1614 से 1621 तक

मानसिंह का ज्येष्ठ पुत्र जगतसिंह उसके जीवन काल में ही 9 अक्तूबर 1599 के दिन आगरा में मृत्यु को प्राप्त हो चुका था। अतः अपने जीवित ज्येष्ठ पुत्र महासिंह को मानसिंह ने अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था लेकिन मुगल बादशाह जहांगीर ने मानसिंह की इच्छा तथा उत्तराधिकार सम्बन्धी हिन्दू प्रथा की उपेक्षा करके मानसिंह के एक मात्र जीवित पुत्र

भाऊसिंह

भाऊसिंह को 27. 6. 1615 के दिन आमेर के राज्य का टीका, चार हजारी मन्सब तथा मिर्जाराजा की उपाधि दी। महासिंह को सन्तुष्ट करने के खातिर गढ़ाह (आधुनिक जबलपुर) की जागीर तथा 'राजा' की उपाधि प्रदान की गई। महासिंह स्वयं तो अपनी नई जागीर के लिए चला गया लेकिन पुत्र और पत्नियों को अपने साथ नहीं ले गया था। दक्षिण में रहते हुए महासिंह की 26 वर्ष की अल्प आयु में ही देहान्त हो गया। उस समय इसका पुत्र जयसिंह केवल पांच वर्ष का था।

भाऊसिंह अपने भतीजे महासिंह के नाबालिग पुत्र जयसिंह को आमेर की गद्दी का एक प्रबल दावेदार समझता था। वह अपने पुत्र बद्रीसिंह के लिए सुरक्षित राजगद्दी छोड़ना चाहता था। अतः महासिंह की विधवा महारानी दमयन्ती अपने अल्पवयस्क पुत्र जयसिंह को लेकर दौसा चली गई, वहां से महारानी ने बादशाह जहांगीर के पास एक दूत भेजा जिसने मांडू के मुकाम पर सम्राट् से भेंट की। उस समय नूरजहां बेगम तथा आसफखां की सिफारिश पर बादशाह जहांगीर ने 1500 का मन्सब बालक जयसिंह को प्रदान किया। ऐसा लगता है कि जहांगीर ने महासिंह की मृत्यु की खबर पाकर यह कृपा उसके पुत्र पर की थी। तत्पश्चात् रणथम्भौर के मुक़ाम पर जयसिंह जहांगीर के दरबार में उपस्थित हुआ।

भाऊसिंह ने केवल 6½ वर्ष राज्य किया। 27 नवम्बर 1621 के दिन बुरहानपुर में उसका देहान्त हो गया। भाऊसिंह की मृत्यु से पूर्व ही उसका एक मात्र पुत्र बद्रीसिंह भी मृत्यु को प्राप्त हो चुका था। अतः जब 18 दिसम्बर 1621 के दिन हरद्वार के मुकाम पर भाऊसिंह की मृत्यु का समाचार बादशाह जहांगीर को प्राप्त हुआ तो मुगल दरबार में स्थित आमेर के वकील राय मुकुन्ददास ने नूरजहां बेगम की सहानुभूति प्राप्त करके आमेर के राज्य का टीका बादशाह जहांगीर से जयसिंह को दिलवा दिया। इस प्रकार दिसम्बर 1621 में जयसिंह 'राजा' की उपाधि, 2000 जात व 1000 सवार का मन्सब, प्राप्त करके आमेर की गद्दी पर बैठा।

मिर्जा राजा जयसिंह
1621–1667 A. D.

मानसिंह के इन उत्तराधिकारियों को मानसिंह अथवा उसके पिता भगवन्तदास का सा मान और गौरव प्राप्त नहीं हो सका था। अतः जयसिंह को मुगल प्रशासन में अपने राजघराने की प्रतिष्ठा पुनः स्थापित करने के लिए घोर प्रयत्न करने पड़े।

जयसिंह का खुर्रम के विद्रोह-दमन में भाग

1622 में नूरजहां बेगम ने शाहजादे खुर्रम के विद्रोह का दमन करने के लिए सभी राजपूत राजाओं को निमंत्रित किया। उस समय जयसिंह को भी बुलाया गया। नूरजहां बेगम का जयसिंह के नाम 21 जनवरी 1623 का तुगरा यह स्पष्ट बताता है कि विद्रोही शाहजादा खुर्रम यदि आमेर के राज्य में से गुजरे तो उसका पूर्ण रूप से दमन किया जाए। 12 मार्च के दिन जयसिंह दिल्ली पहुंचा और उसका मन्सब बढ़ाकर 3000 जात व 1500 सवार कर दिया गया।

आमेर से जयसिंह की अनुपस्थिति में बिलोचपुर के युद्ध में पराजित विद्रोही खुर्रम आमेर पहुंचा और उसने 21 अप्रैल 1623 के दिन आमेर को लूटा। जयसिंह खुर्रम का पीछा करता हुआ 17 अगस्त के दिन मांडू और फिर बुरहानपुर पहुंचा।

16 अक्तूबर 1624 के दिन जयसिंह ने खुर्रम के विरुद्ध हाजीपुर का युद्ध लड़ा। इस युद्ध में जयसिंह शाही सेना के रिजर्व भाग में था। युद्ध में जयसिंह ने

अपूर्व योग्यता और साहस का परिचय दिया था। अतः उसे उचित इनाम इकराम दिए गए।

तत्पश्चात् जयसिंह को खानेजहा लोदी के नेतृत्व में मलिक अम्बर (अहमद नगर) का दमन करने के लिए दक्षिण मे नियुक्त किया गया। जहागीर की मृत्यु के पश्चात खानेजहा लोदी ने विद्रोह कर दिया। लेकिन जयसिंह विद्रोहियों से बहुत दूर था। 1637 तक दक्षिण के विभिन्न युद्धो में अपनी सैनिक योग्यता का प्रमाण देकर जयसिंह ने प्रथम श्रेणी के सेनानायक की प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी।

दक्षिण में

14 जनवरी 1628 के दिन जयसिंह ने मुगल बादशाह जहागीर के पुत्र और उत्तराधिकारी शाहजहा से अजमेर मे आनासागर की पाल पर भेंट की। शाहजहा की आज्ञा से यह महावन (मथुरा) के विद्रोहियों का दमन करने के लिए अप्रेल 1628 म गया था। तत्पश्चात् इसे खानेजहा लोदी के विद्रोह का दमन करने के लिए पुन दक्षिण भेजा गया। खानेजहा लोदी के विद्रोह का दमन करने में जयसिंह ने अपूर्व साहस और योग्यता का परिचय दिया था। अत बादशाह ने उसकी सेवाओं की सराहना की और उसका मन्सब भी बढाकर 4000 जात व 3000 सवार कर दिया गया।

मार्च 1638 में जयसिंह को शाहजादा शाहशुजा के साथ कन्धार के दुर्ग को विजय करने के लिए भेजा गया। जयसिंह की सेवाओं से प्रसन्न होकर बादशाह ने 19 अप्रेल 1639 के दिन 'मिर्जा राजा' की उपाधि से उसे विभूषित किया।

कन्धार में

शाहजहाँ की आज्ञानुसार ताजमहल के निर्माण के लिए मकराने का सगमरमर (बैलगाड़ियों के द्वारा) तथा आमेर व राजनगर के कुशल कारीगर जयसिंह के द्वारा ही आगरा भेजे गये थे।

शाहजहाँ ने प्रसन्न होकर 5000 जात व सवार का मन्सब जयसिंह को प्रदान किया तथा चाटसू का परगना भी उसे दिया गया।

"His unbroken record of success established his reputation as a great warrior and skilful general, and at the young age of 25 he became Panj hazari which he shared with more senior officers like Gaj Singh, Shaista Khan etc" (Dr. Tripathi)

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है मार्च 1638 में जयसिंह को शाहशुजा के साथ कन्धार विजय करने के लिए भेजा गया था। 1641 में इसे शाहजादा मुराद के साथ काबुल जाने की आज्ञा दी गई। काबुल जाते समय मार्ग में इसने नूरपुर, कांगड़ा के राजा जगतसिंह को पराजित किया।

जयसिंह की अफगानिस्तान तथा मध्य एशिया में सेवाए

1642 में इसने दारा के साथ कन्धार की रक्षा की। इन सेवाओं की एवज

में जयसिंह के मन्सब में वृद्धि की गई। उसके 1000 सवारों को दो अस्पा सेह असपा कर दिया गया। साथ ही शाहजहां ने उसे अपना विश्वासपात्र सरदार घोषित किया।[1] 1643 में बादशाह ने प्रसन्न होकर इसे वृंदावन के मन्दिर का प्रबन्ध सौंप दिया। इस मन्दिर को जयसिंह के पूर्वज मानसिंह ने बनवाया था।

1644 में मिर्जा राजा जयसिंह को दक्षिण का सूबेदार नियुक्त किया गया।

दक्षिण में

यह तीन वर्ष तक इस सूबे का सूबेदार रहा था। इस समय में जयसिंह ने एक योग्य सेनानायक तथा उत्तम प्रशासक की योग्यता का परिचय दिया था।

सितम्बर 1648 में इसे पुनः कन्धार की सुरक्षा के लिए शाहजादा औरङ्गजेब तथा सादुल्लाखां के साथ नियुक्त किया गया।

1649 में जयसिंह के मन्सब में पुनः वृद्धि की गई। अब इसका मन्सब 5000 जात व 5000 सवार का हो गया था जिसमें से 3000 सवार दो अस्पा सेह अस्पा थे।

बादशाह ने प्रसन्न होकर इसके द्वितीय पुत्र कीरतसिंह को कांमा पहाड़ी तथा खींवा की जागीर प्रदान की। मिर्जा राजा को मेवात का फौजदार भी नियुक्त किया

मेवात का फौजदार

गया। राजा जयसिंह ने मेवातियों का दमन किया। अतः बादशाह ने जलकल्याण का परगना प्रदान किया व 1000 सवार और दो अस्पा से 6 अस्पा कर दिये। मेवात के फौजदार के रूप में जयसिंह ने बयाना के किलेदार गैरतखां को शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने में सहायता दी। अतः मिर्जाराजा के ज्येष्ठ पुत्र रामसिंह के मन्सब को बढ़ाकर 1500 जात व 1000 सवार कर दिया गया।

सितम्बर 1651 मे मिर्जाराजा को पुनः कन्धार की सुरक्षा के लिए नियुक्त किया गया। अपने 10,000 सवारों के साथ यह जनवरी 1652 में जमीनदावर के किले की विजय के लिए पहुंच गया। शाही सेना ने मध्य एशिया में कूच किया। इस कूच के समय मिर्जाराजा सेना के हरावल में रखा जाता था। अभियान के असफल हो जाने के उपरान्त भी मिर्जाराजा जयसिंह को दारा के पुत्र सुलेमान शिकोह के साथ काबुल की सुरक्षा के लिए नियुक्त किया गया। मध्य एशिया में जयसिंह की वीरता का बखान करते हुए मिर्जाराजा का दरबारी कवि बिहारी लिखता है :—

यों दल कढि बलख ते, ते जयसिंह भुवाल।
उदर अघासुर के परे, ज्यों हरि गाय गुवाल॥

1. See Jaipur Records (Sitamau Collection), vol, II, P. 166-67.

कन्धार के तृतीय अभियान में भी जयसिंह को शाहजादा दारा के साथ भेजा गया था लेकिन इस अभियान के दौरान दारा और जयसिंह के सम्बन्ध बिगड़ गए थे। अभियान की समाप्ति पर सभी सरदारों को इनामात दिए गए। उस समय मिर्जा राजा को केवल एक खिलअत प्रदान की गई। सन्. 1654 से 1657 तक जयसिंह मुगल सम्राट का कृपापात्र नहीं रहा। जयसिंह ने दारा के इस अपमानजनक व्यवहार को विस्मृत नहीं किया।

इस प्रकार पिछले तीस वर्षों से मिर्जा राजा जयसिंह ने बड़ी तत्परतापूर्वक मुगल साम्राज्य की सेवा की। सुदूर दक्षिण में विद्रोही खानेजहांलोदी एवं अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा के स्वाधीन राज्यों पर निरन्तर होने वाली सभी चढ़ाइयों में वह सम्मिलित हुआ तथा उनमें उसने महत्वपूर्ण भाग लिया। बलख तथा बदख्शां के युद्धों में तथा कन्धार के तीनों घेरों के अवसरों पर भी जयसिंह ने उल्लेखनीय सेवाएं की जिसके एवज में चाटसू आदि परगने उसके पुत्र कीरतसिंह को मिले तथा मिर्जा राजा के मन्सब से अधिक सवार दो अस्पा सेह अस्पा कर दिए गए। परन्तु शाहजादा दारा मिर्जा राजा से अप्रसन्न हो गया था अतः शाहजादा के शासनकाल में उसकी सेवाओं का उसे उचित पुरस्कार नहीं मिल सका।

कन्धार के तृतीय अभियान की समाप्ति के पश्चात् जोधपुर नरेश राजा जसवन्तसिंह को तो हफ्त हजारी बना दिया गया था जबकि मिर्जाराजा जयसिंह केवल पंच हजारी मन्सबदार ही बना रहा। जयसिंह इस व्यवहार से असन्तुष्ट था। अतः सुलेमान शिकोह के साथ विद्रोही शाहजादे शुजा के विरुद्ध भेजने से पूर्व मिर्जाराजा को भी 6000 जात व 5000 सवार का मन्सब प्रदान किया गया। शुजा को तो इसने बहादुरपुर के युद्ध में पराजित कर दिया। लेकिन जब वह बनारस में था तब ही उसे सूचना मिली कि औरंगजेब और मुराद की सेनाओं ने दारा को सामूगढ़ के युद्ध में पराजित कर दिया है अतः उसने दारा की तरफ से लड़ना निरर्थक समझा।

उत्तराधिकार के युद्ध में मिर्जा राजा जयसिंह का भाग

मिर्जा राजा जयसिंह तथा औरंगजेब के बीच उत्तराधिकार का संघर्ष छिड़ने से पूर्व जो पत्र-व्यवहार हुआ था उससे स्पष्ट है कि जयसिंह शाहजादा औरंगजेब को मुगल दरबार से सम्बन्धित सूचनाएं भिजवाता रहा था। लेकिन उसने खुले रूप से किसी पक्ष का साथ नहीं दिया। युद्ध शुरू होने से पहले दारा ने जयसिंह के साथ अपने सम्बन्ध अच्छे करने की गरज से उसे निवाई का परगना प्रदान किया, उसका मन्सब बढ़ाकर सात हजारी कर दिया गया और बहादुरपुर की विजय के ऐवज में लिवाली का परगना भी प्रदान किया गया। दारा ने इस समय जो कतिपय निशान मिर्जाराजा के नाम भेजे थे उनमें खुशामदाना भाषा का प्रयोग किया गया था। 3 मार्च 1658 के निशान में लिखा गया था, "You have achieved what even Raja

Man Singh could not have accomplished........within the last 100 years such a victory was vonchsafed to none else."[1]

इस प्रकार दारा मिर्जाराजा के जख्म धोकर उसे अपने साथ सामूगढ़ ले जाना चाहता था। लेकिन जयसिंह को जब सामूगढ़ के युद्ध में दारा की पराजय का समाचार प्राप्त हो गया तो वह आमेर चला गया। ठीक इसी समय औरंगजेब ने जयसिंह को मालपुरा व मलारना के परगने प्रदान किए। अतः मिर्जाराजा जयसिंह 25 जून 1658 के दिन औरंगजेब से भेंट करने के लिए मथुरा पहुँचा।

जयसिंह के सुझाव पर औरंगजेब ने जसवन्तसिंह को भी माफ कर दिया था। 7 जनवरी 1659 के दिन बादशाह औरङ्गजेब ने मिर्जाराजा जयसिंह को लिखा कि वह जोधपुर नरेश महाराजा जसवन्तसिंह से शीघ्र भेंट करे ताकि जसवन्तसिंह दारा को किसी प्रकार की सहायता नहीं दे।[2] जयसिंह ने जसवन्तसिंह को पत्र लिखा और जसवन्तसिंह ने दारा की देवराय के युद्ध में कोई सहायता नहीं की।

देवराय के युद्ध मे मिर्जाराजा जयसिंह औरङ्गजेब की सेना के Vanguard में था। उसने गोकला पहाड़ी के निकट दारा के सैनिकों के पैर उखाड़ दिए। तत्पश्चात् औरङ्गजेब ने जयसिंह को दारा का पीछा करने के लिए भेजा। बड़ी मुश्किल से जयसिंह दारा को दादर के मालिक जीवन के द्वारा गिरफ्तार करवाने मे सफल हुआ।

उत्तराधिकार के संघर्ष में जयसिंह का यह दृष्टिकोण, बाह्य रूप से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि मिर्जाराजा ने दारा के साथ बेवफाई की थी। लेकिन एक अनुसन्धान ग्रंथ[3] में यह सिद्ध करने का प्रयास किया जा चुका है कि जयसिंह ने दारा को धोखा नहीं दिया। जयसिंह के प्रति दारा के अपमानजनक व्यवहार को आधार मानकर यह बताया गया है कि जयसिंह का व्यवहार treachrous नहीं कहा जा सकता। यह तो स्वीकार किया जा सकता है कि जयसिंह को दारा के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी अतः उसने उसकी व्यक्तिगत रूप से कोई सहायता नहीं की। लेकिन मिर्जा राजा जयसिंह शाहजादा दारा अथवा औरंगजेब की निजी सेवा में नहीं था। वह मुगल साम्राज्य का एक मन्सबदार था। अतः उत्तराधिकार का संघर्ष छिड़ने से पहले उसका औरंगजेब को निरंतर सूचना भेजना, बादशाह शाहजहां के फरमानों की अवहेलना करके बहादुरपुर के युद्ध के पश्चात् तुरंत आगरा नहीं आकर सीधा आमेर चला जाना तथा औरंगजेब के इशारे पर देवराय के युद्ध से पूर्व महाराजा जसवन्तसिंह को पत्र लिखकर उसे दारा से विमुख करना और अन्त में दारा को मलिक

1. Jaipur Records (Sitamau Collection), Vol. I, P. 124.

2. Vide Jaipur Records (Sitamau Collection) vol. XVII. pp. 265-67.

3. Life and Time of Mirza Raja Jai Singh by Dr. C. B. Tripathi (Allahabad Uni. D. Phil Thesis, 1953)

जीवन के द्वारा गिरफ्तार करवाकर उसे औरंगजेब के हवाले करना यदि उसकी दारा के प्रति बेवफाई नहीं तो कम से कम मिर्जाराजा का Revengeful attitude अवश्य बतलाती है। जसवन्तसिंह उसका प्रतिद्वन्दी था। प्रतिद्वन्दी को पत्र लिखकर दारा से विमुख करना क्या सिद्ध करता है, इसका निर्णय स्वयं पाठकगण निकालें।

जयसिंह और शिवाजी

दारा के पतन के पश्चात् बादशाह औरंगजेब ने मिर्जाराजा जयसिंह की सितम्बर 1659 में दक्षिण में नियुक्ति की। उसकी नियुक्ति करते समय आदेश दिया गया था कि वह मराठों का दमन करे तथा बीजापुर पर निगाह रखे। जयसिंह पूरे पांच वर्ष तक दक्षिण में रहा। इस बीच में उसने रात और दिन एक करके अपने फर्ज को निभाया। स्वयं मिर्जाराजा जयसिंह ने एक पत्र में औरंगजेब को लिखकर भेजा था—"जिस काम के लिए मैं भेजा गया हूँ उससे मैं दिन या रात में एक मिनट भी आराम नहीं लेता हू।" जयसिंह ने शिवाजी के विरुद्ध ऐसा वातावरण पैदा किया कि उसके सभी शत्रु आपस में सगठित हो गए। शिवाजी के अधिकारियों को भी धन और मुगल सेवा में ऊंचे पद का प्रलोभन देकर तोड़ने का प्रयत्न किया गया। सासवाड को अपना केन्द्र-बिन्दु बनाकर और मुगल चौकियाँ स्थापित करके जयसिंह ने 14 मार्च 1665 के दिन शिवाजी पर आक्रमण करने के उद्देश्य से पूना की ओर कूच किया। पुरन्दर के किले पर घेरा डाल दिया गया।

शिवाजी के द्वारा आत्म समर्पण

14 अप्रेल के दिन वज्रगढ़ के सैनिकों ने आक्रमणकारी सेना के सम्मुख हथियार डाल दिए। यह किला स्वयं मिर्जाराजा जयसिंह के शब्दों में "पुरन्दर के ताले की चाभी थी।" तत्पश्चात् पुरन्दर का विध्वंस भी निश्चित प्रतीत होने लगा। शिवाजी का सेनापति मुरारबाजी आक्रमणकारी मुगल सेना के सेनापति दिलेरखा के द्वारा मारा गया। जैसे ही शाही सेना पाबल के निकट पहुंची वैसे ही शिवाजी ने आत्म-समर्पण की चर्चा प्रारम्भ कर दी। स्वयं मिर्जा राजा जयसिंह के शब्दों में 'मेरे पूना पहुचने के समय तक वे मेरे पास उसके दो पत्र ला चुके थे। मैंने उनका कोई उत्तर नहीं देकर उनको निराश लौटा दिया। तब शिवाजी ने अपने एक विश्वसनीय सेवक कर्माजी के हाथ हिन्दी में लिखकर एक लम्बा पत्र भेजा जिसमें मुझ से बार-बार यह याचना की कि मैं उस पत्र को केवल एक बार तो पढ़ ही लू। उसमें शिवाजी ने स्वामिभक्त रहने तथा बीजापुर के युद्ध में जहाँ की सफलता की सम्भावना उसके पहाड़ी और कठिन देश की अपेक्षा अधिक थी, हमारी मदद करने का वचन दिया उत्तर में मैंने उनसे कहा कि यदि उनको अपने जीवन तथा सुरक्षा की इच्छा है तो वह बादशाह की नौकरी कर ले।" (हफ्त अंजूमन से उद्धरित)

जयसिंह से सुरक्षित वापस लौट जाने का आश्वासन प्राप्त करके शिवाजी मिर्जाराजा से मिलने के लिए 11 जून 1665 के दिन आया। जयसिंह ने वार्तालाप

किया। तत्पश्चात् दोनों के बीच पुरन्दर की प्रसिद्ध संधि हो गई। इस संधि के पश्चात् मुगलों की ओर से शिवाजी को उचित सम्मान प्रदान किया गया। शिवाजी ने बीजापुर के आक्रमण में मुगलों की सहायता भी की। "इस प्रकार सैनिक कार्यवाही शुरू करने के तीन महीने से भी कम अवधि में मिर्जाराजा जयसिंह शिवाजी को पराजित करने में सफल हुआ। उसने इस उद्दण्ड सरदार को अपने राज्य का बहुत सा भाग छोड़ देने तथा बादशाह के अधीन रहने पर मजबूर कर दिया—यह एक शानदार विजय थी।"

यद्यपि पुरन्दर की संधि में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि शिवाजी ना तो मुगल सैनिक सेवा में सम्मिलित होंगे और ना ही वह शाही दरबार में उपस्थित होंगे, लेकिन फिर भी मिर्जाराजा वचनबद्ध होने के नाते शिवाजी को बादशाह औरंगजेब के दरबार में उपस्थित करने के लिए उत्सुक था। जयसिंह ने स्वयं अपने पत्रों में स्वीकार किया है कि शिवाजी को आगरा लेजाने के लिए उसे अनेक प्रकार की युक्तियां काम में लेनी पड़ीं। एक चालाक राजपूत सेनानायक होने के नाते जयसिंह ने शिवाजी को बहुत सी अस्पष्ट आशाएं दिलाईं जिनमें सम्भवतः यह भी थी कि शिवाजी दक्षिण के वाइसराय नियुक्त कर दिए जायेंगे। शिवाजी स्वयं यह चाहता था कि बादशाह औरंगजेब सिद्दी को आदेश दे दे कि यह जंजीरा द्वीप उसके हवाले कर दे। सिद्दी बादशाह औरंगजेब की सेवा में था। शिवाजी की यह इच्छा स्वयं बादशाह से भेंट करने पर ही पूर्ण हो सकती थी। इसके अतिरिक्त शिवाजी मुगल राजधानी पहुंचकर मुगलों के विषय में स्वयं बहुत कुछ जानना चाहता था। इन प्रलोभनों के उपरान्त अस्थिर शिवाजी को जयसिंह ने गम्भीर सौगन्धें खाकर कि आगरा में उनका बाल भी बांका नहीं होगा तथा कुंवर रामसिंह के वचनों ने शिवाजी को आगरा जाने के लिए तैयार कर लिया।

> शिवाजी को आगरा यात्रा के लिए रवाना कर दिया गया

5 मार्च 1666 के दिन शिवाजी आगरा के लिए रवाना हुए और 12 मई 1666 के दिन वह औरंगजेब के दरबार में उपस्थित हुए। चूंकि दोपहर का समय बीत चुका था, अतः दीवानेखास में आसदखां ने शिवाजी का बादशाह से परिचय कराया। उस समय शिवाजी व उनके पुत्र ने बादशाह को नजरें दीं। लेकिन औरंगजेब ने शिवाजी की आशाओं के प्रतिकूल उनके स्वागत या मान्यता के रूप में एक शब्द भी नहीं कहा और उन्हें पंचहजारी मन्सबदारों की श्रेणी में ले जाकर खड़ा कर दिया गया। शिवाजी के आगे महाराजा जसवन्तसिंह थे। यह सब कुछ देखकर शिवाजी की आँखें क्रोध से लाल हो उठीं। सम्राट् ने कुंवर रामसिंह से कहा, "शिवाजी से पूछो कि उन्हें क्या तकलीफ है?" उस समय शिवाजी ने क्रोधित होकर उत्तर दिया, "तुमने

> शिवाजी की बादशाह औरंगजेब के साथ भेंट

देख लिया, तुम्हारे पिता ने देख लिया और तुम्हारे बादशाह ने देख लिया कि मैं किस तरह का आदमी हू, परन्तु फिर भी तुमने जान-बूझकर मुझे इतनी देर से खड़ा कर रक्खा है। मुझे तुम्हारा मन्सब नही चाहिए।" यह कहकर शिवाजी औरंगजेब की ओर पीठ मोड़कर चल दिए और एक खम्भे की आड़ मे आकर बैठ गए। रामसिंह ने उन्हें लाख तरह से समझाने बुझाने की कोशिश की लेकिन वे जिद पर चढ़ गए और कहने लगे, "मेरी मृत्यु का निश्चित दिन आ पहुंचा है, या तो तुम मुझे मार डालो, अन्यथा मैं स्वय अपनी हत्या कर लूंगा। भले ही तुम मेरा सिर काट डालो, परन्तु मैं सम्राट् के सामने कदापि नही जाऊ गा।" अत. औरंगजेब की आज्ञा से कुंवर रामसिंह शिवाजी को अपने निवास स्थान पर लिवा लाए।

कुंवर रामसिंह ने शिवाजी की रक्षा की

शिवाजी बादशाह के दरबार मे उपस्थित नहीं हुआ। मिर्जा राजा जयसिंह के विरोधियों ने तथा उन असफल मुगल सरदारो ने जिन्हें शिवाजी छका चुका था, औरङ्गजेब के कान भरने शुरू किए।[1] शाइस्ताखा की बहिन जो मुख्य वजीर जफरखां की बेगम थी और जहानआरा बेगम ने, जिसकी जागीर (सूरत) को शिवाजी ने लूटा था, बादशाह को और भड़काया। अतः सम्राट् ने यह निश्चित किया कि या तो शिवाजी को मौत के घाट उतार दिया जाए अथवा उसे नजरबंद रखा जाए। कुंवर रामसिंह को बहुत सा रुपया रिश्वत देने के बाद बादशाह के इस निर्णय का पता चला। अतः उसने अर्ज की—"शहंशाह ने शिवा को मार डालने का निश्चय किया है जो यहा पर मेरे पिता द्वारा दिए गए सुरक्षा के वचन को मानकर आये हैं। अतएव यह उचित है कि शहंशाह पहले मुझे मार डालें और मेरी मृत्यु के बाद वह भले ही शिवाजी को मार डाले अथवा और जो कुछ चाहें उनके साथ करें।" औरङ्गजेब एकाएक मिर्जाराजा जयसिंह और रामसिंह को अपना विरोधी बनाना नही चाहता था, अतः उसने कुंवर से जमानती बाड लिखवा लिया कि जब तक शिवाजी आगरे मे है तब तक कहीं भाग नही जाए अथवा कोई और शरारत नही कर बैठे। तत्पश्चात् शिवाजी को रदान्दाजखां की हवेली मे नजरबंद कर दिया गया। हवेली के चारो ओर फौलादखाँ का पहरा बिठा दिया गया।

औरङ्गजेब की इस कड़ी नजरबन्दी के उपरान्त भी शिवाजी 19 अगस्त

---

1. "यह शिवा कौन है जो जहांपनाह की उपस्थिति मे ही इतना कटुभाषी और उद्धत हो गया। और फिर भी, हुजूर सलामत ने उसके आचरण को क्षमा कर दिया? यदि यही हालत रही तो हर एक छोटा जमीदार यहा आ जाएगा और इसके समान ही बिना दण्ड पाये अपनी कारगुजारी कर लेगा।" बादशाह को उत्तेजित करने के लिए कतिपय सरदारो के द्वारा इस प्रकार अर्ज की गई थी।

1666 के दिन शाम के समय औरङ्गजेब की कैद से निकल भागा। 6 घंटे के अल्प

शिवाजी आगरे से निकल भागा

समय में ही उसने आगरा से मथुरा का रास्ता तय कर लिया। मथुरा पहुँच कर अपनी दाढी मूंछ मुंडवा कर शिवाजी अपने साथियों सहित साधु का वेश धारण करके दक्षिण चला गया।

जिस समय शिवाजी बादशाह की कैद से भागा था उस वक्त रामसिंह के विश्वासपात्र सैनिक जीव जोशी, श्रीकृष्ण तथा हरकृष्ण पहरे पर थे। फौलादखां

कुंवर रामसिंह पर बादशाह का संदेह

ने इनके साथ मारपीट की। इन लोगों ने स्वीकार कर लिया कि कुंवर रामसिंह की मिली-भगत के कारण शिवाजी निकल भागा। परिणामस्वरूप औरङ्गजेब ने रामसिंह की ड्योढ़ी बंद कर दी और उसका पद तथा वेतन छीन लिए। ग्यारह महीने बाद उसे यह सम्मान पुनः प्रदान किया गया।

शिवाजी के भाग जाने के कारण मिर्जाराजा जयसिंह की चिन्ताएं और अधिक बढ़ गईं। उसने 5 नवम्बर 1666 के एक पत्र में लिखा था—"मेरे दिन खराब आ गए हैं, मेरी चिन्ताएं कम होने का नाम नहीं लेतीं। झूठे बीजापुरी धोखे की वार्ताओं द्वारा समय नष्ट कर रहे हैं। भगोड़े शिवाजी का कोई पता नहीं। मेरे दिन परेशानी और फिक्र में बीत रहे हैं।" (हफ्त अंजुमन से उद्धरित)

औरङ्गजेब का मिर्जाराजा पर संदेह कम नहीं हुआ। उसने जयसिंह पर आरोप लगाया कि रुपया और सैनिक दक्षिण से नहीं आ रहे हैं। जयसिंह को दक्षिण की सूबेदारी

जयसिंह के अन्तिर दिन तथा मृत्यु

से हटाकर शाहजादे मुअज्जम को उसके स्थान पर नियुक्त किया गया। उसकी पत्नी 1661 में ही मर चुकी थी। निराश बूढ़ा जयसिंह भी मृत्यु से पहले हाथी पर सवार होते वक्त अपना पैर तोड़ बैठा। अर्थाभाव भी खटक रहा था। इन निराश परिस्थितियों में 28 अगस्त 1667 A. D. के दिन बुरहानपुर में मिर्जाराजा जयसिंह इस असार संसार से विदा हो गया। तैंतीस वर्ष तक निरंतर मुगल साम्राज्य की सेवा करने के उपहार-स्वरूप उसे अपनी जीवन-लीला निराशा में समाप्त करनी पड़ी। निराशा भी उस सम्राट् की ओर से थी जिसे राजगद्दी दिलवाने में जयसिंह ने सक्रिय रूप से योग दिया था।

बीजापुर की अन्तिम चढ़ाई में उसने अपनी जेब से एक करोड़ से भी अधिक धन व्यय कर दिया था और फिर भी उसे सफलता नहीं मिली। अतएव मृत्यु के समय

जयसिंह का मूल्यांकन

उसकी आर्थिक दशा बहुत बिगड़ गई थी। सर्वोच्च सम्मान[1] प्राप्त होते हुए भी इन आर्थिक कठिनाइयों, सामरिक-विफलता, निराशा तथा सार्वजनिक अपयश से क्षुब्ध जयसिंह के अन्तिम दिन दुःखपूर्ण रहे। उसकी मृत्यु के साथ ही आमेर के राजघराने का भी महत्व घट गया और आगामी चालीस वर्षों तक भारतीय राजनीति मे वह पुन गौरव प्राप्त नहीं कर सका।

उसम सैनिक एव सेनापति दोनो के ही गुण विद्यमान थे। शाहजहां के शासन काल मे शायद ही ऐसा कोई वर्ष होगा जब जयसिंह ने शाही झंडे के नीचे युद्ध नहीं लडा हो। प्रत्येक युद्ध मे अपनी योग्यता का परिचय देकर तरक्की पाई। इस योग्यता का प्रदर्शन करने की वजह से ही जयसिंह को भारत की सीमाओं के बाहर शाही शाहजादो के नेतृत्व मे सेना के एक पक्ष अथवा मध्य पक्ष की कमान सौंपी गई थी। बाद में तो उसे सेना का मुख्य सेनापति भी बना दिया गया था।

मग्रासिरुल उमरा का लेखक लिखता है, "उपायों तथा गम्भीर विचारों के लिए वे प्रसिद्ध थे ससार की प्रगति पहचानने और सामयिक विचारों को जानने वाले थे जिससे राज्य प्राप्ति के प्रारम्भ से मृत्यु-पर्यन्त प्रतिष्ठा से बिता दिया तथा बराबर उन्नति करते गये।" यह सत्य है जब कभी कोई कठिन कार्य होता था तो सम्राट उसे सदा जयसिंह को ही सौंपता था। मिर्जा राजा अपनी असीम व्यवहार-कुशलता और धैर्य के बल पर कार्य कर भी लेता था। वह मुसलमानों के शिष्टाचार से पूर्ण अवगत था। स्वय तुर्की और फारसी भाषाओं का अच्छा ज्ञाता था। उर्दू और राजस्थानी मे भी सिद्धहस्त था।[2] उसके दरबार में फारसी, हिन्दी और सस्कृत भाषाओं के कई विद्वान रहते थे। बिहारी, पंडित जगन्नाथ तथा कुलपति मिश्र उससे राजकीय सरक्षण पाते थे।

दूरदर्शिता तथा राजनयिक चतुराई (Diplomacy), बोली की मधुरता और शान्त नियोजित नीति उसके सहज स्वभाव के अङ्ग थे। परन्तु यह गुण राजपूत चरित्र में पाये जाने वाली इस प्रकार की बातो के सर्वथा विपरीत थे। साराश यह है कि मिर्जाराजा जयसिंह अफगान और तुर्क, राजपूत और हिन्दुस्तानी की सयुक्त सेना का आदर्श नेता था जिसमे सवेगशील उदारता, अटल निर्भीकता, खरी स्पष्ट-वादिता तथा दूरदर्शी शूरवीरता का सुन्दर समागम मौजूद था।

---

1. पुरन्दर की सधि के बाद बादशाह औरङ्गजेब ने मिर्जाराजा का मनसब बढ़ाकर 7000 जात व सवार दो अस्पा सेह अस्पा कर दिया था। यह ऊंचे दर्जे का मन्सब था (मग्रासिरुल उमरा, भाग I, P. 162)

2. उसने जो कुछ सीखा था वह प्रारम्भ में अपनी माता महारानी दमयन्ती से सीखा था और तत्पश्चात निरन्तर मुसलमानों के सम्पर्क में रहने के कारण सीखा था।

जयसिंह व्यक्तिगत रूप से मुगल सभ्यता और संस्कृति का प्रशंसक था। अतः उसने आमेर में भी मुगल Pattern पर दरबारी जीवन, उनका रहन-सहन तथा वेषभूषा को ढालने का प्रयत्न किया था। उसके शासनकाल में मुगल आदर्शों के अनुसार आमेर का शासन-प्रबन्ध भी व्यवस्थित किया गया। विशेषतः जयसिंह के शासनकाल में बनी इमारतों पर मुगल स्थापत्य कला की छाप स्पष्ट दिखाई देती है।

जयसिंह ने मुगल राजपूत संस्कृति को आमेर में जन्म दिया

बादशाह औरंगजेब का शिवाजी कांड में कुंवर रामसिंह पर सन्देह था। अतः उसने रामसिंह को केवल पदच्युत ही नहीं किया वरन् उसका दरबार में आना भी निषेध कर दिया था। अतएव सात महीने की निरन्तर कोशिशों के पश्चात् महाराजा जसवन्तसिंह की सिफारिश पर बादशाह का क्रोध बड़ी मुश्किल से शान्त हुआ।[1]

महाराजा रामसिंह 1667-1688

यदि बादशाह का क्रोध शान्त नहीं होता तो कदाचित् मिर्जाराजा जयसिंह की मृत्यु के पश्चात आमेर राज्य का टीका कुंवर रामसिंह के लघुभ्राता कुंवर कीरतसिंह को दिया जाता। ऐसा प्रतीत होता है कि औरंगजेब ने मिर्जाराजा की मृत्यु की सूचना पाकर कीरतसिंह को टीका देने की इच्छा प्रकट की थी लेकिन आमेर के कतिपय सरदारों को यह शक हो गया था कि कीरतसिंह ने अपने पिता को विष दे दिया था, अतः उन सरदारों ने रामसिंह का ही पक्ष लिया।[2]

7 सितम्बर 1667 के दिन बादशाह के पास मिर्जाराजा की मृत्यु की सूचना पहुंची थी। रामसिंह उस वक्त राजधानी में ही मौजूद था। अतएव औरंगजेब ने अपने हाथ से रामसिंह के भाल पर टीका लगाकर उसे आमेर वतन जागीर के रूप में प्रदान

1. शिवाजी के आगरा से भाग जाने के पश्चात् बादशाह ने रामसिंह के निम्नलिखित परगने खालसा कर दिये थे।

(i) सूबा आगरा में औंदी, सोंगर सोगरी व बाड़ी (ii) रिवाड़ी में बावल (iii) नारनोल का बड़ोदा और चलकसियाना (iv) तिजारा का भिवानी (v) रणथम्भौर का मलारना, निवाई व बड़वाड़ा (vi) अलवर में जलालपुर, बहरोड, पाटन, कोहरी, मालाखेड़ा, मण्डवा, कोटपुतली, थाना गाजी और इस्माइलपुर।

यह परगने 26 मार्च 1667 के दिन पुनः कु० रामसिंह को दिए गये थे। इन परगनों में 1660 में 25 लाख वार्षिक की आमदनी होती थी।

2. Vide Lachit Barphukan and His Times by Dr. S. K, Bhuyan, P. 108, Padshah Buranje (Eng. Trans)

किया। राज्याभिषेक के समय रामसिंह का मन्सब 4000 जात 3000 सवार का था।[1]

इसी समय बादशाह औरंगजेब को सूचना मिली कि आसाम के लोगों ने गोहाटी पर अधिकार करके वहां के मुगल थानेदार सैयद फिरोजखां के पाव उखाड़ दिये हैं। अतएव 27 दिसम्बर 1667 के दिन राजा रामसिंह को आदेश दिया गया कि वह आसाम विजय करने के लिए रवाना हो जाये।

रामसिंह की आसाम मे नियुक्ति

मध्यकाल में आसाम कालापानी समझा जाता था। नवाब मीर जुमला के असफल अभियान के पश्चात मुगल कर्मचारी आसाम जाने से डरते थे। डा० जदुनाथ सरकार के शब्दों में, "Service in Assam was extremely unpopular, and no soldier would go there unless compelled"[2]। इन परिस्थितियों मे राजा रामसिंह की नियुक्ति यही बतलाती है कि बादशाह उसे सजा देना चाहता था।

समकालीन विदेशी यात्री मनूसी लिखता है "As a further piece of revenge for the flight of Shivaji, Aurangzeb ordered Ram Singha, the Rajah's eldest son, to proceed upon the conquest of Assam, simply in the hope of getting rid of him, knowing what had happened there to the great Mirjumla"[3]

रामसिंह के पूर्वज (मिर्जाराजा जयसिंह तथा राजा मानसिंह) आसाम मे विद्रोहियों का दमन करके वहां मुगलों का प्रभुत्व स्थापित करने मे सफल रह चुके थे। अत रामसिंह को अपने वीर और साहसी पूर्वजों का योग्य उत्तराधिकारी जानकर आसाम विजय के लिए नियुक्त किया गया था।

लेकिन रामसिंह पर औरंगजेब को भरोसा नहीं था अत उसके साथ मीर गजर बेग हाजी को वाकया नवीस नियुक्त किया गया और नियुक्ति के समय बादशाह ने उससे कहा, "रामसिंह अविश्वासी व्यक्ति है। यह स्वय महाराजा के साथ मिलकर षडयन्त्र कर सकता है। इसलिए तुम इसकी movements के सम्बन्ध मे निरन्तर सूचना भेजते रहना ताकि मुझे अभियान की सफलता अथवा असफलता के विषय में

---

1. आलमगीरनामा, पृष्ठ 1051, 1061

2 History of Aurangzeb, vol, III, P 212.

3. (a) Storia do Mogor (Trans, by Irvine), vol II, P. 153
(The writer of this book served under Mirja Rajah as an artillery officer).

(b) Padohah Buranji (Eng Trans) P. 164.

महाराजा मानसिंह
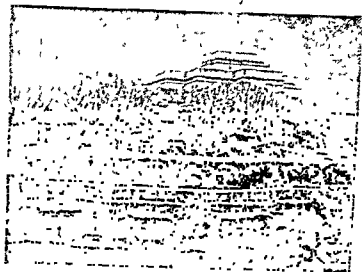
The "Old Fort" (Junagarh) at Mandor.
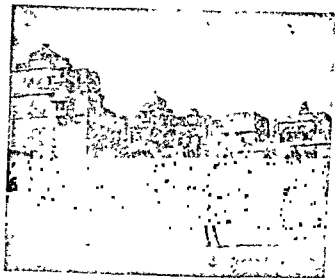
Rana Kumbha's Palace, Chittor Fort

सूचना मिलती रहे।"[1] इसके अतिरिक्त और भी कतिपय मुस्लिम सरदार रामसिंह पर निगाह रखने के उद्देश्य से उसके साथ भेजे गए थे जिनमें रशीदखां प्रमुख था।[2]

रामसिंह के साथ 21 राजपूत राजा, 4000 उसके निजी घुड़सवार, 1500 अहदी व 500 बन्दूकची भेजे गये थे। बंगाल से 30,000 पैदल तथा 18000 तुर्की घुड़सवार उसके साथ हो गए थे। कुचविहार के राजा ने 15,000 तीरन्दाज भी मुगल सेना की सहायता के लिए भेजे थे। इस प्रकार एक बड़ी सेना लेकर रामसिंह आसाम के लिए रवाना हुआ। सहायक सेनानायक के रूप में रशीदखां को नियुक्त किया गया जो गौहाटी में मुगल फौजदार के पद पर कार्य कर चुका था।

आसाम के जलवायु के अलावा रामसिंह को वहां के निवासियों के सम्बन्ध में भी डरा दिया गया था कि वे लोग किस प्रकार तांत्रिक विद्या का प्रयोग करके शत्रु को नष्ट कर देते थे। अतः रामसिंह अपने साथ सिक्ख गुरू तेगबहादुर तथा पांच मुसलमान फकीरों को ले गया था जिनकी प्रार्थनाओं के परिणामस्वरूप तांत्रिक विद्या का उस पर असर नहीं हो सके।

रामसिंह मुगल राजधानी से रवाना होकर पटना पहुंचा। वहां उसके पिता मिर्जा राजा जयसिंह के द्वारा बनवाई हुई हवेली व बगीचे में कुछ दिन ठहरने के बाद वह बंगाल पहुंचा। बंगाल के तत्कालीन मुगल सूबेदार शाइस्ताखां ने उसका उचित सत्कार किया क्योंकि शाइस्ताखां उसके स्वर्गवासी पिता का अच्छा दोस्त था। साथ ही शाइस्ताखां ने रामसिंह को आसाम के सम्बन्ध में कुछ ज्ञान कराया तथा अपने निजी अनुभव के आधार पर कुछ नसीहतें भी दीं। ढ़ाका से रवाना होकर रामसिंह अपनी सेना सहित आसाम की सीमा पर फरवरी 1669 में पहुंच गया।

आसाम की सीमा पर रंगामती के मुकाम पर पहुँचने पर रामसिंह को मालूम पड़ा कि आसाम का प्रत्येक नागरिक सेना में भर्ती हो गया है। आसामियों का सेनानायक लचित बारफुकन (Lachit Barphukan) एक योग्य और अनुभवी जोशीला नवयुवक था। साथ ही उसे यह भी अनुभव हुआ कि आसाम में नावों की बहुत अधिक आवश्यकता है। उसके साथ कुल 40 नावें थीं जो इतनी विशाल सेना के लिए अपर्याप्त थीं। अतः रामसिंह ने अपने पिता की नीति का अनुसरण करके आसामियों के साथ पत्र-व्यवहार प्रारम्भ किया। उनके अफसरों को भी तोड़ने की कोशिश की। लेकिन जब कोई युक्ति सफल नहीं हुई तो गौहाटी नदी के तट पर Saraighat का युद्ध लड़ना पड़ा। इस युद्ध में मुगलों को कोई सफलता नहीं मिली। तत्पश्चात् आसाम में मुगल सेना की स्थिति दिन प्रतिदिन बिगड़ती ही गई। इसी बीच आसाम के शासक चक्रध्वज की मृत्यु हो गई। उसके पुत्र व उत्तराधिकारी ने मुगलों के साथ संधि करनी चाही। लेकिन यह संधि-प्रस्ताव मुगलों को भुलावे में डालने की एक युक्ति-मात्र थी। अतः

---

1. Annals of the Delhi Badshhate by Dr. S. K. Bhuyan.
2. Lachit Barphrkan and His Times, P. 34-36.

आसामियों और मुगल सेना के बीच अशान्त सम्बन्ध रहे। अन्त मे रामसिह मार्च 1671 में वापस रगामती आ गया और यही उसने आगामी पाच वर्ष व्यतीत कर दिए। इस प्रकार सहायक सेनानायक रशीदखां के असहयोग के कारण तथा आसामियो के विलक्षण जोश व वहा को विषम भौगोलिक स्थिति के कारण रामसिह को अपने उद्देश्य म सफलता नही मिल सकी।

1676 के प्रारम्भ में रामसिह को वापस बुला लिया गया। वह जून 1676 में बादशाह औरङ्गजेब के दरबार में उपस्थित हुआ। राजधानी पहुचने पर उसके मँसब में वृद्धि की गई। अब रामसिह पचहजारी मन्सबदार हो गया था जिनमें से 1000 सवार दो अस्पा सेह अस्पा थे।

1672 मे खैबर के दर्रे के आसपास के प्रदेश मे सीमान्त प्रदेश में रहने वाली अफगान जातियों ने विद्रोह कर दिया था। विद्रोहियों ने मुगल सेनानायक मुहम्मद अमीन खाँ को पराजित कर दिया था। तत्पश्चात् कन्धार से अटक तक विद्रोहियों का आतंक छा गया। 1674 मे दूसरा मुगल सेनानायक विद्रोहियो के हाथो मारा गया था।

रामसिह को अफगानिस्तान में नियुक्ति

अतः बादशाह औरङ्गजेब स्वय हसन अब्दाल तक गया और राजा रामसिह के पुत्र कुंवर किशनसिह को लगभग $2\frac{1}{2}$ वर्ष तक (सितम्बर 1674 से अप्रैल 1677 तक) अफगानिस्तान में रखा।

इसी बीच जोधपुर नरेश महाराजा जसवन्तसिह की मृत्यु हो गई। अत महाराजा रामसिह को खैबर के दर्रे की सुरक्षा के लिए अफगानिस्तान के मुगल सूबेदार अमीनखाँ के साथ नियुक्त किया गया (जून 1681)। रामसिह के इकलौते पुत्र किशनसिह की दक्षिण मे नियुक्ति की गई। रामसिह का हेड क्वार्टर जमरूद में था। रामसिह और अमीनखाँ के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे। अत महाराजा अपने कर्त्तव्य को सुचारु रूप से निभा रहा था। लेकिन इसी बीच कुँवर किशनसिह की दक्षिण में मृत्यु हो गई (10 अप्रेल 1682)। स्वाभाविक रूप से महाराजा को अत्यधिक दुख हुआ और वे ऐसे सख्त बीमार पडे कि पाँच महीने बाद पुन तन्दुरुस्त हो सके। इसी बीच दरियाखाँ अफरीदी ने विद्रोह किया जिसे रामसिह अपनी बीमारी के कारण नहीं दबा सके। अत महाराजा रामसिह के मन्सब में तकफीफ कर दी गई (29 नवम्बर 1685)।

कुंवर किशनसिह की मृत्यु के पश्चात् बादशाह औरङ्गजेब ने उसके नाबालिग पुत्र बिशनसिह को 400 का मन्सब प्रदान कर दिया था। अब बादशाह बारम्बार इस बात पर जोर दे रहा था कि बिशनसिह को अपने स्वर्गवासी पिता के स्थान पर दक्षिण भेजा जाए। लेकिन महाराजा रामसिह इसके लिए तैयार नहीं थे। औरङ्गजेब महाराजा से बहुत सख्त नाराज हो गया और उनका जमरूद से कोहट स्थानान्तर कर दिया जहां घोर निराशा तथा संवेदना में उनकी जीवन लीला अप्रेल 1688 में समाप्त हो गई।

इस प्रकार महाराजा रामसिंह के शासन काल में ग्रामेर एवं मुगल बादशाह ग्रौरङ्गजेब के साथ सम्बन्ध मधुर नहीं रहे। रामसिंह की सैनिक योग्यता को बादशाह मानता था। ग्रत: उनकी ग्रासाम एवं ग्रफगानिस्तान में नियुक्ति की गई थी। लेकिन हृदय से वह रामसिंह से प्रसन्न नहीं था। ग्रकबर के शासन काल में राजा भगवन्त व मानसिंह की कतिपय ग्रभियानों में एक साथ नियुक्ति की गई थी लेकिन ग्रौरङ्गजेब ने ऐसा नहीं किया। कुंवर किशनसिंह की मृत्यु के पश्चात् महाराजा के नाबालिग पुत्र किशनसिंह को बार-बार दक्षिण में नियुक्त करने की इच्छा प्रकट की। कुंवर किशनसिंह की मृत्यु भी संदेहयुक्त परिस्थितियों में हुई थी। ग्रत: यह स्पष्ट है कि बादशाह रामसिंह ग्रौर उसके परिवार से बदला लेने पर तुला हुग्रा था। समकालीन विदेशी यात्री मनूसी तो बादशाह पर राजनैतिक हत्या के ग्रसफल प्रयत्नों का ग्रारोप लगाता है। रामसिंह के साथ ग्रौरङ्गजेब ने जो व्यवहार किया था उसका ग्रध्ययन यह स्पष्ट कर देता है कि 1666 के बाद बादशाह का ग्रामेर के राजघराने के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण नहीं रहा था। इसका प्रमाण यह है कि मिर्जाराजा जयसिंह व उसके पुत्र ग्रौर उत्तराधिकारी रामसिंह की घोर निराशा एवं ग्रपमानजनक स्थितियों में मृत्यु हुई थी।

ग्रामेर के लिए महाराजा रामसिंह केवल एक नाममात्र का शासक था (Absentee Ruler)। ग्रत: उसके शासनकाल में राज्य का प्रबन्ध मंत्रियों के हाथ में ग्रा गया था।

"यद्यपि प्रारम्भ में ही उसका (रामसिंह का) मन्सब चारहजारी जात व तीन हजार सवार को कर दिया गया तथा कोई बीस परगने उसे मिल गये थे, लेकिन फिर भी रामसिंह को जीवन में कभी भी ग्रपने पिता का चतुर्थांश महत्व भी प्राप्त नहीं हुग्रा।"[1]

कुंवर किशनसिंह की मृत्यु के समय उसके छोटे पुत्र विशनसिंह की केवल दस वर्ष की ग्रायु थी। यद्यपि बादशाह ग्रौरंगजेब ने 1685 A. D. में इसका मन्सब व

महाराजा विशनसिंह
1688–Dec. 1699.

जागीर (मलारना) जब्त कर ली थी। लेकिन महाराजा रामसिंह की मृत्यु के पश्चात् राजा की उपाधि, खिल्लत, नक्कारा, 2500 जात तथा 2000 सवार का मन्सब व एक लाख पच्चीस हजार नकद रुपया देकर इसे ग्रामेर का टीका दिया।

तत्पश्चात् इसे मथुरा का फौजदार नियुक्त करके सिनसिनी के राजाराम जाट के दमन का कार्य सौंपा। इसके लिए शाही खजाने से 25000 रु० ग्रतिरिक्त प्रदान किए गये। विशनसिंह ने किस प्रकार राजाराम व चूडामन जाट का दमन करने का प्रयत्न किया इसका विस्तृत वर्णन संलग्न परिशिष्ट में देखिये क्योंकि इन्हीं जाट विद्रोहियों ने 1722 में भरतपुर के जाट राज्य की स्थापना की थी।

1. महाराजकुमार डा० रघवीरसिंहजी कृत 'पूर्व ग्राधुनिक राजस्थान' P.128.

मार्च 1696 मे औरंगजेब ने बिशनसिंह को मथुरा की फौजदारी से हटाकर उसके स्थान पर एतिकादखाँ की नियुक्ति कर दी । बिशनसिंह को बादशाह ने दक्षिण मे बुला लिया । बिशनसिंह उस समय दक्षिण में जाना नहीं चाहता था । अतः उसने आगरा के मुगल सूबेदार शाहजादा शाहआलम को अपनी ओर करके उससे सिफारिश कराई कि बादशाह उसकी दक्षिण मे नियुक्ति के आदेश को रद्द करदे । औरंगजेब की प्रिय पुत्री जिन्नत उलनिसा बेगम के पास भी सिफारिश कराई । अत. औरंगजेब ने आदेश दिया कि बिशनसिंह के पुत्र जयसिंह को मुगल सेवा में भेज दिया जाए और उसके साथ आमेर राजघराने के कम से कम आधे प्रमुख व्यक्ति भी भेज दिए जाए । बिशनसिंह की नियुक्ति शाहजादा शाहआलम की सिफारिश पर उसकी सेवा में (आगरा) की गई ।

बादशाह के आदेशानुसार जयसिंह को 1698 में दक्षिण भेजा गया । दक्षिण पहुंचने पर बालक जयसिंह को वापस घर लौट जाने की आज्ञा पीर बख्शी की सिफारिश पर मिल गई (4 जुलाई 1698) । जयसिंह को सिर्फ आठ महीने की छुट्टी देकर भेजा गया था । तत्पश्चात् उसकी नियुक्ति शाहजादा आजमशाह के पुत्र के पास की गई (मार्च 1699) ।

इसी बीच बिशनसिंह की उसके छोटे पुत्र चिमाजी के साथ शाहजादा शाहआलम के नेतृत्व मे अफगानिस्तान मे नियुक्ति की गई । इस वक्त तक मुहम्मद अमीनखाँ मर चुका था । बिशनसिंह अपने पुत्र चिमाजी तथा आमेर के आधे सरदारों सहित अप्रेल 1698 मे पेशावर पहुच गया । यहीं पर दरबन्द के फौजदार के रूप मे कार्य करते हुए बिशनसिंह की 19 दिसम्बर 1699 के दिन मृत्यु हो गई । उसकी मृत्यु के उपरान्त भी उसका द्वितीय पुत्र चिमाजी अपने स्वर्गवासी पिता के सरदारों के साथ शाहआलम के पुत्र रफीउल कादर के पास पेशावर व जलालाबाद मे रहकर 1707 तक सेवा करता रहा ।

बिशनसिंह की मृत्यु के पश्चात् आमेर राज्य का टीका उसके ज्येष्ठ पुत्र जयसिंह II को को दिया गया जो इतिहास मे सवाई जयसिंह के नाम से प्रसिद्ध है ।

सवाई जयसिंह

सवाई जयसिंह आमेर के उन प्रतिभाशाली शासकों में से एक था जिसने अपने पूर्वजों मानसिंह और मिर्जाराजा जयसिंह के समान अपने पैतृक राज्य के गौरव और प्रतिष्ठा को बढ़ाया । वह अपने युग का माना हुआ कूटनीतिज्ञ था जिसने बादशाह औरंगजेब के निर्बल उत्तराधिकारियों के शासनकाल में मुगल राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लिया था । सवाई जयसिंह ने ही आधुनिक जयपुर शहर की नींव 1728 A. D. में डाली थी । तत्पश्चात् जयपुर आमेर राज्य की राजधानी हो गई । वह केवल एक सुयोग्य सेनानायक तथा सुख्यात कूटनीतिज्ञ ही नहीं था, वरन अपने काल का एक माना हुआ Astronomer भी था । इसने

लिए जन्तर मन्तर बनवाये थे जो आज भी उसकी स्मृति को ताजा कर देते हैं। ऐसा माना जाता है कि सवाई जयसिंह अपने पास एक डायरी रखता था जिसका title 'कल्पद्रुम' था। इस डायरी में वह प्रत्येक घटना को लिखा करता था। अठारहवीं शताब्दी में इसने किस प्रकार राजस्थान में आमेर का डंका बजाया था इसका विस्तृत वर्णन कतिपय अनुसन्धान ग्रन्थों में मिल जायेगा [1]। इसे यहां दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

BIBLIOGRAPHY

1. डा० रघुवीरसिंह जी : पूर्व आधुनिक राजस्थान
2. मुंहता नैवसीरी ख्यात, भाग प्रथम
3. Dr. A. L. Srivastava: Akbar the Great.
4. Tod : Annlals and Antiquities of Rajasthan.
5. Dr. C. B. Tripathi : Mirza Raja Jaisingh & His Times (unpublished).
6. Dr. J. N. Sarkar : History of Jaipur (unpublished)
7. Dr. S. K. Bhuyan : Lachit Barphukan and His Times.
This deals with Maharaja Ramsingh's wars in Assam as Mughal Commander.
8. सर जदुनाथ सरकार : शिवाजी और उनका युग

---

1. (a) See Parties and Politics (1707–1740 A. D.) by Dr. Satish Chandra of Rajasthan University, Jaipur.
(b) History of Rajputana in Eighteenth Century by Dr. V. S. Bhatnagar (Unpublished).

मार्च 1696 मे औरंगजेब ने बिशनसिंह को मथुरा की फौजदारी से हटाकर उसके स्थान पर एतिकादखाँ की नियुक्ति कर दी। बिशनसिंह को बादशाह ने दक्षिण मे बुला लिया। बिशनसिंह उस समय दक्षिण में जाना नहीं चाहता था। अत उसने आगरा के मुगल सूबेदार शाहजादा शाहआलम को अपनी ओर करके उससे सिफारिश कराई कि बादशाह उसकी दक्षिण मे नियुक्ति के आदेश को रद्द करदे। औरंगजेब की प्रिय पुत्री जिन्नत उलनिसा बेगम के पास भी सिफारिश कराई। अत. औरंगजेब ने आदेश दिया कि बिशनसिंह के पुत्र जयसिंह को मुगल सेवा मे भेज दिया जाए और उसके साथ आमेर राजघराने के कम से कम आधे प्रमुख व्यक्ति भी भेज दिए जाए। बिशनसिंह की नियुक्ति शाहजादा शाहआलम की सिफारिश पर उसकी सेवा में (आगरा) की गई।

बादशाह के आदेशानुसार जयसिंह को 1698 में दक्षिण भेजा गया। दक्षिण पहुचने पर बालक जयसिंह को वापस घर लौट जाने की आज्ञा मीर बख्शी की सिफारिश पर मिल गई (4 जुलाई 1698)। जयसिंह को सिर्फ आठ महीने की छुट्टी देकर भेजा गया था। तत्पश्चात् उसकी नियुक्ति शाहजादा आजमशाह के पुत्र के पास की गई (मार्च 1699)।

इसी बीच बिशनसिंह की उसके छोटे पुत्र चिमाजी के साथ शाहजादा शाहआलम के नेतृत्व मे अफगानिस्तान में नियुक्ति की गई। इस वक्त तक मुहम्मद अमीनखाँ मर चुका था। बिशनसिंह अपने पुत्र चिमाजी तथा आमेर के आधे सरदारों सहित अप्रेल 1698 में पेशावर पहुच गया। यहीं पर दरबन्द के फौजदार के रूप में कार्य करते हुए बिशनसिंह की 19 दिसम्बर 1699 के दिन मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के उपरान्त भी उसका द्वितीय पुत्र चिमाजी अपने स्वर्गवासी पिता के सरदारों के साथ शाहआलम के पुत्र रफीउल कादर के पास पेशावर व जलालाबाद मे रहकर 1707 तक सेवा करता रहा।

बिशनसिंह की मृत्यु के पश्चात् आमेर राज्य का टीका उसके ज्येष्ठ पुत्र जयसिंह II को को दिया गया जो इतिहास मे सवाई जयसिंह के नाम से प्रसिद्ध है।

सवाई जयसिंह

सवाई जयसिंह आमेर के उन प्रतिभाशाली शासकों मे से एक था जिसने अपने पूर्वजों मानसिंह और मिर्जाराजा जयसिंह के समान अपने पैतृक राज्य के गौरव और प्रतिष्ठा को बढ़ाया। वह अपने युग का माना हुआ कूटनीतिज्ञ था जिसने बादशाह औरंगजेब के निर्बल उत्तराधिकारियों के शासनकाल में मुगल राजनीति मे सक्रिय रूप से भाग लिया था। सवाई जयसिंह ने ही आधुनिक जयपुर शहर की नींव 1728 A D में डाली थी। तत्पश्चात् जयपुर आमेर राज्य की राजधानी हो गई। वह केवल एक सुयोग्य सेनानायक तथा सुख्यात कूटनीतिज्ञ ही नहीं था, वरन अपने काल का एक माना हुआ Astronomer भी था। इसने जयपुर, दिल्ली, बनारस और मथुरा में सितारों की गतिविधियों का अध्ययन करने

मौजा तथा गांव आबाद किये।[1] जादों कबीलों ने भयंकर जंगलों में शरण लेकर राहजनी अथवा लूटमार करके भाग्य का निर्माण किया; इन क्षेत्रों में आबाद बलाई तथा किरार कौमों को हटाकर जमींदारियां प्राप्त कीं।[2] जाटों से शादी-विवाह करने के बाद यह जादों परिवार जाट कहलाने लगे[3] और अन्य जाट कुटुम्ब तथा कबीलों के साथ मिलकर इन्होंने अधिकांश भूभाग पर अधिकार कर लिया।

सल्तनत काल में तथा उसके बाद जाटों के विशाल कबीले पंजाब और राजपूताना को छोड़कर दिल्ली तथा आगरा के मध्य भाग में, यमुना नदी के दक्षिण-

पूर्वी-सीमाओं पर जाट-परिवारों का उत्कर्ष एवं विकास

पूर्व तथा मेवात क्षेत्र में आकर बसे और इस क्षेत्र की अधिकांश उपजाऊ भूमि को खरीदकर अथवा नियमित लगान देने के इकरारनामे पर जमींदारियां प्राप्त की।[4] उन्होंने स्थान-स्थान पर अनेकों नगला, गांव, कस्बे अथवा मौजा बसाये; धन-जन की रक्षा अथवा जमींदारों की कमान में रहने वाली सेनाओं की रक्षा के लिए प्रमुख गांवों को कच्ची मिट्टी की गढ़ियों का रूप दिया।[5] 17 वीं शताब्दी के प्रथम पांच दशकों में यह जाट कबीले पूर्व में आगरा, मथुरा, कोल (अलीगढ़) तथा पश्चिम में मेवात की पहाड़ियां अथवा आमेर राज्यकी सीमाओं तक, उत्तर में दिल्ली से 20

---

1. पं० बलदेवसिंह कृत तवारीख भरतपुर (पाण्डुलिपि फारसी) पृ० 8; मुंशी ज्वालासहाय कृत वकाये राजपूताना (उर्दू) भाग 2, पृ० 35; ईश्वरचन्द्र दीक्षित कृत ब्रजेन्द्रवंश भास्कर पृ० 3; ए गजेटियर ऑफ ईस्टर्न राजपूताना (1905 ई०) पृ० 317

2. तवारीख भरतपुर (पाण्डुलिपि) पृ० 9-10; वाकये राज० भाग 2, पृ० 37; गजे० ई० राज० पृ० 29, 317; इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया खंड 8, पृ० 75;

3. तवारीख भरतपुर पृ० 9-10; वाकये राज० भाग 2, पृ० 37; इम्पी० गजे० खंड 8, पृ० 75; गजे० ई० राज० पृ० 29, 317, एम० एफ० ओडायर कृत फाइनल सेटिलमेन्ट रिपोर्ट (1900 ई०) पृ० 25; वी० पी० मेनन कृत इन्टीग्रेसन ऑफ इंडियन स्टेट्स (1956 ई०) पृ० 251;

4. विलियम क्रुक कृत ट्राइब एण्ड कास्टस् ऑफ नार्थ-वेस्टर्न प्राविन्सेज एण्ड अवध (1896) भाग 2, पृ०95; सर जदुनाथ सरकार कृत 'फाल ऑफ दी मुगल एम्पायर' भाग 2, पृ० 310 तथा 'हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब' भाग 5, पृ० 295

5. विलियम क्रुक भाग 3, पृ० 92-7; आईने अकबरी भाग 2, पृ० 275 (जमींदारों के कर्त्तव्य)

APPENDIX

जाट–मुगल संघर्ष (1638 to 1722 A.D.)

भरतपुर और धौलपुर के भूतपूर्व जाट प्रशासित राज्य राजस्थान के पूर्वी सिंहद्वार कहलाते हैं। इस प्रदेश के पूर्व में उत्तर प्रदेश के आगरा और मथुरा जिला, उत्तर में पंजाब राज्य का जिला और गुड़गांवा एवं दक्षिण में मध्यप्रदेश का ग्वालियर जिला स्थित है।

> संघर्ष आधुनिक राजस्थान की पूर्वी सीमा पर हुआ था

आईने अकबरी से पता लगता है कि सम्राट अकबर ने इस क्षेत्र को प्रशासनिक दृष्टिकोण से अकबराबाद (आगरा) सूबे में शामिल करके अकबराबाद (आगरा), सहार तथा अलवर सरकारों (जिलों) के अन्तर्गत अनेक महालों (परगने अथवा तहसील) में विभाजित किया था। भरतपुर का दक्षिण पश्चिमी भूखंड अकबराबाद जिले के अन्तर्गत टोडाभीम, हिन्डौन, बयाना, भुसावर, उज्जैन, पहरसर, खानुआ, सोंखर-सोखरी, कठूमर परगनों में, उत्तर-पूर्वी भाग भोल, हेलक तथा भऊ परगनो में बंटा था, जबकि उत्तरी भूखंड (जिसे मेवात कहते हैं) सहार जिले मे कामा, पहाड़ी और कस्बाखोह नामक परगनों मे शामिल था। इन परगनों में जाट, मेव, गूजर, राजपूत, अहीर, मीणा आदि लड़ाकू कौम हिन्दू और मुसलमान कौमों के साथ रहती थी।[1] इन लोगों ने बीहड़ जंगल, नदियों की खादर और पहाड़ियों की सघनता का लाभ उठाकर औरंगजेब के समय में संगठित होकर धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक स्वाधीनता को हासिल करने के लिए सशस्त्र संघर्ष किया।

> बयाना के जादों राजपूत

मुहम्मद गौरी के सेना–नायकों ने बयाना और तवनगढ़ (तुहिनगढ़) के किलों को जीतने के बाद आधुनिक करौली के यदुवंशी जादों राजपूतों को इस क्षेत्र को छोड़कर अन्य स्थानों पर शरण लेने के लिए बाध्य कर दिया था। अतः यहां के शासक तिहुनपाल के बारह पुत्रों ने जादों राजपूत कबीलों के साथ अकबराबाद सूबे में बसकर अनेकों गांव अथवा बस्तियां बसाई। इसी के वंशज मदनपाल के पांच पुत्र थे जिनमें (1) सूर्य ठाकुर ने सिनसिनी, (2) कान्हरदेव ने सेवर या सोगर (3) वीरदेव ने दुमाब मे नौगांव (4) बस्तपाल ने आगरा परगने मे मोंडोर और (5) सुखदेव ने कस्बा खोह[2] नामक नवीन

---

1 आईने अकबरी (अंग्रेजी अनुवाद) भाग 2, पृ० 193, 202, 206

2. आधुनिक भरतपुर के उत्तर में 26 मील, आर्कोलोजिकल सर्वे खंड 20, पृ० 10–19 से पता लगता है कि जादों राजपूतों ने मुसलमानी धर्म स्वीकार कर लिया और यह लोग खानजादा र्‍व कहलाने लगे जिन्होंने मेवात मे शासन किया।

कोटा नरेश महाराव माधोसिंह हाड़ा; 1700 ई० के लगभग बने चित्र का फोटोग्राफ (कुमार संग्रामसिंह जी नवलगढ़ के संग्रह से)
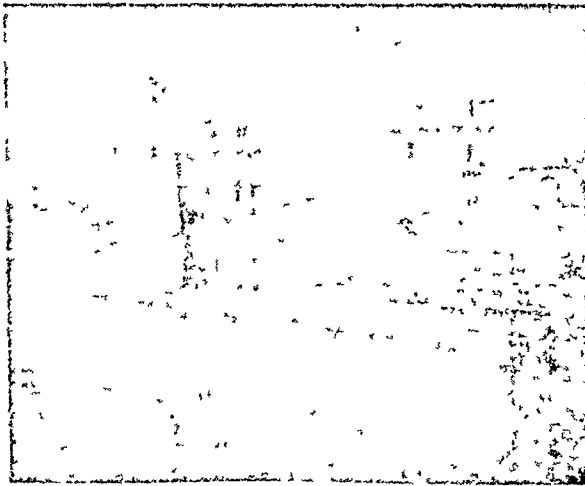
Padmani Palaces, Chittorgarh.

मील दूर मेरठ, होड़ल-पलवल से लेकर दक्षिण में चम्बल नदी का किनारा तथा उसके पार गोहद तक फैल गये[1] और यह विशाल भूखंड जटवाड़ा[2] कहलाने लगा।

हिन्दुओं के प्रति सम्राट शाहजहाँ की धार्मिक नीति अपने पूर्वजों सम्राट अकबर और जहांगीर की भांति उदार, सहिष्णुतापूर्ण अथवा समन्वयवादी नहीं थी लेकिन परवर्ती सम्राटों की भांति कट्टर मुस्लिम नीति भी नहीं थी। शासन के अन्तिम चरण में सम्राट शाहजहाँ नम्रता के साथ मुस्लिम नीति की ओर झुका जिसका धर्मान्ध फौजदार तथा सूबेदारों ने लाभ उठाया। जागीर पुनर्निर्धारण नीति के कारण खालसा की 7/10 भूमि नवीन मनसबदार अथवा जागीरदारों के नियन्त्रण में चली गई।[3] इससे साम्राज्य की मालगुजारी अवश्य बढ़ी लेकिन इसका जमींदार तथा काश्तकारों पर अधिक बोझ पड़ा, जिसका कामां-पहाड़ी के मेव तथा गोकुल-महाबन के काश्तकार मजदूरों ने विरोध किया। सम्राट शाहजहाँ ने लगान वसूल करने तथा उपद्रवों को दबाने के लिए मुर्शिद कुलीखां तुर्कमान को कामा-पहाड़ी, मथुरा तथा महावन परगनों का फौजदार नियुक्त करके भेजा लेकिन उसने इन फौजी अभियानों का अनुचित लाभ उठाकर अपनी कामवासना को तृप्त किया। किसानों को हराने के बाद वह उनकी सौन्दर्यशील तरुणियों को अपने हरम में डाल लेता था अतः जब वह एक गढ़ी का घेरा डाल रहा था, उस समय स्वाभिमानी जाट किसानों ने मंदिरा में चूर तुर्कमान को घेरकर 1638 ई० में मार डाला।[4] तत्पश्चात् फौजदार इरादतखां (1642-46 ई०) ने उदार नीति का अनुकरण किया। जाटों को आख दिखाकर अथवा धमकी देकर वश में करना जितना कठिन है उतना ही प्रेम तथा दया भाव से वश में करना सरल है। उसने वास्तव में इनको प्रेम से दबाकर शान्ति-सुव्यवस्था स्थापित की।

सम्राट शाहजहाँ के शासन-काल में जाटों का उपद्रव

---

1. विलियम क्रुक भाग 3, पृ० 92-7; विलियम इर्विन कृत लेटर मुगल्स भाग 1, पृ० 321;

2. पेशवा दफ्तर संग्रह (मराठी) खंड 30 पृ० 177; चन्द्र दफ्तर (मराठी) खंड 1 पृ० 164;

3. डब्ल्यू० एच० मोरलैण्ड कृत दी एग्रेरियन सिस्टम ऑफ मुस्लिम इण्डिया पृ० 124-5; डा० बनारसीप्रसाद सक्सेना कृत हिस्ट्री आफ शाहजहाँ ऑफ दिल्ली पृ० 90-1, 244; 271; 291-4;

4. मआसिरुल उमरा (ए० सु० बंगाल) पृ० 436; 442; सरकार (औरंगजेब) भाग 3 पृ० 331-2; भाग 1, पृ०321

सम्राट शाहजहाँ के पुत्रों में साम्राज्य हस्तगत करने के लिए भारत में चार वर्ष तक युद्ध चले। हिन्दुस्तान में विशाल मुगल सेनाओं की भागदौड़ और चार वर्ष (1658–61 ई०) की अनावृष्टि ने जमींदार, काश्तकार व मजदूरों की कमर तोड़ दी। अनाज के भावों में अत्यधिक वृद्धि हुई। मनुष्यों को खाद्यान्न तथा पशुओं को चारा नहीं मिला। इस स्थिति से वृजप्रान्त के विद्रोही जागीरदार, जमींदार तथा काश्तकारों ने अराजकता तथा भुखमरी का पूरा लाभ उठाया। राहदारी के नाम पर हजारों यात्रियों की सम्पदा तथा सम्मान को लूटा गया और शाही मार्गों पर अशान्त तथा भूख से व्याकुल लुटेरों का राज्य हो गया।[12] 1660 ई० में टप्पा-जावरा के जाट सरदार नन्दराय ने दरियापुर के पोरचराजा के साथ मिलकर कोल, मुरसान, हाथरस आदि के जाटों को संगठित किया। आलमगीर ने तोछीगढ़ की जागीर देकर इसे शान्त किया।[13]

अगस्त 1660 ई० में औरंगजेब ने अब्दुलन्नवीखाँ को मथुरा परगने का फौजदार नियुक्त किया। वह कट्टर मजहवी तथा मुस्लिम–परस्त था अतः कुफ्र को मिटाने तथा इस्लाम की जड़ों को जमाने की चिन्ता में जीवन भर लगा रहा। उसने मथुरा शहर के बीचोंबीच हिन्दू-मन्दिरों के खण्डहरों पर 1661–62 ई० में एक जामा-मस्जिद वनवाई जो अभी तक मौजूद है।[14] सितम्बर- अक्टूबर 1662 ई० में मथुरा में केशवदेवजी के मन्दिर को दारा शिकोह द्वारा भेंट किये गये पत्थर के जालीदार कठहरे को हटवा दिया। शाहजहां की मृत्यु के वाद सम्राट औरंगजेब आठ महीने (4 फरवरी–अक्टूबर 1666 ई०) तक अकवरावाद में रहा। उसने मथुरा के समस्त मन्दिरों को तुड़वा दिया और इनकी मूल्यवान प्रतिमाओं को आगरा भेजा गया जहां जहानआरा मस्जिद की सीढ़ियों के नीचे डलवाया गया ताकि वह मुसलमानों के पैरों तले लगातार कुचली जाती रहें।[15] जनवरी 1670 ई० में देहरा केशवदेवजी के मन्दिर को जड़ से तोड़ने का आदेश दिया गया। थोड़े समय में ही उसके मज्बूत खण्ड़हरो

वादशाह औरंगजेव की धार्मिक नीति का प्रभाव

12. खफीखां कृत मुन्तखवुल्लुबाव (सुशील गुप्ता प्रकाशन 1960 ई०) भाग 1 पृ० 38–40; 55; मुहम्मद कासिम कृत आलमगीरनामा पृ० 276; वर्नियर (ना० प्र० सभा) भाग 1 पृ० 73

13. विलियम क्रुक भाग 3 पृ० 95; सरकार (औरंगजेव) भाग 5 पृ० 295; महाराजकुमार डा० रघुवीरसिंह द्वारा लिखित मुगलकालीन वृज प्रदेश (वृज का इतिहास) भाग 1 पृ० 256; ठाकुर देशराज कृत जाट इतिहास पृ० 559–60

14. मसीरे आलमगीरी (ए० सु० वंगाल) पृ० 53; मुंशी देवीप्रसाद कृत औरंगजेवनामा, भाग 2 पृ० 14

जोधपुर किले के महल

जोधपुर किले के जनाने महल
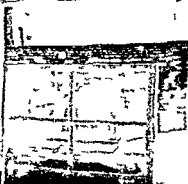
जोधपुर किले की प्राचीर पर रखी हुई पुरानी तोपें

जोधपुर की शृंगार चौकी

सम्राट शाहजहाँ के पुत्रों में साम्राज्य हस्तगत करने के लिए भारत में चार वर्ष युद्ध चले। हिन्दुस्तान में विशाल मुगल सेनाओं की भागदौड़ और चार वर्ष 558–61 ई०) की अनावृष्टि ने जमींदार, काश्तकार व मजदूरों की कमर तोड़ । अनाज के भावों में अत्यधिक वृद्धि हुई। मनुष्यों को खाद्यान्न तथा पशुओं को चारा मिला। इस स्थिति से वृजप्रान्त के विद्रोही जागीरदार, जमींदार तथा काश्त-ों ने अराजकता तथा भुखमरी का पूरा लाभ उठाया। राहदारी के नाम पर रों यात्रियों की सम्पदा तथा सम्मान को लूटा गया और शाही मार्गों पर अशान्त भूख से व्याकुल लुटेरों का राज्य हो गया।[12] 1660 ई० में टप्पा-जावरा के जाट ार नन्दराय ने दरियापुर के पोरचराजा के साथ मिलकर कोल, मुरसान, हाथरस द के जाटों को संगठित किया। आलमगीर ने तोछीगढ़ की जागीर देकर इसे त किया।[13]

अगस्त 1660 ई० में औरंगजेब ने अब्दुलनबीखाँ को मथुरा परगने का फौज-नियुक्त किया। वह कट्टर मजहबी तथा मुस्लिम–परस्त था अतः कुफ्र को मिटाने तथा इस्लाम की जड़ों को जमाने की चिन्ता में जीवन भर लगा रहा। उसने मथुरा शहर के बीचोंबीच हिन्दू-मन्दिरों के खण्डहरों पर 1661–62 ई० में एक जामा-मद बनवाई जो अभी तक मौजूद है।[14] सितम्बर- अक्टूबर 1662 ई० में मथुरा केशवदेवजी के मन्दिर को दारा शिकोह द्वारा भेंट किये गये पत्थर के जालीदार रे को हटवा दिया। शाहजहां की मृत्यु के बाद सम्राट औरंगजेब आठ महीने फरवरी–अक्टूबर 1666 ई०) तक अकबराबाद में रहा। उसने मथुरा के समस्त रों को तुड़वा दिया और इनकी मूल्यवान प्रतिमाओं को आगरा भेजा गया जहां नआरा मस्जिद की सीढ़ियों के नीचे ड़लवाया गया ताकि वह मुसलमानों के पैरों लगातार कुचली जाती रहें।[15] जनवरी 1670 ई० में देहरा केशवदेवजी के मन्दिर गड़ से तोड़ने का आदेश दिया गया। थोड़े समय में ही उसके मजबूत खण्डहरों

ादशाह औरंगजेब की धार्मिक नीति का प्रभाव

---

12. खफीखां कृत मुन्तखबुल्लुबाब (सुशील गुप्ता प्रकाशन 1960 ई०) 1 पृ० 38–40; 55; मुहम्मद कासिम कृत आलमगीरनामा पृ० 276; र (ना० प्र० सभा) भाग 1 पृ० 73

13. विलियम क्रुक भाग 3 पृ० 95; सरकार (औरंगजेब) भाग 5 पृ० 295; ाजकुमार डा० रघुवीरसिंह द्वारा लिखित मुगलकालीन वृज प्रदेश (वृज का ास) भाग 1 पृ० 256; ठाकुर देशराज कृत जाट इतिहास पृ० 559–60

14. मसीरे आलमगीरी (ए० सु० बंगाल) पृ० 53; मुंशी देवीप्रसाद कृत ंजेबनामा, भाग 2 पृ० 14

15. म० आ० पृ० 51.

पर एक विशाल मस्जिद खड़ी की गई-जो अभी तक विद्यमान है। मथुरा का नाम इस्लामाबाद रखा गया।[16] आलमगीर की इस धार्मिक असहिष्णुता ने अन्यन्य गोत्री जाट, किसान तथा मजदूर और हिन्दू जमींदारों को एक शक्ति-सम्पन्न व बहुमूल्य एकता सूत्र में बांध दिया। मान तथा प्रशासनिक अधिकारी, फौजदार तथा मुस्लिम जागीरदारों के साथ इनके कपट सम्बन्ध रहे। नियमित अत्याचार तथा हिन्दू धर्म-विरोधी भावनाओं ने 'भारतीय सपूतों' के कोमल हृदय को पाषाण की तरह कठोर बनाया।[17]

रौरियासिंह[18] सिनसिनवार का पौत्र गोकुला[19] (कान्हाराम)–जिसे समकालीन तथा आधुनिक इतिहासकार तिलपत का जमींदार मानते हैं[20] लूटमार तथा राहजनी का पेशा अख्तियार करके गोकुल महावन में आकर बसा[21] जहाँ गगदेव की जाट सन्ततियों ने उसका साथ दिया और बाद मे गोकुला ने अपने प्रभाव से तिलपत[22] की जमींदारी हासिल की। उसने जाट परिवारों में अच्छी साख पैदा करली और जाट जमींदार, किसान मजदूरों को औरंगजेब के धार्मिक अत्याचारों के विरुद्ध धर्म, मानव तथा जातीय स्वाधीनता के विरुद्ध एक कमान में सगठित किया। ब्रज प्रान्त के जाट जमींदारों ने अपनी गढ़ियों को मजबूत बनाकर सुरक्षात्मक साधनों से सज्जित किया[23] और युवकों की टोलियों को इन गढ़ियों की रक्षा के लिए तैनात किया। गोकुला जाट तथा उसके चाचा उदयसिंह सिंघी (जो मौजा गिरसा मे जाकर बस गया था) ने युवकों के हाथों मे प्रथम बार बन्दूकें देकर सिपाही बनाया और अपनी कमान में बीस हजार नवयुवक भरती किये।[24] इन जाट क्रान्तिकारियों ने 10 मई 1669 ई० में मथुरा से

गोकुला जाट का दमन 1669 ई०

16. म० आ० पृ० 60, औरंगजेबनामा भाग 2 पृ० 22,
17. म० उल उमरा (बगाल) पृ० 436,
18. सूदन कृत सुजान चरित्र पृ० 4, प० बलदेवसिंह (पाण्डुलिपि) पृ० 14; वाकये राज० भाग 2 पृ० 41.
19. प० बलदेवसिंह (पाण्डुलिपि) पृ० 14, वाकये राज० भाग 2 पृ० 42 दीक्षित पृ० 6. आदि लेखकों का मत है कि गोकुला सिनसिनवार था।
20. म० आ० पृ० 58; डा० सरकार (औरंगजेब) भाग 3 पृ० 295
21. म० उल उमरा पृ० 436, औरंगजेबनामा भाग 2 पृ० 20, दीक्षित पृ० 12
22. दिल्ली तथा फरीदाबाद के दक्षिण मे स्थित,
23. म० उल उमरा पृ० 436,
24. ईसरदास कृत फ्तूहात आलमगीरी (पाण्डुलिपि) पृ० 52 अ, 53 ब, सरकार (औरंगजेब) भाग 3 पृ० 332, डा० कालिकारंजन कानूनगो कृत हिस्ट्री ऑफ जाट्स पृ० 37

फौजदार अब्दुलनबीखां को सुरहा नामक गाँव में गोली से मार डाला।[25] सुरहा गाँव की विजय के बाद आन्दोलनकारियों ने सादाबाद परगने में लूटमार शुरू की। फौजदार सैफशिकनखां (13 मई–4 दिसम्बर 1669 ई०) को इन क्रान्तिकारियों के आतंक तथा लूटमार को रोकने में सफलता नहीं मिली। उसने सितम्बर के महीने में गोकुला जाट के पास शान्ति-सन्धि का प्रस्ताव भेजा जिसे उसने ठुकरा दिया।[26] इस क्षेत्र में यह विद्रोह इतनी तेजी से फैला कि स्वयं आलमगीर 28 नवम्बर 1669 के दिन मथुरा पहुंचा और उसने गोकुला के दमन के लिए व्यक्तिगत रूप में फौजी सेनापतियों का संचालन किया। उसने हसनअलीखाँ को विशाल मुगल सेना, जिन्सी (हलका) तोपखाना देकर सादाबाद तथा मुरसान के जाट गढ़ियों को घेरकर बरबाद करने भेजा। 4 दिसम्बर को साम्राज्यवादी सेनाओं ने रेवाड़ा, चंदरख और सरखरु नामक तीन गढ़ियों का घेरा डाला। क्रान्तिकारियों ने अपनी पत्नियों को जौहर की ज्वाला में बिठा करके शत्रु का सामना किया, जिसमें 300 किसान खेत रहे, 250 स्त्री-पुरुष बन्दी बनाये गये।[27] 7000 सशस्त्र मुगल सेना ने महावन-सादाबाद में प्रवेश किया। दिसम्बर 1669 ई० में इसी सेना के साथ गोकुला सिनसिनवार की जिसकी कमान में बीस हजार सवार व पैदल थे—तिलपत से 20 मील दूर भयंकर जंगलों में मुठभेड़ हुई। फौजदार हसनअलीखां के पेशकार शेख राजीउद्दीन ने तिलपत गांव को घेर लिया। साम्राज्यवादी तथा क्रान्तिकारियों में भयंकर युद्ध हुआ, मुगल सेनाओं ने तिलपत पर अधिकार कर लिया। इस युद्ध में मुगल सेनानायकों सहित 4000 सिपाही काम आये, कई हजार बुरी तरह घायल हुए जबकि 5000 जाट खेत रहे, गोकुला व उसका चाचा उदयसिंह सिंधी मय परिवार के अन्य 6000 किसानों के साथ बन्दी बनाये गये और तीन गाड़ी हथियार तथा युद्ध का सामान भी मुगलों के हाथ लगा। जनवरी 1670 ई० के प्रथम सप्ताह में गोकुला तथा सिंधी को आगरा की कोतवाली के सामने एक ऊंचे चबूतरे पर निर्दयता के साथ कत्ल कराया गया। उसके पुत्र तथा पुत्री को मुसलमान बनाया गया।[28] इसके बाद भी मई 1670 ई०

25. म० आ० पृ० 53, औरंगजेबनामा भाग 2 पृ० 14; मसीर उल उमरा पृ० 436: ग्राउस पृ० 36, 151, 340; इर्विन भाग 1 पृ० 321; सरकार (औरंगजेब) भाग 3 पृ० 332; महाराज कुमार पृ० 161, वीर विनोद पृ० 700,

26. म० आ० पृ० 53, औरंगजेबनामा भाग 2 पृ० 14; सरकार (औरंगजेब) भाग 3 पृ० 334, कानूनगो (जाट) पृ० 38, महाराजकुमार पृ० 161, दीक्षित पृ० 12;

27. म० आ० पृ० 57; औरंगजेबनामा भाग 2 पृ० 19-20; सरकार, (औरंगजेब) भाग 3 पृ० 334; कानूनगो (जाट) पृ० 39, महाराजकुमार पृ० 161 ;

28. म० आलमगीरी पृ० 58, औरंगजेबनामा भाग 2 पृ० 21, ईसरदास (पाण्डुलिपि) 52 व 53 (अ) इर्विन भाग 1 पृ० 321, म० उल उमरा पृ० 341, सरकार (औरंगजेब) भाग 3 पृ० 335, भाग 5 पृ० 295, महाराजकुमार पृ० 161, कानूनगो (जाट इतिहास) पृ० 39, [illegible]

तक हसनअली मथुरा तथा साहाबाद के किसानो को दबाने तथा नये मुसलमान जागीरदारो को बसाने मे लगा रहा ।

आलमगीर की कट्टर मनोवृत्ति ने अद्भुत चमत्कार दिखलाये । उसने कतिपय मुर्दों मे जान डाल दी, रंकों का राजा और डाकुओं को सरदार बना दिया । दक्षिण भारत मे सम्राट औरंगजेब युद्धो मे फंसा रहा । गोकुला के नेतृत्व मे जाट किसान के आन्दोलन को कुचलन के बाद अगले दस वर्ष तक इस क्षेत्र मे शान्ति-व्यवस्था कायम नही रह सकी । यमुना पार तथा दुआब प्रान्त की चुप्पी के बाद राजपूताना के पूर्वी सीमान्त प्रदेश मे मौजा सिनसिनी के जमीदार खानचन्द के पुत्र ब्रजराज और भज्जा (भगवन्त) ने सिनसिनवार जाटो का नेतृत्व सम्भाला । भज्जा के पुत्र राजाराम ने क्रान्ति की तीव्र ज्वाला जलाई और सिनसिनवार, सोगरिया तथा कुन्तल (खुटेल) जाटो का वृहद सघ तैयार किया । साम्राज्य को महान चुनौती देने के लिए प्रत्येक जमीदार, हलधर किसान, मजदूर अपने परिवार तथा कबीलों की शक्ति संचय करने मे लग गया ।[1] राजाराम ने अऊ परगने के अतर्गत जाटौली-थून[2] नामक नई बस्ती बसाई । आलमगीर ने उसे लूटमार बन्द करने के आश्वासन पर 175 गावों की जागीर दी । उसने इस जागीर का सामयिक लाभ उठाया और सैनिक सेवा की नियमित शर्त पर इनाम के रूप में अपने भाई-बन्धु तथा अन्य किसानों में बांटा,[3] इससे उसे सैनिक शक्ति प्राप्त हुई और क्रान्ति, विकास तथा स्वाधीन परम्परा का मार्ग खुल गया । राजाराम ने सोगरिया सरदार राम चेहरा (राम की चाहर) के साथ मिलकर एक नियमित सेना तैयार की । नवयुवक सैनिकों के हाथो मे आग्नेय अस्त्र, बन्दूक वगैरा देकर पूरा सिपाही बनाया, इनको गुरिल्ला (कज्जकाना) युद्ध तथा अपने दलनायक की आज्ञा मे रहने की शिक्षा-दीक्षा दी । युद्ध के माल असबाब तथा

राजाराम जाट का मुगलों के साथ सघर्ष (1680-88)

राजाराम के द्वारा जाटों का सगठन

29. औरंगजेबनामा भाग 2 पृ० 21, 23, सरकार (औरंगजेब) भाग 3 पृ० 335

1. प० बलदेवसिंह (पाण्डुलिपि) पृ० 15, 16, वाक्या राज० भाग 2 पृ० 46, इरसुखराय कृत मजमाउल अखबार (इ० तथा डा०) भाग 8 पृ० 360, ग्रोडायर पृ० 24, ईसरदास पृ० 135 (ब), सरकार (औरंगजेब) भाग 5 पृ० 302, कानूनगो पृ० 40, इविन भाग 1 पृ० 322, कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया भाग 4 पृ० 305

2. डीग के दक्षिण-पश्चिम मे (4 मील) स्थित भरतपुर के उत्तर में 22 मील

3. ग्रोडायर पृ० 25 'भरतपुर राज्य में जागीरदारी प्रथा'

युद्ध-सज्जा को सुरक्षित रखने के लिये मार्गहीन बीहड़ जंगलों के बीच में स्थान-स्थान पर अनेकों छोटी-छोटी गढ़ियों का निर्माण कार्य शुरू किया। अतः धीरे-धीरे सिनसिनी, सोगर, सौंख, अवार, पींगोरा, इदरोली आदि अनेकों ग्रामगढ़ियां इस क्रान्ति के प्रमुख गढ़ बन गये। [4]

1679 ई० में आलमगीर दिल्ली से राजपूताना की ओर बढ़ा और दो वर्ष बाद (1681 ई०) में वह दक्षिण भारत के अभियानों पर काबू पाने के लिए चल दिया और अपने शासन के 25 वर्ष दक्षिण में व्यतीत किये। हिन्दुस्तान के सम्पन्न सूबों का प्रशासन छोटे तथा सामान्य अनुभवहीन सूबेदार तथा फौजदारों के अधिकार में था।

आलमगीर की अनुपस्थिति में अकबराबाद की राजनैतिक स्थिति

उनके पास न यथेष्ठ धन था और न प्रशासन की व्यवस्था तथा न साम्राज्य की स्थिरता के योग्य सैनिक शक्ति ही थी। 'आलसी सूबेदार तथा फौजदारों ने अपने सिर पर आन्नदरूपी साफा बांध लिया और पैरों में निरुत्साही जामा पहन लिया।' [5] वे आमोद प्रमोद, भ्रष्टाचार तथा व्यक्तिगत लाभ के लिए शाही खजाने की लूट में सक्रिय हो गये। प्रान्तों की शासन-व्यवस्था पर आवश्यक धनराशि खर्च नहीं हो सकी। इससे सुरक्षा तथा शान्ति-व्यवस्था के समुचित प्रबन्ध के लिए आवश्यक सिपाहियों का अभाव रहने लगा। राजाराम तथा रामकी चाहर ने अपनी गढ़ियों से निकल कर आगरा दिल्ली,-आगरा-ग्वालियर तथा मालवा को जाने वाले शाही मार्गों की ओर कूंच किया जहां अन्य जाट जमींदारों ने साथ दिया। मेवात की पहाड़ियों से चम्बल तक और आमेर राज्य की सीमाओं से मथुरा आगरा-पर्यन्त भूमिखण्ड विद्रोह की ज्वाला में तप्त हो गया। शाही खजाना, सैनिक साजसामान, खाद्य-सामग्री की गाड़ियों, कारवां तथा व्यापारियों को उनकी सुरक्षा के उचित प्रबन्ध के अभाव में लूटने का स्वाभाविक प्रलोभन जाग उठा। [6] उन्होंने समाज के प्रतिष्ठित नागरिकों को बन्दी बनाकर कृपाहीन बनाया। बहादुरों का सम्मान उपेक्षा की धूल में मिलने लगा और आगरा प्रान्त के सूबेदार तथा फौजदारों को जाट क्रान्तिकारियों की लूट का सामना करना पड़ा। [7] शाही मार्गों पर खजाने के लुटेरों का काफिला दिखलाई

---

4. अखबारात में गढ़ियों का नाम मिलता है, ईसरदास 135 (ब) 137 (अ) तथा म०आ०पृष्ठ 204 पर सिनसिनी तथा सोगर का नाम लिखते हैं। सैनिक संगठन के लिए सरकार (औरंगजेब) भाग 5 पृ० 296-7, कानूनगो (जाट) पृ० 40, महाराजकुमार पृ० 165, कैम्ब्रिज हिस्ट्री भाग 4 पृ० 305

5. म० उल उमरा (बंगाल) पृ० 437,

6. खाफीखां भाग 2 पृ० 148, सरकार (औरंगजेब) भाग 5 पृ० 294, 296; महाराजकुमार पृ० 164, कैम्ब्रिज हिस्ट्री भाग 4 पृ० 305

7. म० उल उमरा पृ० 437

देता था जिसे पार करके एक साधारण व्यापारी क्या एक चिड़िया भी नहीं निकल सकती थी।[8]

औरंगाबाद के सूबेदार शफीखा को 7 सितम्बर 1684 ई० में आगरा का सूबेदार बनाया गया लेकिन वह जाटों की छापामार टुकड़ियों को दबाने में पूरी तरह असफल रहा।[9] भ्रष्ट मुगल कर्मचारियों ने सूबेदार का साथ नहीं दिया, वे जाट सरदारों से पूरी तरह मिलकर लूट के साझीदार थे। फौजदार शफीखा ने सिनसिनी गढ़ी को अपना लक्ष्य बनाया। इस योजना को सुनकर जाट सरदार राजाराम ने एक दिन आगरा परगना में शाही खालसा के कुछ गावों को लूटा और आगरा किले को घेर लिया। सूबेदार शफीखा और किलेदार ने फाटक बन्द करवा दिये। यहां से उन्होंने अकबर की समाधि सिकन्दरा की ओर कूच किया लेकिन फौजदार मीर अबुलफजल ने दस मील दूर क्रान्तिकारियों का सामना किया, जिसमें वह सख्त घायल हुआ। जाट सैनिकों ने पीछे हटकर शिकारपुर व रतनपुर के नीचे गावों को लूटा जिसमें नकद तथा जिन्स के रूप में पर्याप्त माल हाथ लगा।[10]

सिकन्दरा लूट का प्रथम विफल प्रयास 1685 ई०

आलमगीर ने जाट क्रान्तिकारियों के उपद्रवों की गम्भीरता को अच्छी तरह आंका। यद्यपि उसकी दृष्टि में राजाराम अकुलीन जाट, फसादी चोर, कमबख्त हरबी (लड़ने वाला) काफिर (हिन्दू विद्रोही) था।[11] उसने दिसम्बर 1685 ई० में अनेक फौजदारों की अदलाबदली की और मई 3, 1686 ई० को अपने धाभीभाई कोकल्ताश जफर जंग खानजहां बहादुर को छः लाख 29 हजार रुपया शाही खजाने से नकद देकर आगरा भेजा।[12] जफरजंग ने यहां आकर अपनी विशाल सेनाओं को इधर-उधर छितरा दिया लेकिन उसे सफलता नहीं मिली। 19 अक्टूबर 1686 ई० को खानजहां के पुत्र सिपहदारखां को आगरा का सूबेदार बनाया गया। इससे खानजहा को सूबे की प्रशासनिक शक्ति भी मिल गई। दिसम्बर 1686 ई० को शाहजादा मुहम्मद आजमखां को आगरा अभियानों की कमान संभालने का आदेश मिला। जुलाई 1687

8 ईसरदास (पाण्डुलिपि) पृ० 131 (ब)

9 म० आलमगीरी पृ० 151, औरंगजेबनामा भाग 3 पृ० 10, सरकार (औरंगजेब) भाग 5 पृ० 297

10 ईसरदास (पाण्डुलिपि) पृ० 131 (ब) 132 (य), सरकार भाग 5 पृ० 297, कानूनगो (जाट) पृ० 40, महाराजकुमार पृ० 165, विद्यावाचस्पति पृ० 274

11 अखबारात, म० आलमगीरी पृ० 189, औरङ्गजेबनामा भाग 3 पृ० 56

12. म० आलमगीरी पृ० 168, औरङ्गजेबनामा भाग 3 पृ० 32, खाफीखां भाग 1 पृ० 137

ई० में वह केवल वुरहानपुर तक ही पहुंच पाया था कि उसे गोलकुण्डा में मुगल यश का वचाने के लिए वापिस बुला लिया गया। औरंगजेव स्वयं दक्षिण नहीं छोड़ सकता था और हिन्दुस्तान के अभियान शाही उत्तराधिकारी की कमान के विना सफल नहीं हो सकते थे। यह समझकर आलमगीर ने 17 महीने वाद (दिसम्वर 1687 ई०) अपने 17 वर्षीय नवयुवक पोते शाहजादा वेदारवख्त को शाही सेनाओं की सर्वोच्च कमान सौंप कर जाटों के विरुद्ध भेजा और जफरजंग को शाहजादा का सलाहकार तथा मुख्य सेनाधिकारी नियुक्त किया।[13]

तूरानी सूवेदार अगरखां की मृत्यु (1687 ई०) तथा महावतखां पर आक्रमण 1688 ई०

काबुल का सुप्रसिद्ध तूरानी सूवेदार अगरखां काबुल से वीजापुर जा रहा था। धौलपुर के पास चम्वल नदी को पार करने के विचार से जव इसके सैनिक लापरवाही के साथ खादरों की ऊंची नीची भूमि पर इधर उधर टोलियों में चल रहे थे; राजाराम की कनकाना टुकड़ियों ने उन पर आक्रमण किया और उनकी वरावरदारी, अनाज की गाड़ियां, सैनिक प्रसावन आदि को लूटकर ले गये। राजाराम घुड़सवार दलों के घोड़े, हरम की पालकियों को भी अपने साथ ले गया। यह देखकर अगरखाँ ने अपने अंगरक्षकों के साथ जाटों का पांच मील तक पीछा किया जहाँ उनमें मुठभेड़ हुई; उसने महिलाओं को अवश्य वचा लिया लेकिन वह स्वयं गोली का शिकार वना, उसका दामाद और 80 सिपाही खेत रहे: केवल उसका पुत्र 40 सिपाहियों के संरक्षण में वचकर भाग निकला।[14] 1688 ई० के शुरू में गुजरात के सूवेदार मीर इब्राहीम हैदरावादी को महावतखां का खिताव देकर पंजाब का सूवेदार वनाया गया। मार्ग में उसने यमुना नदी के किनारे सिकन्दरा के पास अपनी सेनाओं का पड़ाव डाला; राजाराम ने उसकी छावनी पर हमला वोला; भयंकर युद्ध में जाटों के चारसौ सैनिक खेत रहे जवकि खान के 150 सैनिक काम आये तथा 40 घायल हुये।[15]

सिकन्दरा की लूट मार्च 1688 ई०

आलमगीर ने अमीरउल उमरा शाइस्ताखां को आगरा का सूवेदार नियुक्त किया और उसके आगरा पहुंचने तक मुजफ्फरखां मुहम्मद वाका को आकरा सूवे का प्रशासनिक अधिकारी नियुक्त करके कड़ाई के साथ

13. औरङ्गजेवनामा भाग 3 पृ० 37-8; 48; खाफीखां भाग 1 पृ० 122 136; भाग 2 पृ० 148; म० उलउमरा पृ० 438

14. ईसरदास (पाण्डुलिपि) पृ० 164 (व) खाफीखां भाग 1 पृ० 136; भाग 2 पृ० 148; म० उल उमरा (वंगाल) पृ० 155; सरकार (औरंगजेव) भाग 5 पृ० 298; कानूनगो 40; महाराजकुमार पृ० 165; कैम्ब्रिज हिस्ट्री भाग 4 पृ० 305; दीक्षित पृ० 13

15. ईसरदास (पा० लि०) पृ० 132 (अ) (व); मनूची कृत स्टोरिया दो मोगोर भाग 2 पृ० 321; सरकार (औरंगजेव) भाग 5 पृ० 298; कानूनगो पृ० 42; कैम्व्रिज हिस्ट्री भाग 4 पृ० 305; दीक्षित पृ० 14

प्रबन्ध करने का आदेश भेजा।[16] राजाराम जाट ने वेदारबख्त के आने से पूर्व ही अपनी निश्चित योजना का लाभ उठाया और मार्च 1688 ई० के अन्तिम सप्ताह में एक रात्रि को सिकन्दरा को जाकर घेर लिया। उसने (अकबर) मकबरा के सदर द्वारों पर लगे कासें के फाटकों को तोड़ डाला। दीवार, छत तथा फर्शों में जड़े अमूल्य तथा चमकीले रत्न और सोने चांदी के पत्थरों को उखाड़ा। सोने चांदी के बर्तन, दीवालगिरी (चिराग), मूल्यवान कालीनो आदि को लूट कर ले गया। जिन वस्तुओं को वहां से हटाने म असमर्थ रहा उनको तोड़-फोड़ कर छितरा दिया। अकबर की समाधि में से उसकी अस्थियों को बाहर निकाल कर अग्नि में झोंका गया। मकबरा का रक्षक मीर अहमद चुप खड़ा रहा। राजाराम शीघ्र ही सिकन्दरा से हट गया और आगरा के पास शाहजहाँ चैत्यालय को प्रदत्त आठ गावों को घेर कर लूटा। इससे आलमगीर को भारी ठेस लगी और उसने आगरा प्रान्त के प्रमुख सेनापति खानजहां और नायब मुजफ्फरखां को क्रमश एक हजार तथा पाच सौ सवारों का भत्ता कम कर दिया।[17]

शाहजादा वेदारबख्त के प्रयास और राजपूत मनसबदारों की सहायता 1688 ई०

शाहजादा वेदारबख्त ने आगरा पहुंचकर मथुरा को अपनी सैनिक छावनी बनाया और विशाल पैमाने पर सैनिक तथा युद्ध सामग्री एकत्रित करना शुरू किया। मथुरा की बादशाही मस्जिद-जो शहर के बीच में सबसे अधिक सुरक्षित स्थान पर थी—शस्त्रागार बनाया और बड़ी-बड़ी ताप—राहग दाह, ढाहरी, धुंसा तथा रहकलामों का निर्माण कराया।[18] मुगल छावनी मे मुगल दस्ते, सेना सचालक तथा अन्य अधिकारी भी जाटों के (जिनको इस क्षेत्र की समस्त जनता का हार्दिक सहयोग प्राप्त था) आतक से भयभीत थे, यहां तक कि स्वय वेदारबख्त भी छावनी से बाहर नहीं निकल सका था। स्वय नवयुवक शाहजादा घबड़ा गया। एक ओर उसने सम्राट को उपयुक्त तथा अधिक सेना भेजने का आग्रह किया, दूसरी ओर राजाराम की भतीजी से शादी करने की इच्छा व्यक्त की।[19] सम्राट ने धर्म, जाति तथा मातृभूमि के स्वाभिमानी सपूत तथा साम्राज्य के काटों को रजपूती तलवारों की नोंक से निकालने का कदम उठाया। उसने आमेर (जयपुर) के महाराजा रामसिंह को मथुरा का फौजदार बना कर जाटों को दबाने क लिए फरमान भेजा, लेकिन उसकी मृत्यु (अप्रेल

16 ईसरदास (पा० लि०) पृ० 132 (प)

17 ईसरदास (पा० लि०) पृ० 132 (ब) मनूसी भाग 2 पृ० 319-321 खाफीखा भाग 2 पृ० 148, सरकार(औरगजेब)भाग 5 पृ० 299, कानूनगो पृ० 41, कैम्ब्रिज हिस्ट्री भाग 4 पृ० 305, दीक्षित पृ० 14, देशराज पृ० 632

18 अखबारात कैम्ब्रिज हिस्ट्री भाग 4 पृ० 305, महाराजकुमार पृ० 166

19 दैनिक 'लीडर' सितम्बर 8, 1646 पर श्री एम० पी० सागर का लेख

१६८८ ई०) के कारण यह फरमान पूरा नहीं हो सका।[20] इसके बाद उसने महाराजा रामसिंह के उत्तराधिकारी विसनसिंह को-जो उस समय कोहट (काबुल) में तैनात थे—कड़ी शर्तें लगाकर आमन्त्रित किया। राठौड़ों से सहयोग मिलने की आशा नहीं थी लेकिन हाड़ौती (कोटा-बूंदी) के महाराव तथा हाड़ा राजपूतों ने शाही आदेश का पालन किया।[21] इस प्रकार मुगल-राजपूतों ने राजाराम के विरुद्ध विशाल तैयारियां कीं।

मेवात की पहाड़ियां राजपूताना तथा बृजप्रान्त की सीमायें निर्धारित करती हैं। बगथरिया[22] तथा अन्य परगनों की भूमि-आधिपत्य को लेकर शेखावाटी के राजपूत और चौहानों में पिछले कई वर्षों से तनाव चल रहा था। 1688 ई० में यह प्रश्न दो राजपूत जातियों में भयंकर युद्ध का कारण बन गया। आलमगीर के दृष्टिकोण

चौहान-शेखावत युद्ध और राजाराम की मृत्यु (14 जुलाई 1688 ई०)

तथा विचारधारा के विपरीत राजाराम स्वाभिमानी, आर्यपुत्रों का सुयोग्य सरदार, साहसी तथा कुशल सिपाही, दक्ष सेनापति था–जिसे क्षेत्रीय हिन्दू-मुसलमान दोनों का सहयोग प्राप्त था। चौहानों ने उसे अपनी सहायता को बुलाया और वह अपनी जाट टुकड़ियों के साथ इस युद्ध में शामिल हुआ। शेखावतों ने मेवात के फौजदार मुर्तखां की सहायता ली। अतः वह शाहजादा वेदारवख्त, कोकल्तास जफरजंग उसके पुत्र सिपहदारखां और शाहजी (सिपहदार का चचेराभाई और मेवात में उसका नायब था–आदि के साथ शेखावतों की ओर पहुंचा, जबकि बूंदी के रावराजा अनिरुद्धसिंह, कोटा के महाराव किशोरसिंह हाड़ा अपनी सेना के साथ शामिल हुये। बृहस्पतिवार जुलाई 14, 1688 ई० को प्रातःकाल बीजल[23] नामक गांव के पास राजपूतों में भयंकर युद्ध हुआ। दोनों ओर के असंख्य राजपूत खेत रहे। राजाराम ने हाडौती के राजाओं तथा जागीरदारों को बुरी तरह परास्त किया। रावराजा अनिरुद्धसिंह अनी के टूटते ही रणभूमि से भाग निकला। राजगढ़ का जागीरदार गोवर्धनसिंह के टूटते ही रणभूमि से भाग निकला। महाराव किशोरसिंह का शरीर पर 27 घाव लगे। मूर्छित होते ही उसे राजपूत सिपाही मैदान से उठाकर ले गए। जब युद्ध अपनी प्रचंड तीव्रता पर था, राजाराम ने चुनींदा सवारों के साथ घोल (मध्यभाग) में प्रवेश किया। जाटों की करारी मार से साम्राज्यवादी विचलित हो गए और स्वयं वेदारबख्त भी घबड़ा गया। सिपहदारखां के अचूक बन्दूकचियों ने राजाराम की इस घुसपैठ को

20. सरकार (औरंगजेब) भाग 5 पृ० 300
21. वंशभास्कर पृ० 2886
22. अलवर के उत्तर पूर्व में 24 मील; फीरोजपुर के उत्तर–पश्चिम में 14 मील
23. रेवाड़ी के दक्षिण में 18 मील-साबी नदी के पुराने पटल पर

देखकर एक पेड़ की आड़ में छिपकर गोली का निशाना लगाया। वह गोली उसकी छाती में लगी और वह घोड़े से नीचे गिर गया। उसने रणक्षेत्र में ही वीरगति प्राप्त की।[24] 7 सितम्बर को उसका सिर आलमगीर के दरबार में प्रस्तुत किया गया, जहां बड़े बड़े उत्सव मनाए गए।[25] राम की चाहर सोगरिया बेदारबख्त के हाथ पड़ गया, उसे आगरा भेजा गया जहां उसके सिर को काटकर जनता के लिए किले के सामने बाजार में एक ऊंचे फाटक पर लटकाया गया।[26]

मुगल सेनाओं के साथ जाटों का संघर्ष (१६८८–९५ ई०)

राजाराम जाट ने निर्भीकता का मार्ग खोला। नवीन सेना तथा गढ़ियों का विस्तार करके साम्राज्य की क्रूरता तथा राजदण्डबल का भय सामान्य किसान, मजदूरों के दिल दिमाग से निकाल दिया और जाट शक्ति ने नियमित से सशस्त्र-संघर्ष का रूप लिया। जाट भूमिखण्ड विशाल मुगल सेनाओं से घिरा होने पर भी प्रत्येक मजदूर किसान-

> जोरावर जाट द्वारा संघर्ष
> 1688–950 ई०

जिनका नेतृत्व जमींदारों के हाथों में था–अपनी मातृभूमि, धर्म तथा मानव स्वाधीनता के लिए दृढ़ संकल्प था। राजाराम की मृत्यु के बाद उसके ज्येष्ठ पुत्र जोरावर[1] के अपने प्रपिता भज्जा की देखरेख में जाट शक्ति का नेतृत्व करने लगा। यह नवयुवक अनुभवहीन, संगठन क्षमता शून्य–तथा कुशल सैनिक नहीं था। बृजराज और भज्जा (भगवन्त)–दोनों सहोदर भाई मौजा सिनसिनी (जिसके अन्तर्गत 30 गाव शामिल थे) जमींदार थे और उसकी कमान में क्रमश 200/100 स्वजातीय बन्धुओं की सवार टुकड़ी थी।[2] अत स्वयं जोरावर अपने पिता की सैनिक शक्ति के साथ अपने प्रपिता-

24 ईसरदास (पाण्डुलिपि) पृ० 134 (अ) (ब), वंश भास्कर पृ० 2886-87, म० आलमगीरी पृ० 189, म०उल उमरा पृ० 438, कैम्ब्रिज हिस्ट्री भाग 4 पृ० 305 सरकार (औरंगजेब) भाग 5/299, कानूनगो (जाट) पृ० 43, डा०मथुरालाल शर्मा कृत कोटा राज्य का इतिहास पृ० 207-9, दीक्षित पृ० 14, देशराज पृ० 632

25 म० आलमगीरी पृ० 189, औरंगजेबनामा 3/56, म० उल उमरा (बंगाल) पृ० 438

26 पादर वेन्डिल के आधार पर डा० सरकार (औरंगजेब) भाग 5 पृ० 299

1. जयपुर अखबारात (19 रबीउल आखिर) तथा महाराजकुमार पृ० 166 पर जोरावर के नाम का उल्लेख करते हैं। अन्य आधुनिक लेखक इसका नाम नहीं लिखते।

2 श्री उपेन्द्रनाथ शर्मा द्वारा लिखित मुगल भारत में जाट उत्कर्ष (पाण्डुलिपि), अध्याय 5

मज्जा के पास सिनसिनी[3] चला आया। प्रभावशाली नेतृत्व के अभाव में विशाल जाट संगठन पृथक् पृथक् गढ़ियों के सरदारों तक सीमित रह गया किन्तु उनको कठूमर परगना के नरुका कछवाहा, कांमा परगना के गूजर, पहाड़ी-लक्ष्मणगढ़ परगना के मेव, बरसाना के गौरवा राजपूत, भुसावर परगना के पवांर राजपूत, नदबई के चौहान तथा मैना-काछी आदि युद्धप्रिय जाति के सरदारों का समर्थन मिला। इन सभी क्रान्तिकारियों को भ्रष्ट मुगल फौजदारों का प्रबल सहयोग प्राप्त था।

महाराजा रामसिंह की मृत्यु (अप्रेल 1688 ई०) के बाद आमेर राज्य का उत्तराधिकारी महाराजा बिसनसिंह कोहट से आमेर आना चाहता था जबकि औरंगजेब इस राज्य को खालसा करके मारवाड़ की भांति अपने नियन्त्रण में रखने का इच्छुक था। जाटों के भीषण उपद्रवों ने आलमगीर को बाध्य कर दिया कि वह कछवाहा राजपूतों को खुश रखे। महाराजा बिसनसिंह ने दरबार के वकील, राज्य की संरक्षिका चौहानी माता आदि के परामर्श पर आलमगीर के पास मुचलना (लिखित आश्वासन) देकर प्रतिज्ञा-पत्र भेजा कि वह छः महीने में जाटों की गढ़ी सिनसिनी को बरबाद करके जाट विद्रोह का दमन कर देगा।[4] अतः आलमगीर ने 26 वर्षीय नवयुवक बिशनसिंह को 1688 ई० में आमेर गद्दी का टीका भेजकर 2000/2000 द्वि अस्पा सवार का मनसब प्रदान किया। इसके अतिरिक्त जाटों को दबाने के लिए नई राजपूत सेना की भरती तथा तात्कालिक फौजी साज-सामान जुटाने के लिए शाही खजाने से क्रमशः 1,25,000/75,000 रुपया नकद इनाम मे दिया गया।[5] राजाराम की मृत्यु के बाद अगस्त के महीने में महाराजा बिशनसिंह शाहजादा बेदारबख्त के पास मथुरा छावनी में पहुँचा।

महाराजा बिसनसिंह की नियुक्ति

आलमगीर का लक्ष्य सिनसिनी गढ़ी को बरबाद करके जाट सरदारों तथा जाट-खंड को विद्रोयों से निर्मूल करने का था। सिनसिनी गढ़ी मैदानी इलाके में होने पर भी दलदली, दुर्गम वनखंड तथा अनेकों सुदृढ जाट गढ़ियों के बीच में सुरक्षित थी। राजाराम की मृत्यु के बाद साम्राज्यवादी सेनापतियों ने जाट गढ़ियों को घेरना शुरू किया और अगस्त-सितम्बर में सौंख[6]

सौंखन महावन की गढ़ियों पर अधिकार (सितम्बर 1688–जनवरी 1689 ई०)

---

3. भरतपुर के उत्तर पश्चिम में 16 मील; दीग के दक्षिण–पश्चिम में 8 मील; कुम्हेर के उत्तर–पश्चिम में 5 मील

4. जयपुर अखबारात अप्रेल मई 1688ई०; ईसरदास (पाणलिपि) 139 (अ) 135 (ब); सरकार (औरंगजेब) भाग 5 पृ० 300; ठा. नरेन्द्रसिंह कृत डिसाईसिब बैटिल्स पृ० 60

5. जयपुर अखबारात (फरमान); डा० मथुरालाल शर्मा कृत हिस्ट्री ऑफ जयपुर (पाण्डुलिपि) पृ० 152

6. सिनसिनी के दक्षिण–पूर्व में 18 मील; मथुरा के दक्षिण–पश्चिम में 16 मील

देखकर एक पेड़ की झाड़ में छिपकर गोली का निशाना लगाया। यह गोली उसकी छाती में लगी और वह घोड़े से नीचे गिर गया। उसने रणक्षेत्र में ही वीरगति प्राप्त की।[24] 7 सितम्बर को उसका सिर आलमगीर के दरबार में प्रस्तुत किया गया, जहां बड़े बड़े उत्सव मनाए गए।[25] राम की चाहर सोगरिया बेदारबख्त के हाथ पड़ गया, उसे आगरा भेजा गया जहां उसके सिर को काटकर जनता के लिए किले के सामने बाजार में एक ऊंचे फाटक पर लटकाया गया।[26]

मुगल सेनाओं के साथ जाटों का संघर्ष (१६८८–६५ ई०)

राजाराम जाट ने निर्भीकता का मार्ग खोला। नवीन सेना तथा गढ़ियों का विस्तार करके साम्राज्य की क्रूरता तथा राजदण्डबल का भय सामान्य किसान, मजदूरों के दिल-दिमाग से निकाल दिया और जाट क्रान्ति ने नियमित से सशस्त्र-संघर्ष का रूप लिया। जाट भूमिखंड विशाल मुगल सेनाओं से घिरा होने पर भी प्रत्येक मजदूर-किसान-

जोरावर जाट द्वारा संघर्ष 1688–950 ई०

जिनका नेतृत्व जमींदारों के हाथों में था—अपनी मातृभूमि, धर्म तथा मानव स्वाधीनता के लिए दृढ़ संकल्प था। राजाराम की मृत्यु के बाद उसके ज्येष्ठ पुत्र जोरावर[1] के अपने प्रपिता भज्जा की देखरेख में जाट-क्रान्ति का नेतृत्व करने लगा। यह नवयुवक अनुभवहीन, संगठन क्षमता शून्य—तथा कुशल सैनिक नहीं था। बृजराज और भज्जा (भगवन्त)—दोनों सहोदर भाई मौजा सिनसिनी (जिसके अन्तर्गत 30 गांव शामिल थे) जमींदार थे और उसकी कमात में क्रमश. 200/100 स्वजातीय बन्धुओं की सवार टुकड़ी थी।[2] अत स्वयं जोरावर अपने पिता की सैनिक शक्ति के साथ अपने प्रपिता-

24. ईसरदास (पाण्डुलिपि) पृ० 134 (अ) (ब), वंश भास्कर पृ० 2886-87, म० आलमगीरी पृ० 189, म०उल उमरा पृ० 438, कैम्ब्रिज हिस्ट्री भाग 4 पृ० 305 सरकार (औरंगजेब) भाग 5/299, कानूनगो (जाट) पृ० 43, डा०मथुरालाल शर्मा कृत कोटा राज्य का इतिहास पृ० 207-9, दीक्षित पृ० 14, देशराज पृ० 632

25. म० आलमगीरी पृ० 189, औरंगजेबनामा 3/56, म० उल उमरा (बंगाल) पृ० 438

26. फादर वेन्डिल के आधार पर डा० सरकार (औरंगजेब) भाग 5 पृ० 299

1. जयपुर अखबारात (19 रबीउल आखिर) तथा महाराजकुमार पृ० 166 पर जोरावर के नाम का उल्लेख करते हैं। अन्य आधुनिक लेखक इसका नाम नहीं लिखते।

2. श्री उपेन्द्रनाथ शर्मा द्वारा लिखित मुगल भारत में जाट उत्कर्ष (पाण्डुलिपि), अध्याय 5

इस्लामाबाद (मथुरा) परगने का फौजदार नियुक्त किया और सिनसिनी दुर्ग पर अधिकार करने के बाद मौजा सिनसिनी भी जागीर में देने का आश्वासन दिया।[11] अतः वह दस हजार सवार और बीस हजार पैदल राजपूतों के साथ बेदारबख्त की छावनी में अक्टूबर 1689 ई० पहुँचा। उसने जून 1689 ई० में कोसी मार्ग से कांमा परगने में प्रवेश किया और वहां से विद्रोहियों को हटाया। प्रतापसिंह नरुका-कछवाहों को अपनी ओर मिलाकर हरावल का सरदार बनाया।[12] इन अभियानों का यद्यपि शाही दरबार तथा शाहजादा बेदारबख्त ने विरोध किया फिर भी अक्टूबर 1689 ई० में राजपूतों की छत्रछाया में मुगल सेनायें आगे बढ़ीं। नवम्बर में मित्र सेनाओं ने साबौरा,[13] बनी[14] तथा अन्य मौजों को बरबाद किया; इसके बाद कासौट[15] गढ़ी को घेरकर आक्रमण किया और दिसम्बर में उस पर अधिकार कर लिया। इसी महीने में साम्राज्यवादी सेनायें सिनसिनी गढ़ी के पास पहुँच गई और उन्होंने दुर्ग के चारों ओर ऊंचे मिट्टी के मचान (टीले) बनाकर मथुरा छावनी से प्राप्त जंगी तोपखाने का प्रयोग किया। जनवरी 1690 ई० के प्रथम सप्ताह में गढ़ी के प्रवेश द्वार को उड़ाने के लिए एक सुरंग तैयार की गई और उसे बारुद की बोरियों से भरा गया लेकिन जाटों को इसका पता लग गया और उन्होंने रात्रि के अन्धकार में भारी पत्थरों से सुरंग का मुँह बन्द कर दिया। प्रातःकाल जब पलीता लगाया गया तो एक भयंकर विस्फोट हुआ। बारूद तथा पत्थरों की मार से सुरंग की छत उड़ गई साम्राज्यवादियों के विशाल सैनिक दस्ते, तोपची, योग्य सेनापति जो गढ़ी पर आक्रमण करने को तैयार थे — आग से झुलस गये। अस्तबल भी इस अग्निकांड से नहीं बच सका। राजपूत हरावल का सेनानायक बुरी तरह घायल हुआ। हरीसिंह खंगारोत की मृत्यु का झूठा समाचार फैल गया, जिससे राजपूत सेना में खलबली मच गई। फिर भी बेदारबख्त ने वहां से कूँच नहीं किया। एक महीने से कम समय में मुगल मजदूर तथा कारीगरों ने एक दूसरी सुरंग तैयार की। जनवरी 1690 ई० के अन्तिम सप्ताह में बारूद में आग लगाई गई। इस समय गढ़ी के जाट रक्षक परकोटा पर कतार बांधे खड़े थे वे स्वाहा हो गये। इसके बाद मित्र सेनाओं ने कूँच किया जहां जाटों से डटकर मुकाबिला हुआ। दोनों अभियानों में क्रान्तिकारियों के 1500 सैनिक काम आये अथवा घायल हुये। मुगलों की ओर से मुनव्वरखां अपने 200 साथियों के साथ लड़ता हुआ खेत रहा। राजपूतों के 700 सिपाही काम आये।[16] जाट सरदार

11. ईसरदास (पाण्डुलिपि) पृ० 133 (अ); कानूनगो (जाट) पृ० 43; डा० मथुरालाल शर्मा (जयपुर) पृ० 153

12. जयपुर अखबारात; कानूनगो (डिग्गी) पृ० 88

13. सिनसिनी के दक्षिण पश्चिम में 6 मील;

14. साबौरा के दक्षिण पूर्व में 8 मील;

15. सिनसिनी के पूर्व में 8 मील;

16. जयपुर अखबारात; ईसरदास पृ० 136 (ब) 137 (अ); सरकार (औरंगजेब) 5/301; कानूनगो (जाट) पृ० 44; कैम्ब्रिज हिस्ट्री 4/305; नरेन्द्रसिंह पृ० 61; मथुरालाल (जयपुर) पृ० 253; दीक्षित पृ० 15;

गढ़ी पर घेरा डाला । महाराजा बिसनसिंह ने अपने अभिभावक (अनालीक) हरी खगारोत को कछवाहा सैनिकों का प्रधान सेनापति नियुक्त किया । शाहजादा बेदार ने आमेर नरेश की सौंख छावनी मे सैनिक रसद पहुँचाना, होडल से फरह तक के मार्गों की सुरक्षा-व्यवस्था और यमुना पार जाटों को रोकने के लिए महत्वपूर्ण सौंपे । हरीसिंह खगारोत ने अडीग तथा सौंख मार्ग म अडचनें डालने वाले गुरि टुकडियों को तलवार के घाट उतारा और मृतकों को सबक देने के लिए पेड़ों लटकाकर भयानक दृश्य उपस्थित किया । 4 महीने के कठिन प्रयासों के दिसम्बर 1688 ई० मे सौंख गढ़ी पर साम्राज्यवादियों का अधिकार हो गया । समय गोकुल के पास महाबन के जाटों ने सौंख घेरा की विफलता के लिए प्र किया जिसको कछवाहा सेनापति हरीसिंह खगारोत ने जनवरी 1689 ई० दबाया ।[7]

सौंख गढ़ी के पतन के बाद साम्राज्यवादी सेनाओं ने विशाल जगी तथा जिन तोपखाना के साथ सिनसिनी की ओर कदम बढ़ाया और गढ़ी से 10 मील दूर अप छावनी डाली । गढ़ी के बाहर पलायनव जाट टुकडियों ने साम्राज्यवादी सेनाओं डटकर मुकाबला किया और एक एक भूमि को अपने रक्त से सींचा । 10 म

सिनसिनी का घेरा दिसम्बर 1688–जनवरी 1969 ई०

तक जाट छापामारों ने शाही मुगल सेना की नाक मे दम कर लिया जिसके बारे मे जयपुर राज्य के अखबारातों मे विस्तृत वर्णन मिलता है । गोवर्द्धन [8] से कस्बा अ तक का समस्त भूमिखड गुरिल्ला टुकड़ियों के काबू में था और शाही छावनी में र नहीं पहुँच सकी । यहा तक कि छावनी के सैनिकों को पानी भी नहीं मिल सक मुगल सेनानायकों मे इतना अधिक भय छा गया था कि वह छावनी छोड़कर बा घूमने भी नहीं निकल सकते थे । फ्तूहाते आलमगीरी से पता लगता है कि मु छावनी मे क्षुधा-पीडित सैनिक मृत्यु के कराल गाल म समा रहे थे । सैनिकों जाटों की भीषण लूट का आतक था । चारा दाना के अभाव मे जानवरों की शारी शक्ति क्षीण हो रही थी । असख्य जानवर छावनी मे कमजोर होकर इधर उधर रहे थे ।"[10] आलमगीर ने इन स्थितियों को देखकर महाराजा बिसनसिंह

7. जयपुर अखबारात, डा० कालिकारजन कानूनगो कृत हिस्ट्री आफ जि (पाण्डुलिपि) पृ० 53, 79

8. मथुरा के पश्चिम मे 11 मील, दीग के पूर्व मे 6 मील,

9. दीग के दक्षिण मे 4 मील, गोवर्द्धन के दक्षिण पश्चिम में 5 मील, सि सिनी के उत्तर पूर्व मे 8 मील

10 ईसरदास (पाण्डुलिपि) पृ० 136 (ब), सरकार (औरगजेब) 5/30

इस्लामाबाद (मथुरा) परगने का फौजदार नियुक्त किया और सिनसिनी दुर्ग पर अधिकार करने के बाद मौजा सिनसिनी भी जागीर में देने का आश्वासन दिया।[11] अतः वह दस हजार सवार और बीस हजार पैदल राजपूतों के साथ बेदारबख्त की छावनी में अक्टूबर 1689 ई० पहुंचा। उसने जून 1689 ई० में कोसी मार्ग से कांमा परगने में प्रवेश किया और वहां से विद्रोहियों को हटाया। प्रतापसिंह नरुका-कछवाहों को अपनी ओर मिलाकर हरावल का सरदार बनाया।[12] इन अभियानों का यद्यपि शाही दरबार तथा शाहजादा बेदारबख्त ने विरोध किया फिर भी अक्टूबर 1689 ई० में राजपूतों की छत्रछाया में मुगल सेनायें आगे बढ़ीं। नवम्बर में मित्र सेनाओं ने साबौरा,[13] बनी[14] तथा अन्य मौजों को बरबाद किया; इसके बाद कासौट[15] गढ़ी को घेरकर आक्रमण किया और दिसम्बर में उस पर अधिकार कर लिया। इसी महीने में साम्राज्यवादी सेनायें सिनसिनी गढ़ी के पास पहुंच गई और उन्होंने दुर्ग के चारों ओर ऊंचे मिट्टी के मचान (टीले) बनाकर मथुरा छावनी से प्राप्त जंगी तोपखाने का प्रयोग किया। जनवरी 1690 ई० के प्रथम सप्ताह में गढ़ी के प्रवेश द्वार को उड़ाने के लिए एक सुरंग तैयार की गई और उसे बारुद की बोरियों से भरा गया लेकिन जाटों को इसका पता लग गया और उन्होंने रात्रि के अन्धकार में भारी पत्थरों से सुरंग का मुंह बन्द कर दिया। प्रातःकाल जब पलीता लगाया गया तो एक भयंकर विस्फोट हुआ। बारूद तथा पत्थरों की मार से सुरंग की छत उड़ गई साम्राज्यवादियों के विशाल सैनिक दस्ते, तोपची, योग्य सेनापति जो गढ़ी पर आक्रमण करने को तैयार थे – आग से झुलस गये। अस्तबल भी इस अग्निकांड से नहीं बच सका। राजपूत हरावल का सेनानायक बुरी तरह घायल हुआ। हरीसिंह खंगारोत की मृत्यु का झूठा समाचार फैल गया, जिससे राजपूत सेना में खलबली मच गई। फिर भी बेदारबख्त ने वहां से कूंच नहीं किया। एक महीने से कम समय में मुगल मजदूर तथा कारीगरों ने एक दूसरी सुरंग तैयार की। जनवरी 1690 ई० के अन्तिम सप्ताह में बारूद में आग लगाई गई। इस समय गढ़ी के जाट रक्षक परकोटा पर कतार बांधे खडे थे वे स्वाहा हो गये। इसके बाद मित्र सेनाओं ने कूंच किया जहां जाटों से डटकर मुकाबिला हुआ। दोनों अभियानों में क्रान्तिकारियों के 1500 सैनिक काम आये अथवा घायल हुये। मुगलों की ओर से मुनव्वरखां अपने 200 साथियों के साथ लड़ता हुआ खेत रहा। राजपूतों के 700 सिपाही काम आये।[16] जाट सरदार

11. ईसरदास (पाण्डुलिपि) पृ० 133 (अ); कानूनगो (जाट) पृ० 43; डा० मथुरालाल शर्मा (जयपुर) पृ० 153

12. जयपुर अखबारात; कानूनगो (डिग्गी) पृ० 88

13. सिनसिनी के दक्षिण पश्चिम में 6 मील;

14. साबौरा के दक्षिण पूर्व में 8 मील;

15. सिनसिनी के पूर्व में 8 मील;

16. जयपुर अखबारात; ईसरदास पृ० 136 (ब) 137 (अ); सरकार (औरंगजेब) 5/301; कानूनगो (जाट) पृ० 44; कैम्ब्रिज हिस्ट्री 4/305; नरेन्द्रसिंह पृ० 61; मथुरालाल (जयपुर) पृ० 253; दीक्षित पृ० 15;

जोरावर, उसकी पत्नी तथा बच्चे शत्रु के हाथ पडे, उनको बन्दी बनाकर मथुरा की छावनी में ले जाया गया जहा जोरावर को पुलिस चबूतरा पर अगभग करके निर्दयता पूर्वक मारा गया और उसकी बोटियो को कुत्तो को डाल दिया गया।[17] 15 फरवरी को यह समाचार दरबार मे पहुँचा, जहा खुशिया मनाई गई। सिनसिनी की विजय दूसरे कन्धार विजय का प्रतीक था। 19 मई को सम्राट ने बेदारबख्त को बहुमूल्य खिलअत, तरकस, जडाऊ कमान, हाथी घोडा, सरपेच, बहादुरी के फरमान तथा खिताब के साथ भेजा और इनाम मे छ लाख रुपया शाही खजाने से दिया। बेदारबख्त सिनसिनी विजय स्मारक के रूप मे जाट तोपखाने से एक विशाल चौब (लकडी) ले गया था। आलमगीर ने इसे देखकर कहा, ' इस प्रकार के हथियारो के बारे मे आज तक किसी ने भी कल्पना भी नही की थी'[18] बेदारबख्त स्वय जाट अभियान से बचना चाहता था। उसने महाराजा बिसनसिंह का सिनसिनी का प्रबन्ध सभालने का आग्रह किया लेकिन विजय के वास्तविक अधिकारी के प्रश्न को लेकर दोनों म मतभेद हो गया। सम्राट ने एक ओर राजा को हिरासत मे लेकर शाहजादा के पास पहुँचाने के लिए गुर्जनरदार भेज दूसरी ओर उसका मनसब 1000/1000 दुअस्पा कम कर दिया। अन्त मे बेदारबख्त सिनसिनी का प्रबंध राय उग्रसेन कछवाहा को सौंपकर मथुरा पहुँचा।[19]

जब सिनसिनी पतन का समय समीप था उसी समय औरगजेब का शाही फरमान मिला कि बिसनसिंह अपने राजपूत सैनिको को यमुनापारी दुआब प्रान्त के जाटो को जाकर दबाये, जहा खैर तथा राठ [20] किलो को शरण लेकर अमरसिंह जाट उपद्रव कर रहा था। इस समय सम्राट् ने राजपूत नरेश को 5000 प्रतिरिक्त सवार भरती करने का आदेश दिया और एक लाख

यमुनापारी जाट गढ़ियों पर अधिकार जनवरी अगस्त 1690 ई०

आमदनी के मुहाल तथा परगने और हरीसिंह को मथुरा शहर की फोजदारी देने का आश्वासन भी दिया। जनवरी मे हरीसिंह ने यमुना नदी पार की। मार्च 1690 ई० म राठ किले पर भयकर युद्ध हुआ। अमरसिंह का पेशकार बिरजू राजपूत सेना को चीर कर भाग निकला। इस युद्ध मे जाटो के 2150 सैनिक काम आये अथवा

---

17 अखबारात (19 रबीउल आखिर), महाराजकुमार पृ० 166, कानूनगो (डिग्गी) पृ० 97

18 म० आ० पृ० 202, आलमगीरनामा भाग 3 पृ० 74, म० उल उमरा (बगाल) पृ० 438, कानूनगो (डिग्गी) पृ० 97,

19 अखबारात (21 जिल्हज 15-9-1690 ई०), कानूनगो (डिग्गी) पृ० 97,

[20] खैर- अलीगढ के उत्तर पूर्व मे 16 मील, राठ-खैर के पूर्व में 8 मील,

घायल हुये। अप्रेल में ऊँर गढ़ी के बाहर निर्णायक युद्ध हुआ, अमरसिंह स्वयं अपने मित्र नन्दा जाट तथा मुरसान के अन्य पड़ोसी मित्रों के साथ निकल भागा। उसके सेनानायक विरज् तथा तोला गूर्जा की ओर भाग गये। मई के करीब अमरसिंह के एक पुत्र ने खैर का किला हरीसिंह को सौंप दिया। 4 महीने तक कछवाहा सेनापति ने अमरसिंह का पीछा किया लेकिन सादाबाद के जागीरदार तथा सादाबाद के जलाल नामक बल्ची जागीरदारों ने उनकी रक्षा की[21]। बरसात में दुआब प्रान्त के अभियानों को स्थगित करके हरीसिंह को मथुरा पहुंचना पड़ा। सितम्बर-अक्टूबर में कछवाहा नरेश ने नवीन सेना की भरती की। आमेर राज्य से विशाल सैनिक दल भरती होकर मथुरा पहुंचा। आगरा तथा हिन्डौन से 1200 सवार और 2000 पैदल क्रमश: 4 आना व एक आना रोजाना पगार पर भरती किये गये। अक्टूबर के अन्त तक 52,000 सवार तथा पैदल जंगी तथा जिन्सी तोपखाना तैयार होगया।[22]

अवार तथा सोगर गढ़ियों पर अधिकार (दिसम्बर 1690–फरवरी 1692 ई०)

सिनसिनी पतन के बाद समस्त जाटों ने जोरावर के भाई फतहसिंह को अपना सरदार बनाया[23]। उसने सिनसिनी के दक्षिण में पींगोरा[24] गढ़ी को नया केन्द्र बनाकर जाट-क्रान्ति का संचालन किया। सर जदुनाथ सरकार के अनुसार "वह (बिसनसिंह स्वयं अपने प्रपिता राजा रामसिंह और पिता मिर्जा राजा जयसिंह की भांति उच्च मनसब प्राप्त करने की लालसा तथा ऐश्वर्य की ज्वाला में जल रहा था।"[25] लेकिन वह लिखित आश्वासन के अनुसार 6 महीने क्या 6 वर्ष तक भी जाट जनशक्ति को नहीं दबा सका। महाराजा बिसनसिंह ने विशाल राजपूत सेना के साथ सोगर[26] की गढी को अपना लक्ष्य बनाया; लेकिन सोगर की गढ़ी कासोट, अवार, रारह सेवर आदि गढ़ियों से सुरक्षित थी। यह सभी गढ़ियां 15 मील के घने जंगल, कांटेदार झाड़ी और बानगंगा-रुपारेल नदियों की कछारों के

---

21. जयपुर अखबारात; कानूनगो (डिग्गी) पृ० 9दे–94;

22. जयपुर अखबारात; कानूनगो (डिग्गी) पृ० 97–98;

23. पं. बलदेवसिंह (पाण्डुलिपि) पृ० 16; वाक्या राज० भाग 2 पृ० 46; ओडायर पृ० 25; गजे० ई० राज० पृ० 30; जयपुर अखबारातों से पता लगता है कि फतहसिंह सिनसिनी घेरा के समय पींगोरा की नई गढ़ी को शक्तिशाली बना रहा था।

24. सिनसिनी के दक्षिण में 23 मील; सोगर के दक्षिण–पश्चिम में 16 मील;

25. सरकार (औरंगजेब) भाग 5 पृ० 300

26. भरतपुर के उत्तर में 4 मील;

जोरावर, उसकी पत्नी तथा बच्चे शत्रु के हाथ पड़े, उनको बन्दी बनाकर मथुरा की छावनी मे ले जाया गया जहा जोरावर को पुलिस चबूतरा पर अगभग करके निदयता-पूर्वक मारा गया और उसकी बोटियो को कुत्तो को डाल दिया गया।[17] 15 फरवरी को यह समाचार दरबार मे पहुंचा, जहा खुशियां मनाई गई। सिनसिनी की विजय दूसरे कन्धार विजय का प्रतीक था। 19 मई को सम्राट ने बेदारबख्त को बहुमल्य खिलग्रत, तरकस,जड़ाऊ कमान, हाथी घोडा, सरपेच, बहादुरी के फरमान तथा खिताब के साथ भेजा और इनाम मे दो लाख रुपया शाही खजाने से दिया। बेदारबख्त सिनसिनी विजय स्मारक के रूप मे जाट तोपखाने से एक विशाल चौब (लकडी) ले ग्या था। आलमगीर ने इसे देखकर कहा, "इस प्रकार के हथियारो के बारे मे आज तक किसी ने भी कल्पना भी नही की थी'[18] बेदारबख्त स्वय जाट अभियान से बचना चाहता था। उसने महाराजा बिसनसिंह को सिनसिनी का प्रबन्ध सभालने का आग्रह किया लेकिन विजय के वास्तविक अधिकारी के प्रश्न को लकर दोनो मे मतभेद हो गया। सम्राट ने एक ओर राजा को हिरासत मे लकर शाहजादा के पास पहुचाने के लिए गुजरदार भेजे दूसरी ओर उसका मनसब 1000/1000 घुड़सवार कम कर दिया। अन्त मे बेदारबख्त सिनसिनी का प्रबध राय उग्रसेन कछवाहा को सौंपकर मथुरा पहुंचा।[19]

जब सिनसिनी पतन का समय समीप था उसी समय औरगजेब का शाही फरमान मिला कि बिसनसिंह अपने राजपूत सैनिको को यमुनापारी दुआब प्रान्त के जाटों को जाकर दबाये, जहा खैर तथा राठ[20] किलों को शरण लेकर अमरसिंह जाट उपद्रव कर रहा था। इस समय सम्राट् ने राजपूत नरेश को 5000 अतिरिक्त सवार भरती करने का आदेश दिया और एक लाख आमदनी के मुहाल तथा परगने और हरीसिंह को मथुरा शहर की फौजदारी देने का आश्वासन भी दिया। जनवरी मे हरीसिंह ने यमुना नदी पार की। मार्च 1690 ई॰ म राठ किले पर भयकर युद्ध हुआ। अमरसिंह का पेशकार विरजू राजपूत सेना को चीर कर भाग निकला। इस युद्ध में जाटो के 2150 सैनिक काम आये अथवा

यमुनापारी जाट गढ़ियों पर अधिकार-जनवरी अगस्त 1690 ई॰

17 अखबारात (19 रबीउल आखिर), महाराजकुमार पृ॰ 166, कानूनगो (डिग्गी) पृ॰ 97

18 म॰ आ॰ पृ॰ 202, आलमगीरनामा भाग 3 पृ॰ 74, म॰ उल उमरा (बगाल) पृ॰ 438, कानूनगो (डिग्गी) पृ॰ 97,

19 अखबारात (21 जिल्हज 15-9-1690 ई॰), कानूनगो (डिग्गी) पृ॰ 97,

20 खैर- अलीगढ के उत्तर पूर्व म 16 मील, राठ-खैर के पूव में 8 मील,

पींगोरा आक्रमण के समय भुसावर परगने के रणसिंह, श्योसिंह, पवांर राजपूत और गढ़ी केसरा के जमीदार हरकिसन चौहान ने विशेष योग दिया।

भटावली, सौख, रायसीस गढ़ियों का पतन (दिसम्बर 1692–फरवरी 1693 ई०)

औरंगजेब ने सुप्रसिद्ध सेनापति दिलेरखां रुहेला के पुत्र कमालुद्दीनखां को बयाना; हिन्डौन परगनों का फौजदार नियुक्त किया; जुलाई–अगस्त में यह इनके विरुद्ध भी बढ़ा लेकिन उसे यथार्थ सफलता नहीं मिली।[34] अत सम्राट ने बयाना-हिन्डौन की फौजदारी महाराजा विसनसिंह को दी। महाराजा ने भटावली दुर्ग का दिसम्बर में घेरा डाला; हरीसिंह ने उत्तर पश्चिम की ओर बढ़कर जनवरी 9, 1693 ई० में सौंख गढ़ी पर आक्रमण किया; यहां पर 500–600 जाट क्रान्तिकारी काम आये। फतहसिंह जाट और चूरामन गढ़ी से निकल गये; सौख गढ़ी में कठूमर परगना की बहुसंख्यक किसान रैयत वन्दी थी, उसे छुड़ाकर वहरामन्दखां के करोरी मुहम्मद भूसा को सौंप दिया। इसके बाद राजपूत सेनाओं ने दक्षिण पूर्व की ओर हटकर रायसीस पर अविकार कर लिया। फरवरी 1693 ई० के प्रथम सप्ताह मे भटावली पर भी महाराजा का अविकार हो गया।[35]

जाट गढ़ियों के दमन के बाद महाराजा विसनसिंह ने जाटों के राजपूत मित्रों को दवाया; मेवात का फौजदार महामदखां वडौदा[36] के जमींदार कान्हा और देवीसिंह

जाट-मित्रों की पराजय, फरवरी-दिसम्बर 1693

नरुका सरदारों के विरुद्ध वढ़ा। फरवरी में उसने वड़ौदा के दक्षिण में 4 मील ढाड़ का घेरा डाला जवकि उसके सेनानायक सैयिद अब्दुल गफ्फार ने इसके दक्षिण पूर्व में इंटखेडा को घेरा लेकिन दोनों ही असफल रहे। मार्च में राजपूत सेनायें भी पहुंच गईं; 19 अप्रेल को वडोदा मित्र सेनाओं के हाथ लगा; इस युद्ध में 4175 रैयत और 33 गाड़ियां वन्दी वनाकर हरीसिंह की छावनी में भेजे गये। जून 1693 ई० में राजपूत सेनाओं ने गढ़ी केसरा के सरदार हरकिसन चौहान को हराया। इसके बाद शाही सेनाओं ने रणसिंह पवांर को लक्ष्य वनाया; सरदार ने झारौटी के जंगलों में शरण ली; अक्टूबर में दोनों में मुठभेड़ हुई जिसमें 570 क्रान्तिकारी जाट मय दो सरदारों के काम आये और 245 स्त्री-पुरुष वन्दी वनाये गये। सितम्बर के दूसरे सप्ताह में उन्होंने वाराह गढ़ी को वरबाद किया; नवम्बर में उसने अन्य दो जाट गढ़ियों पर अधिकार कर लिया।

---

34. जयपुर अखवारात म० आ० 212; औरंगजेबनामा 387 से पता लगता है कि वह सफल हुआ और उसके मनसव में 500 जात की वृद्धि की गई (30 नवम्बर 1692 ई०)

35. जयपुर अखवारात; कानूनगो (डिग्गी) पृ० 106–8;

36. लक्ष्मणगढ़ (अलवर) के उत्तर में 9 मील; नगर के पश्चिम में 20 मील;

गढ़ों के सहारे बनी थी। दिसम्बर 1690 ई० के प्रथम सप्ताह में महाराजा बिशनसिंह ने अवार[27] नदी के पास अपनी छावनी डाली। जाट क्रान्तिकारियों को गढ़ियों से बाहर निकालने अथवा भूमिसात् से भगाने के लिए आगजनी तथा गांवों को उजाड़ने वाली कार्यवाहियां शुरू कीं। अनेकों बार अवार जंगलों में मुठभेड़ें हुईं। जंगलों को साफ कराने का प्रयास किया पर छः महीने के प्रयास के बाद भी अवार गढ़ी पर अधिकार नहीं हो सका। मई 1691 ई० के मध्य तक यह सेनायें खन्दकों के सहारे कुछ मील ही आगे बढ़ सकीं। गुप्तचरों ने सोगर गढ़ी के गुप्त मार्ग का पता लगा लिया। हरीसिंह इस आकस्मिक आक्रमण को तैयार हो गया। सोगरगढ़ी का प्रवेश-द्वार इतना छोटा था कि कोई भी व्यक्ति बिना सिर झुकाये उसमें नहीं घुस सकता था। आक्रमण के समय सोगर गढ़ी का द्वार खुला था और जाट दल किले में अनाज तथा घास ले जा रहे थे। इसी समय राजपूतों ने इस ओर कूच किया, कुछ सिपाही वेश बदल कर गढ़ी में दाखिल हो गये, हरीसिंह मुख्य द्वार पर पहुंच गया। उन्होंने सामना करने वालों को तलवार के घाट उतारा और 500 जाटों को बन्दी बना लिया।[28] अवार की गढ़ी दूसरी सिनसिनी साबित हुई जिस पर अधिकार करने में 10 महीने का समय लगा। फरवरी 1692 ई० में अवार की गढ़ी पर अधिकार हो गया।[29]

औरंगजेब का यह स्पष्ट आदेश था कि जहां भी जाट विद्रोही दिखलाई दें, उनका पीछा किया जावे। अतः महाराजा बिशनसिंह ने उत्तर-पश्चिम की ओर अपनी सेनायें बढ़ाईं, छः महीने तक प्लायनवादी जाट टुकड़ियां राजपूतों का सामना करती रहीं। सितम्बर 1692 ई० में कासोट[30] की गढ़ी पर सफल हमला बोला और इस पर उनका अधिकार हो गया। पींगोरा गढ़ी से फतहसिंह स्वयं गुरिल्ला युद्ध का संचालन कर रहा था। भटावली[31] गढ़ी से क्रान्तिकारियों ने पींगोरा आक्रमण को विफल करने का प्रयास किया। अक्टूबर के प्रथम सप्ताह में पींगोरा पर राजपूतों का अधिकार हो गया। फतहसिंह भागकर अपने चाचा चूरामन की गढ़ी सौंख[32] में चला गया, हरीसिंह ने पींगोरा गढ़ी को अपनी छावनी बनाया और बिशनसिंह के ज्येष्ठ पुत्र गजसिंह को पींगोरा का थानेदार नियुक्त किया।[33]

> कासोट पींगोरा गढ़ियों का पतन
> मार्च अक्टूबर 1692 ई०

27 कासोट के उत्तर-पूर्व में 16 मील, सोगर के पूर्व में 4 मील

28 औरंगजेबनामा, म० आ०, जयपुर अखबारात, ईसरदास 137 (अ) (ब) सरकार (औरंगजेब) 5/302, कानूनगो (जाट) पृ० 45, कैम्ब्रिज हिस्ट्री 4/305, मथुरालाल (जयपुर) 153

29 अखबारात, कानूनगो (डिग्गी) पृ० 3-5,

30 सिनसिनी के पूर्व में 8 मील,

31 कासोट के दक्षिण में 8 मील, सौंख के दक्षिण में 4 मील,

32 सिनसिनी के पश्चिम में 8 मील

33 जयपुर अखबारात, कानूनगो (डिग्गी) पृ० 103-5

किया, जहां जाटनियों ने युद्ध में भाग लिया: इसके बाद जाट सरदार बड़गांव[46] और रतनगढ़[47] पहुंचे; राजपूतों ने मई के दूसरे सप्ताह में बड़गांव, और जून के प्रथम सप्ताह में रतनगढ़ पर भी अधिकार कर लिया लेकिन जाट सरदार उनके हाथ नहीं लग सके और वह चम्बल पार निकल गये। राजपूतों ने इसके बाद सरकार रणथम्भौर के विद्रोही परगनों में प्रवेश किया और वहां से अक्टूबर में मथुरा वापिस लौट गये।[48]

जावरा अभियान दिसम्बर 1694–मई 1695 ई०

साम्राज्यवादी राजपूत सेनायें चार वर्ष तक दक्षिण पश्चिमी भूखंड के जाट सरदारों के दमन में व्यस्त रहीं लेकिन उनको वास्तविक लाभ नहीं हुआ; इन अभियानों का लाभ उठाकर नन्दा जाट ने यमुना पारी-महावन, सादाबाद, जलेसर, नौंह[49] के जाटों को संगठित किया और आधुनिक मुरसान के उत्तर पूर्व में 2 मील दूर जावरा गढी का निर्माण कराया। इस गढ़ी की सुरक्षा के लिये अनेकों गढ़ियाँ अथवा नगले बसाये गये; उसने कैहरारी गढ़ी की रक्षा का भार अपने भाई बैरीसाल के हाथों सौंपा। पर्याप्त संगठन के बाद जाट क्रान्तिकारियों ने इन परगनों में लूटमार शुरू की; जमींदार तथा जाट जिलेदारों ने इसमें सक्रिय भाग लिया यहां तक कि मुगल फौजदार भी इनकी लूट के साझीदार बन गये। सम्राट आलमगीर ने इन क्रान्तिकारियों को दबाने के लिए नवम्बर के मध्य में हस्ब-उल-हुक्म भेजा। अतः दिसम्बर 1694 ई० में राजपूत सेनाओं ने नन्दा जाट विरोधी अभियान शुरू किया। भयंकर दुर्भिक्ष पड़ जाने के कारण सेना को खाद्य पदार्थ जुटाने की समस्या थी; महाराजा स्वयं नियमित फौजी अभियानों के कारण 50 लाख रुपये का कर्जदार था; महाराजा बिसनसिंह मथुरा छावनी में संसद की व्यवस्था तथा मार्गों की सुरक्षा-व्यवस्था के लिए रुके और हरीसिंह खंगारोत ने महावन में सैनिक छावनी डाली। उसने स्थान स्थान पर जावर गढ़ी को घेरने तथा खाद्यान्न की हिफाजत के लिए अनेकों छोटी छोटी गढ़ियां बनवाई। 24 फरवरी को राजपूतों ने महावन से अपनी छावनी उठाली और अनोड़ा गांव की ओर कूंच किया; उसने बैरीसाल को

---

46. करौली के पश्चिम में 16; बयाना के दक्षिण में 26 मील और मड़रायल के उत्तर पूर्व में 20 मील

47. बड़गांव के दक्षिण–पश्चिम में 7 मील और सरमथुरा के दक्षिण-पश्चिम में 4 मील;

48. अखबारात (जयपुर) कानूनगो (डिग्गी) पृ० 125-39 तथा हिस्टोरीकल एसेज (1960) पृ० 55-57;

49. जलेसर के उत्तर–पूर्व में 7 मील;

नसिंह मांदरेल (करौली) की पहाड़ियों तथा जगलों में भाग गया। महुग्रा[37] की
ी भी राजपूतो ने बरबाद कर दी।[38]

ग्रप्रेल 16, 1693 ई० को ग्रालमगीर ने स्वालिह खा को विदाई खां का
ताब देकर ग्रागरा सूबे का सूबेदार नियुक्त किया।[39] हरीसिंह खांगारोत को

खानुग्रा, फतहपुर, धौलपुर, बाड़ी, जगनेर के विद्रोह फरवरी नवम्बर 1694 ई०

भुसावर तथा हिन्डौन परगनों का नायब फौजदार बनाया। राजपूत सेनापति ने ग्रपने पेशकार शोभाचंद को भुसावर परगने मे ग्रपना कामदार ग्रौर सुखमल को हिन्डौन का थानेदार नियुक्त
ा, 17 जनवरी को जारी हुये शाही हुक्म के ग्रनुसार फरवरी के दूसरे सप्ताहमें साम्राज्य
दी सेनाग्रों ने बयाना परगने में प्रवेश किया, इस समय सिनसिनी के सरदार चूरामन
ीराम, सोगर के लोढ़ा, बुकना ग्रादि, ग्रवार के ग्रलिया जाट के पुत्र नन्दा ग्रादि, सौंख
जगमन, बनारसी ग्रादि जाट सरदार एक हजार सवार तथा पैदल क्रान्तिकारियों के
थ मौजिया जाट की गढ़ी चैंकोरा[40] में शरण ले रहे थे, साम्राज्यवादी सेनाग्रो ने
होरा पर ग्राक्रमण किया, लेकिन जाट सरदार सैंयऊ[41] की ग्रोर निकल गये।
जपूतों ने 15 मार्च तक उनका धौलपुर–बाड़ी परगनो म पीछा किया, जाट सरदार
वास परगने में निकल गये जहा उनका पीछा किया गया। यहां पर राजपूतो ने
00 स्त्री-पुरुषों को बन्दी बनाया ग्रौर ग्रागरा रूपवास मार्ग पर तलवार के घाट
ारा, ग्रवार के सरदार ग्रलिया जाट के पुत्र को ग्रागरा के पुलिस चबूतरा पर कत्ल
या गया। राजपूत सेनापति ने फौजी ताकत से इन परगनों से पिछले चार साल का
ान वसूल किया, 14 ग्रप्रेल को राजपूत सेनाग्रों ने खानुग्रा तथा रूपवास परगनों मे
श किया। क्रान्तिकारियों ने खौरसा गढ़ी से निकलकर शत्रु पर भयकर ग्राक्रमण
या, बन्दूक तथा तलवारो के भीषण युद्ध मे हरीसिंह का छोटा भाई हिन्दूसिंह घायल
ा ग्रौर ग्रनेकों सेनानायक काम ग्राये। पलायनवादी सरदार शीघ्र ही मुकन्दा[42]
व में पहुच गये ग्रौर वहा से भरतपुर के पूर्व मे स्थित बधामदी,[43] ऊंदेरा[44]
र चिकसाना[45] पहुचे। हरीसिंह ने इनको चारों ग्रोर से घेरने का विफल प्रयास

37 भुसावर के पश्चिम म 8 मील,
38 जयपुर ग्रखबारात, कानूनगो (डिग्गी) पृ० 210-122,
39 म० ग्रालमगीरी पृ० 223 ग्रौरगजेबनामा 3/100,
40 फतहपुर-सीकरी के दक्षिण में 8 मील
41. कागारोल के दक्षिण मे 18 मील,
42 ग्रागरा कैन्ट के दक्षिण–पश्चिम में 6 मील,
43 भरतपुर के पूर्व मे 3 मील,
44. बधामदी के पूव मे 7 मील,
45. ऊदेरा के दक्षिण पूर्व मे 2 मील,

किया।[2] जाट सरदारों ने राजपूतों के दुश्राव्र अभियान का लाभ उठाया और वह शीघ्र ही कज्जकाना टुकड़ियों के साथ करौली-धौलपुर के बीहड़ जङ्गलों को छोड़ कर अपने क्षेत्र में वापिस लौटे और शाही परगनों में लूटमार करना शुरू किया।[3] आधुनिक लेखकों ने चूरामन के राजनैतिक जीवन पर पर्याप्त सामग्री उपलब्ध न होने के कारण पूर्ण प्रकाश न डालकर उसे लुटेरा अथवा विद्रोही सरदार माना है, इसका महत्वपूर्ण कारण समकालीन दरबारी लेखकों की विचारधारा है जिन्होंने मुगल साम्राज्यवादी भावना से हिन्दुस्तान के खण्डीय आन्दोलनों को लुटेरों का गिरोह अथवा विद्रोह की दृष्टि से आंका। वास्तविकता यह है कि असफल मातृभूमि के सेवक विद्रोही और सफल विद्रोह राष्ट्रीय क्रांतियां मानी जाती हैं। चूरामन वास्तव में सफल विद्रोही था, जिसे न केवल जाटों का ही वल्कि राजपूत, गूजर, मीना, मेव तथा अन्यान्य मुसलमान जमींदार, मजदूर, किसान तथा बुद्धिजीवियों का समर्थन प्राप्त था। वह मुगल सम्राटों के धार्मिक तथा राजनैतिक अत्याचार और आर्थिक उत्पीड़न के विरुद्ध लड़ा।[4] चूरामन नीति-निपुण, कुशल-साहसी, योद्धा, दृढ संगठक, पारदर्शी उच्च राजनयिक, अवसरवादी और सफल मित्र था। उसके चरित्र में जाटों के अड़ियलपन के साथ मराठों की चतुरता, राजनयिक सूक्ष्म दूरदर्शिता का सुन्दर सम्मिश्रण था।[5] उसने अज्ञातवासी जाट परिवारों को गढ़ियों में वसाकर जाट एकता, स्वदेश-प्रेम तथा धार्मिक स्वाधीनता की भावना को दृढ़ किया। सौंख गढ़ी के पतन के बाद अऊ, पहाड़ी, कांमा, कश्मर परगनों की सरहद पर थून[6] नामक नवीन गढ़ी बनवाई और गढी की रक्षा तथा काश्तकारी में योग देने के लिए चमार (जाटव) परिवारों को जाट प्रधान गांव में लाकर बसाया।[7] क्रमशः थून गढ़ी के अन्तर्गत 80 गांव शामिल होगये और थून सिनसीनी के 110 गावों का एक पृथक् राज्य बन गया।[8] उसने अपना जीवन लुटेरों के रूप में शुरू किया। काफिले तथा राहगीरों को लूटकर उसने कुछ समय में ही 500 सवार, 1000 पैदल मुलजिम लुटेरों का एक छापामार दल तैयार किया। उसने रुस्तम जाट तथा उसके पुत्र खेमकरन सोगरिया से मित्रता की। सौंख तथा अड़ीग के कुन्तल जाटों को मिलाया। हाथरस के नन्दा जाट का पुत्र भूरेसिंह अपने दोनों पुत्र दयाराम तथा भूपसिंह की कमान में 100 सवारों के साथ उसकी सेना

---

2. पं० वलदेवसिंह (पाण्डुलिपि) पृ० 16; वाकया राज० 2/46; दीक्षित पृ० 187; ओडायर पृ० 25;

3. जयपुर अखवारात; कानूनगो (डिग्गी) पृ० 141

4. कानूनगो (हिस्टोरिकल लेख) पृ० 50;

5. सरकार (औरंगजेब) 5/302; कानूनगो पृ० 45-46;

6. सिनसिनी के 8 मील उत्तर पश्चिम में स्थित

7. इमादउस्सादत (न० कि० प्रेस) पृ० 55;

8. वाकया राज० भाग 2 पृ० 46; दीक्षित पृ० 20;

हराकर कंहरारी तथा अन्य गढियो पर कब्जा कर लिया, चारों ओर भयकर बरबादी करने के बाद राजपूतो ने माच के प्रथम सप्ताह मे जावरा गढी का घेरा डाला। 15 मार्च को दोपहर तक भयकर युद्ध हुआ लेकिन तोपो की मार से जाट किले मे भाग गये। 27 मार्च को हरीसिंह की माता का छावनी ही मे देहावसान हो गया किन्तु राजपूत सेनापति ने क्रियाकर्मो की उपेक्षा कर युद्ध का सचालन किया, 19 मार्च को पुन युद्ध हुआ। 31 माच को महाराज बिसनसिंह स्वय मातमपोषी मे जावरा पहुचा और उसी दिन वापिस लौट आया। 5 अप्रेल को कछवाहा सेनापति अन्तिम अभियान के लिए सवार हुआ, दोनो ओर से भयकर युद्ध हुआ, किले से बन्दूकचियो ने गोला बारी की। उनकी मार से बुरी तरह घायल हो गया। सैनिक उसे पालकी में बिठाकर छावनी मे ले गये जहां उसने उसी दिन (5 अप्रेल/बैसाख सुदी 2) प्राण त्याग दिये। यह समाचार मिलते ही महाराजा बिसनसिंह स्वय जावरा पहुचा और उसने गढ़ी पर अधिकार कर लिया। नन्दा जाट के पुत्र तथा परिवार ने हाथरस मुरसान मे जाकर शरण ली।[50]

ठाकुर चूरामन की शक्ति का प्रभाव

कुशल नेतृत्व के अभाव म और साम्राज्यवादी सेनाओ के शक्तिशाली फौजी अभियानो के फलस्वरूप प्रभावशाली जाट जमीदार और उनके परिवारो को पैतृक भूमि को छोडकर अज्ञातवास करना पडा। साम्राज्यवादी सेनाओं ने आठ साल

जाट सरदार चूरामन की शक्ति

(1688–95 ई०) के कठिन प्रयासो के बाद जाटो की लगभग 52 गढियो को बरबाद कर दिया था। आमेर नरेश बिशनसिंह जाटों की स्वाधीनता, मनोवृत्ति अथवा उच्च मनोबल को दबाने मे विफल रहा, आलमगीर भी उससे सन्तुष्ट नही हो सका। सिनसिनवार जाट पचायत ने फतहसिंह को जातीय सगठन के अयोग्य समझकर बृजराज के पुत्र[1] चूरामन को अपना सरदार स्वीकार

50 जयपुर अखबारात, डा० नरेन्द्रसिंह पृ० 61 63, वशभास्कर पृ० 2919, कानूनगो (डिग्गी) पृ० 140-147,

1 जगाओ के पुरान कागजात (बही), प० बलदेवसिंह (पाण्डुलिपि) पृ० 26, वाकया राज० भाग 2 पृ० 42, 46, ओडायर पृ० 24, दीक्षित पृ० 6, गजे० ई० राज० (बशावली) इम्पी०गजे० भाग 8 पृ० 75, भरतपुर गजट (सहयोग) माच 1945 पृ० 168, जबरि चतुरराय कृत पर्वेआरासो (काव्य पाण्डुलिपि) पृ० 1 आधुनिक इतिहासकार-सरकार (औ०) 5/302, इर्विन 1/322, कानूनगो (जाट) पृ० 45 डा० सतीशचन्द्र कृत पार्टी एण्ड पोलिटिक्स इन मुगल कोर्ट पृ० 122 आदि आधुनिक इतिहासकारों का मत है कि चूरामन भज्जा का पुत्र था। लेकिन यह सही नही है।

आगरा का सूबेदार नियुक्त हुआ। उसने सिनसिनी में थानेदार आमिल तथा गुप्तचरों की नियुक्ति की। राजाराम के वयोवृद्ध पिता भज्जा ने सिनसिनी पर अधिकार करने की चेष्टा की लेकिन 1702 ई० में वह मर गया। दो साल के प्रयासों के बाद, सिनसिनी पर जाटों का अधिकार हो गया। सम्राट ने यह समाचार सुनकर बेदारबख्त को (1704–5) मालवा से आगरा जाने का आदेश दिया लेकिन वह बीमारी का बहाना बनाकर नहीं आया।[13] अक्टूबर 1705 ई० में बेदारबख्त के श्वसुर मुख्तार खाँ ने सिनसिनी पर धावा बोला, चूरामन गढ़ी से निकलकर भाग गया, 9 अक्टूबर को सिनसिनी तीसरी बार मुगलों के अधिकार में आ गई।[14]

चूरामन ने अगले दो वर्ष में असीम शक्ति हासिल करके आगरा प्रान्त के समस्त जाटों को संगठित किया। आलमगीर की मृत्यु (20 फरवरी 1707 ई०) के बाद उसके पुत्र उसी वसीयत को लात मार कर साम्राज्य की गद्दी के लिए मचल उठे। जाजऊ युद्ध में आलमगीर के ज्येष्ठ पुत्र मुअज्जम (बहादुरशाह) ने 8 जून 1707 ई० को विजय प्राप्त की और वह आगरा में शाही गद्दी पर बैठा। मुहज्जम ने जाजऊ युद्ध में जाट सरदार की सेवायें भी प्राप्त की थीं, लेकिन चूरामन दो भाइयों की हार जीत के परिणाम को गहरी दृष्टि से देखता रहा। अपनी छापामार टुकड़ियों को दोनों सेनाओं के पास लगा रखा था, उसने निर्भीकता से दोनों पक्षों को बुरी तरह लूटा। जाट सैनिक कीमती सामान, शाही खजाना, अस्तवल, बहुमूल्य हीरा-जवाहरात लूट कर ले गये। इस युद्ध में चूरामन को धन तथा यश दोनों ही मिले। आजम की हार के पश्चात उसके सैनिक ग्वालियर की ओर भाग निकले। धौलपुर के पास चम्बल नदी के बीहड़ जंगलों में जाट तथा रुहेलों ने मिलकर मुगल सैनिकों पर हमला बोला। समस्त बीहड़ मृतकों से भर गईं। कोई भी सैनिक लुटेरा दलों की लूट से नहीं बच सका। जाट सरदार अपार धन के साथ अपने क्षेत्र में वापिस लौटा।[15] जाजऊ युद्ध के बाद विजेता मुअज्जम बहादुरशाह की उपाधि धारण करके राजसिंहासन पर बैठा। उसने शत्रु तथा मित्र दोनों को सम्मानित किया। गृह युद्ध से चूरामन ने अधिक लाभ उठाया। एक साधारण 'लुटेरा' सरदार को साम्राज्य में यथेष्ठ स्थान प्राप्त करने का सफल अवसर मिला और उन विद्रोहपूर्ण दिनों में उसकी उपेक्षा करना असम्भव हो

चूरामन जाट सम्राट द्वारा सम्मानित सितम्बर 1707 ई०

13. महाराजकुमार डा० रघुवीरसिंह कृत मालवा इन ट्रान्सिट पृ० 36

14. म० आलमगीरी पृ० 296, मनूची 4/242, इर्विन 1/322, सरकार (औरंगजेब) 5/303, कैम्ब्रिज हिस्ट्री 4/306

15. म० उल उमरा पृ० 438; इर्विन 1/27, 2/89, सियरउल मुत्तखरीन 6

में भरती होगया। मेड़, मुरमान तथा सासनी गढ़ियों के सुप्रसिद्ध "प्लायनवादी सरदार भी उसके साथ आकर मिल गये। धीरे-धीरे उसकी सैनिक शक्ति 24000 होगई। उसने इतने बड़े सैनिक काफिलो का गुरिल्ला युद्ध की शिक्षा दीक्षा देकर पूरा सिपाही बनाया, जिन्मी तथा जगी तोपखाना तैयार किया। इतने बड़े सैनिक काफिले के सचालन से उसने न केवल शाही परगनो को लूटा बल्कि दक्षिण की मुहिम पर जाती हुई शाही सेना, शाही मन्त्री, परगनों का खजाना, सैनिक वस्त्रागार तथा शाही शस्त्रागारों को निर्ममता के साथ बुरी तरह लूटा। उसने अपना राजनैतिक क्षेत्र बनाया। दिल्ली से धोलपुर, रणथम्भौर से आगरा पर्यन्त भूमिखण्ड पर उसकी कज्जाकाना टुकड़ियो ने विप्लव किया।[9]

23 फरवरी 1694 ई० को आलमगीर ने फिदाईखां की जगह मुखातरखां को आगरा का सूबेदार बनाया लेकिन जाटों ने अपनी गढ़ियों से निकलकर भयकर लूट मार शुरू कर दी। यह देखकर सात वर्ष तक बन्दी रखने के बाद आलमगीर ने अपने ज्येष्ठ पुत्र मोहम्मद मुअज्जम (आलमशाह) को मुक्त करके 9 मई 1695 ई० को आगरा सूबे का वाइसराय बनाकर भेजा।[10] महाराजा बिशनसिंह ने जनवरी 1696 ई० मे मथुरा तथा अन्य परगनो की फौजदारी से इस्तीफा दे दिया। 25 मार्च को अमीर उल उमरा शाइस्तखां के पुत्र एतकादखां को मथुरा की फौजदारी दी गई।[11] शाहजादा मुअज्जम जाटों को दबाने की अपेक्षा मित्रता का इच्छुक था अत एक साल के बाद (12 जुलाई 1696 ई०) वह महाराजा बिशनसिंह के साथ अफगानिस्तान की ओर रवाना हो गया। वृजराज तथा भज्जा ने सिनसिनी के शाही थानेदार, आमिल आदि को मार भगाया। उन्होंने अऊ को भी आग लगाकर उजाड़ा, सैनिक चौकियो को उठा दिया और अक्टूबर 1696 ई० में सिनसिनी पर अधिकार कर लिया। फौजदार एतकादखा मेवात तथा आगरा सूबेदार की सेनाओ ने सिनसिनी पर आक्रमण करके अधिकार कर लिया। इस युद्ध मे चूरामन का पिता वृजराज और उसका पुत्र भावसिंह काम आया। भावसिंह ने प्रवेश द्वार पर पाच खानजादों (मेवात के जिलेदार तथा जमींदार) को युद्ध मे मार गिराया।[12] 8 जनवरी 1698 ई० को एतकादखा

सिनसिनी गढ़ी पर दो अन्य आक्रमण

9 इमाद पृ० 55, प० बलदेवसिंह (पाण्डु) पृ० 17-18, वाक्या राज० 2/46 सरकार (औरंगजेब) भाग 5 पृ० 302, कानूनगो (जाट) पृ० 46, दीक्षित पृ० 19, महाराजकुमार पृ० 166, ग्राउस पृ० 22, फादर वेन्डिल (पाण्डुलिपि) पृ० 41, कैम्ब्रिज हिस्ट्री 4/305, मनूची 4/242

10 म० आलमगीरी पृ० 224, 233, औरंगजेबनामा 3/104, म० उल उमरा पृ० 438

11 अखबारात (2 रज्जब 1107 हि०), औरंगजेब नामा 3/111

12. ओडायर पृ० 25, दीक्षित पृ० 17-18, भरतपुर गजट-सहयोग मार्च 1945 ई०

आगरा का सूबेदार नियुक्त हुआ। उसने सिनसिनी में थानेदार आमिल तथा गुप्तचरों की नियुक्ति की। राजाराम के वयोवृद्ध पिता भज्जा ने सिनसिनी पर अधिकार करने की चेष्टा की लेकिन 1702 ई० में वह मर गया। दो साल के प्रयासों के बाद, सिनसिनी पर जाटों का अधिकार हो गया। सम्राट ने यह समाचार सुनकर बेदारबख्त को (1704–5) मालवा से आगरा जाने का आदेश दिया लेकिन वह बीमारी का बहाना बनाकर नहीं आया।[13] अक्टूबर 1705 ई० में बेदारबख्त के श्वसुर मुख्तार खां ने सिनसिनी पर धावा बोला, चूरामन गढ़ी से निकलकर भाग गया, 9 अक्टूबर को सिनसिनी तीसरी बार मुगलों के अधिकार में आ गई।[14]

चूरामन ने अगले दो वर्ष में असीम शक्ति हासिल करके आगरा प्रान्त के समस्त जाटों को संगठित किया। आलमगीर की मृत्यु (20 फरवरी 1707 ई०) के बाद उसके पुत्र उसी वसीयत को लात मार कर साम्राज्य की गद्दी के लिए मचल उठे। जाजऊ युद्ध में आलमगीर के ज्येष्ठ पुत्र मुअज्जम (बहादुरशाह) ने 8 जून 1707 ई० को विजय प्राप्त की और वह आगरा में शाही गद्दी पर बैठा। मुअज्जम ने जाजऊ युद्ध में जाट सरदार की सेवायें भी प्राप्त की थीं, लेकिन चूरामन दो भाइयों की हार जीत के परिणाम को गहरी दृष्टि से देखता रहा। अपनी छापामार टुकड़ियों को दोनों सेनाओं के पास लगा रखा था, उसने निर्भीकता से दोनों पक्षों को बुरी तरह लूटा। जाट सैनिक कीमती सामान, शाही खजाना, अस्तबल, बहुमूल्य हीरा–जवाहरात लूट कर ले गये। इस युद्ध में चूरामन को धन तथा यश दोनों ही मिले। आजम की हार के पश्चात उसके सैनिक ग्वालियर की ओर भाग निकले। धौलपुर के पास चम्बल नदी के बीहड़ जंगलों में जाट तथा रुहेलों ने मिलकर मुगल सैनिकों पर हमला बोला। समस्त बीहड़ मृतकों से भर गई। कोई भी सैनिक लुटेरा दलों की लूट से नहीं बच सका। जाट सरदार अपार धन के साथ अपने क्षेत्र में वापिस लौटा।[15] जाजऊ युद्ध के बाद विजेता मुअज्जम बहादुरशाह की उपाधि धारण करके राजसिंहासन पर बैठा। उसने शत्रु तथा मित्र दोनों को सम्मानित किया। गृह युद्ध से चूरामन ने अधिक लाभ उठाया। एक साधारण 'लुटेरा' सरदार को साम्राज्य में यथेष्ठ स्थान प्राप्त करने का सफल अवसर मिला और उन विद्रोहपूर्ण दिनों में उसकी उपेक्षा करना असम्भव हो

चूरामन जाट सम्राट द्वारा सम्मानित सितम्बर 1707 ई०

13. महाराजकुमार डा० रघुवीरसिंह कृत मालवा इन ट्रान्सिट पृ० 36

14. म० आलमगीरी पृ० 296, मनूची 4/242, इर्विन 1/322, सरकार (औरंगजेब) 5/303, कैम्ब्रिज हिस्ट्री 4/306

15. म० उल उमरा पृ० 438; इर्विन 1/27, 2/89, सियरउल मुत्तखरीन 6

गया ।[16] उसने उपद्रव खड़े कर दिये सम्राट ने 12 अगस्त 1707 ई० को रतलाम के महाराजा छत्रसाल राठौड को 5170 सैनिकों के साथ चूरामन को दबाने भेजा ।[17] यह देखकर जाट सरदार ने वजीर मुनीमखां का दामन पकड़ा और वह स्वयं उसके परामर्श से आगरा दरबार में सम्राट के सामने उपस्थित हुआ । 15 अगस्त को चूरामन ने सम्राट को नजर तथा पेशकश भेंट की ।[18] सम्राट ने उसे 12 सितम्बर 1707 ई० के दिन 1500 जात/500 सवारों का मन्सब देकर साम्राज्य का एक जागीरदार बनाया ।[19] चूरामन सम्राट के मन्सब से सन्तुष्ट नहीं हुआ, अन्य जाट जमींदारों पर भी शान्ति व्यवस्था स्थापित करने का दबाव डाला जाने लगा, किन्तु सिनसिनी के जमींदारों ने इसकी उपेक्षा की। अतः नवम्बर 1707 ई० में रिज़ाक-बहादुरखां फौजदार न मुगल सेना के साथ सिनसिनी पर आक्रमण किया, इस युद्ध में एक हजार जाट काम आये और दस गाड़ी हथियार साम्राज्यवादियों के हाथ लगे ।[20]

मुगल मनसबदारी ग्रहण करने के बाद जाट सरदार के राजनैतिक जीवन मे नया मोड़ आया और समस्त जाट जाति ने अपने स्वाधीनता संग्राम को जारी रखा ।

मुगल-जाट सहयोग काल (1708–1713)

30 अप्रैल 1708 को राजपूत सरदार महाराजा अजीतसिंह, सवाई जयसिंह और दुर्गादास राठौड मंडलेश्वर छावनी से राजपूताना वापिस लौटे । आमेर नरेश महाराजा जयसिंह के दीवान रामचन्द्र और श्यामसिंह कछवाहा ने आमेर के जागीरदारों की फौजी सहायता से आमेर पर अधिकार कर लिया । राजपूतों ने बयाना, हिन्डौन, कामा आदि सीमान्त परगनों मे भी विद्रोह की ज्वाला भड़काई । नारनौल (मेवात) के फौजदार सैयद हुसैनखां ने चूरामन को शाही खजाने से रुपया भेजकर अतिरिक्त सेना भरती करने को लिखा । उसने राजपूत विद्रोह को दबाने मे सहयोग दिया, हिन्डौन के फौजदार ने बादूराम जाट का विशाल टुकड़ी को भरती कर लिया । चूरामन स्वयं मेवात के फौजदार के साथ राजपूताना मे प्रवेश करने को तैयार था

16 खाफीखां भाग 2 पृ० 149, म० उल उमरा पृ० 438, महाराजकुमार पृ० 168

17 जयपुर अखबारात 25 जमादि उल अव्वल 1119 हि०

18 जयपुर अखबारात 28 जमादि उल अव्वल 1119 हि०

19 जयपुर अखबारात 26 जमादि उल आखिर 1119 हि०, इर्विन 1/322-23, कानूनगो (जाट) पृ० 48, महाराजकुमार पृ० 168 दीक्षित पृ० 24, डा० सतीश पृ० 122, मिर्जा मुहम्मद कृत इबरतनामा (पाण्डुलिपि) पृ० 65 (अ) नियामत अलीखां कृत बहादुरशाहनामा पृ० 164

20 जयपुर अखबारात 27 रजब, इर्विन 1/322–23, मसीर उल उमरा (का० ना० प्र०) 1/123, महाराज कुमार पृ० 168

लेकिन 26 सितम्बर 1708 ई० के दिन सम्राट ने महाराजा जयसिंह और अ
को मनसब प्रदान किया। फिर भी चूरामन ने मुगल फौजदार रिहाजखां व
कांमा अभियान में पूरी मदद दी, उसने कांमा के जमींदार अजीतसिंह
उन्नति में बाधक था—से शाही लगान अदा करने की मांग की और अक्टूब
ई० में कांमा पर आक्रमण किया। अजीतसिंह कछवाहा ने लवाण के
अनपसिंह की सहायता ली, दस हजार राजपूतों ने 20 हजार मिश्र-सेना व
किया। 18 अक्टूबर को भयंकर युद्ध हुआ जिसमें रिहाजखां बहादुर का
बारिदखाँ तथा चूरामन घायल हो गये। चूंकि चूरामन कांमा के राजपूतों
चाहता था और अन्त में वह सफल रहा[21] इसलिए सम्राट बहादुरशाह
को सिख विरोधी अभियान में जाट टुकड़ियों के साथ जाने का आदेश दिया। 1
में इसने साधौरा तथा लोहगढ (10 दिसम्बर 1710 ई०) युद्धों में भाग
वह सम्राट के साथ लाहौर पहुंचा। बहादुरशाह की मृत्यु (27 फरवरी 1
के बाद लाहौर गृहयुद्ध में चूरामन ने ज्येष्ठ पुत्र अजीम उस्मान का साथ
छावनी की रसद व्यवस्था सौंपी गई थी, जिसे उसने उत्तमता से नि
लाहौर युद्ध के बाद चूरामन थून वापिस लौटा और लूटमार की पुरानी
अख्तियार किया। डच यात्रियों के संस्मरणों से पता लगता है कि अक्टूबर
में दिल्ली से आगरा तक का शाही मार्ग प्रगतिशील जाट किसानों के ह
और सारा मार्ग उनसे भर गया था। 1715 ई० में भारत की यात्रा
अंग्रेज यात्री जान समन भी इसी प्रकार का उल्लेख करता है।[24] डा० क
अनुसार एक विजेता विद्रोही जिसने अपने पौरुष तथा भयाक्रान्त बल से
की सीमाओं में शक्ति प्रधान जागीर बनाई और अनेकों गांव अपने कब्जे में
वह सम्राट जहांदारशाह के सैनिक बलहीन साम्राज्य में कभी भी भयभी
सकता था और न सर्वोच्च सत्ता में अपनी भक्ति ही प्रदर्शित कर सकता था

---

21. जयपुर अखबारात 5 जमादि उल आखिर, 1120 हि०, 8
2 शाबान, माघ सुदी 7, कार्तिक सुदी 5 सं० 1765, वीर विनोद 768–
इर्विन भाग 1 पृ० 323, महाराजकुमार पृ० 168, नरेन्द्रसिंह पृ० 79–8

22. म० उल उमरा पृ० 439, इर्विन 1/323, महाराजकु
कानूनगो पृ० 48

23. खाफीखां II/44–45, म० उल उमरा (ना० प्र०) III/3
I/161 राजस्थान इंस्टीट्यूट आफ हिस्टोरिक रिसर्च जरनल (दिसम्बर)
52–53

24. इर्विन भाग 1 पृ० 321 (एफ. वालिनटन IV 302 के अ

गया ।[16] उसने उपद्रव खड़े कर दिये सम्राट ने 12 अगस्त 1707 ई० को रतलाम के महाराजा छतरसाल राठौड को 5170 सैनिकों के साथ चूरामन को दबाने भेजा ।[17] यह देखकर जाट सरदार ने वजीर मुनीमखां का दामन पकड़ा और वह स्वयं उसके परामर्श से आगरा दरबार में सम्राट के सामने उपस्थित हुआ । 15 अगस्त को चूरामन ने सम्राट को नजर तथा पेशकश भेंट की । [18] सम्राट ने उसे 12 सितम्बर 1707 ई० के दिन 1500 जात/500 सवारी का मन्सब देकर साम्राज्य का एक जागीरदार बनाया । [19] चूरामन सम्राट के मन्सब से सन्तुष्ट नहीं हुआ, अन्य जाट जमींदारों पर भी शान्ति व्यवस्था स्थापित करने का दबाव डाला जाने लगा, किन्तु सिनसिनी के जमींदारों ने इसकी उपेक्षा की। अतः नवम्बर 1707 ई० मे रिहाज-बहादुरखां फौजदार ने मुगल सेना के साथ सिनसिनी पर आक्रमण किया, इस युद्ध मे एक हजार जाट काम आये और दस गाडी हथियार साम्राज्यवादियों के हाथ लगे । [20]

मुगल मनसबदारी ग्रहण करने के बाद जाट सरदार के राजनैतिक जीवन में नया मोड आया और समस्त जाट जाति ने अपने स्वाधीनता संग्राम को जारी रखा । 30 अप्रैल 1708 को राजपूत सरदार महाराजा अजीतसिंह, सवाई जयसिंह और दुर्गादास राठौड़ मंडलेश्वर छावनी से राजपूताना वापिस लौटे । आमेर नरेश महाराजा जयसिंह के दीवान रामचन्द्र और श्यामसिंह कछवाहा ने आमेर के जागीरदारों की फौजी सहायता से आमेर पर अधिकार कर लिया । राजपूतों ने बयाना, हिन्डौन, कामा आदि सीमान्त परगनों में भी विद्रोह की ज्वाला भड़काई । नारनौल (मेवात) के फौजदार सैयद हुसैनखां ने चूरामन को शाही खजाने से रुपया भेजकर अतिरिक्त सेना भरती करने को लिखा । उसने राजपूत विद्रोह को दबाने में सहयोग दिया, हिन्डौन के फौजदार ने बाबूराम जाट की विशाल टुकड़ी को भरती कर लिया । चूरामन स्वयं मेवात के फौजदार के साथ राजपूताना मे प्रवेश करने को तैयार था

मुगल-जाट सहयोग काल (1708-1713)

16 खाफीखां भाग 2 पृ० 149, म० उल उमरा पृ० 438, महाराजकुमार पृ० 168

17 जयपुर अखबारात 25 जमादि उल अव्वल 1119 हि०

18 जयपुर अखबारात 28 जमादि उल अव्वल 1119 हि०

19 जयपुर अखबारात 26 जमादि उल आखिर 1119 हि०, इर्विन 1/322-23, कानूनगो (जाट) पृ० 48, महाराजकुमार पृ० 168 दीक्षित पृ० 24, डा० सतीश पृ० 122, मिर्जा मुहम्मद कृत इबरतनामा (पाण्डुलिपि) पृ० 65 (अ) नियामत अलीखां कृत बहादुरशाहनामा पृ० 164

20 जयपुर अखबारात 27 रजब, इर्विन 1/322-23, मआसिर उल उमरा (ना० प्र०) 1/123, महाराज कुमार पृ० 168

छबीलाराम नागर को दो पक्षों के आन्तरिक गतिरोध का शिकार बनना पड़ा ।[30] राजा छबीलाराम नागर की जगह खानदौरान समसामउद्दौला की नियुक्ति की गई, वह शान्ति सभा का सक्रिय सदस्य था । चूरामन को फौजी ताकत से हराना मुश्किल था, अतः उसने चूरामन को उचित सम्मान की शर्तें रखकर साम्राज्य का उच्च मनसबदार बनाने का प्रयास किया । फर्रुखसियर ने चूरामन को दरबार में उपस्थित होने का फरमान जारी किया । 6 सितम्बर 1713 ई० को चूरामन 400 सवारों के साथ दिल्ली के निकट बाराहपूला पहुँचा जहाँ अजीम उश्शान के मामूजात भाई राजा बहादुर राठौड़ ने उसकी एक राजा के अनुरूप अगवानी की । 20 अक्टूबर को सम्राट ने जाट सरदार को बहादुरखां की उपाधि से विभूषित किया । राव का पद देकर उत्तर में दिल्ली से बाहर बाराहपूला से लेकर दक्षिण में चम्बल नदी पर्यन्त, पूर्व में आगरा से लेकर पश्चिम में आमेर नरेश जयसिंह की सीमाओं तक शाही मार्गों की राहदारी का भार सौंपा ।[31] राहदारी अधिकार ने जाटों की लूटमार परम्परा को नैतिक करार देकर सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया । उसने प्रशासन की निर्बलता, आन्तरिक मतभेद तथा राजनैतिक प्रवंचनाओं से और भी अधिक लाभ उठाने का प्रयास किया । अमीर उल उमरा हुसैनअली खां स्वंय चिरस्थाई मित्रता का प्रस्ताव लेकर चूरामन के पास आया और 1714 ई० में उसने बरोदामेव (नगर), कठूमर, अखैगढ़ (नदवई), हेलक और अऊ नामक पांच परगने स्थाई रूप से चूरामन को जागीर में दिये । राहदारी के विशाल क्षेत्र तथा परगनों की स्वतन्त्र जागीर ने प्रभुत्त्व का मार्ग खोल दिया । 1715 ई० में फर्रुखसियर ने द्वितीय बख्शी मुहम्मद अमीनखां और उसके पुत्र कमरुद्दीन को सोगरिया सरदार रुस्तम तथा उसके पुत्र खेमकरन के पास भेजा उन्होंने खेमकरन को बहादुरखां की उपाधि से सम्मानित किया और आधुनिक भरतपुर मलाह, अघापुर, बराह, इकरन गांव तथा अन्य कुछ देहात परगना रूपवास के जागीर में दिये ।[32] जाट सरदार इन जागीरों से सन्तुष्ट नहीं हुये और उन्होंने अन्य मुस्लिम जागीरदारों के क्षेत्र में हस्तक्षेप किया; व्यापारियों से मनमानी राहदारी वसूल की; राहदारों की लूट से आगरा-दिल्ली परगने में चारों ओर आर्तनाद गूंज उठा । जाट सरदार ने मौजाबाद और कांमा, सहार परगनों में लूटमार शुरू की; मेवात क्षेत्र में शान्ति

---

30. मसीर उल उमरा 430; मिर्जा मुहम्मद कृत इबरतनामा पृ० 65 (ब) इर्विन i/262, 323, कानूनगो पृ० 50

31. अखबारात 13 रबी II, 11 सव्वाल 1125 हि० इबरतनामा पृ.62 (ब) वीर विनोद 1642, इर्विन I/323, इम्पी. गजे. VIII/75, वाक्या राज पृ 47, ओडायर पृ. 25, कानूनगो 51, महाराजकुमार 169, दीक्षित 24

32. पं. बलदेवसिंह(पाण्डु)पृ०19, वाक्या राज० II/47, इम्पी० गजे VIII/75, ओडायर पृ. 25, कानूनगो 47, वीर विनोद 1642

लौटकर अपनी सैनिक शक्ति को दृढ़ किया तथा नगर, कठूमर, नदवई तथा हेलक परगनों पर बिना विरोध के स्वात्वाधिकार कर लिया। 29 अक्टबर 1712 ई० के अखबारात से पता लगता है कि चूरामन जहांदारशाह के दरबार मे उपस्थित हुआ था। उस समय सम्राट ने वजीर मुनीमखा प्रदत्त मनसब बहाल रखा और उसे शाहजादा अजीउद्दीन के साथ जाने का आदेश दिया।[26] चूरामन ने इस आदेश का पालन नही किया, खजुआ युद्ध से शाहजादा अजीउद्दीन और खानदौरान 28 नवम्बर 1712 ई० को भाग निकले। 9 दिसम्बर को जहांदारशाह ने अपने भतीजे फर्रुखसियर का सामाना करने के लिए दिल्ली छोड़ दी 12 दिसम्बर को उसने चूरामन के पास फरमान भेजा कि वह शीघ्र ही शाही सेनाओं की सहायता के लिए आगरा पहुंचे, फरमान म उसने बडे बडे मिथ्या प्रलोभनकारी स्वप्निल आश्वासन भी दिये।[27] चूरामन ने इस अवसर से लाभ उठाया और अपने भाग्य को पुरुषार्थ की कसौटी पर कसा। 29 दिसम्बर को वह अपनी विशाल सेना के साथ आगरा पहुंच कर सम्राट से मिला, जहांदारशाह ने दरबार में उसका स्वागत किया और सम्माननीय खबाश्रा भेंटकर पुरस्कृत किया।[28] जहांदारशाह और फर्रुखसियर के गृह-युद्ध (10 जनवरी 1713 ई०) में शामिल होकर भी चूरामन साम्राज्य का वास्तविक भक्त न होकर अपने भाग्य निर्माण की घडियां गिन रहा था, उसने दोनो पक्षो को नि सकोच लूटा, जहांदारशाह का शाही खजाना, युद्ध-सज्जा से सज्जित हाथी, ऊंटगाड़ियो पर अधिकार कर लिया। जाटों की भयकर लूट से हरम मे खलबली मच गई। वह विशाल शाही लूट के माल के साथ वापिस लौटा।[29]

सम्राट फर्रुखसियर और चूरामन के सम्बन्ध 1713 1715 ई०

राज्यारोहण के बाद सम्राट फर्रुखसियर ने अपने अनन्य सहयोगी राजा छबीलाराम नागर को मार्च 1713 ई० मे अकबराबाद सूबे का सूबेदार नियुक्त करके जाटों को दबाने के लिए भेजा। मुगल दरबार के मंत्रियो की व्यक्तिगत कटुता ने चूरामन को सहयोग दिया और उसने सामूगढ़ युद्ध के धन से सैयद वजीर अब्दुल्ला खां का संरक्षण प्राप्त किया, वजीर अब्दुल्ला खां राजा छबीलाराम का विरोधी था अत राजा

26. अखबारात 11 जिल्काद 1124 हि०, 29 अक्टूबर 1712, सतीश पृ० 76

27. अखबारात 14 जिल्काद 1124 हि० इविन भाग 1/223, महाराज कुमार 168, कानूनगो पृ० 49, दीक्षित पृ० 22

28 इविन i/223, कैम्ब्रिज हिस्ट्री IV/328, डा० सतीश पृ० 123

29 इविन i/231-34, सियार 46, 50, सतीश पृ० 123, कानूनगो पृ० 50 खाफीखां ii/149

बीलाराम नागर को दो पक्षों के आन्तरिक गतिरोध का शिकार बनना पड़ा।[30]
जा छबीलाराम नागर की जगह खानदौरान समसामउद्दौला की नियुक्ति की गई,
ह शान्ति सभा का सक्रिय सदस्य था। चूरामन को फौजी ताकत से हराना मुश्किल
ा, अतः उसने चूरामन को उचित सम्मान की शर्तें रखकर साम्राज्य का
च्च मनसबदार बनाने का प्रयास किया। फर्रुखसियर ने चूरामन को दरबार
ं उपस्थित होने का फरमान जारी किया। 6 सितम्बर 1713 ई० को चूरामन
400 सवारों के साथ दिल्ली के निकट बाराहपूला पहुँचा जहाँ अजीम उश्शान के
ामूजात भाई राजा बहादुर राठौड़ ने उसकी एक राजा के अनुरूप अगवानी की।
20 अक्टूबर को सम्राट ने जाट सरदार को बहादुरखां की उपाधि से विभूषित किया।
राव का पद देकर उत्तर में दिल्ली से बाहर बाराहपूला से लेकर दक्षिण में चम्बल नदी
पर्यन्त, पूर्व में आगरा से लेकर पश्चिम में आमेर नरेश जयसिंह की सीमाओं तक शाही
मार्गो की राहदारी का भार सौंपा।[31] राहदारी अधिकार ने जाटों की लूटमार परम्परा
को नैतिक करार देकर सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया। उसने प्रशासन की निर्बलता,
आन्तरिक मतभेद तथा राजनैतिक प्रवंचनाओं से और भी अधिक लाभ उठाने का
प्रयास किया। अमीर उल उमरा हुसैनअली खां स्वयं चिरस्थाई मित्रता का प्रस्ताव
लेकर चूरामन के पास आया और 1714 ई० में उसने बरौदामेव (नगर), कठूमर,
अखैगढ़ (नदबई), हेलक और अऊ नामक पांच परगने स्थाई रूप से चूरामन को जागीर
में दिये। राहदारी के विशाल क्षेत्र तथा परगनों की स्वतन्त्र जागीर ने प्रभुत्व का
मार्ग खोल दिया। 1715 ई० में फर्रुखसियर ने द्वितीय बख्शी मुहम्मद अमीनखां और
उसके पुत्र कमरुद्दीन को सोगरिया सरदार रुस्तम तथा उसके पुत्र खेमकरन के पास भेजा
उन्होंने खेमकरन को बहादुरखां की उपाधि से सम्मानित किया और आधुनिक भरतपुर
मलाह, अघापुर, बराह, इकरन गांव तथा अन्य कुछ देहात परगना रूपवास के जागीर
में दिये।[32] जाट सरदार इन जागीरों से सन्तुष्ट नहीं हुये और उन्होंने अन्य मुस्लिम
जागीरदारों के क्षेत्र में हस्तक्षेप किया; व्यापारियों से मनमानी राहदारी वसूल की;
राहदारों की लूट से आगरा-दिल्ली परगने में चारों ओर आर्तनाद गूंज उठा। जाट सर-
दार ने मोजाबाद और कांमा, सहार परगनों में लूटमार शुरू की; मेवात क्षेत्र में शान्ति

---

30. मसीर उल उमरा 430; मिर्जा मुहम्मद कृत इबरतनामा पृ० 65 (ब) इर्विन i/262, 323, कानूनगो पृ० 50

31. अखबारात 13 रबी II, 11 सव्वाल 1125 हि० इबरतनामा पृ.62 (ब) वीर विनोद 1642, इर्विन I/323, इम्पी. गजे. VIII/75, वाक्या राज पृ 47, ओडायर पृ. 25, कानूनगो 51, महाराजकुमार 169, दीक्षित 24

32. पं. बलदेवसिंह(पाण्डु)पृ०19, वाक्या राज० II/47, इम्पी० गजे VIII/75, ओडायर पृ. 25, कानूनगो 47, वीर विनोद 1642

व्यवस्था कायम करने को नियुक्त इजरतखां का विरोध किया।[33] जाटों के इन भयकर उपद्रवों को देखकर सम्राट ने आमेर के महाराजा सवाई जयसिंह को चूरामन के विरुद्ध फौजी अभियान के लिए नियुक्त किया।

सम्राट फर्रुखसियर के आमन्त्रण पर आमेर के महाराजा सवाई जयसिंह जाट विरोधी अभियान की कमान सभालने के लिए 4 जून 1716 ई० को दिल्ली पहुंचे। आमेर नरेश जाट अभियान से अपने भाग्य का निर्माण करना चाहता था, वह आगरा से लेकर मालवा तक की समस्त भूमि को अपने अधिकार मे रखने का इच्छुक ही नहीं था, बल्कि अपने पिता महाराजा बिसनसिंह की अधूरी भावना को पूरा करना चाहता था। 17 सितम्बर को उसे जाट विरोधी अभियान की कमान सभालने का आदेश मिला और वह 25 सितम्बर को महाराव बुधसिंह, महाराव भीमसिंह, नरवर के राजा गजसिंह, नागौर के राजा इन्द्रसिंह, विजयसिंह, ग्याजिदखां मेवाती की विशाल सेनाओं के साथ 25 सितम्बर को रवाना हुआ। जाट सरदार चूरामन ने अपने पुत्र मोहकम सिंह तथा भतीजे रूपसिंह और बदनसिंह की कमान मे कज्जकाना टुकडियों को साम्राज्यवादी सेनाओं का मार्ग रोकने के लिए भेजा और स्वय थून गढ़ी की सुरक्षा मे लग गया। थून गढ़ी के घेरे का पूर्ण विवरण इतिहासकार इर्विन ने किया है। 18 महीने के कठिन प्रयासों के बाद भी कछवाहा नरेश सवाई जयसिंह थून की गढी को हस्तगस्त नही कर सका। चूरामन ने कपट तथा गुप्त योजना नीति का सहारा लिया और दिल्ली दरबार में स्थित अपने वकील के जरिए वजीर अब्दुल्ला खां का व्यक्तिगत रूप मे २० लाख और खिराज के रूप मे शाही खजाने मे 30 लाख रुपया जमा कराने का प्रस्ताव भेजा। वजीर अब्दुल्ला के विरोध करने पर फर्रुखसियर ने चूरामन से सन्धि करन की स्वीकृति दे दी। 10 अप्रेल 1718 ई० को चूरामन अपने भतीजे रूपसिंह के साथ दिल्ली पहुचा और फर्रुखसियर की हार्दिक भावनाओं के विरुद्ध 30 अप्रेल को उसके साथ शांति समझौता हो गया। महाराजा सवाई जयसिंह ने मई मे हृदय विदारक घेरा उठा लिया और 29 मई को साम्राज्यवादी सेनायें दिल्ली की ओर वापस लौट गई।[34]

थून गढी का घेरा नवम्बर 1716–अप्रेल 1718 ई०

फर्रुखसियर और महाराजा सवाई जयसिंह जाटो को नहीं दबा सके। थून

33 अखबारात 28 शव्वाल, 16 जिल्काद, 16 रबी II 1128 हि०सतीश 123, ओडायर 25, कैम्ब्रिज हिस्ट्री IV/336, सियार 91, रघुवीर पृ० 169, म उलउमरा 439

34 अखबारात 12 शव्वाल, 11,15,17 जिल्काद, 5 जिल्हज 1128 हि०, कपटद्वार जयपुर के फरमान,इर्विन I/324–7,कानूनगो पृ० 52, सतीश पृ० 122–4 इनरतनामा 60 अ, हरसुखराय 360 मआसीर उल उमरा 439, सियार 92, कैम्ब्रिज हिस्ट्री IV/336, खाफीखां II/149, इलियस्टन II/544,

अभियान ने सैयद बन्धुओं और चूरामन की प्रगाढ़ मित्रता का मार्ग खोल दिया और जाट सरदार केन्द्र की दलगत राजनीति तथा षड्यन्त्रों में घुलकर भाग लेने लगा 1718 ई० में फर्रुखसियर और वजीर सैयिद अब्दुल्लाखां एक दूसरे के राजनैतिक पतन के लिए सहयोगियों की खोजबीन में लग गये।

चूरामन और सैयदों की अनन्य मित्रता 1718-20

चूरामन अपनी सैनिक टुकड़ियों के साथ दिल्ली में वजीर की सेवा में उपपस्थित रहा और अन्तिम समय तक उसने मित्रता निभाई। अमीर-उल उमरा हुसैनअली के दिल्ली आने (फरवरी 1719 ई०) के बाद तथा इससे पूर्व उसने सैयदों की प्रत्येक गुप्त, षड्यन्त्रकारी मंत्रणाओं में भाग लिया। जाटों ने फर्रुखसियर को गद्दी से हटाने का गलियारा युद्ध देखा; चूरामन स्वयं अपनी टुकड़ियों के साथ किले में महत्वपूर्ण स्थान पर मौजूद था और उसने पदच्युत फर्रुखसियर पर निगरानी रखी।[35] रफी उद्दर जात को सिंहासन पर आरूढ़ करते समय (28 फरवरी) चूरामन ने उसका एक हाथ पकड़ा। अप्रैल 12 अगस्त 1719 ई० में निकोसियर ने आगरा किले में सम्राट बनकर विद्रोह किया। इस विद्रोह के दमन का मुख्य श्रेय जाट सरदार को था। इस युद्ध में उसको 50 लाख स्वर्ण मुद्रायें हाथ लगीं।[36] जब सैयद हुसैनअली मुहम्मदशाह के साथ आसफजहां को दबाने के लिए आगरा से दक्षिण की ओर बढ़ा, जाट सरदार स्वयं 'राज्यत्व' पद पाने के प्रस्ताव के साथ फतहपुर सीकरी तक शाही छावनी में (सितम्बर 1720) रहा, सेना के आगे बढ़ने पर उसने ज़ाट टुकड़ियों को अपने पुत्र मोहकमसिंह की कमान में भेजा और स्वयं अपने क्षेत्र की व्यवस्था के लिए वापस लौटा।[37] 9 अक्टूबर 1720 ई० को टोड़ाभीम छावनी में विश्वासघाती मित्रों ने सैयद हुसैनअलीखां को मार डाला तथा उसके सहयोगियों को घेरकर पकड लिया। मोहकमसिंह जाट भी पकड़ा गया-जिसे सम्राट ने पुरुस्कृत करके छोड़ दिया।[38] सम्राट मुहम्मदशाह शीघ्र ही यमुना नदी के किनारे पहुँचना चाहता था और निकटतम मार्ग जाट सरदार की जागीर में होकर था। चूरामन स्वय शीघ्र ही छावनी में उपस्थित हुआ और उसने अपनी चतुरता तथा वाक्चातुर्य्य का परिचय दिया। सम्राट ने उसको ठाकुर की पदवी तथा पद देकर सम्मानित किया और सेना का मार्गदर्शक बनाया।[39] उसने विशाल सेना का रुख मोड़कर अपने क्षेत्र की रक्षा

---

35. खाफीखां II/92-93, इर्विन I 379,383, कानूनगो पृ० 55

36. आगरा युद्ध-इर्विन i 408-424, बालमुकुन्दनामा पत्र 23, खाफीखां II 99; फादर वेन्डिल पृ० 73

37. इर्विन भाग 2 पृ० 65 डा० कानूनगो (जाट) का अनुमान है कि चूरामन दक्षिण की ओर बढ़ा। पृ० 55

38. खाफीखां II/120-1, इर्विन II/ 65

39. इर्विन II/ 68, कानूनगो पृ० 60

इजारा कायम करने को नियुक्त इजारदारों का विरोध किया।[33] जाटों के इन भयंकर उपद्रवों को देखकर सम्राट ने आमेर के महाराजा सवाई जयसिंह को चूरामन के विरुद्ध फौजी अभियान के लिए नियुक्त किया।

सम्राट फर्रुखसियर के आमन्त्रण पर आमेर के महाराजा सवाई जयसिंह जाट विरोधी अभियान की कमान सम्भालने के लिए 4 जून 1716 ई० को दिल्ली पहुँचे। आमेर नरेश जाट अभियान से अपने भाग्य का निर्माण करना चाहता था वह आगरा से लेकर मालवा तक की समस्त भूमि को अपने अधिकार में रखने का इच्छुक ही नहीं था बल्कि अपने पिता महाराजा बिशनसिंह की अधूरी भावना को पूरा करना चाहता था। 17 सितम्बर को उसे जाट विरोधी अभियान की कमान सम्भालने का आदेश मिला और वह 25 सितम्बर को महाराव बुधसिंह महाराव भीमसिंह नरवर के राजा गजसिंह नागौर के राजा इन्द्रसिंह विजयसिंह [illegible] सेनाओं की विशाल सेनाओं के साथ 25 सितम्बर को रवाना हुआ।

थून गढ़ी का घेरा नवम्बर 1716–अप्रैल 1718 ई०

जाट सरदार चूरामन ने अपने पुत्र मोहकमसिंह तथा भतीजे रूपसिंह और बदनसिंह की कमान में कज्जाकाना टुकड़ियों को साम्राज्यवादी सेनाओं का मार्ग रोकने के लिए भेजा और स्वयं थून गढ़ी की सुरक्षा में लग गया। थून गढ़ी के घेरे का पूर्ण विवरण इतिहासकार इर्विन ने दिया है। 18 महीने के कठिन प्रयासों के बाद भी कछवाहा नरेश सवाई जयसिंह थून की गढ़ी को हस्तगत नहीं कर सका। चूरामन ने कूट तथा गुप्त योजना नीति का सहारा लिया और दिल्ली दरबार में स्थित अपने वकील के जरिए वजीर अब्दुल्ला खाँ को व्यक्तिगत रूप में 20 लाख और खिराज के रूप में शाही खजाने में 30 लाख रुपया जमा कराने का प्रस्ताव भेजा। वजीर अब्दुल्ला के विरोध करने पर फर्रुखसियर ने चूरामन से संधि करने की स्वीकृति दे दी। 10 अप्रैल 1718 ई० को चूरामन अपने भतीजे रूपसिंह के साथ दिल्ली पहुँचा और फर्रुखसियर की हार्दिक भावनाओं के विरुद्ध 30 अप्रैल को उसके साथ शान्ति समझौता हो गया। महाराजा सवाई जयसिंह ने मई में हृदय विदारक घेरा उठा लिया और 29 मई को साम्राज्यवादी सेनायें दिल्ली की ओर वापस लौट गईं।[34]

फर्रुखसियर और महाराजा सवाई जयसिंह जाटों को नहीं दबा सके। धन

---

33 अखबारात 28 रमजान, 16 जिल्काद 16 रबी II 1128 हि० मुन्तखब 123 माआसिर 25 कैम्ब्रिज हिस्ट्री IV/336 सियार 91, रघुबीर पृ० 169 म० उमरा 439

34 अखबारात 12 रमजान 11 15 17 जिल्काद 5 जिल्हज 1128 हि० कपड़द्वारा जयपुर के फरमान-ईदिन I/324–7-कानूनगो पृ० 52 सतीश पृ० 122–4 इबरतनामा 60 अ हरचरनदास 360 अमीर-उल-उमरा 439 सियार 92 कैम्ब्रिज हिस्ट्री IV/336 खाफीखाँ II/149 इलियट II/544

अभियान ने सैयद बन्धुओं और चूरामन की प्रगाढ़ मित्रता का मार्ग खोल दिया और जाट सरदार केन्द्र की दलगत राजनीति तथा षड्यन्त्रों में खुलकर भाग लेने लगा 1718 ई० में फर्रुखसियर और वजीर सैयिद अब्दुल्लाखां एक दूसरे के राजनैतिक पतन के लिए सहयोगियों की खोजबीन में लग गये। चूरामन अपनी सैनिक टुकड़ियों के साथ दिल्ली में वजीर की सेवा में उपपस्थित रहा और अन्तिम समय तक उसने मित्रता निभाई। अमीर-उल उमरा हुसैनअली के दिल्ली आने (फरवरी 1719 ई०) के बाद तथा इससे पूर्व उसने सैयदों की प्रत्येक गुप्त, षड्यन्त्रकारी मंत्रणाओं में भाग लिया। जाटों ने फर्रुखसियर को गद्दी से हटाने का गलियारा युद्ध देखा; चूरामन स्वयं अपनी टुकड़ियों के साथ किले में महत्वपूर्ण स्थान पर मौजूद था और उसने पदच्युत फर्रुखसियर पर निगरानी रखी।[35] रफी उद्दर जात को सिंहासन पर आरूढ़ करते समय (28 फरवरी) चूरामन ने उसका एक हाथ पकड़ा। अप्रैल 12 अगस्त 1719 ई० में निकोसियर ने आगरा किले में सम्राट बनकर विद्रोह किया। उस विद्रोह के दमन का मुख्य श्रेय जाट सरदार को था। इस युद्ध में उसको 50 लाख स्वर्ण मुद्रायें हाथ लगीं।[36] जब सैयद हुसैनअली मुहम्मदशाह के साथ आसफजहां को दबाने के लिए आगरा से दक्षिण की ओर बढ़ा, जाट सरदार स्वयं 'राज्यत्व' पद पाने के प्रस्ताव के साथ फतहपुर सीकरी तक शाही छावनी में (सितम्बर 1720) रहा, सेना के आगे बढ़ने पर उसने जाट टुकड़ियों को अपने पुत्र मोहकमसिंह की कमान में भेजा और स्वयं अपने क्षेत्र की व्यवस्था के लिए वापस लौटा।[37] 9 अक्टूबर 1720 ई० को टोड़ाभीम छावनी में विश्वासघाती मित्रों ने सैयद हुसैनअलीखां को मार डाला तथा उसके सहयोगियों को घेरकर पकड़ लिया। मोहकमसिंह जाट भी पकड़ा गया-जिसे सम्राट ने पुरस्कृत करके छोड़ दिया।[38] सम्राट मुहम्मदशाह शीघ्र ही यमुना नदी के किनारे पहुँचना चाहता था और निकटतम मार्ग जाट सरदार की जागीर में होकर था। चूरामन स्वय शीघ्र ही छावनी में उपस्थित हुआ और उसने अपनी चतुरता तथा वाक्चातुर्य्य का परिचय दिया। सम्राट ने उसको ठाकुर की पदवी तथा पद देकर सम्मानित किया और सेना का मार्गदर्शक बनाया।[39] उसने विशाल सेना का रुख मोड़कर अपने क्षेत्र की रक्षा

चूरामन और सैयदों की अनन्य मित्रता 1718-20

---

35. खाफीखां II/92-93, इर्विन I 379,383, कानूनगो पृ० 55

36. आगरा युद्ध-इर्विन i 408-424, बालमुकुन्दनामा पत्र 23, खाफीखां II 99; फादर वेन्डिल पृ० 73

37. इर्विन भाग 2 पृ० 65 डा० कानूनगो (जाट) का अनुमान है कि चूरामन दक्षिण की ओर बढ़ा। पृ० 55

38. खाफीखां II/120-1, इर्विन II/ 65

39. इर्विन II/ 68, कानूनगो पृ० 60

की ओर उसे महाराजा जयसिंह की जागीर के गावों मे होकर मुसावर, कॉमा पहाडी से बरसाना (28 अक्टूबर) ले गया जहा सेना को भयकर जगल, रेतीले टीलों में पानी के अभाव से तकलीफें उठानी पडी ।[40] बरसाना छावनी मे खेमकरन सोगरिया जाट टुकडियो के साथ जाकर उपस्थित हुआ और उसे शाही सेना के चन्दोल (पृष्ठ भाग) की रक्षा का भार सौंपा गया । कर्त्तव्य परायणता, त्याग तथा कृतज्ञता की भावना ने चूरामन को अपने अनन्य सरक्षको की सहायता के लिए उत्तजित किया । उसने सम्राट की छावनी में रहकर मुगल सैनिको को विमुख करने की चेष्टा की । जाट सरदारों के पचायती आदेश को मानकर हसनपुर युद्ध (15–16 नवम्बर) मे वह सैयद अब्दुल्ला के पक्ष मे लडा, उसने शाही सेना के बारूदखाने को उडाने का जी तोड प्रयास किया लेकिन वह केवल अस्तबल से हाथी-घोडा उडाकर ले जाने में ही सफल रहा । अब्दुल्ला खा ने जाट सरदार को यमुना नदी के किनारे नियुक्त किया जहा भगोडे सैनिक, व्यापारियो ने जाटो के करारे हाथ देखे, यमुना नदा को पार करने की चेष्टा मे कोई भी व्यक्ति नहीं बच सका । दूसरे दिन (16 नवम्बर) को वह स्वय रण क्षेत्र मे उतरा और पश्चिमी पार्श्व मे होने पर भी शत्रु के मध्य भाग मे घुस गया और अलीगोल मे पहुँचकर सम्राट का सामना किया । स्वय सम्राट मोहम्मदशाह ने उस पर दो तीन तीर छोडे । इस युद्ध मे जाटो ने दोनो पक्षो को लूटा और उनके हाथ बहुमूल्य सामान, 1000 खच्चर तथा ऊँट-गाडियो पर लदा माल, शाही सदर के कागजात तथा 20 लाख मुहरें हाथ लगीं । इस अपार द्रव्य के साथ वह थून वापिस लौटा ।[41] जाट सरदार ने नवीन सम्राट के समक्ष आत्मसमर्पण की अपेक्षा इस धन को जाट शक्ति के उत्कर्ष तथा स्वाधीन राज्य की स्थापना के प्रयास मे लगाया ।

सम्राट मुहम्मदशाह द्वारा जाटो का विरोध

सम्राट मुहम्मदशाह ने तख्तेताउस पर बैठने और शाही राजमुकुट धारण करने के अतिरिक्त राजकार्य तथा प्रशासन की ओर विशिष्ट ध्यान नहीं दिया । फौजदार, खालसा अथवा जागीर भूमियों के उपभोक्ता जमींदारों ने शाही खजाने में लगान जमा कराने से मना कर दिया ।[1] जोधपुर नरेश अजीतसिंह और महाराजा छत्रसाल बुन्देला ने इस राजभ्रान्ति से लाभ उठाया । राजधानी के समीप चूरामन का स्वाधीन अधिकार क्षेत्र वास्तव मे एक अर्द्ध

अर्द्ध-स्वाधीन सत्ताधारी जाटों द्वारा राठोडों तथा बुन्देलों की सहायता 1721 ई॰

40 इविन I/68–9, कानूनगो 55, दीक्षित 28

41. हसनपुर युद्ध-खाफीखां II/117–130, इविन I/80–93, कानूनगो 56, सिपार 174-6, म॰ उल उमरा (ना प्र) I/314, वीरविनोद 1148, हरसुखराय 361, फादर वेन्डिल पृ॰ 73, कैम्ब्रिज हिस्ट्री IV/348

1. जोहर ये. समसम (इ॰ डा॰) VIII/73, इविन I/107

स्वतन्त्र राज्य का द्योतक था किन्तु साम्राज्य में कोई भी योग्य साहसी सेनापति नहीं था जो जाटों से टक्कर ले सके। चूरामन ने कछवाहा नरेश के विरुद्ध जोधपुर के महाराजा अजीतसिंह से राजनैतिक मित्रता स्थापित की। वह स्वयं स्वतन्त्र जाट राज्य की स्थापना का स्वप्न देख रहा था और स्वतन्त्र राज्य के राजा की तरह अपनी जागीर का प्रबन्ध कर रहा था लेकिन उसने सगोत्री तथा स्वजातीय बन्धुबान्धवों की ईर्ष्या तथा उत्तेजना के भय से 'राजा' की उपाधि धारण नहीं की।[2] 1720 ई० के अन्त में मुहम्मदखां बंगस के नायक सेनापति दिलेरखां के विरुद्ध बुन्देलखण्ड की रैयत ने विद्रोह किया; उन्होंने काल्पी पर अधिकार कर लिया। दिलेरखां के विरुद्ध महाराजा छत्रसाल ने ओरछा, दतिया तथा चन्देरी के बुन्देला राजाओं की सहायता प्राप्त की; चूरामन ने भी छत्रसाल के पास सैनिक सहायता भेजी; 25 मई को मौंधा युद्ध में दिलेरखां के सहित 800 मुगल सिपाही काम आये।[3] मुहम्मदशाह ने जोधपुर के विरुद्ध दिल्ली में सैनिक तैयारियां शुरू कीं। महाराजा अजीतसिंह ने 30,000 सवारों के साथ सांभर, डीड़वाना, टोड़ा, अमरसर आदि पर अधिकार कर लिया।[4] उसने जाट सरदार चूरामन को अपनी सहायता के लिए लिखा; उसने अपने पुत्र मोहकमसिंह की कमान में सेना देकर अजमेर भेजा;[5] सआदतखां मुगल सेनाओं के साथ दिल्ली से जोधपुर की ओर बढ़ा मार्ग में जाटों ने उसकी सेनाओ को दिल्ली के आगे बढ़ने से रोक दिया। इसी समय नीलकंठ नागर की पराजय तथा मृत्यु के समाचार सुनकर सआदतखां को आगरा वापिस लौटना पड़ा। दिल्ली जाने से पूर्व सूबेदार सआदतखां, आगरा में नीलकंठ नागर को अपने नायब के रूप में छोड़ गया और उसे जाटों के विरुद्ध बढ़ने का आदेश दिया। नागर दस हजार सवार तथा पैदल सेना के साथ फतहपुर सीकरी परगना की सीमा पर पहुंचा। सितम्बर 1721 ई० में मुगल सेना ने पिचूना नामक गांव को बरबाद किया; मोहकमसिंह शीघ्र ही नागर के मुकाबिले में पहुंचा। 26 सितम्बर को दोनों में युद्ध हुआ जिसमें नागर काम आया उसके हाथ छावनी का माल असबाब लगा। सैनिकों को युद्धबन्दी बनाया और मर्तबे के अनुसार दण्ड अदा करने पर उनको छोड़ा[7] गया।

2. इर्विन ii/213

3. इर्विन ii 120; 228; महाराजकुमार 177; सतीश 177; कानूनगो 57; डा० भगवानदास गुप्ता कृत छत्रसाल बुन्देला पृ० 76-78

4. पं० विश्वेश्वरनाथ रेऊ कृत मारवाड़ का इतिहास भाग 1 पृ० 319; इ० तथा डा० VIII/43; म० उलउमरा (ना. प्र. स.) भाग 1/58

5. रेऊ भाग 1/322; इर्विन ii/120

6. इर्विन ii/120; सतीश 177; खफीखां ii 132-33; रेऊ 330

7. सियार i/218; इर्विन ii/121; सतीश 178; महाराजकुमार 177; डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव कृत अवध के दो नवाब पृ० 29-30; कानूनगो पृ० 57; कैम्ब्रिज हिस्ट्री iv/348; इलिफस्टन ii/557

ठाकुर चूरामन के जीवन मे जमींदारी के मालिकाना हक तथा बटवारे के प्रश्न को लेकर पारिवारिक विवाद छिड़ चुका था, उसके भतीजे बदनसिंह ने अपने स्वजातीय बन्धु तथा रिश्तेदारो की सहायता से चूरामन से जमींदारी हासिल करने का प्रयास किया लेकिन मोहकमसिंह की झगडालू प्रवृति के कारण चूरामन के जीवन की रस्सी मृत्यु के तनाव से खिंचने लगी। किसी निकटतम रिश्तेदार की मृत्यु के बाद चूरामन के पुत्र मोहकमसिंह और जलकरन सम्पत्ति के बटवारे के लिए गलियारा झगड़ा करने लगे। चूरामन ने उनको शान्त करने का प्रयास किया लेकिन मोहकमसिंह के द्वारा अपने पिता का अनादर करने से उसे जीवन से घृणा होगई। अपनी अपकीर्ति के भय से व्यथित होकर जिल्हज (अक्टू-बर) के महीने में हीरा की कनी खाकर उसने शरीर त्याग दिया।[8]

चूरामन की मृत्यु
अक्टूबर 1721 ई०

ठाकुर चूरामन की मृत्यु और उसके भतीजे बदनसिंह की जमींदारी बटवारा मांग से जाट जमींदारो के संगठन को गहरा धक्का लगा। उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र मोहकमसिंह को पिता की कीर्ति, सैनिक साज-सज्जा से सम्पन्न तथा सुरक्षित किले, सैनिक शक्ति और विशाल कार्य-क्षेत्र विरासत मे मिला। मोहकमसिंह दुराचारी, शरारती तथा व्यसनी था, जाट जमींदार संघ योग्य तथा सम्पन्न नेता के नेतृत्व मे विश्वास रखता था जबकि मोहकमसिंह ने धन तथा सैनिक शक्ति को ही अपना भाग्य-निर्माण का मापदण्ड बनाया।[9] चूरामन की असामयिक मृत्यु ने जाटों के दमन के लिए निश्चित मार्ग खोल दिया। सआदतखां अपनी बहादुरी तथा इरादो मे विख्यात था, उसने भावावेश मे आकर जाटो के विरुद्ध सैनिक अभियानों की भूमिका भी बनाई लेकिन उसे केन्द्रीय मन्त्रियों के षड्यन्त्र तथा जाटो की वीरता के आगे झुकना पड़ा।[10] मोहकमसिंह का चचेरा भाई बदनसिंह अपने चाचा चूरामन को प्रभावित करने के लिए सआदतखां के पास पहुंचा जहाँ उसने उसको सम्माननीय खिलअत तथा एक हाथी पुरस्कार मे देकर चूरामन विरोधी सन्धि की। वह बदनसिंह को अपने न्यास मे रखकर राजनैतिक स्वार्थ-पिपासा को शान्त करने की सोचने लगा। उसने चूरामन से बदनसिंह की मित्रता कराने का असफल प्रयास किया था। चूरामन की असामयिक मृत्यु

सआदतखाँ के विफल प्रयास-
सितम्बर-मार्च 1722 ई०

8. मआसिर उल उमरा (बंगाल) 440; प० बलदेवसिंह (ह०प्र) पृ० 19; वाक्या राज० ii/47; कानूनगो 58; इर्विन ii/122; कैम्ब्रिज हिस्ट्री iv/348; खाफीखां ii 137; सियार i 218-9

9. खाफीखां ii/137; सियार i/219; ओशायर पृ० 26

10. मासिर उल-उमरा (बंगाल) 440, 464-65; खाफीखां ii/137 इ० डा० VIII/173; इर्विन ii/121; अवध के दो नवाब 31

और जाट विरोधी अभियानों के संचालन के कारण कूटनीति मार्ग सफल नहीं होसका। बदनसिंह स्वयं निराश होकर वापिस लौट आया।[11] सआदतखाँ छः महीनों के कपट व्यवहार तथा उच्चतम सैनिक प्रयासों के बाद भी जाट एकता का दमन नहीं कर सका। जाटों ने गुरिल्ला प्रणाली को अपनाया जिससे वह घबड़ा गया।

मोहकमसिंह ने अपने भाई बदनसिंह को आगरा से वापिस लौटते ही बखिलाफी के भय से बन्दी बनाकर कारागृह में डाल दिया। नवयुवक सरदार की यह दूरदर्शिता, अविवेक तथा अन्याय के रूप में राजनैतिक रंगमंच पर प्रकट हुई। विभिन्न जाट गोत्री सरदारों के हस्तक्षेप से बदनसिंह को कारागृह से मुक्ति मिली[12] और वह अपने परिवार के साथ परगना भुसावर में स्थित मौजा जहाज[13] में पहुंचा। यहाँ पर तरगवां[14] गाँव के प्रभावशाली जाट जमींदार रतीराम से मुलाकात हुई। रतीराम ने अपनी पुत्री हँसिया का सम्बन्ध जाट जाति के अफलातून[15] (प्लेटो) राजा सूरजमल के साथ किया और वह बदनसिंह को लेकर महाराजा सवाई जयसिंह के पास जयपुर (आमेर) पहुंचा। बदनसिंह की मित्रता ने महाराजा जयसिंह का मार्ग खोल दिया।[16] जयसिंह ने अपने कलंक के टीके को अंग्रेजों की भांति दूसरी बार आक्रमण करके साफ किया। महाराज सवाई जयसिंह के हृदय में थून अभियान की विफलता कांटों की तरह चुभ रही थी। सम्राट ने महाराज जयसिंह को आगरा की सूबेदारी दी; खानदौरान तथा निजाम उलमुल्क ने उसकी सैनिक सहायता की और शाही खजाने से 2 लाख रुपया दिया। अतः जयसिंह मोहकमसिंह के विरुद्ध सितम्बर 1722 ई० को बढ़ा।[17] जयपुर नरेश महाराजा सवाई जयसिंह ने 50000 मजबूत सेना, शाही जंगी

बदनसिंह विरोधी छावनी में
1722 ई०

---

11. इर्विन ii 121; कानूनगो 57; महाराजकुमार 177; अवध के दो नवाब 31

12. पं० बलदेवसिंह पृ० 19; ओडायर पृ० 26; इम्पी० गजे० VIII/75 वीर विनोद 1642; वाक्या राज० ii/47; टॉड ii/299, चौबे 5 तथा कानूनगो 57 का मत है कि चूरामन ने बदनसिंह को कैदी बनाया।

13. वल्लभ गढ़ के पूर्व में 4 मील; भुसावर के दक्षिण पूर्व में 14 मील

14. भुसावर के दक्षिण में 8 मील

15. इमाद पृ० 55

16. पुराने कागजात (पाण्डुलिपि) श्री उपेन्द्रनाथ शर्मा, भरतपुर के पास उपलब्ध हैं।

17. खफीखां ii/237

तोपखाना तथा अन्य मुगल सरदारों के साथ दूसरी बार थून गढ़ी पर आक्रमण किया।

थून गढ़ी की विजय सितम्बर-नवम्बर 1722 ई०

बदनसिंह ने अपनी विद्वेष भावना की शांति के लिए थून के बाहरी किलों पर अधिकार करने में योग दिया। साम्राज्यवादी सेनापति ने अक्टूबर के तीसरे सप्ताह में मोहकमसिंह की दो बाहरी गढ़ियों पर अधिकार कर लिया। हृदयहीन मोहकमसिंह बाहरी गढ़ियों के पतन के बाद थून गढ़ी में चला गया, उसने जाट सरदारों की उपेक्षा करके जोधपुर के महाराजा अजीतसिंह की सहायता प्राप्त करने का असफल प्रयास किया। 28 अक्टूबर के पत्र से पता लगता है कि महाराजा अजीतसिंह ने भन्डारी विजयराज के साथ राठौड राजपूतों की फौज रवाना की और वह जोबनेर में पड़ाव डाले पड़ी थी।[18] 25 अक्टूबर को साम्राज्यवादी सेनायें थून की गढ़ी पर पहुंच गई जहां मोहकमसिंह ने अन्तिम मुहासरा लिया। शाही सेनापति सुचारु तथा नियमित ढंग से बढ़ा। उसने गढ़ी को घेरकर मोर्चा लगाया, तीन सप्ताह तक विध्वंसक तोपखाना लगा रहा फिर भी उसे सफलता नहीं मिली। सैनिक बल की अपेक्षा शाही सेनपति को विश्वासघात, फूट तथा कपट व्यवहार से विजय मिली। उसने बदनसिंह को चूरामन-प्रदत्त अधिकार तथा जाटों का नेतृत्व प्रदान कराने के आश्वासन पर अपने न्यास में रखा। बदनसिंह ने थूनगढ़ी के कमजोर स्थानों का भेद दे दिया। अतः मोहकमसिंह 17 नवम्बर की रात्रि को बारूदखाने में आग लगाकर अपनी चल सम्पदा, आभूषण, हीरा, जवाहरात खजाना और परिवार के साथ थून की गढ़ी से भाग गया और मार्ग में आ रही राठौड सेना की सुरक्षा में जोधपुर पहुंचा। 18 नवम्बर का थून का किला शाही सेनापति के अधिकार में आगया। गढ़ी में प्रवेश करते समय बदनसिंह ने महाराजा सवाई जयसिंह और साम्राज्यवादी सेनाओं को बरबादी से बचा लिया। कुछ घन्टे में ही गढ़ी बारूदी सुरंगों से उड़ गई। इससे बदनसिंह ने कछवाहा नरेश का असीम प्रेम तथा विश्वास प्राप्त कर लिया। जयसिंह ने गढ़ी में प्रवेश करके अपने कलक को साफ किया, शाही सेना ने जाट तोपखाना तथा अन्न भंडारों पर कब्जा कर लिया। तत्पश्चात् शाही सेनापति ने ठाकुर चूरामन के सचित कोष की तलाश में एक घर के बाद दूसरे को खुदवाया, सारी थून की बस्ती उजाड दी। उसने गुस्से में आकर गदहों के कन्धों पर जुर्माना रखा और सारी भूमि को गहरा जोत डाला-फिर भी कुछ हाथ नहीं लगा।[19]

कछवाहा-मुगल अभियान चूरामन के नेतृत्व में सगठित फौलादी जाट जमीं-

---

18. जयपुर अखबारात कार्तिक बदी 15 स० 1779 डा० मथुरालाल (जयपुर) पृ० 169

19. खफीखाँ ii/137, मआसीर उल उमरा 440, इर्विन ii/ 123, कानूनगो 59, हरमुखराय 361, सियार 218, कैम्ब्रिज हिस्ट्री IV/348, सतीश पृ० 178, वाक्या राज० ii/48, ओडायर 26

दार मजदूर किसान संघ के विनाश का मूलभूत आधार था लेकिन इस अभियान की सफलता फौलादी संघ की भावना को नहीं बदल सकी। जाट सरदारों के कज्जकानी युद्ध, विद्रोह अथवा लूटमार ने नवीन क्रान्ति तथा विकास का मार्ग खोल दिया जिसका

भरतपुर राज्य की स्थापना
ठाकुर बदनसिंह
1723 ई०

अन्तिम परिपक्व रूप प्रगट होने लगा। 1723 ई० के प्रारम्भ में जाट भाग्य का वास्तविक उदय हुआ और स्वतन्त्र राज्य-स्थापना की निहित भावना को साकार रूप मिला। महाराजा सवाई जयसिंह ने 18 मार्च 1723 ई० के दिन दीग पहुंचकर बदनसिंह को ठाकुर चूरामन की जमींदारी, अब तक सम्राटों द्वारा जाटों को प्रदत्त अधिकार सौंपे और उसे जाटों का सरदार बनाकर ठाकुर का पद दिया।[20] समय की गति देख कर ठाकुर बदनसिंह ने शाही परगनों का खिराज देना स्वीकार करके जाट एकता को महान् संकट से बचा लिया।[21] ठाकुर बदनसिंह जीवन पर्यन्त महाराजा सवाई जयसिंह का कृतज्ञ रहा। उसने जयपुर में लक्ष्मण डूंगरी के पास बदनपुरा नामक छावनी बसाई और अपने निवास के लिए महल बनवाये। प्रत्येक दशहरा दरबार में एक जागीरदार की तरह उपस्थित रहा और अपनी शान्ति नीति से आगरा प्रान्त के कई विद्रोही परगने पट्टे पर लिए, मेवात के विद्रोह[22] ने महाराजा जयसिंह को बाध्य कर दिया कि वह इन परगनों को ठाकुर बदनसिंह को सौंप दे। जून 19, 1725 ई० को ठाकुर बदनसिंह ने महाराजा जयसिंह को करार के रूप में लिखा "चूरामन की जाट सीमायें, गांव तथा धरती—जो महाराजा की अनुकम्पा से मुझे प्राप्त हुए हैं—उसके एवज में मैं दरबार की सेवा में उपस्थित रहूँगा और प्रतिवर्ष 83,000 रूपया पेशकश के रूप में अदा करूँगा।"[23] लेकिन यह करारनामा स्थाई नहीं रह सका और जाट संगठन एक स्थाई राज्य भरतपुर में बदल गया।

---

20. सियार 219, इर्विन ii/123, महाराजकुमार 178, सतीश 178, म० उमरा (ना. प्र. स.) 1/ 127 -8, ग्राउस 23, कानूनगो 59, वीर विनोद 1643, गजे. ईस्टर्न राज० पृ० 30; वंसभास्कर पृ० 3081

21. ओडायर 26, इम्पी० गजे० VIII/ 75, कैम्ब्रिज हिस्ट्री IV/ 348

22. सूदन पृ० 7

23. कपटद्वार, भटनागर पृ० 219

तोपखाना तथा अन्य मुगल सरदारों के साथ दूसरी बार थून गढ़ी पर आक्रमण किया। बदनसिंह ने अपनी विद्वेष भावना की शांति के लिए थून के बाहरी किलों पर अधिकार करने में योग दिया। साम्राज्यवादी सेनापति ने अक्टूबर के तीसरे सप्ताह में मोहकमसिंह

थून गढ़ी की विजय सितम्बर-नवम्बर 1722 ई०

की दो बाहरी गढ़ियों पर अधिकार कर लिया। हृदयहीन मोहकमसिंह बाहरी गढ़ियों के पतन के बाद थून गढ़ी में चला गया, उसने जाट सरदारों की उपेक्षा करके जोधपुर के महाराजा अजीतसिंह की सहायता प्राप्त करने का असफल प्रयास किया। 28 अक्टूबर के पत्र से पता लगता है कि महाराजा अजीतसिंह ने भण्डारी विजयराज के साथ राठौड़ राजपूतों की फौज रवाना की और वह जोबनेर में पड़ाव डाले पड़ी थी।[18] 25 अक्टूबर को साम्राज्यवादी सेनायें थून की गढ़ी पर पहुंच गई जहां मोहकमसिंह ने अन्तिम मुहासरा लिया। शाही सेनापति सुचारु तथा नियमित ढंग से बढ़ा। उसने गढ़ी को घेरकर मोर्चा लगाया, तीन सप्ताह तक विध्वंसक तोपखाना लगा रहा फिर भी उसे सफलता नहीं मिली। सैनिक बल की अपेक्षा शाही सेनपति को विश्वासघात, फूट तथा कपट व्यवहार से विजय मिली। उसने बदनसिंह को चूरामन-प्रदत्त अधिकार तथा जाटों का नेतृत्व प्रदान कराने के आश्वासन पर अपने न्यास में रखा। बदनसिंह ने थूनगढ़ी के कमजोर स्थानों का भेद दे दिया। अतः मोहकमसिंह 17 नवम्बर की रात्रि को बारूदखाने में आग लगाकर अपनी चल सम्पदा, आभूषण, हीरा, जवाहरात खजाना और परिवार के साथ थून की गढ़ी से भाग गया और मार्ग में आ रही राठौड़ सेना की सुरक्षा में जोधपुर पहुंचा। 18 नवम्बर का थून का किला शाही सेनापति के अधिकार में आगया। गढ़ी में प्रवेश करते समय बदनसिंह ने महाराजा सवाई जयसिंह और साम्राज्यवादी सेनाओं को बरबादी से बचा लिया। कुछ घन्टे में ही गढ़ी बारूदी सुरंगों से उड़ गई। इससे बदनसिंह ने कछवाहा नरेश का असीम प्रेम तथा विश्वास प्राप्त कर लिया। जयसिंह ने गढ़ी में प्रवेश करके अपने कलंक को साफ किया, शाही सेना ने जाट तोपखाना तथा अन्य भंडारों पर कब्जा कर लिया। तत्पश्चात् शाही सेनापति ने ठाकुर चूरामन के संचित कोष की तलाश में एक घर के बाद दूसरे को खुदवाया, सारी थून की बस्ती उजाड़ दी। उसने गुस्से में आकर गदहों के कन्धों पर जुर्माना रखा और सारी भूमि को गहरा जोत डाला-फिर भी कुछ हाथ नहीं लगा।[19]

कछवाहा-मुगल अभियान चूरामन के नेतृत्व में संगठित फौलादी जाट जमीं-

18. जयपुर अखबारात कार्तिक बदी 15 स० 1779 डा० मथुरालाल (जयपुर) पृ० 169

19. खफीखां ii/137, मसीर उल उमरा 440, इर्विन ii/ 123, कानूनगो 59, हरसुखराय 361, सियार 218, कैम्ब्रिज हिस्ट्री IV/348, सतीश पृ० 178, वाकया राज० ii/48, ओडायर 26

14

मेवाड़ का इतिहास 1540 से 1707 तक
(History of Mewar from 151) to 1707)

महाराणा सांगा की मृत्यु के पश्चात् मेवाड़ में गद्दी के लिये संघर्ष छिड़ गया था। यह संघर्ष उस समय अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था जब

महाराणा उदयसिंह 1540–1572 A. D.

वनवीर ने राजगद्दी का अपहरण कर लिया। वनवीरके हाथों उदयसिंहकी धाय 'पन्ना'[1] ने उसको किस प्रकार रक्षा की थी यह कहानी बचपन में ही प्रत्येक भारतीय बालक को उसकी मां अथवा दादी सुना देती है। कुम्भलगढ़में रहते हुए ही 1537 ई० में मेवाड़ के कतिपय असन्तुष्ट सरदारों ने चित्तौड़ से भाग कर उदयसिंह को अपना महाराणा स्वीकार किया था। तत्पश्चात् 1540 में वनवीर को माहोली के युद्ध में पराजित करके उदयसिंह ने चित्तौड़ पर अधिकार किया। उसके बाद ही मेवाड़ के शेष भाग पर उदयसिंह का अधिकार हुआ था। अतः आधुनिक इतिहासकार वि० स० 1597 (1540 ई०) को ही उदयसिंह के राज्याभिषेक की तिथि मानते हैं।

1540 के पश्चात् उदयसिंह को सिरोही की गद्दी के उत्तराधिकार के फसाद में भाग लेना पड़ा और जोधपुर के शासक राव मालदेव के विरुद्ध युद्ध लड़ना पड़ा। इस युद्ध (हरमाड़ा के युद्ध) का वर्णन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। तत्पश्चात् 1559 ई० में उदयपुर शहर की नींव डाली। मेवाड़ के राज्य की राजधानी चित्तौड़गढ़ को असुरक्षित समझ कर ही महाराणा उदयसिंह ने उदयपुर की नींव डाली थी।

---

1. पन्ना धाय खींची जाति की राजपूतानी थी। वनवीर ने उदयसिंह के धोखे में इसके बच्चे को ही तलवार के घाट उतार दिया था। पन्ना उदयसिंह को टोकरे में बैठाकर और ऊपर से पत्ते ढककर अपने पति के साथ देवलिया के शासक रावल रामसिंह के पास पहुँची थी लेकिन देवलिया प्रतापगढ़ तथा डूंगरपुर के राजाओं ने वनवीर के भय से जब उदयसिंह को शरण देने में असमर्थता प्रकट की तो अन्त में पन्ना कुम्भलगढ़ पहुँची और वहां पर महाराणा उदयसिंह का बचपन बीता।

BIBLIOGRAPHY

1 Fatuhat -ı-Alamgırı by Ishar Dass Nagar (Ms)
2 Jaıpur Akhabarats
3 Alamgırnamah
4 Sır J N Sarkar 'History of Aurangzeb'
5 Dr K R Qanungo 'History of Jats'
6 Imperial Gazetteer.
7 Rajputana Gazetteer (Bharatpur, Dholpur & Karauli)
8 History of Jaipur State by Dr M L Sharma (Unpublished)
9 History of Rajputana in 18th century by V S Bhatnagar (Unpublished)
10 History of the Sammical House of Diggi by D K R Qanungo (Unpublished)
11 Maagir-i-Alamgiri
12 Maagir-ul-Umara
13 Later Mughals by Irvine
14 Parties and Politics by Dr Satish Chandra
Elliot of Dawson, vols VII & VIII

14

मेवाड़ का इतिहास 1540 से 1707 तक
(History of Mewar from 1540 to 1707)

महाराणा सांगा की मृत्यु के पश्चात् मेवाड़ में गद्दी के लिये संघर्ष छिड़ गया था। यह संघर्ष उस समय अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था जब वनवीर ने राजगद्दी का अपहरण कर लिया। वनवीरके हाथों उदयसिंहकी धाय'पन्ना'[1] ने उसकी किस प्रकार रक्षा की थी यह कहानी बचपन में ही प्रत्येक भारतीय बालक को उसकी मां अथवा दादी सुना देती है। कुम्भलगढ़में रहते हुए ही 1537 ई० में मेवाड़ के कतिपय असन्तुष्ट सरदारों ने चित्तौड़ से भाग कर उदयसिंह को अपना महाराणा स्वीकार किया था। तत्पश्चात् 1540 में वनवीर को माहोली के युद्ध में पराजित करके उदयसिंह ने चित्तौड़ पर अधिकार किया। उसके बाद ही मेवाड़ के शेष भाग पर उदयसिंह का अधिकार हुआ था। अतः आधुनिक इतिहासकार वि० स० 1597 (1540 ई०) को ही उदयसिंह के राज्याभिषेक की तिथि मानते हैं।

महाराणा उदयसिंह
1540–1572 A. D.

1540 के पश्चात् उदयसिंह को सिरोही की गद्दी के उत्तराधिकार के फसाद में भाग लेना पड़ा और जोधपुर के शासक राव मालदेव के विरुद्ध युद्ध लड़ना पड़ा। इस युद्ध (हरमाड़ा के युद्ध) का वर्णन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। तत्पश्चात् 1559 ई० में उदयपुर शहर की नींव डाली। मेवाड़ के राज्य की राजधानी चित्तौड़गढ़ को असुरक्षित समझ कर ही महाराणा उदयसिंह ने उदयपुर की नींव डाली थी।

---

1. पन्ना धाय खीची जाति की राजपूतानी थी। वनवीर ने उदयसिंह के धोखे में इसके बच्चे को ही तलवार के घाट उतार दिया था। पन्ना उदयसिंह को टोकरे में बैठाकर और ऊपर से पत्ते ढककर अपने पति के साथ देवलिया के शासक रावल रामसिंह के पास पहुँची थी लेकिन देवलिया प्रतापगढ़ तथा डूंगरपुर के राजाओं ने वनवीर के भय से जब उदयसिंह को शरण देने में असमर्थता प्रकट की तो अन्त में पन्ना कुम्भलगढ़ पहुंची और वहां पर महाराणा उदयसिंह का बचपन बीता।

उदयपुर की स्थापना का रोचक वृत्तान्त हमें राजस्थानी साहित्य के विभिन्न ग्रंथों में इस प्रकार मिलता है। एक दिन महाराणा उदयसिंह शिकार खेलते-खेलते आहड़ तक पहुँच गए। वहां से वे पीछोला तालाब की पाल पर पहुँचे। पीछोला तालाब का निर्माण पन्द्रहवीं शताब्दी में एक बन्जारे के द्वारा करवाया गया था। वहीं पर एक झाड़ी के अन्दर एक साधु बैठा था। इसी योगी ने महाराणा को सलाह दी थी कि यदि उस स्थान को राजधानी बना दिया जायगा तो यह शहर महाराणा के वंशजों के हाथ से कभी नहीं जाएगा। उदयसिंह को भी साधु की बात जच गई। उन्होंने अपने साथियों से कहा "अगर इन पहाड़ों के घेरे में राजधानी बनाई जावे तो रसद की भी कमी नहीं होगी और मजबूती के साथ (शत्रुओं के विरुद्ध) पहाड़ी लड़ाई लड़ने का मौका भी मिलेगा।" इस प्रकार पीछोला झील के किनारे एक पहाड़ी पर उदयपुर शहर की स्थापना की गई। इसके कुछ समय पश्चात् पूर्व की दिशा में मात मील के फासले पर 8 अप्रेल 1565 के दिन उदयसागर तालाब की प्रतिष्ठा करके पाल बंधवाई और तालाब के किनारे महल बनवाए।

उदयसिंह ने मेवाड़ की नई राजधानी बनाकर ठीक ही किया था क्योंकि इसके कुछ समय पश्चात् ही अकबर ने चित्तौड़ पर हमला कर दिया। मेवाड़ का राज्य राजस्थान का प्रमुख राजपूत राज्य गिना जाता था। यहा के राणा ने हरमाड़ा के युद्ध के पश्चात् शीघ्रता से अपनी शक्ति बढ़ा ली थी और उसके अधिकार में बहुत सा प्रदेश आ गया था। 1562 में उदयसिंह ने मालवा के शासक बाजबहादुर को अपने यहां पनाह देकर मुगल सम्राट अकबर को चित्तौड़ पर आक्रमण करने का बहाना भी दे दिया था। चित्तौड़ पर अधिकार किए बगैर राजस्थान के शेष भाग पर अकबर का आसानी से अधिकार नहीं हो सकता था। चित्तौड़ का किला गुजरात और मालवा के मार्ग में भी पड़ता था। अतएव राजनैतिक दृष्टि से अकबर के लिए चित्तौड़ पर अधिकार करना अनिवार्य था। दुर्भाग्य से इसी समय मेड़ता का निर्वासित शासक जयमल भी महाराणा उदयसिंह की शरण में पहुँच गया। चित्तौड़ पर अधिकार करने की अकबर की सुषुप्त इच्छा जाग उठी और उसने चित्तौड़ के किले पर आक्रमण कर दिया। 23 अक्तूबर 1567 के दिन अकबर चित्तौड़ से लगभग ६ मील उत्तर दिशा में नगरी नामक स्थान पर पहुंच गया।

अकबर के द्वारा घेरा डालने से पहले ही उदयसिंह 8000 बहादुर राजपूतों को जयमल के नेतृत्व में किले की रक्षा का भार सौंपकर स्वयं अपने कुँवरों तथा रानियों के साथ मेवाड़ के दक्षिणी पहाड़ों में चले गए। उदयसिंह ने अपने सरदारों के परामर्श पर किले की रक्षा का उत्तरदायित्व जयमल तथा अन्य सरदारों को सौंपा था। मालवा व गुजरात के विरुद्ध निरंतर लड़े गए युद्धों ने सुरक्षा के साधन

निर्बल बना दिए थे। यदि उदयसिंह स्वयं चित्तौड़ में ठहरकर इसकी रक्षा करने का निश्चय करते तो कदाचित् उनका भी उसी प्रकार अन्त हो जाता जिस प्रकार जयमल, पत्ता इत्यादि का हुआ। पराजय का बदला कौन लेता ? अतएव उदयसिंह पर जो कायरता का आरोप कतिपय इतिहासकारों के द्वारा लगाया गया है वह उचित नहीं है। उदयसिंह अपनी वीरता का परिचय हरमाड़ा इत्यादि के युद्धों में दे चुके थे।

अकबर का आसानी से किले पर अधिकार नहीं हो सका था। उसे निरंतर तीन महीने तक प्रयत्न करने पड़े थे। चित्तौड़ के किले को तीन दिशाओं से घेरा गया और उसे विजय करने के लिए मोर्चे लगाए गए। बादशाह स्वयं तो लाखोटा दरवाजे के मोर्चे पर था, दूसरा मोर्चा राजा टोडरमल और कासिमखां के नेतृत्व में सूरजपोल दरवाजे पर लगाया गया और तीसरा मोर्चा दक्षिण दिशा में चित्तौड़ी बुर्ज के सामने से आसफखां व वजीरखां के सेनापतित्व में लगाया गया था। लेकिन जब इतनी कोशिश के बाद भी बादशाह का किले पर अधिकार नहीं हो सका तो उसने चित्तौड़ी बुर्ज की तरफ से सबात बनवाकर किले की दीवाल को उड़ाने का प्रयत्न किया गया। टूटी हुई दीवाल की मरम्मत करवाते हुए अकबर के हाथों जयमल मारा गया। किले में जौहर हुआ और फिर कहीं चित्तौड़ पर अकबर का अधिकार हो सका (17 दिसम्बर 1567)। अकबर बादशाह जयमल और पत्ता की वीरता से इतना अधिक प्रभावित हुआ था कि उसने आगरा लौटने के पश्चात् इन दोनों वीरों की मूर्तियां बनवा कर किले के बाहर देहली दरवाजे पर लगवा दी थीं।

अकबर के द्वारा चित्तौड़ का घेरा डालने से पहले ही महाराणा उदयसिंह मेवाड़ छोड़कर राजपीपला चले गए थे। राजपीपला के गोहिल राजपूत राजा भैरवसिंह ने उनकी बड़ी मेजमानी की। चार महीने वहां ठहर कर महाराणा पुनः मेवाड़ लौटे और उन्होंने उदयपुर में महलों को बनवाना शुरू किया। चित्तौड़ से लगभग 8 मील दूर गोगूदा तक महाराणा आ पहुँचे थे। लेकिन अन्त में 28 फरवरी 1572 के दिन इनका निराशा में देहान्त हुआ।

महाराणा उदयसिंह इतने कायर नहीं थे जैसा कि इनके लिए कर्नल टॉड ने अतिशयोक्तिपूर्ण शब्दों में लिखा है। लेकिन इनकी ख्याति वीर पिता (राणा सांगा) और प्रतिभाशाली पुत्र (प्रताप) के द्वारा आच्छादित अवश्य हो गई थी और इसलिए मेवाड़ के इतिहास में इन्हें उचित स्थान प्राप्त नहीं हो सका। इनके स्वभाव में स्थिरता कम थी और अक्ल व बहादुरी में वे अपने पिता सांगा के चतुर्थांश भी नहीं थे। लेकिन इनका 32 वर्षीय शासनकाल अपने भ्राता विक्रमादित्य के शासनकाल की तुलना में कहीं उत्तम था। महाराणा उदयसिंह ने मेवाड़ को नई राजधानी प्रदान करके अपने नाम को चिरस्थायी कर दिया।

उदयपुर की स्थापना का रोचक वृत्तान्त हमें राजस्थानी साहित्य के विभिन्न ग्रंथों में इस प्रकार मिलता है। एक दिन महाराणा उदयसिंह शिकार खेलते-खेलते आहड़ तक पहुँच गए। वहां से वे पीछोला तालाब की पाल पर पहुँचे। पीछोला तालाब का निर्माण पन्द्रहवीं शताब्दी में एक बन्जारे के द्वारा करवाया गया था। यहीं पर एक झाड़ी के अन्दर एक साधू बैठा था। इसी योगी ने महाराणा को सलाह दी थी कि यदि इस स्थान को राजधानी बना लिया जायगा तो यह शहर महाराणा के वंशजों के हाथ से कभी नहीं जाएगा। उदयसिंह को भी साधु की बात जच गई। उन्होंने अपने साथियों से कहा "अगर इन पहाड़ों के घेरे में राजधानी बनाई जावे तो रसद की भी कमी नहीं होगी और मजबूती के साथ शत्रुओं के विरुद्ध) पहाड़ी लड़ाई लड़ने का मौका भी मिलेगा।" इस प्रकार पीछोला झील के किनारे एक पहाड़ी पर उदयपुर शहर की स्थापना की गई। इसके कुछ समय पश्चात् पूर्व की दिशा में सात मील के फासले पर 8 अप्रेल 1565 के दिन उदयसागर तालाब की प्रतिष्ठा करके पाल बंधवाई और तालाब के किनारे महल बनवाए।

उदयसिंह ने मेवाड़ की नई राजधानी बनाकर ठीक ही किया था क्योंकि इसके कुछ समय पश्चात् ही अकबर ने चित्तौड़ पर हमला कर दिया। मेवाड़ का राज्य राजस्थान का प्रमुख राजपूत राज्य गिना जाता था। यहां के राणा ने हरमाड़ा के युद्ध के पश्चात् शीघ्रता से अपनी शक्ति बढ़ा ली थी और उसके अधिकार में बहुत सा प्रदेश आ गया था। 1562 में उदयसिंह ने मालवा के शासक बाजबहादुर को अपने यहाँ पनाह देकर मुगल सम्राट् अकबर को चित्तौड़ पर आक्रमण करने का बहाना भी दे दिया था। चित्तौड़ पर अधिकार किए बगैर राजस्थान के शेष भाग पर अकबर का आसानी से अधिकार नहीं हो सकता था। चित्तौड़ का किला गुजरात और मालवा के मार्ग में भी पड़ता था। अतएव राजनैतिक दृष्टि से अकबर के लिए चित्तौड़ पर अधिकार करना अनिवार्य था। दुर्भाग्य से इसी समय मेड़ता का निर्वासित शासक जयमल भी महाराणा उदयसिंह की शरण में पहुँच गया। चित्तौड़ पर अधिकार करने की अकबर की सुषुप्त इच्छा जाग उठी और उसने चित्तौड़ के किले पर आक्रमण कर दिया। 23 अक्तूबर 1567 के दिन अकबर चित्तौड़ से लगभग ६ मील उत्तर दिशा में नगरी नामक स्थान पर पहुँच गया।

अकबर के द्वारा घेरा डालने से पहले ही उदयसिंह 8000 बहादुर राजपूतों को जयमल के नेतृत्व में किले की रक्षा का भार सौंपकर स्वयं अपने कुँवरों तथा रानियों के साथ मेवाड़ के दक्षिणी पहाड़ों में चले गए। उदयसिंह ने अपने सरदारों के परामर्श पर किले की रक्षा का उत्तरदायित्व जयमल तथा अन्य सरदारों को सौंपा था। मालवा व गुजरात के ... लड़े गए युद्धों ने सुरक्षा के साधन

के राणा (प्रताप) ने बादशाह का आधिपत्य स्वीकार नहीं किया था। अतः गुजरात विजय सम्पूर्ण करने के पश्चात् बादशाद ने आमेर के मानसिंह को डूंगरपुर विजय करने की आज्ञा दी। डूंगरपुर से लौटते समय मानसिंह ने जून 1573 में राणा प्रताप से उदयपुर में भेंट की। लेकिन मानसिंह की बात मानकर अकबर का प्रभुत्व स्वीकार करने तथा व्यक्तिगत रूप से मुगल दरबार में हाजिरी देने के लिए राणा प्रताप तैयार नहीं हुआ। मानसिंह के स्वागत के लिए राणा प्रताप ने उदयसागर के स्थान पर एक भोज का आयोजन किया था। भोजन के समय दोनों के बीच मनोमालिन्य हो गया; मानसिंह शाही दरबार में लौट गया और वर्षों बाद हल्दीघाटी के युद्ध में अपनी बेइज्जती का बदला लेने का जो अतिरंजित वर्णन टॉड ने दन्तकथाओं के आधार पर किया है उसका समर्थन किसी भी सुप्रमाणित ऐतिहासिक ग्रंथ में उपलब्ध नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि युगों बाद जो ख्यातें लिखी गईं उनके आधार पर यह दंतकथा प्रचलित हो गई। महाराजकुमार डा० रघुवीरसिंह ने ठीक ही लिखा है कि "अनेकों युगों बाद प्रचलित होने वाली राणा प्रताप सम्बन्धी अनेकानेक कल्पनापूर्ण कथाओं में ही इसकी भी गणना होनी चाहिये।"

मानसिंह के असफल प्रयास के उपरान्त भी अकबर ने शांतिपूर्ण ढंग से आधिपत्य स्वीकार करवाने के उद्देश्य से उसके पिता भगवन्तदास को सितम्बर 1573 में राणा प्रताप को समझाने बुझाने के लिए गुजरात से ईडर की राह मेवाड़ भेजा। इस बार प्रताप ने भगवन्तदास के साथ अच्छा व्यवहार किया और अपने चौदह वर्षीय पुत्र अमरसिंह को भगवन्तदास के साथ मुगल दरबार में भेज दिया। मेवाड़ की तवारीखों में कुंवर अमरसिंह को मुगल दरबार में भेजना अस्वीकार किया गया है।[1] एक आधुनिक अनुसंधान ग्रंथ में इस घटना को केवल एक याद टिप्पणी में ही लिखा गया है।[2] लेकिन यह एक महत्वपूर्ण घटना थी जिसका जिक्र अबुलफजल के 'अकबरनामा' में इस प्रकार मिलता है—"राणा ने अपने बेटे अमरा को राजा भगवन्तदास के साथ बादशाही खिदमत में भेजकर अपने आने में उजर किया और कहा कि बादशाही मेहरबानियां होंगी तो फिर मैं भी आ जाऊंगा।" राजा भगवन्तदास राणा के बेटे अमराके साथ आगरेमें हाजिर हुआ।"[3] यह कहना तो कठिन है कि राणा प्रताप को अकबर की सैनिक शक्ति का ठीक पता।

1. देखिए वीर विनोद, पृष्ठ 149.
2. देखिए Mewar and The Mughal Emperors by Dr. G. N. Sharma, P. 90 f. n. 17.
3. देखिए अकबरनामा, तीसरी जिल्द, पृष्ठ 44; पूर्व आधुनिक राजस्थान, पृष्ठ 52.

महाराणा उदयसिंह के ज्येष्ठ पुत्र प्रतापसिंह थे जो जैवन्ताबाई (अखयराज सोनगरा की बेटी) के गर्भ से 9 मई 1540 के दिन उत्पन्न हुए थे। 'प्रताप' संस्कृत भाषा का शब्द है जिसका अर्थ 'ऐश्वर्य' होता है। अपने 25 वर्षीय शासनकाल में प्रताप ने अपने नाम को सार्थक करके दिखा दिया था।

महाराणा प्रताप 1572–1597

महाराणा उदयसिंह अपने जीवनकाल में अपने छोटे पुत्र जगमाल को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर गए थे क्योंकि जगमाल की माता महारानी भटियाणी पर उनकी विशेष कृपा थी। अतएव महाराणा उदयसिंह की मृत्यु के पश्चात् सलूम्बर के किशनदास और देवगढ़ के सांगा ने गुप्त रूप से जगमाल को गद्दी पर भी बैठा दिया। मातम समाप्त होने के पश्चात् ग्वालियर के रामसिंह और झालौर के अखयराज के प्रयत्नों के फलस्वरूप प्रताप को गोगूंदा में 28 फरवरी 1572 के दिन गद्दी पर आरूढ़ किया गया। जगमाल जहाजपुर की तरफ चला गया और अजमेर के सूबेदार के प्रयत्नों से उसे अकबर बादशाह ने पहले जहाजपुर का परगना और फिर सिरोही का आधा राज्य प्रदान कर दिया। मेवाड़ की गद्दी प्राप्त करने में असफल जगमाल अपने जीवन पर्यन्त (1583 तक) मुगल सम्राट अकबर की सेवा में रहा।

चित्तौड़ के किले के साथ मेवाड़ का अधिकांश भाग अकबर के अधिकार में जा चुका था। उसने चित्तौड़ को 'सरकार' का केन्द्र बनाकर अधिकृत प्रदेश को 26 महालों में विभाजित कर दिया था। इस प्रकार एक ओर मेवाड़ में मुगलों का आधिपत्य बढ़ता जा रहा था और दूसरी ओर जगमाल के विद्रोह के कारण मेवाड़ में आन्तरिक स्थिति शांतिप्रद नहीं थी। इस

अकबर राणा प्रताप का पूर्ण समर्पण चाहता था

प्रकार प्रताप मेवाड़ के जिस सिंहासन पर बैठा था वह फूलों की सेज नहीं था। अतएव कुम्भलगढ़ को सुरक्षित स्थान समझ कर राणा प्रताप वहां जाकर रहने लगे। मेवाड़ के नए राणा को चित्तौड़ से मुगलों के पांव उखाड़ने से पहले अपने राज्य के साधनों को व्यवस्थित एवं पुष्ट करना अधिक आवश्यक था। इस समय अकबर भी गुजरात विजय करने में व्यस्त था। अतः जगमाल के दरबार में उपस्थित होने पर भी मेवाड़ की गद्दी के उत्तराधिकार झगड़े में हस्तक्षेप करने का कोई विचार अकबर के मस्तिष्क में नहीं आया। लेकिन गुजरात विजय के पश्चात् बादशाह का ध्यान अवश्य मेवाड़ के राज्य की ओर गया था क्योंकि 'गुजरात-विजय का स्थायित्व राजपूताना में मुगल शक्ति के पुष्टीकरण पर निर्भर था'। इसके अतिरिक्त अकबर का उद्देश्य एक सुसंगठित साम्राज्य स्थापित करने का था। अतः वह प्रत्येक स्वतन्त्र राजा को अपना आधिपत्य स्वीकार कराने के लिए उत्सुक था। मेवाड़ के राज्य का अधिकांश निकल जाने के बावजूद भी वहां

हाशिम खां, राजा जगन्नाथ कछवाहा, सैयद राजू, मिहतरखां, माधवसिंह कछवाहा, मुजाहिदबेग, राजा लूणकरण इत्यादि को तैनात किया। इतिहासकार अब्दुल-कादिर बदायूनी भी मानसिंह के साथ स्वयं आया था। कुंवर मानसिंह अजमेर से 3 अप्रेल 1576 के दिन रवाना हुआ और वह पहले मांडलगढ़ पहुँचा। वहां वह करीब दो महीने तक ठहरा रहा। मानसिंह के दो महीने तक मांडल में पड़े रहने के निम्न कारण हो सकते हैं—

(i) उसे अतिरिक्त कुमक का इन्तजार था।

(ii) मांडल से आगे बढ़ने से पूर्व वह Line of Communication को सुरक्षित कर लेना चाहता था।

(iii) मानसिंह स्वयं Offensive लेने के बजाय यह ठीक समझता था कि Defensive Position में रह कर ही राणा से युद्ध करे।

(iv) अकबर यह समझता था कि मानसिंह के नेतृत्व में जो सेना भेजी जा रही है उसके कूच की सूचना पाकर राणा प्रताप स्वतः ही अधीनता स्वीकार कर लेगा। इसलिए अजमेर से रवाना होते वक्त ही यह निश्चित कर लिया गया था कि मुगल सेना कुछ समय तक मांडल में पड़ाव डालेगी।

मांडल से रवाना होकर मानसिंह गोगुंदा होता हुआ खमनौर पहुंचा और वहां बनास नदी के तीर पर मोलेला नामक (खमनौर से दो मील दूर बनास नदी के तट पर) ग्राम में अपने डेरे डाल दिये। इसी बीच

हल्दीघाटी का युद्ध

राणा प्रताप भी कुम्भलगढ़ से रवाना होकर हल्दीघाटी से आठ मील पश्चिम की ओर लोहसिंह नामक गांव तक पहुँच गया। राणा प्रताप ने अपनी सेना के लिये जिसकी संख्या मुश्किल से पांच हजार थी, एक सुरक्षित स्थान चुना था।[1] तत्पश्चात् जब राणा प्रताप को मालूम पड़ा कि मुगल सेना बनास नदी के तट पर मुकाम किये पड़ी है तो उसने भी पहाड़ों से उतर कर अपने सैनिकों को युद्ध के लिये संजोया। राणा की सेना के हरावल में हकीम खां सूर था। जब 21 जून 1576 के दिन हल्दीघाटी के मैदान में

1. "The spot where the Rana's forces were stationed were so guarded that it could be reached only by one man after another traversing a harrow and rugged path of about a mile and a half. A horse could with difficulty be led up; two men could hardly walk alreast, in same places the way ran so close to the precipice that the travell. had great need of steady eye and foot."

—Dr. G. N. Sharma, p. 94.

था, लेकिन यह सत्य अवश्य है कि राणा अपनी ओर से दिल्ली के साधन-सम्पन्न मुगल बादशाह से उस समय झगड़ा मोल लेने के लिए तैयार नहीं था। वह उस समय युद्ध को टालकर अपनी शक्ति एवं साधनों को संगठित करने के पक्ष में था। अतएव उसने मीठी बातों तथा ऊपरी दिखावे के द्वारा मुगल सम्राट को भुलावे में रखने के इरादे से अपने ज्येष्ठ पुत्र को राजा भगवन्तदास के साथ आगरा भेज दिया। इस समय अकबर भी बंगाल और बिहार जीतने की योजना बना रहा था। अतएव कुंवर अमरसिंह को अपने दरबार में देखकर कोई खास सन्तोष नहीं हुआ और कुछ दिनों बाद कुंवर अमरसिंह को मेवाड़ लौट जाने की आज्ञा दे दी।

इस घटना के कुछ समय पश्चात् राजा टोडरमल जब राणा के इलाके में होकर गुजरा और उसने भी प्रताप से भेंट की तब वह भी यही धारणा लेकर गया था कि राणा बादशाह से झगड़ा मोल लेने को उत्सुक नहीं था।

मैत्री की इन सब अप्रत्यक्ष स्वीकारोक्तियों के होते हुए भी राणा प्रताप अपनी शक्ति को जुटाने में प्रयत्नशील रहा। अकबर भी उसकी व्यक्तिगत हाजिरी के लिए हठ करता रहा। बादशाह के प्रति मैत्री-भाव प्रदर्शित करने पर भी अकबर ने उसे कोई यथेष्ट मान्यता प्रदान नहीं की और न चित्तौड़ के विजित खण्ड को लौटा देने की ही स्वीकृति प्रदान की। अतः राणा प्रताप का असन्तोष बढ़ने लगा। उसने अकबर के विरोधियों के साथ मित्रता स्थापित करना शुरू किया। ग्वालियर के असन्तुष्ट राजा तथा अड़ियल अफगानों और जोधपुर के राव चन्द्रसेन व सिरोही के राव सुलतान के साथ उसने मैत्री सन्धि की। अकबर इसे किस प्रकार बर्दाश्त कर सकता था? जब तक राणा प्रताप स्थाई रूप से अकबर की अधीनता स्वीकार नहीं कर लेता तब तक गुजरात मार्ग की सुरक्षा, तीर्थयात्रियों और व्यापारियों का आवागमन तथा व्यापार का यातायात निश्चिन्त नहीं रह सकता था।

अकबर और प्रताप के बीच विरोध के कारण

राजस्थान के मार्ग से सूरत और गुजरात के बन्दरगाहों के साथ जो व्यापारिक यातायात होता था उसको राणा प्रताप और राव चन्द्रसेन अवरुद्ध कर रहे थे। अकबर ने इन सब घटनाओं के पीछे राणा प्रताप का ही हाथ समझा। उसने शान्तिपूर्ण ढंग से प्रताप को अपने अधिकार में करने के जो तीन प्रयत्न किये थे वे निष्फल हो चुके थे तब लगभग समस्त उत्तर भारत अपने अधिकार में कर लेने के पश्चात् अकबर ने 1576 में प्रताप पर आक्रमण करने का निश्चय किया। मार्च 1576 में बादशाह स्वयं अजमेर पहुँचा। मानसिंह को सेना का मुख्य सेनापति नियुक्त करके अकबर स्वयं अपनी राजधानी वापस चला गया।

कुंवर मानसिंह को 5000 का ऊँचा मनसब प्रदान किया गया और उसकी [illegible] के [illegible] माधोसिंह, [illegible] [illegible] आसफ खाँ, सैयद अहमद खाँ, सैयद

हाशिम खां, राजा जगन्नाथ कछवाहा, सैयद राजू, मिहतरखां, माधवसिंह कछवाहा, मुजाहिदवेग, राजा लूणकरण इत्यादि को तैनात किया। इतिहासकार अब्दुल-कादिर बदांयूनी भी मानसिंह के साथ स्वयं आया था। कुंवर मानसिंह अजमेर से 3 अप्रेल 1576 के दिन रवाना हुआ और वह पहले मांडलगढ़ पहुँचा। यहां वह करीब दो महीने तक ठहरा रहा। मानसिंह के दो महीने तक मांडल में पड़े रहने के निम्न कारण हो सकते हैं.—

(i) उसे अतिरिक्त कुमक का इन्तजार था।

(ii) मांडल से आगे बढ़ने से पूर्व वह Line of Communication को सुरक्षित कर लेना चाहता था।

(iii) मानसिंह स्वयं Offensive लेने के बजाय यह ठीक समझता था कि Defensive Position में रह कर ही राणा से युद्ध करे।

(iv) अकबर यह समझता था कि मानसिंह के नेतृत्व में जो सेना भेजी जा रही है उसके कूच की सूचना पाकर राणा प्रताप स्वतः ही अधीनता स्वीकार कर लेगा। इसलिए अजमेर से रवाना होते वक्त ही यह निश्चित कर लिया गया था कि मुगल सेना कुछ समय तक मांडल में पड़ाव डालेंगी।

मांडल से रवाना होकर मानसिंह गोगुंडा होता हुआ खमनौर पहुँचा और यहां बनास नदी के तीर पर मोलेला नामक (खमनौर से दो मील दूर बनास नदी के तट पर) ग्राम में अपने डेरे डाल दिये। इसी बीच राणा प्रताप भी कुम्भलगढ से रवाना होकर हल्दीघाटी से आठ मील पश्चिम की ओर लोहसिंह नामक गांव तक पहुँच गया। राणा प्रताप ने अपनी सेना के लिये जिसकी संख्या मुश्किल से पांच हजार थी, एक सुरक्षित स्थान चुना था।[1] तत्पश्चात् जब राणा प्रताप को मालूम पड़ा कि मुगल सेना बनास नदी के तट पर मुकाम किये पड़ी है तो उसने भी पहाड़ों से उतर कर अपने सैनिकों को युद्ध के लिये संजोया। राणा की सेना के हरावल में हकीम खां सूर था। जब 21 जून 1576 के दिन हल्दीघाटी के मैदान में

हल्दीघाटी का युद्ध

1. "The spot where the Rana's forces were stationed were so guarded that it could be reached only by one man after another traversing a harrow and rugged path of about a mile and a half. A horse could with difficulty be led up; two men could hardly walk alreast, in same places the way ran so close to the precipice that the traveller had great need of steady eye and foot."

—Dr. G. N. Sharma p. 94.

तेनिहामिक युद्ध लडा गया तो Offensive मेवाड की सेना की ओर से लिया गया था और युद्ध शुरू होने के थोडे ही समय बाद जगन्नाथ कछवाहा तथा आसफ खा के नेतृत्व मे आक्रमणकारी मुगल सेना का अग्रिम भाग बुरी तरह खदेड दिया गया। कुछ समय के पश्चात मुगल सेना के बाए और दाहिने भाग की भी वही गति हुई। मुगल सेना मे हलचल मच गई। इसी समय मुगलो के पार्श्व भाग के सेनानायक मेहतरखा ने सैनिको को प्रोत्साहित किया। इसी समय बरहा के सैय्यदो ने डटकर राजपूतो का सामना किया। शीघ्र ही मेवाड की सेना के दाहिने भाग का नेता राजाराम साह अपने पुत्रो सहित मारा गया। जयमल का पुत्र रामदास भी मारा गया। दोनों पक्षो के जगो हाथी युद्ध के मैदान मे जूझ उठे। राणा प्रताप व मानसिह का द्वन्द युद्ध भी हुआ। इस द्वन्द युद्ध मे कुवर मानसिह ने अवर्णनीय दृढता दिखलाई। इसी समय यह खबर फैल गई कि अकबर बादशाह स्वय सेना लेकर रणक्षेत्र मे पहुँच गया है। इस झूठी खबर के फैलने से दो फायदे हुए—(1) मुगल सेना मे जो हलचल मच गई थी वह दब गई और सैनिक पुन युद्ध में जूझ पडे। (11) राणा प्रताप ने भी आक्रमण की तीव्रता को कम करके कोलियारी की ओर पीछे हटाली। युद्ध मे राणा प्रताप का शरीर उन बाणो से लगभग छन गया था जो मुगलो की ओर से निरन्तर उस पर चलाये जा रहे थे। राणा प्रताप तो स्वय युद्ध के मैदान से निकल भागा। लेकिन थोडी दूर पहुँचने पर उसके वफादार घोडे चेतक के प्राण पखेरू उड गये। पीछे हटती हुई राजपूत सेना का मुगल सेना ने किसी प्रकार पीछा नही किया। सेना बहुत थक चुकी थी और गर्मी भी बहुत सख्त थी।

प्रताप की पराजय के कारण

युद्ध प्रारम्भ होने पर सफलता राणा को मिली थी। लेकिन वह कतिपय कारणो से उसे किसी भी प्रकार स्थाई नही बना सका था। इसमे तो सदेह नही कि राणा की सेना की अपेक्षा मुगल सैनिको की सख्या बहुत अधिक थी। लेकिन राणा प्रताप ने आक्रमण करते समय न तो किसी प्रकार की सुनिश्चित व्यवस्था ही अपनाई थी और न सेना के विभिन्न भागो के पारस्परिक समन्वय बनाये रखने का कोई प्रयास ही किया था। इसका परिणाम यह निकला कि विभिन्न योद्धाओ ने व्यक्तिगत वीरता का आशातीत परिचय युद्ध भूमि मे दिया भी लेकिन फिर भी एक-दूसरे से पूर्णतया असम्बद्ध होने के कारण युद्ध के अन्तिम परिणाम मे किसी प्रकार के परिवर्तन की आशा नहीं हो सकती थी। इसके अतिरिक्त राणा ने अपनी पृष्ठ रक्षा के लिये कोई सैनिक दल ही नही रखाया और न अवत जरूरत के लिए अधिरक्षित विशेष सेना का कोई आयोजन किया था। इस युद्ध मे राणा प्रताप ने भी परम्परागत नीति का अनुसरण करके हस्ति सेना पर अधिक विश्वास किया था

युद्ध-

सवारों के सम्मुख हाथी क्या कर सकते थे ? 'पूर्व आधुनिक राजस्थान' के लेखक ने ठीक ही लिखा है—"राणा प्रताप में अतुलनीय साहस और अद्वितीय वीरता थी, परन्तु शतरंज के खेल की तरह बुद्धि बल पर सामूहिक रूप से लड़े जाने वाले आधुनिक युद्धों में सेनापतित्व करने के उपयुक्त वह कदापि नहीं था।" यदि यह नहीं होता तो राणा एक साथ घुड़सवारों के दो सशक्त दलों को एक साथ विरोधी सेना पर आक्रमण करने की आज्ञा नहीं देता और जब शत्रु दल के सैनिक भागने लगे तो उनका पीछा करने की पुरातन आक्रमण शैली का राणा ने जो प्रयोग किया था जो सर्वथा उचित नहीं था।

राणा प्रताप ने यह तो ठीक किया कि युद्ध स्थल में धराशाई हो जाने के स्थान पर अथवा जीवित पकड़े जाने के बजाय वह रण-भूमि छोड़ कर चला गया। लेकिन राणा के युद्ध-क्षेत्र से चले जाने के बाद मेवाड़ की सेना में भगदड़ मच गई और मुगलों की विजय सुनिश्चित हो गई। इसी समय राणा ने एक गलती और की। अकबर के हल्दी घाटी पहुँचने की अफवाह की सत्यता का पता लगाये बिना ही गोगूंदा भी खाली कर दिया जिस पर दूसरे दिन मानसिंह ने सुगमता से अधिकार कर लिया। यदि गोगूंदा में राणा अड़ जाता तो मुगलों का उस गढ़ पर अधिकार करना मुश्किल हो जाता।

राणा प्रताप के हल्दी घाटी के युद्ध-क्षेत्र से पलायन करने के साथ ही एक रोमांचकारी कहानी सम्बद्ध है जिसके अनुसार शक्तिसिंह ने अपने ज्येष्ठ भ्राता (प्रताप) की उसका पीछा करने वाले मुगल सैनिकों से रक्षा की और राणा के घोड़े चेतक के धराशाई हो जाने के पश्चात् उसे अपना घोड़ा दिया। यह कहानी नाटकीय तत्वों से भरपूर और कवि की अनोखी कल्पना का परिणाम है। अबुल कादिर बदायूनी तथा अबुल फजल ने कहीं पर भी यह नहीं लिखा है कि शक्तिसिंह भी मुगल सेना के साथ था। अतः इस कहानी को भी राणा प्रताप सम्बन्धी अनेकानेक कल्पनापूर्ण कथाओं में से ही एक मानना चाहिये। यदि यह कहानी किसी भी रूप में सत्य होती तो मेवाड़ के शिलालेखों तथा समकालीन कृतियों में इसका वर्णन अवश्य मिलता।

लेकिन "पराजित होने पर भी हल्दी घाटी के इस युद्ध ने राणा प्रताप की कीर्ति को अधिक समुज्जवल बना दिया तथा राजस्थान की स्वाधीनता के एक मात्र क्रियात्मक समर्थक राणा प्रताप की पराजयपूर्ण स्मृति वाला वह युद्ध क्षेत्र भी स्वतन्त्रता देवी की बलिवेदी पर मर मिटने वाले उन स्वामि-भक्त देश-प्रेमी वीरों के पुनीत रुधिर से सींचा जाकर राजस्थान की धर्मोपल्ली और समूचे भारत के स्वाधीनता प्रेमियों लिए एक पुण्य पवित्र तीर्थ स्थान बन गया।"[1]

1. पूर्व आधुनिक राजस्थान, पृष्ठ 57.

इस युद्ध में कोई अधिक जन क्षति नहीं हुई थी। मृत्यु संख्या दोनों पक्षों की बराबर रही थी। प्रत्येक पक्ष के लगभग 500 सैनिक ही वीर गति को प्राप्त हुए थे। लेकिन फिर भी हल्दी घाटी के युद्ध को इतना अधिक बढ़ा चढ़ा कर वर्णित किया गया है कि आधुनिक इतिहास का विद्यार्थी इसे भूल से इस्लाम एवं हिन्दुओं का संघर्ष समझ बैठता है। यह केवल मुगल साम्राज्य और मेवाड़ राज्य के बीच एक संघर्ष था। इस युद्ध में राजनैतिक अधिकार के अतिरिक्त और कोई उद्देश्य सम्मिलित नहीं था।

राणा प्रताप ने कुम्भलगढ़ के निकट दुरूह पहाड़ों में जाकर शरण ली थी। अतएव कुँवर मानसिंह को गोगून्दा पर अधिकार करने में शीघ्र सफलता प्राप्त हो गई। गोगून्दा पहुँचने पर मुगल सेना सम्पर्कहीन हो गई। वर्षा ऋतु प्रारम्भ हो जाने के पश्चात् सेना रसद के अभाव में तड़फने लगी। पशु मांस तथा आम के फल खाकर सैनिकों ने अपने प्राणों की रक्षा की। लेकिन फिर भी मानसिंह तथा आसफखां ने राणा के इलाके में लूटमार नहीं होने दी। इसका परिणाम यह निकला कि अकबर का मानसिंह पर सन्देह हो गया और उसने उसे वापस बुला भेजा राजधानी पहुँचने पर उसे दरबार में उपस्थित होने की आज्ञा नहीं मिली और जब माफी बख्शी गई तब 'राणा का इलाका लूटने' का आदेश देकर पुनः भेजा (दिसम्बर 1576 में)।

अकबर शायद मानसिंह और उसके पिता राजा भगवन्तदास को 'राणा का इलाका लूटने' का आदेश नहीं देता। लेकिन जैसे ही मानसिंह ने गोगून्दा से पीठ फेरी वैसे ही राणा प्रताप ने मुगल थानों पर छापे मारने शुरू कर दिये और समस्त गोगून्दा के प्रदेश पर पुनः अपना अधिकार कर लिया। मानसिंह और भगवन्तदास के पीछे २ अकबर स्वयं भी मेवाड़ की ओर रवाना हुआ। नवम्बर 1576 में उदयपुर नगर के पास होता हुआ वह स्वयं तो बागड़ की ओर चला गया और विजित प्रदेश की सुरक्षा का भार कछवाहों के ऊपर छोड़ गया। बादशाह अकबर इस प्रकार सर्वत्र मेवाड़ होकर गुजरा। अपनी इस मेवाड़ यात्रा में अकबर को केवल इतना लाभ हुआ कि दक्षिणी राजस्थान पर उसका आधिपत्य स्थापित हो गया तथा राजस्थान के नरेश इतने अधिक आतंकित हो गए कि अब राणा प्रताप की खुले रूप में सहायता करने वाला कोई राजा नहीं बचा। लेकिन मुगल सेना को मेवाड़ में पूर्णरूपेण शांति स्थापित करने में कोई सफलता नहीं मिली, फिर भी राणा प्रताप के राज्य की सीमायें अत्यधिक संकुचित हो गई। उत्तर में कुम्भलगढ़ से लगाकर दक्षिण में ऋषभदेव से कुछ आगे तक तथा पूर्व में देबारी से लगाकर पश्चिम में सिरोही की सीमा तक उसकी सीमाएं सीमित हो गई।

राजा भगवन्तदास और मानसिंह ने उन स्थानों पर पुनः अधिकार

कर लिया था जिन्हें राणाप्रताप अपने कब्जे में ले चुका था। लेकिन इन्होंने मेवाड़ से पीठ फेरी वैसे ही राणा प्रताप ने मुगल सेनानायकों को तंग शुरू कर दिया। अतः शाहबाजखां के नेतृत्व में एक सेना पुनः मेवाड़ भे (15 अक्टूबर, 1577)। इस सेना का मूल उद्देश्य कुम्भलगढ़ के दुर्ग पर अ करके अपने अधिकार में करना था। किले पर तो मुगलों का 3 अप्रेल 1578 अधिकार हो गया लेकिन जब शाहबाजखां और उसके साथियों को मालूम प चिड़िया (प्रताप) पहले ही उड़ चुकी है तो उन सबको अत्यधिक खेद हुआ

कुम्भलगढ़ से 2 या 3 अप्रेल 1578 की रात को निकलकर प्रताप 20 मील दक्षिण पश्चिम में स्थित ढोलन नामक गांव मे चले गए गांव पहाड़ों और जंगलों से घिरा होने के नाते सुरक्षित था और यहीं पर र तीन वर्ष का समय गुजारा (1580 से 1583 तक का)। इसी समय रा भीषण आर्थिक कठिनाईयों को दूर करने के लिए उनके स्वामिभक्त भामाशाह ने उन्हें 20 हजार मोहरें भेंट की थीं। राणा प्रताप के जीवन तीन संकटकालीन वर्षों का विभिन्न रूपों में वर्णन किया गया है।[1] राणा इन वर्षों की जीवनी को लेकर अनेकानेक कल्पनापूर्ण, अत्युक्तिमय, भावपूर्ण और कहानियों की रचना की गई है जिससे राणा प्रताप का ऐतिहासिक का सारा स्वरूप ही बदल गया है। अतः आधुनिक अनुसंधान ग्रन्थों कहानियों को कपोल-कल्पित ही बताया गया है।

मेवाड़ को तहस नहस करने का क्रम 1580 में पुनः अपनाया ग अजमेर के नए मुगल सूबेदार अब्दुलरहीम खानखाना ने महाराणा पर आक्रमण किया था।

जब राणा प्रताप ने बागड (डूंगरपुर व बांसवाडा) के प्रदेश पर धाव तो बादशाह अकबर ने राजा जगन्नाथ कछवाहा को दिसम्बर 1584 में प्र बंदी बनाकर मुगल दरबार में लाने की आज्ञा दी। राजा जगन्नाथ को अपने में किसी प्रकार की सफलता नहीं मिली। यह मुगलों का राणा के विरुद्ध अभियान था क्योंकि इसके बाद बादशाह का ध्यान उत्तर पश्चिम सीमा व पंजाब की सुरक्षा की ओर लग गया था।

राणा प्रताप ने इस स्थिति से लाभ उठाकर मेवाड़ के 36 थानों प अधिकार कर लिया जिनमें उदयपुर, गोगूंदा, मांडल के थाने प्रमुख थे। त 1585 ई० में ही प्रताप ने चावण्ड में अपनी एक नई राजधानी स्थापित चावण्ड में सुरक्षित रहते हुए राणा प्रताप ने मेवाड़ की व्यवस्था की ओर

इस युद्ध म कोई अधिक जन क्षति नही हुई थी। मृत्यु सख्या दोना पक्षों की बराबर रही थी। प्रत्येक पक्ष के लगभग 500 सैनिक ही वीर गति को प्राप्त हुए थे। लेकिन फिर भी हल्दी घाटी के युद्ध को इतना अधिक बढा चढा कर वर्णित किया गया है कि आधुनिक इतिहास का विद्यार्थी इसे भूल से इस्लाम एव हिन्दुओ का सघर्ष समझ बैठता है। यह केवल मुगल साम्राज्य और मेवाड राज्य के बीच एक सघर्ष था। इस युद्ध मे राजनैतिक अधिकार के अतिरिक्त और कोई उद्देश्य सम्मिलित नही था।

राणा प्रताप ने कुम्भलगढ के निकट दुरूह पहाडों मे जाकर शरण ली थी। अतएव कुँवर मानसिंह को गोगूदा पर अधिकार करने मे शीघ्र सफलता प्राप्त हो गई। गोगूदा पहुँचने पर मुगल सेना सम्पर्कहीन हो गई। वर्षा ऋतु प्रारम्भ हो जाने के पश्चात् सेना रसद के अभाव मे तडफने लगी। पशु मास तथा आम के फल खाकर सैनिको ने अपने प्राणो की रक्षा की। लेकिन फिर भी मानसिंह तथा आसफखा ने राणा के इलाके मे लूटमार नहीं होने दी। इसका परिणाम यह निकला कि अकबर को मानसिंह पर सन्देह हो गया और उसने उसे वापस बुला भेजा, राजधानी पहुँचने पर उसे दरबार मे उपस्थित होने की आज्ञा नहीं मिली और जब माफी बक्शी गई तब 'राणा का इलाका लूटने' का आदेश दकर पुन भेजा (दिसम्बर 1576 मे)।

अकबर शायद मानसिंह और उसके पिता राजा भगवन्तदास को 'राणा का इलाका लूटने' का आदेश नहीं देता। लेकिन जैसे ही मानसिंह न गोगूदा से पीठ फेरी वैसे हो राणा प्रताप ने मुगल थानो पर छापे मारने शुरू कर दिये और समस्त गोगूदा क प्रदेश पर पुन अपना अधिकार कर लिया। मानसिंह और भगवन्तदास के पीछे २ अकबर स्वय भी मेवाड की ओर रवाना हुआ। नवम्बर 1576 में उदयपुर नगर के पास होता हुआ वह स्वय तो बागड की ओर चला गया और विजित प्रदेश की सुरक्षा का भार कछवाहो के ऊपर छोड गया। बादशाह अकबर इस प्रकार ससैन्य मेवाड होकर गुजरा। अपनी इस मेवाड यात्रा में अकबर को केवल इतना लाभ हुआ कि दक्षिणी राजस्थान पर उसका आधिपत्य स्थापित हो गया तथा राजस्थान के नरेश इतने अधिक आतकित हो गए कि अब राणा प्रताप की खुले रूप में सहायता करने वाला कोई राजा नही बचा। लेकिन मुगल सेना को मेवाड मे पूर्णरूपेण शांति स्थापित करन मे कोई सफलता नही मिली, फिर भी राणा प्रताप के राज्य की सीमायें अत्यधिक सकुचित हो गई। उत्तर में कुम्भलगढ से लगाकर दक्षिण में ऋषभदेव से कुछ आगे तक तथा पूर्व मे देबारी से लगाकर पश्चिम मे सिरोही की सीमा तक उसकी सीमाए सीमित हो गई।

राजा भगवन्तदास पर पुन अधिकार

कर लिया था जिन्हें राणाप्रताप अपने कब्जे में ले चुका था। लेकिन जैसे ही इन्होंने मेवाड़ से पीठ फेरी वैसे ही राणा प्रताप ने मुगल सेनानायकों को तंग करना शुरू कर दिया। अतः शाहबाजखां के नेतृत्व में एक सेना पुनः मेवाड़ भेजी गई (15 अक्टूबर, 1577)। इस सेना का मूल उद्देश्य कुम्भलगढ़ के दुर्ग पर आक्रमण करके अपने अधिकार में करना था। किले पर तो मुगलों का 3 अप्रेल 1578 के दिन अधिकार हो गया लेकिन जब शाहबाजखां और उनके साथियों को मालूम पड़ा कि चिड़िया (प्रताप) पहले ही उड़ चुकी है तो उन सबको अत्यधिक खेद हुआ।

कुम्भलगढ़ से 2 या 3 अप्रेल 1578 की रात को निकलकर राणा प्रताप 20 मील दक्षिण पश्चिम में स्थित ढोलन नामक गांव में चले गए। यह गांव पहाड़ों और जंगलों से घिरा होने के नाते सुरक्षित था और यहीं पर राणा ने तीन वर्ष का समय गुजारा (1580 से 1583 तक का)। इसी समय राणा की भीषण आर्थिक कठिनाईयों को दूर करने के लिए उनके स्वामिभक्त मन्त्री भामाशाह ने उन्हें 20 हजार मोहरें भेंट की थीं। राणा प्रताप के जीवन के इन तीन संकटकालीन वर्षों का विभिन्न रूपों में वर्णन किया गया है।[1] राणा प्रताप के इन वर्षों की जीवनी को लेकर अनेकानेक कल्पनापूर्ण, अत्युक्तिमय, भावपूर्ण गीतों और कहानियों की रचना की गई है जिससे राणा प्रताप का ऐतिहासिक विवरण का सारा स्वरूप ही बदल गया है। अतः आधुनिक अनुसंधान ग्रन्थों में इन कहानियों को कपोल-कल्पित ही बताया गया है।

मेवाड़ को तहस नहस करने का क्रम 1580 में पुनः अपनाया गया जब अजमेर के नए मुगल सूबेदार अब्दुलरहीम खानखाना ने महाराणा पर असफल आक्रमण किया था।

जब राणा प्रताप ने बागड़ (डूंगरपुर व बांसवाड़ा) के प्रदेश पर धावा बोला तो बादशाह अकबर ने राजा जगन्नाथ कछवाहा को दिसम्बर 1584 में प्रताप को बंदी बनाकर मुगल दरबार में लाने की आज्ञा दी। राजा जगन्नाथ को अपने उद्देश्य में किसी प्रकार की सफलता नहीं मिली। यह मुगलों का राणा के विरुद्ध अन्तिम अभियान था क्योंकि इसके बाद बादशाह का ध्यान उत्तर पश्चिम सीमान्त प्रदेश व पंजाब की सुरक्षा की ओर लग गया था।

राणा प्रताप ने इस स्थिति से लाभ उठाकर मेवाड़ के 36 थानों पर अपना अधिकार कर लिया जिनमें उदयपुर, गोगूंदा, मांडल के थाने प्रमुख थे। तत्पश्चात् 1585 ई० में ही प्रताप ने चावण्ड में अपनी एक नई राजधानी स्थापित की। चावण्ड में सुरक्षित रहते हुए राणा प्रताप ने मेवाड़ की व्यवस्था की ओर भी ध्यान

1. देखिए डा. ओझा का लेख 'महाराणा प्रताप की पहाड़ों में स्थिति' मासिक त्यागभूमि, अजमेर से प्रकाशित।

दिया । 'The Rana had established perfect order in his land to the extent that women and children had no cause to fear anybody People enjoyed so much of internal security that even the Rana could not punish those who had no fault He had made provision for the diffusion of education The land under his sway abounded in milk, fruits, trees and provision of various kinds"

चावन्ड के इन राजमहलों मे रहते हुए 19 जनवरी 1597 के दिन राणा प्रताप की मृत्यु हो गई । चावण्ड मे करीब $1\frac{1}{2}$ मील के फासले पर एक झरने के किनारे इनकी दाह क्रिया की गई जहा उनकी छतरी आज भी विद्यमान है ।
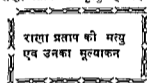
राणा प्रताप की मृत्यु एव उनका मूल्याकन

इस प्रकार स्पष्ट है कि राणा प्रताप ने अनेको कठिनाइयों, कष्टों एव पराजयो को निरन्तर सहते रहने पर भी जीवन पर्यन्त अकबर की आंशिक आधीनता तक स्वीकार नहीं की । "उसकी दृढता, धीरज, अडिग आत्मविश्वास तथा अनवरत प्रयत्न ससार के इतिहास की बहुत ही अनोखी और सर्वथा अनुकरणीय वस्तुयें है । किन्तु सुसगठित शक्तिशाली स्वाधीन भारत के इस नये वातावरण मे तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं का राष्ट्रीय दृष्टिकोण से निष्पक्ष अनुदर्शन करने पर राणा प्रताप के विशिष्ट आदर्श की सकीर्णता और उसकी विरोधपूर्ण नकारात्मक नीति में हर प्रकार की रचनात्मकता का पूर्ण अभाव सुस्पष्ट हो जाते हैं ।" राणा प्रताप का यह अनवरत विरोध भारतीय एकता और राष्ट्रीय सुसगठन के लिए प्रयत्न करने वाले नवयुवको का आदर्श बन सकता है, लेकिन यह तो मानना पडेगा कि जिस सिद्धान्त पर वे अडे हुए थे वह सिद्धान्त समकालीन अन्य राजपूत राजाओ के सिद्धान्त से भिन्न था । जबकि राणा प्रताप मेवाड की स्वतत्रता तथा सीसोदिया राजवश की प्रभुता के लिए सघर्षशील था उस समय राजस्थान का कोई अन्य राजा उससे प्रेरित होकर खुले रूप से उसके साथ नहीं आया । इसका यह तात्पर्य नही है कि राणा प्रताप के अलावा अन्य राजपूत राजा कायर हो चुके थे अथवा इतने निर्बल हो गये थे कि अपने मौलिक सुख के लिए अपनी स्वतन्त्रता को बेचने के लिए तैयार हो गये थे । यदि इन राजाओ को अपने घर-बार, धर्म अथवा रक्षा की चिन्ता होती तो वे भी अवश्य प्रताप के साथ कधा से कधा मिलाकर अकबर का विरोध करते । अकबर के साथ सम्पर्क स्थापित करने के पश्चात् इन राजाओं को विश्वास हो गया था कि बादशाह तो केवल उनकी आधीनता चाहता था ना कि उनके सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक जीवन मे हस्तक्षेप करना चाहता था । आधिपत्य स्वीकार करने वाले राजाओं को साम्राज्य में ऊंचे से ऊंचे पद पर नियुक्त किया जाता था । सामान्य

तौर पर अकबर के साम्राज्य में धर्म अथवा जाति के भेद के बावजूद भी सबके साथ समान व्यवहार किया जाता था। मुस्लिम राज्यों को तो उसने अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था लेकिन किसी बड़े हिन्दू राज्य को अपनी सल्तनत में नहीं मिलाया। इस प्रकार वास्तविकता और बुद्धि मुगल साम्राज्य के पक्ष में थी, लेकिन भावुक अतीतवाद राणा के साथ था।

राणा प्रताप के पश्चात् एक ओर तो उसके पुत्र अमरसिंह को विवश होकर अकबर की आंशिक आधीनता स्वीकार करनी पड़ी और दूसरी ओर अकबर की मृत्यु के पश्चात् उसकी धार्मिक सहिष्णुता भी कुछ ही वर्षों में पूर्णतया लुप्त हो गई और उसके साथ-साथ परवर्ती मुगल सम्राटों के शासन काल में साम्राज्य का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण भी दिनों-दिन संकुचित होने लगा। उस समय राणा प्रताप के विरोध को एक अनोखा राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक महत्व प्राप्त हो गया। यही कारण है कि उसकी जीवनकालीन विफलताएं भी सदियों बाद उसकी इस अनोखी सफलता का स्थायी आधार बन गई। टॉड कृत 'एनाल्स' में हमें राणा प्रताप की उस जीवनी की सम्पूर्ण तस्वीर मिलती है जो नाटकीय तत्वों में पूर्ण आकर्षक रंगों वाली होते हुए भी बहुत कुछ अंशों में ऐतिहासिकता-विहीन है।

राणा प्रताप के ज्येष्ठ पुत्र अमरसिंह का जन्म 26. 3. 1560 के दिन पहाड़ों में हुआ था। प्रताप की मृत्यु के पश्चात् मेवाड़ की तत्कालीन राजधानी चावण्ड में ही इनका 19 जनवरी 1597 के दिन राज्याभिषेक हुआ। किंवदांतियों के अनुसार राणा प्रताप अपने जीवनकाल में ही अमरसिंह की आलस्यमय प्रवृत्ति से अवगत थे। लेकिन फिर भी प्रताप ने अमरसिंह को गद्दी से वंचित करने की कोशिश नहीं की। जीवन-लीला समाप्त होने से पूर्व अमरसिंह को शपथ-सौगन्ध अवश्य दिलाई गई थी और अमरसिंह ने उन्हें पूर्णतया निभाने की कोशिश की।

महाराणा अमरसिंह I
1597–1620 A.D.

अमरसिंह के सम्मुख मेवाड़ की अकबर से रक्षा करने की समस्या ही नहीं थी, वरन् मेवाड़ में आन्तरिक अव्यवस्था भी फैली हुई थी। राज्य का सिविल और मिलीटरी प्रशासन अस्त-व्यस्त हो गया था। सरदारों में पारस्परिक ईर्ष्या की भावना फैली हुई थी। अतः अमरसिंह ने पहले तो सरदारों को विभिन्न श्रेणियों (सोलह और बत्तीस) में बांट दिया और फिर उनकी जागीरें स्थानान्तरित करने तथा उनकी श्रेणियां अपनी इच्छा से पलटना शुरू कर दिया। बेगू, बेदला, बदनोर, देलवाड़ा और रतनगढ़ की जागीरें एक जागीरदार से लेकर दूसरे को दी गई थीं। तत्पश्चात् निरन्तर युद्धों से विस्थापित लोगों को जमीनें देकर और नई बस्तियां बसाकर स्थापित किया और जिन लोगों को धन की आवश्यकता थी उन्हें

पैदा दिया। इसने हरीदास झाला के नेतृत्व में एक स्थायी सेना भी स्थापित की जिसमें पैदल, घुड़सवार, हाथी और रथ थे। तोपखाना भी कायम किया और गोंडवाना तथा मुल्तान से अनुभवी तोपचियों की सेवाएं प्राप्त करके उन्हें अपनी सेना में भर्ती किया। सैनिक सामग्री भी जुटाई थी। इस प्रकार एक ओर तो महाराणा अमरसिंह ने मेवाड़ में आन्तरिक व्यवस्था स्थापित की और दूसरी ओर मुगलों के साथ संघर्ष भी जारी रखा जो कि उसे विरासत में अपने स्वर्गीय पिता से प्राप्त हुआ था।

मुगल सम्राट् अकबर ने पंजाब से फारिग होकर 1599 के प्रारम्भ में मेवाड़ पर चढ़ाई करने का निश्चय किया। क्योंकि अकबर के लिये दक्षिण जाना आवश्यक था, अतः उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र सलीम के नेतृत्व में एक सेना 19 सितम्बर 1599 के दिन अजमेर की ओर रवाना की। सलीम के साथ राजा मानसिंह को भी भेजा गया। एक ओर तो शाही सेना मेवाड़ के प्रदेशों पर अधिकार करती हुई उदयपुर तक बढ़ गई और दूसरी ओर महाराणा अमरसिंह ने पहले ऊंटाल के मुगल थाने पर, बाद में माडल और फिर अन्य थानों को लूटा तथा वह मालपुरा तक पहुँच गया। सौभाग्य से इस समय सलीम का मस्तिष्क विकृत हो गया और वह जून 1600 में राजस्थान छोड़कर इलाहाबाद की ओर चला गया। राजा मानसिंह को भी बंगाल लौटना पड़ा क्योंकि वहां भी उपद्रव और विद्रोह हो रहे थे। सलीम के विद्रोह ने अकबर को अनेक कौटुम्बिक उलझनों में उलझा दिया। अतः उसके जीवनकाल में मुगलों की मेवाड़ पर कोई अन्य चढ़ाई नहीं हो सकी। अक्टूबर 1603 में उसने शाहजादा सलीम को मेवाड़ जाने का आदेश दिया था। लेकिन सलीम फतहपुर सीकरी से आगे नहीं बढ़ा। अतएव महाराणा अमरसिंह को अपनी शक्ति संगठित करने तथा भावी मुगल आक्रमणों का सामना कर सकने की तैयारी का पूरा-पूरा अवसर मिल गया।

जहांगीर ने जिस काम को अपने पिता के जीवन काल में करने में अरुचि प्रदर्शित की थी, वही कार्य उसने बादशाह बनने ही अपने हाथों में लिया। नवम्बर 1605 में शाहजादा परवेज और आसफखां जफर बेग के नेतृत्व में एक सेना, जिसमें 22000 घुड़सवार थे, मेवाड़ विजय करने के लिए रवाना की। लेकिन इस समय मुगलों को कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली। इसके दो कारण थे—

(1) जहांगीर के पुत्र खुसरो ने राजगद्दी प्राप्त करने के लिए विद्रोह कर दिया था। अतः उसे शाहजादा परवेज और आसफखां को मेवाड़ से वापस बुलाना पड़ा।

(2) राणा अमरसिंह ने आक्रमणकारी सेना से मेवाड़ की रक्षा करने के लिए देसूरी, बदनोर और माडल में शक्तिशाली चौकियां स्थापित कर दी थीं।

लेकिन जहांगीर ने मेवाड़ विजय का विचार छोड़ा नहीं, समय और परिस्थितियों के अनुसार स्थगित कर दिया। अतः उसने जुलाई 1608 में

पुनः महावतखां के नेतृत्व में एक शक्तिशाली सेना रवाना की। मारकाट करते हुए महावतखां के सैनिक उदयपुर शहर के निकट गिरवा तक पहुँच गए। लेकिन उसे ऊंटाला से वापस लौटना पड़ा। जहांगीर ने उसे वापस बुला लिया और उसके स्थान पर 1609 के अन्तिम दिनों में अब्दुल्ला खां को मेवाड़ भेजा। अब्दुल्ला खां को भी कोई खास सफलता नहीं मिल सकी। बल्कि जब राणपुर[1] के युद्ध में उसे अमरसिंह के सेनापति मुकुन्ददास और भीम ने बुरी तरह खदेड़ दिया तो जहांगीर ने इसे भी मेवाड़ से बदल कर गुजरात भेज दिया। उसके स्थान पर मेवाड़ विजय का कार्य 1612 में राजा बासू को सौंपा गया। राजा बासू राजपूतों के विरुद्ध उसके पूर्ववर्ती मुगल सेनानायकों के समान कोई उल्लेखनीय सफलता प्राप्त नहीं कर सका लेकिन राजा बासू एक हिन्दू था। अतः जहांगीर ने उसकी असफलताओं को मिलीभगत समझा और उसे वापस बुला लिया तथा उसके स्थान पर मिर्जा अजीज कोका को 1613 में मेवाड़ भेजा। इसी समय बादशाह जहांगीर भी स्वयं अजमेर तक पहुँच गया। अजमेर पहुँचने पर जहांगीर ने अपने पुत्र खुर्रम के नेतृत्व में एक शक्तिशाली सेना 17 दिसम्बर 1613 के दिन मेवाड़ भेजी। फारसी तवारीखों को पढ़ने से पता चलता है कि खुर्रम ने इस समय पूर्ण-रण कौशल एवं सैनिक तत्परता का प्रदर्शन किया था। मांडल, कपासन, ऊंटाला, नाहर, मगरा, देबारी और दबोक में थाने कायम करके मेवाड़ को घेर लिया और बहुत शीघ्र चावण्ड पर अपना अधिकार कर लिया (मार्च 1614)। राणा अमरसिंह तो स्वयं छप्पन के पहाड़ों में चले गए। लेकिन मेवाड़ के सरदार और प्रजा पैंतालीस वर्षों के निरन्तर युद्ध से इतना अधिक घबरा गए थे कि उन लोगों ने राणा अमरसिंह के ज्येष्ट पुत्र महाराजकुमार कर्ण को समझा बुझाकर शाहजादा खुर्रम के साथ संधि करने के लिए राजी कर लिया। हरीदास झाला और शुभ-करण को संधि का पैगाम लेकर खुर्रम के पास भेजा गया। खुर्रम ने इन दोनों को मुल्ला शुकरुल्ला शिराजी और सुन्दरदास के हमराह बादशाह जहांगीर के पास अजमेर भेज दिया। खुर्रम यह महसूस करने लगा था कि सीसोदियों के साथ संधि करने के अलावा और कोई तरीका नहीं है जिसके द्वारा मेवाड़ को मुगल आधिपत्य में किया जा सके। अतः खुर्रम की सिफारिश पर जहांगीर ने राणा अमरसिंह के साथ संधि करने की अनुमति दे दी और अपने पंजे का एक शाही फरमान महाराणा अमरसिंह के पास भिजवाया।[2] फरमान प्राप्त होने पर राणा अमरसिंह पहाड़ों से निकल कर शाहजादा खुर्रम से मिलने के लिए गोगूंदा तक आए। इसी स्थान पर 5 फरवरी 1615 के दिन 'अहदनामा' हुआ जिसके द्वारा बादशाह जहां-

1. राणपुर कुम्भलगढ़ के निकट है।
2. बादशाह के फरमान का हिन्दी अनुवाद वीर विनोद (पृष्ठ 239) में है।

गीर के मेवाड विजय करने के सप्त वर्षीय प्रयत्नों का भी अन्त हुआ। संधि-पत्र की शर्तें इस प्रकार थीं—

(i) महाराणा अमरसिंह को दूसरे राजाओं के समान शाही सेवा में शामिल कर लिया गया।

(ii) लेकिन महाराणा अमरसिंह को व्यक्तिगत रूप से शाही दरबार में उपस्थित नहीं होने की अनुमति दे दी गई।

(iii) राणा अमरसिंह के स्थान पर उसका ज्येष्ठ पुत्र कुंवर कर्ण शाही दरबार में जाएगा।

(iv) महाराणा 1000 घुड़सवारों को कुंवर कर्ण के साथ शाही सेवा में भेजेगा।

(v) चित्तौड का किला तो महाराणा को लौटा दिया जाएगा लेकिन वह उसकी मरम्मत नहीं करा सकेगा और न किला बन्दी ही करा सकेगा।

इस प्रकार जहांगीर ने अमरसिंह के द्वारा मुगल आधिपत्य स्वीकार कर लेने के पश्चात् वह आशातीत सफलता प्राप्त की जो उसका प्रतापी पिता भी प्राप्त नहीं कर सका था और अमित संतोष तथा अपूर्व गौरव का अनुभव किया।

कुंवर कर्ण जब बादशाह जहांगीर के दरबार में अजमेर पहुँचा तब उसे दाहिनी ओर की पंक्ति में सर्व प्रथम खड़ा किया गया, सारा मेवाड का विजित प्रदेश उसे लौटा दिया गया और डूंगरपुर, बांसवाड़ा व देवलिया के राज्य भी उसे लौटा दिये गये। इसके अतिरिक्त कुंवर कर्ण को मुगल प्रशासनिक सेवा में पांच हजार का मन्सब भी प्रदान किया गया। इसी समय कुंवर कर्ण के पुत्र जगतसिंह का भी बादशाह से परिचय कराया गया।

महाराणा अमरसिंह ने मुगल सम्राट् का अधिपत्य स्वीकार करके भावुक लोगों की दृष्टि में एक घोर अपराध किया था। इतिहास में उनका नाम अपमान-जनक शब्दों में लिखा गया। लेकिन यह आलोचना युक्तिसंगत नहीं है। पैंतालीस वर्षों के निरन्तर युद्धों ने मेवाड की शक्ति को क्षीण कर दिया था। केवल सैनिक शक्ति ही क्षीण नहीं हुई थी, वरन् आर्थिक दृष्टि से भी मेवाड बर्बाद हो चुका था। खेतों में उपज नहीं हो रही थी। महाराणा की सेना के स्तम्भ, मेवाड के जागीरदार युद्ध से इतना अधिक थक गए थे कि उन लोगों ने अमरसिंह के पुत्र कर्ण को युद्ध समाप्त करके मुगल बादशाह के साथ संधि कर लेने के लिए विवश किया था। इन परिस्थितियों में अमरसिंह के लिए संधि करके मुगल बादशाह की आधीनता स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं था। शांति स्थापित हो जाने

के पश्चात् मेवाड़ में आन्तरिक व्यवस्था करने का अवसर महाराणा प्रताप को मिल गया ।[1]

महाराणा अमरसिंह ने विवशता में संधि कर लेने के बाद भी व्यक्तिगत रूप से मुगल बादशाह के दरबार में हाजिरी नहीं दी और न अन्य साथी राजाओं के समान शाही कृपा प्राप्त करने के लिए डोला ही दिया । अतः युद्ध का अन्त करके बादशाह की अधीनता स्वीकार करने के लिए महाराणा अमरसिंह की जो आलोचना की गई है वह ऐतिहासिक घटनाओं के प्रसंग में उचित नहीं है ।

महाराणा अमरसिंह ने विवश होकर मुगल बादशाह की अधीनता अवश्य स्वीकार कर ली थी लेकिन उसे स्वयं असीम आत्म-ग्लानि का अनुभव हुआ था और इसलिए उसने अपने जीवन के शेष पांच वर्ष एकान्तवास में ही व्यतीत किए और राज्य का शासन प्रबन्ध उसके ज्येष्ठ पुत्र कुंवर कर्ण ने संभाला ।

26 जनवरी, 1620 के दिन महाराणा अमरसिंह का उदयपुर में देहान्त हुआ ।

महाराणा अमरसिंह के ज्येष्ठ पुत्र कर्णसिंह का जन्म 7 जनवरी 1584 के दिन हुआ था और अमरसिंह की मृत्यु के पश्चात् 26 जनवरी 1620 के दिन इनका राज्याभिषेक हुआ । चूंकि स्वर्गीय महाराणा ने बादशाह जहाँगीर की आधीनता स्वीकार कर ली थी, अतः जब मुगल सम्राट को महाराणा अमरसिंह की मृत्यु की सूचना मिली तो उसने राजा कृष्णदास को राजतिलक का टीका और खिलअत देकर उदयपुर भेजा ।
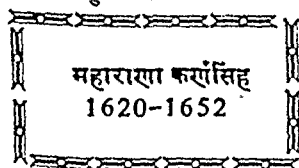
महाराणा कर्णसिंह 1620-1652

राज्याभिषेक के तुरन्त बाद कर्ण ने अपना ध्यान मेवाड़ के प्रशासन और व्यवस्था की ओर लगाया । उजड़े हुए भू-भाग को पुनः आबाद किया गया । प्रजा की देखरेख करने के लिए गांवों में पटेल, पटवारी और बलाई नियुक्त किए । कई ग्रामों को मिलाकर परगने कायम किए । मेवाड़ में एक नियम कायम किया गया जिसके अनुसार भूमि कर वसूल किया जाने लगा ।

तत्पश्चात् इसने अपनी राजधानी उदयपुर में जनाना महल, रसोड़ा, तोरण पोल, सभाशिरोमणि, गणेश ड्योढ़ी, दिलकुशा, महल के भीतर की चौपड़, चन्द्र महल, हाथियों के लिए दालान, कृष्ण निवास के हौज इत्यादि तैयार करवाए ।

1. डूंगरशाह को अपना मुख्यमन्त्री नियुक्त करके मेवाड़ के भूमि कर संबंधी नियम बनवाए तथा दरबारी वेषभूषा, तहजीब इत्यादि के नियम बनाए गए । कई बगीचे, फव्वारे तथा गुसलखाने बनवाए गए और उदयपुर में एक नया महल बनवाया जो आज भी अमर महल के नाम से प्रसिद्ध है । अमरसिंह के शासन-काल में शिक्षा और साहित्य की भी प्रगति हुई ।

इस प्रकार वृहद् पैमाने पर भवन निर्माण का कार्य प्रारम्भ करके महाराणा कर्णसिंह ने मेवाड की बरोजगार जनता को रोजगार प्रदान किया। जो लोग शारीरिक काम के लिए असमर्थ थे उन्हें दान के रूप में आर्थिक सहायता दी गई। इस प्रकार महाराणा अमरसिंह के शासनकाल में मेवाड की मुगलों के साथ जो संधि स्थापित हो गई थी उसमे लाभ उठाकर कर्ण ने मेवाड की आन्तरिक व्यवस्था की ओर अपना पूरा ध्यान लगाया।
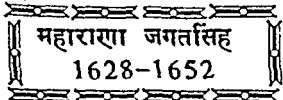
इसी समय बादशाह जहांगीर के पुत्र खुर्रम ने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। विद्रोह काल में शाही सेनाएं निरंतर खुर्रम का पीछा कर रही थी। अन्त मार्च 1623 में बिलोचपुर के युद्ध में पराजित हो जाने के पश्चात् बागी शाहजादा राजस्थान की ओर आया। उसने आमेर को लूटा और माडू की राह ली। उस समय अल्प समय के लिए वह मेवाड भी गया था। यद्यपि फारसी तवारीखों में खुर्रम की उदयपुर यात्रा का वर्णन नहीं है, लेकिन राजस्थानी भाषा के सभी ग्रंथों में इसका वर्णन है। इसके अतिरिक्त विद्रोहकाल में महाराणा कर्णसिंह का भाई राजा भीम सीसोदिया खुर्रम के साथ था। खुर्रम के स्वयं भी व्यक्तिगत रूप से महाराणा कर्ण के साथ सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे। अतः बहुत सम्भव है कि वह माडू जाते समय उदयपुर गया हो।[1] मेवाड की परम्परा के अनुसार जब शाहजादा खुर्रम उदयपुर में ठहरा हुआ था तब उसने महाराणा कर्ण के साथ पगडी बदली थी। लाल रंग की यह पगडी अब भी उदयपुर म्यूजियम में सुरक्षित है। भाईचारे में पगडी बदलने की जिस घटना का डा॰ ओझा और कविराजा श्यामलदास ने जो वर्णन किया है वह जनश्रुति के आधार पर हो सकता है क्योंकि समकालीन ऐतिहासिक आधार ग्रंथ उसके सम्बन्ध में मौन हैं लेकिन विद्रोहकाल में खुर्रम का उदयपुर आकर (अप्रेल–मई 1623) इनेगिने दिन ठहरना ऐतिहासिक सत्य है। हो सकता है कि इस यात्रा का कोई राजनैतिक परिणाम नहीं निकला हो क्योंकि मेवाड के महाराणा ने खुले रूप से विद्रोही शाहजादे को कोई सहायता नहीं दी थी, लेकिन फिर भी यह घटना मेवाड के इतिहास में कम महत्व नहीं रखती। शाहजहां के शासनकाल में मेवाड के मुगल साम्राज्य के साथ जो मधुर सम्बन्ध रहे उसका एक कारण खुर्रम की मेवाड यात्रा हो सकती है।

जहांगीर की मृत्यु के पश्चात् जब शाहजादा खुर्रम गद्दीनशीन होने के लिए दक्षिण से आगरा जा रहा था तब वह राजस्थान के मार्ग से गुजरा था। उस वक्त गोगूंदा में खुर्रम और महाराणा कर्णसिंह की 1 जनवरी 1628 के दिन

---

1. राज प्रशस्ति, अमरकाव्य वंशावली तथा राजप्रकाश में खुर्रम की उदयपुर यात्रा का जिक्र है।

भेंट हुई थी। इस प्रकार महाराणा ने अपनी पुरानी मैत्री को सुदृढ किया।[1] लेकिन इसके पश्चात् ही महाराणा कर्णसिंह का मार्च 1628 में उदयपुर में शरीरान्त हो गया।

महाराणा कर्णसिंह के ज्येष्ठ पुत्र जगतसिंह का जन्म 1615 में हुआ था। सन 1628 में राज्याभिषेक संस्कार सम्पन्न हुआ। गद्दी पर बैठते ही जगतसिंह को हाथ में तलवार लेनी पड़ी।

महाराणा जगतसिंह 1628–1652

1615 से डूंगरपुर, बांसवाड़ा व देवलिया-प्रतापगढ़ के राज्य शाही फरमान के अनुसार मेवाड़ के महाराणा के आधिपत्य में चले आ रहे थे लेकिन बागड़ के राजा इस असन्तुष्ट थे। वे अपने राज्यों का मुगल सम्राट् के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करने के उत्सुक थे। अतः शाहजहां के राज्याभिषेक[2] समारोह के समय डूंगरपुर के रावल पूंजा और बांसवाड़ा के रावल समरसी ने शाही मन्सब प्राप्त करके मेवाड़ के जुए को उतार दिया था। इस समय मेवाड़ का महाराणा कर्ण बीमार था। इसलिये वह डूंगरपुर और बांसवाड़ा के खिलाफ कोई कदम नहीं उठा सका।

कर्ण की मृत्यु के पश्चात् जब देवलिया का रावत जसवन्तसिंह भी अजमेर के सूबेदार महावत खां और जानिसार खां के साथ मिलकर मेवाड़ के महाराणा जगतसिंह से स्वतंत्र होने की कोशिश करने लगा, तब उसे उदयपुर बुलाया और वहीं उसकी मृत्यु हो गई। देवलिया में उसकी मृत्यु को कत्ल समझा गया। अतः जसवन्तसिंह के उत्तराधिकारी हरीसिंह ने शाहजहां के दरबार में पहुँचकर अपने राज्य को भी मेवाड़ की अधीनता से मुक्त करवा लिया।

अतः महाराणा जगतसिंह ने पहले तो डूंगरपुर और बांसवाड़ा को अपने अधिकार में करने के लिए सेनाएं भेजी और फिर मुगल सम्राट शाहजहां की अप्रसन्नता को दूर करने के लिए मेवाड़ की सेना को दक्षिण के युद्ध में भाग लेने के लिए भेजकर मुगल सम्राट को भी पुनः सन्तुष्ट कर दिया।

वांसवाडा के रावल समरसी ने तो मेवाड़ की आधीनता स्वीकार कर ली थी, लेकिन रावल पूंजा शाहजहां की सेवा में होने के कारण अधीनता स्वीकार करने से बाज रहा। पूंजा की अनुपस्थिति में मेवाड़ की सेना ने डूंगरपुर शहर को लूटा और वहां के राजमहलों को नष्ट भ्रष्ट किया। डूंगरपुर को अधीन करने के प्रयत्न में विफल महाराणा जगतसिंह ने सिरोही पर अधिकार करने का भी असफल

1. इसी समय महाराणा कर्णसिंह ने अपने भ्राता अर्जुनसिंह को चन्द घुड़सवारों के साथ खुर्रम के हमराह आगरा भेजा था।
2. शाहजहां का राज्याभिषेक 4 फरवरी 1628 के दिन आगरा में सम्पन्न हुआ था।

प्रयत्न किया। स्वाभाविक रूप से मुगल सम्राट् शाहजहाँ महाराणा की इन आक्रामक सैनिक कार्यवाहियों से असन्तुष्ट हो गया। अतः महाराणा जगतसिंह ने 1615 की सन्धि के अनुसार देलवाड़ा के कल्याण झाला के नेतृत्व में मेवाड़ की सेना को दक्षिण के युद्धों में भाग लेने के लिए भेजा। कल्याण झाला के साथ महाराणा ने जो पत्र शाहजहाँ की सेवा में भेजा था उससे शाहजहाँ सन्तुष्ट हो गया और उसने महाराणा जगतसिंह के विरुद्ध किसी प्रकार की कोई भी सैनिक कार्यवाही नहीं की।

लेकिन शाहजहाँ और जगतसिंह का मनमुटाव दिलों में बदस्तूर बना रहा। अतः जैसे ही शाहजहाँ को अवसर मिला वैसे ही वह 1643 में अजमेर तक पहुँच गया। अजमेर तक तो शाहजहाँ जियारत का बहाना करके आया था लेकिन इनायत खाँ लिखता है कि शाहजहाँ अजमेर से चलकर चित्तौड़ तक पहुँच गया था। इस समय महाराणा जगतसिंह युद्ध के लिए तैयार नहीं था। अतः उसने अपने पुत्र राजसिंह को बादशाह की सेवा में भेजा। बहुमूल्य भेंटें इत्यादि देकर उसने सम्भावित संकट से मेवाड़ की रक्षा करली। महाराणा जगतसिंह 'बलवानपि शत्रुन्नृप: सन्धि विधायक' की नीति में विश्वास करता था।[1] अतः 1643 के बाद महाराणा यदा-कदा शाहजहाँ की सेवा में बहुमूल्य भेंटें भेजकर खुला संघर्ष टालते रहे। 1648 में बल्ख और बदख्शां के युद्धों में मुगल सेना के द्वारा प्राप्त सफलताओं पर बधाई देने के लिए महाराणा जगतसिंह ने अपने पुत्र राजसिंह को आगरा भेजा था। लेकिन जब मुगल सम्राट 1649 में कंधार के फसाद में उलझ गया तो वह 1615 की सन्धि की अवहेलना करके चित्तौड़ के किले की दीवारें और दरवाजे बनवाने में लग गया। शाहजहाँ को कंधार के फसाद से शीघ्र फुर्सत नहीं मिल सकी।

इस प्रकार मुगलों के साथ संघर्ष को टालकर महाराणा जगतसिंह ने मेवाड़ में रचनात्मक कार्यों की ओर अपना ध्यान दिया। इसे भवन निर्माण के प्रति अभिरुचि थी। उदयपुर में पिछोला झील के महल इसके शासनकाल में ही बनवाए गए थे। उदयपुर शहर का सुप्रसिद्ध जगदीशजी का मन्दिर इसके शासन काल में ही बनवाया गया था। महाराणा जगतसिंह ने केवल भवन निर्माण कार्य की ओर ही ध्यान नहीं दिया बल्कि विद्वानों को संरक्षण प्रदान किया तथा धर्म शास्त्रों के

1. जगतसिंह काव्य by कवि रघुनाथ
यह महाराणा जगतसिंह का समकालीन था। महाराणा जगतसिंह शक्तिशाली शत्रु के साथ सन्धि तथा निर्बल शत्रुओं का दमन करने में विश्वास करते थे।

नुकूल न्याय व्यवस्था को regulate किया। इसीलिए महाराणा जगतसिंह के शासनकाल में बेगार बन्द कर दी गई थी।

10 अप्रेल 1652 के दिन महाराणा जगतसिंह का देहान्त हो गया। उसकी मृत्यु के साथ ही राजस्थान के इतिहास का शांति-समृद्धिकाल भी समाप्त हो गया।

महाराणा जगतसिंह के ज्येष्ठ पुत्र राजसिंह का जन्म 12 अक्तूबर 1631 के दिन हुआ था। महाराणा जगतसिंह की मृत्यु के पश्चात् इनका राज्याभिषेक संस्कार अक्तूबर 1652 में हुआ था। बादशाह शाहजहां ने टीके का शाही दस्तूर कल्याण झाला और नरदमन गौड़ के हाथ भिजवाया।

महाराणा राजसिंह 1
1652-1680

लेकिन राजसिंह ने सिंहासनारूढ होते ही मुगल बादशाह की अप्रसन्नता का ख्याल किए बगैर चित्तौड के किले की मरम्मत तथा किलेबन्दी के काम को जारी रखा और गरीबदास को अपना मुसाहिब (मुख्य परामर्शदाता) नियुक्त किया। गरीबदास महाराणा कर्णसिंह के छोटे बेटे थे। यह मुगल साम्राज्य की सेवा में 1500 जात व सवार के मन्सबदार थे। राजसिंह की यह प्रारम्भिक कार्यवाहियां मुगल बादशाह की उत्तेजना को भड़काने के लिए पर्याप्त थीं। इस वक्त तक शाहजहां कंधार के फसाद से निवृत्त हो चुका था। अतः वह स्वयं सितम्बर 1654 में अजमेर तक आया और अजमेर से वजीर सादुल्ला खां को 30,000 सैनिकों के साथ चित्तौड़ की किलेबन्दी को नष्ट करने के लिए भेजा।[1] चित्तौड़ पहुँचने पर महाराणा राजसिंह की ओर से रामसिंह झाला और मधुसूदन भट्ट वजीर से मिलने आए। लेकिन सादुल्ला खां अपने इरादों से बाज नहीं आया और उसने चित्तौड़ के किले की मरम्मत शुदा दीवारों को नष्ट किया।

1. वजीर सादुल्ला खां को रवाना करने से पहले बादशाह ने 21 मई 1654 के दिन अपने दण्डमृत अब्दुलबेग को भेजा था। इसके द्वारा यह कहलाया गया था कि राणा अपने सेवादल को औरंगजेब के अधीन सेवा करने के लिए दक्षिण भेज दें। लेकिन अब्दुलबेग ने गुप्त रूप से राणा की सैनिक शक्ति तथा चित्तौड़ के किले की मरम्मत का पूरा पता लगा लिया। उसने बादशाह को सूचना दी "चित्तौड़ के प्रायः समस्त पुराने फाटकों का उद्धार हो गया है, कुछ नए फाटक भी बना लिए गये हैं और दुर्गम स्थलों पर भी प्राकारों का निर्माण हो रहा है।" यह खबर मिलने पर वजीर सादुल्ला खां को तुरन्त चित्तौड़ विजय करने के लिए भेज दिया गया।

इस समय राणा राजसिंह के प्रति शाहजादा दाराशिकोह की पूरी सहानुभूति थी। महाराणा राजसिंह को जैसे ही इस सहानुभूति का मालूम पडा, वैसे ही उन्होंने राव रामचन्द्र चौहान, राघवदास झाला, सांवलदास राठौड और पुरोहित गरीबदास का एक शिष्टमण्डल दारा की सेवा मे भेजा। इन लोगो ने खलीलपुर के मुकाम पर दारा से भेंट की। तत्पश्चात दारा की सिफारिश पर बादशाह ने चन्द्रभान ब्राह्मण को मुगल मेवाड संघर्ष का अन्त करने के लिए उदयपुर भेजा। चन्द्रभान के साथ अब्दुलकरीम को भी भेजा गया था। इस समय चन्द्रभान ने पत्रो के द्वारा जो सूचना मुगल दरबार मे भिजवाई थी वह 'इन्शा ए चन्द्रभान' म लिपिबद्ध हो कविराजा श्यामलदास न सम्बन्धित पत्रों को मय उनके हिंदी अनुवाद क 'वीर विनोद म छाप दिया है।[2] वार्तालाप के पश्चात् राणा के पास मुगल सम्राट की सख्त शर्तें स्वीकार करने के अलावा और कोई रास्ता नही बचा। वह पुर और मण्डल के परगने छोडने के लिए राजी हो गया। उसने शेख अब्दुलकरीम के हमराह अपने नाबालिग पुत्र को मुगल दरबार मे भेजा जिसका शाहजहा ने सौभागसिंह नाम रखा। बादशाह ने सौभागसिंह को उचित उपहार देकर वापस भेज दिया। दारा समझने लगा कि उसकी सिफारिश पर मुगलों की मेवाड के साथ जो सधि हुई है उससे महाराणा को कुछ भी नुकसान नही हुआ है। अपनी इस भावना को दारा ने एक पत्र मे प्रकट किया था जो इस सधि के तुरन्त पश्चात् मिर्जा राजा जयसिंह क नाम लिखा था।[3] लेकिन महाराणा राजसिंह को पुर और मण्डल के हाथ से निकल जाना खटकता रहा और उन्होंने उदयकरण चौहान और शकरभट्ट को दक्षिण म दारा के प्रतिद्वन्दी औरगजेब के पास भेजा। औरगजेब ने इस अवसर से लाभ उठाकर इन्द्र भट्ट और किदाई ख्वाजा के द्वारा महाराणा के लिए निशान खिल्लत इत्यादि भिजवाई। औरगजेब ने किस प्रकार

1 दारा ने मिर्जा राजा जयसिंह को एक पत्र लिखा था जिससे यह प्रकट होता है कि उसकी महाराणा के साथ सहानुभूति थी। पत्र का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है "चू कि एक अलग सेना राणा के प्रदेश के विरुद्ध भेज दी गई है और चूकि मैने कृपा और उदारता के कारण सदैव राणा के हितो को अपने ध्यान म रखा है, मरी इच्छा है कि उसकी निष्ठा और भक्ति के विषय मे सत्य को सम्राट के सम्मुख प्रकट कर दू ताकि वह और उसका प्रदेश विजयी सेना के आघात (पासिब) से बच जाए।"

2 देखिए वीर विनोद P P 403-12.

3 दारा के शब्दो मे ही 'राणा का प्रदेश और सम्मान यथा-पूर्वक सम्पूर्ण हैं। यह सम्पूर्ण राजपूत जाति को ज्ञात होना चाहिए कि मैं उनका कितना हितैषी हूँ।"

महाराणा राजसिंह के साथ खतोखितावत बनाए रखकर उसे अपना मित्र बना लिया था इसका आभास हमें 'वीर विनोद' में प्रकाशित सम्बन्धित पत्रों से मिल जाता है। औरंगजेब ने फरवरी 1658 के एक पत्र में महाराणा से सैनिक सहायता भी चाही थी।[1] धरमत पहुँचने से पहले औरंगजेब ने एक पत्र मार्च 1658 में और लिखा था जिसमें उसने महाराणा से सैनिक सहायता चाही थी। औरंगजेब के भरसक प्रयत्नों के उपरान्त भी महाराणा राजसिह ने उत्तराधिकार के संघर्ष में कोई भाग नही लिया। उन्होंने मुगलों की व्यस्त स्थिति से लाभ उठाकर दरीवा, मांडल, वनेड़ा, शाहपुरा, खरवद, जहाजपुर, फूलिया इत्यादि को अपने अधिकार में करके अजमेर के निकट केकड़ी जाकर मुकाम किया। इस स्थान पर उसे दारा का निशान भी मिला था जिसमें उसने महाराणा से सहायता की याचना की थी लेकिन महाराणा राजसिंह ने अपने मंत्री कायस्थ फतहचन्द्र के नेतृत्व में सैनिकों की टुकड़ी टोडा, मालपुरा, चाटसू और लालसोट को लूटने के लिए भेजी। महाराणा राजसिंह की यह सैनिक कार्यवाहियां यह वतलाती है कि वह हृदय से मुगलों का शुभचिन्तक नहीं था। उसने दारा अथवा औरंगजेब को सहायता देने के वजाय मुगल साम्राज्य की तत्कालीन अस्त-व्यस्त राजनैतिक स्थिति से फायदा उठाकर मेवाड़ की सीमाओं का विस्तार किया।

सामूगढ़ के युद्ध के पश्चात् महाराणा राजसिह ने अपने पुत्र सौभागसिंह को शाहजादा औरंगजेब के पास विजय की मुवारकवाद देने के लिए भेजा। सौभागसिंह ने औरंगजेब से सलीमपुर के स्थान पर भेंट की। इसी समय बादशाह औरंगजेब ने एक फरमान महाराणा राजसिंह के नाम जारी किया। इस फरमान के द्वारा डूंगरपुर, बांसवाड़ा व ग्यासपुर के परगने महाराणा को प्रदान किए गए और उसे 6000 जात व 5000 सवार का मन्सब प्रदान किया गया। इन परिस्थितियों में राजसिंह के लिए यह सम्भव नहीं था कि वह दारा के निशान ध्यान देकर उसे औरंगजेब के विरुद्ध देवराम के युद्ध में सहायता देता।

औरंगजेब ने महाराणा राजसिंह पर यह कृपा क्यों की जब कि राजसिंह ने उत्तराधिकार के युद्ध में उसकी कोई सहायता नहीं की थी? इसका एक ही सम्भव कारण हो सकता है। औरंगजेब यह नहीं चाहता था कि कोई भी राजपूत राजा दारा की सहायता करे। वह मिर्जाराजा जयसिंह तथा उसके द्वारा महाराजा जसवन्तसिंह को जीत चुका था। राजसिंह को वश में करने का केवल यह तरीका था कि उसे वागड़ का प्रदेश दे दिया जाए जिसे अधिकार में करने के लिए उसका पिता जगतसिंह भी लालायित था। वागड़ का प्रदेश प्रदान करके औरंगजेब ने राजसिंह को व्यस्त कर दिया और इस प्रकार अपनी कूटनीति के द्वारा अपने प्रतिद्वन्दी दारा के एक सम्भावित मददगार को win over कर लिया।

1. देखिए वीर विनोद P. P. 415–16.

दुर्भाग्यवश महाराणा राजसिंह और औरंगजेब की मित्रता अधिक समय तक नहीं निभ सकी। 1660 मे किशनगढ़ की राठौड राजकुमारी चारुमती[1] के साथ विवाह करके महाराणा राजसिंह ने बादशाह औरंगजेब को अप्रसन्न कर दिया था। लेकिन राजसिंह ने उदयकरण चौहान के द्वारा पत्र भेजकर स्थिति को स्पष्ट कर दिया और इस प्रकार मेवाड के मुगलो के साथ पुन formal सम्बन्ध कायम हो गये।

राजसिंह अपने काल के उन चतुर शासको मे से एक था जो अकारण शक्तिशाली मुगल साम्राट् से बैर मोल लेकर अपने राज्य को विनाश की ओर धकेलना नहीं चाहता था। अत वह निरंतर रूप से मुगल बादशाह तथा राजस्थान के अन्य प्रमुख राजपूत राजाओं के पास दूत तथा भेंटें भेजता रहा। इस प्रकार भारत के मुगल सम्राट को मैत्री के भुलावे मे डालकर राजसिंह ने 20 वर्ष का समय (1658 से 1679 तक के बीच का समय) अपनी स्थिति को सुदृढ करने, चित्तौड की किले-

1. चारुमती किशनगढ के राठौड राजा रूपसिंह की पुत्री थी। रूपसिंह तो सामूगढ के युद्ध मे मारा जा चुका था। उसके नाबालिग पुत्र और उत्तराधिकारी ने अपनी बहिन चारुमती का डोला शाही हरम में भेजना स्वीकार कर लिया था। डोला ले जाने के लिये शाही अहदी और नाजिर किशनगढ पहुँच गये। उस वक्त चारुमती ने एक विधर्मी से शादी करने के बजाय राणा राजसिंह से शादी करना उचित समझ कर उसे पत्र भेजा जिसको पाकर महाराणा किशनगढ़ आए और चारुमती से शादी करके पुन मेवाड लौट गये। औरंगजेब को जब इसकी सूचना प्रतापगढ़ के रावल हरीसिंह के द्वारा मिली तो उसने गयासपुर और बसावर के परगने राजसिंह से छीनकर हरीसिंह को दे दिये। इन परगनो की वापिसी के लिये राजसिंह ने जो अर्जी बादशाह औरंगजेब को भेजी थी उसे 'वीर विनोद' में छापा जा चुका है। इस अर्जी को पढ़ने से प्रकट है कि औरंगजेब को राजसिंह से यह असन्तोष था कि उसने बादशाह जहांगीर की आज्ञा का उलघन करके मुगल सम्राट् की आज्ञा के बगैर राजवशीय विवाह कर लिया और इसलिये यह दोनों परगने तकफीफ कर दिये गये थे। लेकिन राजसिंह ने उदयकरण चौहान के द्वारा जब स्थिति को स्पष्ट करते हुए बादशाह के पास पत्र भेजा तो औरंगजेब ने इस घटना को अधिक बढाने के बजाय वहीं समाप्त कर दिया। कदाचित औरंगजेब चारुमती के विवाह द्वारा किशनगढ और मेवाड की Union को मुगल साम्राज्य के लिये अहितकर समझता था। लेकिन जब उसे मालूम पड़ा कि विवाह बलपूर्वक किया गया है तो उसने इसे वहीं खत्म कर देना ठीक समझा।
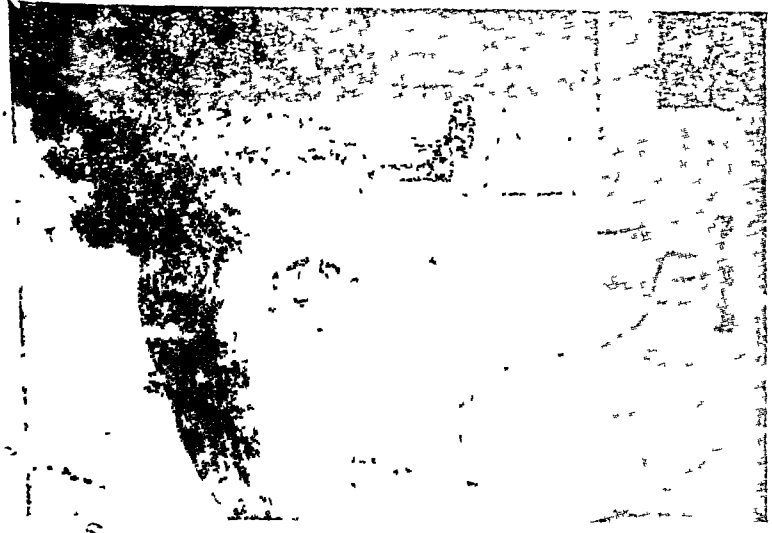
कोटा के महाराव मुकुन्दसिंह हाड़ा
1700 ई० के लगभग बने चित्र का फोटोग्राफ
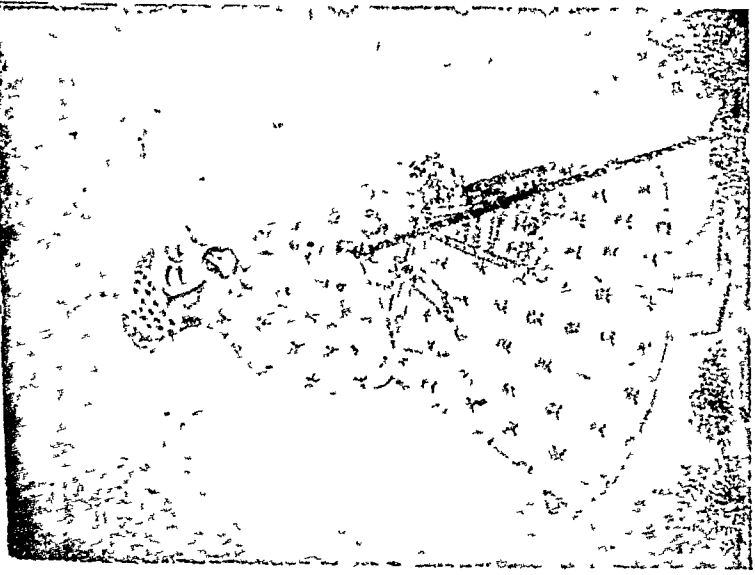
मारवाड के मोटा राजा उदयसिंह
1698 के लगभग बने चित्र का फोटोग्राफ
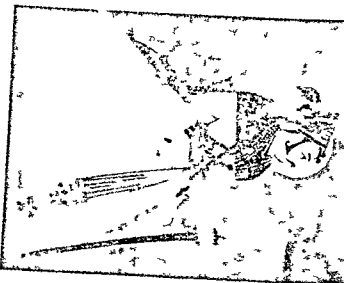
जोधपुर के महाराजा अजीतसिंह
1775 ई० के लगभग बने चित्र का फोटोग्राफ
(कुमार संग्रामसिंह जी नवलगढ के संग्रह से)

जोधपुर नरेश महाराजा गजसिंह
1750 के लगभग बने चित्र का फोटोग्राफ
(कुमार संग्रामसिंह जी नवलगढ के संग्रह से)

बन्दी करने तथा अन्य सार्वजनिक भवनों इत्यादि के निर्माण में व्यतीत किये। मेवाड़ की राजधानी उदयपुर की रक्षा के लिये देवारी में परकोटा बनवा कर (1674 में) तथा राजसमुद्र झील का निर्माण करवा कर राणा राजसिंह ने यह सिद्ध कर दिया था कि वह मेवाड़ के प्रतिभाशाली शासकों में से एक था।

लेकिन गयासपुर और बसावर (बसाड़) के परगनों के तकफीफ कर देने के पश्चात् बादशाह औरंगजेब और महाराणा राजसिंह का पारस्परिक मनमुटाव दिन प्रतिदिन बढ़ता ही गया। लेकिन राजसिंह ने इस मनमुटाव को प्रकट नहीं होने दिया और वह निरंतर शाही दरबार में अपने दूत भेजता रहा।

राजसिंह का असन्तोष उस वक्त प्रकट हो गया जब जोधपुर नरेश महाराणा जसवन्तसिंह की मृत्यु के पश्चात् औरंगजेब ने मारवाड़ को खालसा कर दिया था और जसवन्तसिंह के Posthumous पुत्र अजीतसिंह को लेकर राठौड़ सरदार मारवाड़ में सुरक्षित स्थान की खोज में भटक रहे थे। इस वक्त दुर्गादास राठौड़ की प्रार्थना पर राजसिंह ने बालक अजीतसिंह के निर्वाह के लिये केलवा की जागीर प्रदान करके औरंगजेब के क्रोध को उत्तेजित कर दिया था। इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि राजसिंह ने अजीतसिंह को मेवाड़ में शरण देकर अच्छा ही किया था लेकिन उसने शरण क्यों दी? अजीतसिंह की मां राणा राजसिंह की भतीजी नहीं थी जैसा कि आधुनिक इतिहासकार समझते हैं। स्पष्ट है कि राणा राजसिंह जरूरतमन्द राठोडों को सहायता देकर मेवाड़ को वही गौरव-गरिमा प्राप्त कराना चाहता था जो राणा सांगा की मृत्यु के साथ साथ समाप्त हो गई थी। लेकिन अजीतसिंह को शरण देने में राजसिंह का व्यक्तिगत स्वार्थ भी छिपा हुआ था। मारवाड़ और मेवाड़ की सीमाएं टकराती हैं। जब मारवाड़ पर मुगलों का आधिपत्य स्थापित हो चुका था तो एक न एक दिन मेवाड़ पर भी हो सकता था। यही सोच कर राणा राजसिंह ने अजीतसिंह को शरण देने के बहाने मुगल सम्राट् को चुनौती देना ठीक समझा। 1679 तक महाराणा राजसिंह मेवाड़ की रक्षा का समुचित प्रबन्ध कर चुके थे। इस वक्त राठोड़ों का साथ देने से मुगल सम्राट् के विरुद्ध राजस्थान की दो शक्तिशाली राजपूत जातियां संयुक्त हो गई थीं जिनका नेतृत्व करने का सुअवसर जानकर राजसिंह ने औरंगजेब से बैर मोल लेने का निश्चय किया था।

औरंगजेब ने तहव्वरखां के नेतृत्व में एक सेना अक्टूबर 1679 में मेवाड़ पर आक्रमण करने के लिए भेजी। रतनपुर के मुगल फौजदार हसनअली को आज्ञा दी गई कि वह राणा के राज्य को तहस-नहस करके शाही फोजों की सफलता के लिये मार्ग प्रशस्त करे। एक महिने बाद औरंगजेब स्वयं अजमेर से मेवाड़ के लिये रवाना हो गया और देवारी के युद्ध में (4-1-1680) में राजाओं को पराजित करके स्वयं उदयसागर होता हुआ चित्तौड़ चला गया

और हसनअली को उदयपुर भेजा। इस समय औरंगजेब की आज्ञा से मेवाड़ में लगभग 175 मन्दिर नष्ट किये गए जिनमें से एक जगदीशजी का मन्दिर भी है जो उदयपुर शहर के मध्य में स्थित है। इस मन्दिर की प्रत्येक प्रतिमा को आक्रमणकारी सेना ने खण्डित किया था। लेकिन जैसे ही बादशाह औरंगजेब स्वयं चित्तौड़ से अजमेर के लिये रवाना हो गया वैसे ही राजपूतों ने छापेमार युद्ध नीति अपना कर मुगलों के Communication को खत्म कर दिया।[1] इस प्रकार जब जून 1680 में मुगलों की मेवाड़ में स्थिति चिन्ताजनक हो गई तो बादशाह ने मेवाड़ अभियान का उत्तरदायित्व अपने तृतीय पुत्र अकबर के हाथों से छीनकर दूसरे पुत्र आजम को सौंपा और अकबर को मारवाड़ में नियुक्त किया।

औरंगजेब के अभियान से पूर्व ही राणा राजसिंह ने पहाड़ों में जाकर शरण ले ली थी। इन्हीं पहाड़ों में 22 अक्तूबर 1680 के दिन उसका देहान्त हो गया। उसके ज्येष्ठ पुत्र जयसिंह को कुरज नामक स्थान पर गद्दीनशीन किया गया ताकि वह समर्थ का नेतृत्व कर सके।

स्पष्ट है कि महाराणा राजसिंह केवल एक वीर और साहसी योद्धा ही नहीं था, वह एक कुशल कूटनीतिज्ञ, विद्या और कलाओं भी मेवाड़ की सर्वतोमुखी उन्नति चाहने वाला शासक था जिसका शासनकाल मेवाड़ के इतिहास में आज भी स्वर्णाक्षरों से अंकित है।

महाराणा जयसिंह
1680-1698

महाराणा राजसिंह के ज्येष्ठ पुत्र जयसिंह का जन्म 15 दिसम्बर 1653 के दिन हुआ और स्वर्गीयमहाराणा की मृत्यु के लगभग दो सप्ताह पश्चात् इनका कुरज[2] के स्थान पर राज्याभिषेक हुआ (3 नवम्बर, 1653)।

22 नवम्बर के दिन मेवाड़ और मुगलों की सेना से घमासान युद्ध हुआ जिसके परिणामस्वरूप जिलवाड़ा मुगलों के हाथ में चला गया। तत्पश्चात् गजसिंह ने चित्तौड़ के किले पर आश्चर्यजनक आक्रमण किया और महाराणा के मन्त्री दयालशाह ने सूबा मालवा में सारंगपुर, देवास, सिरोंज, मांडू और उज्जैन को लूटा (दिसम्बर 1680)। राजपूतों की इस लूटमार से मेवाड़ में मुगलों के बढ़ाव को रोक दिया।

---

1. "इस समय मेवाड़ में सर्वत्र विद्रोह की आग भड़क उठी थी, और मार्च, 1680 के बाद तो राजपूत विद्रोहियों ने इतना अधिक उपद्रव मचाया और राजपूत सेना ने ऐसी तेजी और दृढ़ता के साथ हमले किए कि उनके डर के मारे शाही सेना पूर्णतया निश्चेष्ट हो गई।"
—पूर्व आधुनिक राजस्थान, पृष्ठ 143.

2. कुरज उदयपुर शहर से 50 मील उत्तर सहाड़ा परगने में है। महाराणा राजसिंह की मृत्यु के समय जयसिंह यहाँ के मोर्चे पर तनात थे। राजसिंह की मृत्यु ओडा गाँव में हुई थी।

इसी समय औरंगजेब के अभियान की शक्ति को कम करने के विचार से दुर्गादास और महाराणा जयसिंह ने बादशाह के तृतीय पुत्र अकबर को अपने पिता के विरुद्ध बगावत करने पर राजी कर दिया। अकबर ने महाराणा प्रताप को यह आश्वासन दिया कि बादशाह बन जाने के बाद वह महाराणा के वह समस्त विजित प्रदेश उन्हें लौटा देगा जिन्हें मुगलो ने अपने अधिकार में कर लिया था। इसके ऐवज मे महाराणा उसे अपनी सेना का आधा भाग शाहजादा अकबर की सेवा में छोड़ दे। अकबर ने अपने आपको नाडोल के स्थान पर पादशाह तो घोषित कर दिया (11-1-1681) लेकिन औरंगजेब की चालाकी से शीघ्र ही राजपूत अकबर से अलग हो गए और इस प्रकार अकबर का विद्रोह असफल रहा।

अकबर के विद्रोह के समय ही मेवाड अभियान का उत्तरदायित्व बादशाह औरंगजेब ने अपने द्वितीय पुत्र आजम के सुपुर्द कर दिया था। उस वक्त दोनों पक्ष हृदय से चाहते थे कि युद्ध का अन्त हो जाए। अतः मुगल सम्राट् और महाराणा के बीच 24 जून, 1681 को संधि समझौता हुआ। इसके अनुसार—

(i) महाराणा ने पुर, मण्डल और वदनोर के परगने मुगल साम्राज्य को दिए।

(ii) मेवाड़ का शेष भाग महाराणा को लौटा दिया गया जो उसके पूर्वजों के समय से मेवाड़ के अधिकार में चला आ रहा था।

(iii) महाराणा को का 5,000 मन्सब प्रदान किया गया।

(iv) इस संधि के तुरन्त बाद बादशाही फौजें मेवाड़ से हटा ली गईं।

संधि की शर्तें पर राजसमुद्र झील के किनारे हस्ताक्षर हुए थे। औरंगजेब ने 18 जुलाई, 1681 के दिन फरमान भेजकर संधि की शर्तों को पुष्ट किया। कविराजा श्यामलदास ने 'वीर-विनोद' मे उस फरमान का खुलासा छाप दिया है।[1]

---

1. फरमान का हिंदी अनुवाद इस प्रकार है—(9 शव्वाल 1101 हिजरी का फर्मान)—"बादशाही मेहरबानियो से इज्जतदार और खुश होकर मालूम करे कि जो अर्जी इन दिनों में बलन्द दर्गाह मे भेजी थी, कामदह बख्शने वाली, पाक, साफ निगाह में गुजरी, मालूम हुआ, कि वह उम्दा राजा इकरार करता है, कि अगर बुजुर्ग दर्गाह से परगने पुर और वदनोर उसको बख्श दिए जाएं तो इन दोनो जागीरों के ऐवज हर वर्ष 20 लाख रुपये नकद जजिया के बाबत चार किश्त में सूबा अजमेर के सरकारी खजाने में दाखिल करता रहे और मालजामिनी पेश करे।

इस वास्ते निहायत बुजुर्गी और परवरिश के रास्ते से उस उम्दा सरकार को एक हजार सवार की तरक्की और 80 लाख दाम इनाम

इसके बाद मेवाड और मुगलों के बीच तो 1698 तक शांति रही लेकिन महाराणा जयसिंह को अन्य घरेलू समस्याओ का सामना करना पडा जिनका सक्षेप मे वर्णन इस प्रकार है।

महाराणा जयसिंह और उनके ज्येष्ठ पुत्र महाराजकुमार अमरसिंह के बीच शराब अधिक पीने के कारण मनमुटाव हो गया था। मनमुटाव इतना अधिक बढ़ गया था कि अपने ननसाल बूंदी से सहायता लेकर और मेवाड के कतिपय सरदारों को अपने पक्ष मे करके अमरसिंह ने मेवाड की गद्दी पर अधिकार कर लिया। महाराणा जयसिंह उदयपुर को अपने अधिकार मे करने के लिए सेना सहित जिलवाडा तक पहुँच गए। इस वक्त सरदारो ने महाराणा और उनके महाराजकुमार के बीच समझौता करा दिया।

इस घरेलू फसाद से निवृत होने के बाद महाराणा जयसिंह ने उदयपुर शहर से 36 मील दक्षिण दिशा मे जयसमुद्र तालाब का निर्माण प्रारम्भ किया। इसके अतिरिक्त दो तालाब और भी इनके द्वारा बनवाए गए थे। तालाब की पाल पर महाराणा के बनवाए हुए महल आज भी मौजूद हैं जिन्हें रूठी रानी के महल कह कर पुकारा जाता है।

महाराणा जयसिंह ने 1681 मे मुगल बादशाह के साथ जो संधि की थी उसके परिणामस्वरूप हथियार-बन्द लडाई का तो अन्त हो गया लेकिन मेवाड के महाराणा ने पूर्ण जोश के साथ मुगलो के पक्ष का समर्थन नहीं किया। युद्ध का अन्त हो जाने से मेवाड की प्रजा को राहत अवश्य मिल गई। औरंगजेब के इतिहासकार सर जदुनाथ सरकार ने ठीक ही लिखा है, "The Rajput war was a drawn game so far as actual fighting was concerned, but its material consequenees were disastrons to the Maharana's subjects They retained their independence among the sterile craps of the Aravali, but their cornfields in the plain below

इनामत करने से, जिसके असल और तरक्की के पाच हजारी जात, पाच हजार सवार, और हजार सवार दो अस्पा, और 2 करोड दाम इनाम होते है, सरबन्दो बवशकर दोनों जागीरें तरक्की की तनख्वाह व इनाम मे दी जाती हैं, खिल्लत और हाथी इनामत किए जाने से इज्जत बख्शी जाती है, मुनासिब है कि हमारी बडी उम्दा मेहरबानियों का शुक्र अदा करके अपने इकरार के मुताबिक माल जामिनी अजमेर के दीवान के पास पेश करे, और हर वर्ष जजिया का एक लाख रु० मुकर्रर की हुई किश्तों से सूबे के सरकारी खजाने में अदा करता रहे…।"

—वीर विनोद, P 671-72.

were ravaged by the enemy They could stare off defeat but not starvation."

—History of Aurangzeb, Vol. III, P. 369.

महाराणा अमरसिंह II 1698-1710 A.D.

महाराजा जयसिंहके ज्येष्ठ पुत्र अमरसिंहका जन्म 11 नवम्बर 1672 के दिन हुआ था। अपने पिता की मृत्यु के समय यह राजनगर में थे। जब से पिता पुत्र में मनमुटाव हुआ था तब से महाराजकुमार अमरसिंह राजनगर में ही रहा करते थे। अतः यह वहां से रवाना होकर उदयपुर पहुँचे और उदयपुर में राज्याभिषेक दरबार हुआ।

राज्याभिषेक संस्कार के समय डूंगरपुर, बांसवाड़ा व प्रतापगढ़-देवलिया के राजा उपस्थित नहीं हुए थे। अतः महाराणा अमरसिंह ने उन राज्यों पर सैनिक आक्रमण का विचार करना शुरू किया। साथ ही 1681 की संधि के अनुसार जिन परगनों पर मुगल बादशाह का अधिकार हो गया था, उन परगनों पर महाराणा ने पुनः अधिकार कर लिया। अतः अजमेर के तत्कालीन सूबेदार मिर्जा सैयद मुहम्मद ने महाराणा को एक तम्बीह का पत्र भेजा था। इसी सम्बन्ध में साम्राज्य के वजीर नवाब जुन्दतुलमुलक अहमदखां ने भी महाराणा के नाम एक पत्र लिखा था। इन सब पत्रों को पढ़ने से प्रकट है कि मेवाड़ और मुगल साम्राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों में तनाव हो गया था। इसका शीघ्र ही अंत हो गया।

तत्पश्चात् महाराणा अमरसिंह ने अपनी सेना मुगल सेनाओं की सहायतार्थ दक्षिण में भेजी। स्पष्ट है कि 1681 के बाद 1707 तक मेवाड़ और मुगल बादशाह के सम्बन्धों में कोई बिगाड़ नहीं हुआ।

लेकिन औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी बहादुरशाह के शासनकाल में महाराणा अमरसिंह ने जयपुर और जोधपुर के निर्वासित शासकों से मिलकर मुगलों को भारत से निकालने का निश्चय किया।

BIBLIOGRAPHY

1. वीर विनोद—कविराजा श्यामलदास।
2. उदयपुर राज्य का इतिहास—डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा
3. पूर्व आधुनिक राजस्थान—महाराजकुमार डा० रघुवीरसिंहजी सीतामऊ।
4. Mewar and the Mughal Emperors by Dr. G. N. Sharma.
5. Annals and Antiquities of Rajasthan by Tod.

15

राजस्थान के किले

(Forts of Rajasthan)

ऐतिहासिक काल के प्रारम्भ होने के साथ-साथ दुर्ग निर्माण की कला से मानव परिचित हो चुका था। एशिया माइनर, ग्रीस तथा दजला फरात व नील नदियों की घाटियों में रहने वाले लोग अपनी रक्षा के लिये गढ़ अथवा गढ़ियाँ बनवाया करते थे।

विदेशों के समान भारत-भूमि में निवास करने वाले आदि मानव को जंगली जानवरों, विदेशी आक्रमणकारी तथा चोर-लुटेरों से रक्षा करने के लिए प्रत्येक गाँव की चार-दीवारी बनवानी पड़ी। आर्यों के आगमन से पूर्व भी भारत में गढ़ तथा परकोटे वाले ग्राम (Fortified Towns) मौजूद थे। ऋग्वेद में, जो सम्य संसार की प्राचीनतम पुस्तक मानी जाती है इस प्रकार के गढ़ों का उल्लेख है जिनको दस्यों ने बनवाया था और नष्ट करने के लिए इन्द्र को कष्ट उठाने पड़े थे।

वैदिक साहित्य का अध्ययन स्पष्ट करता है कि आर्य लोग 'पुर' शब्द का प्रयोग गढ़ के अर्थ में करते थे। समकालीन महाकाव्यों में तथा पुराणों में गढ़ों का वर्णन मिलता है लेकिन उस युग में गढ़ और कस्बे में कोई अन्तर नहीं समझा जाता था। चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व में जब सिकन्दर महान् ने इस देश पर आक्रमण किया तब भारत में Valled & fortified Towns मौजूद थे।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र, शिल्प शास्त्र, शुक्रनीतिसार और युक्ति कल्पतरु को पढ़ने से सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ साथ गढ़ों के निर्माण की कला में उन्नति का आभास भी मिलता है। अतः मनसार ने अपने 'शिल्प शास्त्र' में दुर्गों का विस्तार से वर्णन किया है। मनसार के अनुसार दुर्ग 6 प्रकार के हो सकते हैं — (i) गिरी दुर्ग (ii) देव दुर्ग (iii) वन दुर्ग (iv) जल दुर्ग (v) मरु दुर्ग (vi) मिश्र दुर्ग। गिरी दुर्ग भी तीन प्रकार के हो सकते हैं —

(i) प्रान्तर गिरी दुर्ग, यह दुर्ग पहाड़ी की चोटी पर समतल भूमि में बनाए जाते थे। इन दुर्गों को बनाते वक्त मैदान तक पहुचने के लिए एक गुप्त नाल (Secret tunnel) रक्खी जाती थी।

(ii) गिरी पार्श्व दुर्ग—पहाड़ के ढाल पर बनाये जाते थे।

(iii) गुहा दुर्ग—किसी पहाड़ की घाटी में बनाये जाते थे।

दुर्ग बनाने से पूर्व भूमि का चुनाव किस प्रकार किया जाय, किले की दीवारें कितनी ऊंची हो, कितने-कितने फासले पर बुर्ज बनाए जायं, कितने दरवाजे रक्खे

जायं और किले के चारों ओर रक्षा के लिए कितनी चौड़ी व गहरी खाई का निर्माण किया जाए इसका विस्तृत विवेचन हमें मनसार के शिल्प शास्त्र में मिलता है ।

स्पष्ट है कि प्रत्येक राजा से आशा की जाती थी कि वह अपनी प्रजा की रक्षा के लिए दुर्गों का निर्माण करायें ।[1] यह राजा का आवश्यक कर्त्तव्य समझा जाता था। अतः भारत में और विशेषतौर से उत्तर भारत में जितने गढ़ और गढ़ियां है उतने संसार के किसी दूसरे देश में नही हैं ।

उत्तर भारत में भी राजस्थान वीरों की भूमि है। इसलिए इस प्रदेश में दुर्गों की संख्या वहुत है। प्रत्येक पहाड़ी की चोटी पर एक गढ़ी नजर आएगी। यह गढ़ और गढ़ियां राजपूतों की वीरता एवं कला प्रेम के अमर स्मारक हैं। इन दुर्गों ने समय के अनेक उतार-चढ़ाव देखे है, अनेक राजवंशों का उदय और अन्त इन्होंने देखा है ।

राजस्थान के इतिहास का अध्ययन स्पष्ट बताता है कि इस भूभाग पर किसी एक राजवंश का राज्य कभी नही रहा। अनेक राजाओं के राज्य थे जो आपस में एक-दूसरे पर चढ़ाइयां किया करते थे। चढ़ाइयां करने की इसलिए आवश्यकता होती थी कि प्रत्येक राजा अपने आपको दूसरे राजा से अधिक वड़ा सिद्ध करने की कोशिश में लगा रहता था ।

यह राजा अपने आपको ईश्वर का स्वरूप समझते थे। इसलिए प्रजा की रक्षा को अपना परम कर्त्तव्य मानने वाले इन राजपूत राजाओं ने (अपने) राज्यों में विभिन्न दुर्गों का निर्माण करवाया। यह दुर्ग सैनिक केन्द्र तो होते ही थे, साथ ही इनमें राजा अपने निवास के हेतु महल भी वनवाता था ।

---

1. रामचन्द्र आमात्य 'अजनमपत्र' में लिखता है:—

"Fortresses are the very soul of the kingdom. Without forts the population becomes helpless, the country is laid bare, and is at the mercy of the invader.........Hence, everybody aspiring to a kingdom should bear in mind that forts are the basis of kingdom, nay, the kingdom itself! They are the natoin's wealth, constitute the strength of the army, and are the (only) places where (a monarch) could enjoy a sound sleep.......The king should not depend on anybody, and should undertake the maintaince of old and constructions of new forts himself".

तेरहवी शताब्दी के पश्चात जब उत्तर भारत पर मुसलमानों का राज्य स्थापित हो गया और यह सुल्तान अपने राज्य और शक्ति का विकास करने में जुट गए तब दुर्गों का महत्व अधिक बढ गया । अत तेरहवीं शताब्दी के पश्चात राजस्थान मे जो दुर्ग बनवाय गए उनका ध्येय रक्षा के अतिरिक्त निजी वैभव का प्रदर्शन भी था । अत इन दुर्गों मे कतिपय भव्य भवन भी बनवाये गये जो इन निर्माताओं के कला प्रेम के ज्वलत उदाहरण के रूप मे आज भी विद्यमान हैं । लेकिन दुर्गों का निर्माण करवाते वक्त धार्मिक भावना भी विद्यमान रहती थी। दुर्गों के भीतर भव्य मन्दिरों का होना यह सिद्ध करता है कि यह राजपूत राजा देवी-देवताओं की प्रतिमाओं को टूट-फूट और विनाश से बचाना चाहते थे । धार्मिक पूजा प्रत्येक हिन्दू स्त्री एव पुरुष की नित्य आराधना का एक आवश्यक अग था। दुर्ग के भीतर मन्दिर होने से इस धार्मिक कृत्य के लिए बाहर नहीं जाना पडता था।

बडे दुर्गों के भीतर प्रजा के निवास की भी व्यवस्था की जाती थी । पर्याप्त मात्रा मे रसद को सगृहीत करने के लिए उचित स्थान बनाये जाते थे । इस प्रकार दुर्गों को बनवाते समय उन्हे स्वावलम्बी (Self-sufficient) बनाने का पूरा पूरा ध्यान रक्खा जाता था ।

ऊपर लिखा जा चुका है कि राजस्थान में अनेको गढ और गढिया हैं । लकिन यदि इनका architectual दृष्टिकोण से अवलोकन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि यह सब गिरी दुर्ग हैं । किसी न किसी पहाडी पर यह दुर्ग बनाये गय थे । निर्माण करते समय ऐसी पहाडियों को चुना जाता था जो अत्या-धिक ढालू (Steep) हो और उन पर पहुचने का मार्ग सरल नहीं हो । इस प्रकार पहाडी पर बना होने के कारण दुर्ग का रक्षात्मक महत्व बढ जाता था । साथ ही धरातलीय टूट-फूट की सम्भावनायें कम हो जाती थीं और ऊचाई पर होने के कारण दुर्ग की प्रभावपूर्णता भी बढ जाती थी ।

राजस्थान के दुर्गों की दूसरी विशेषता यह है कि लगभग सभी दुर्गों के चारों ओर चौडी खाई हैं । इस खाई मे पानी भरे जाने का प्रबन्ध है । चौडी और गहरी खाई से घिरे होने के कारण शत्रु सरलता से किले के भीतरी भाग तक नहीं पहुच सकता । किले की दीवारों पर चढना अथवा दीवार से कूद कर बाहर निकल जाना चौडी और गहरी खाई के कारण असम्भव होता था ।

तीसरी विशेषता यह है कि सभी दुर्ग लम्बे चौडे भूभाग के घेरे में बने हुए हैं । घेरा कम मे कम एक मील इसलिए रक्खा जाता था जिससे राजा के महल इत्यादि आसानी से बन सकें और वक्त जरूरत पर किले के बाहर निवास करने वाली जनसख्या भी किले मे आश्रय प्राप्त कर सके ।

राजस्थान के सभी दुर्गों मे भव्य भवनों के अतिरिक्त रक्षा, रसद के साधनों का भी समुचित प्रबन्ध होता था । सभी किलों में देवालय मिल जायेंगे । इन भवनों मे सुन्दरता और महानता का आभास मिलता है ।
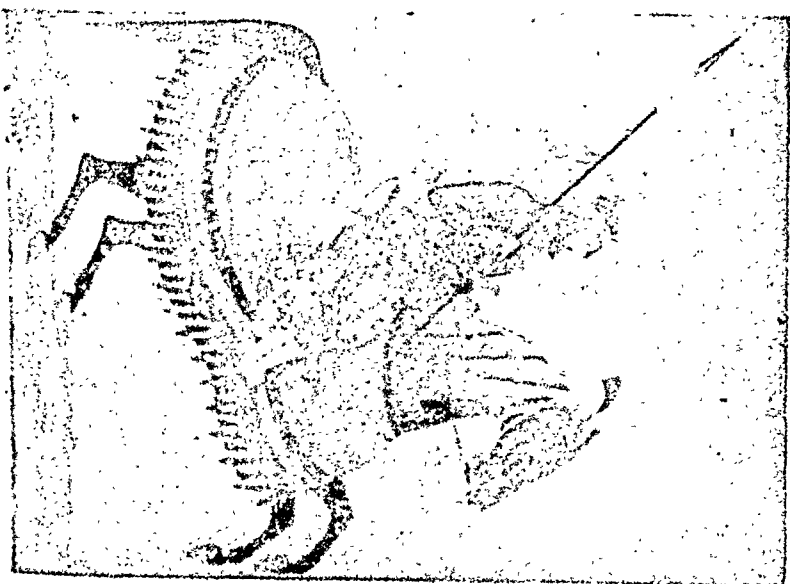
मुगल सम्राट औरंगजेब
1680 के लगभग बने चित्र का फोटोग्राफ
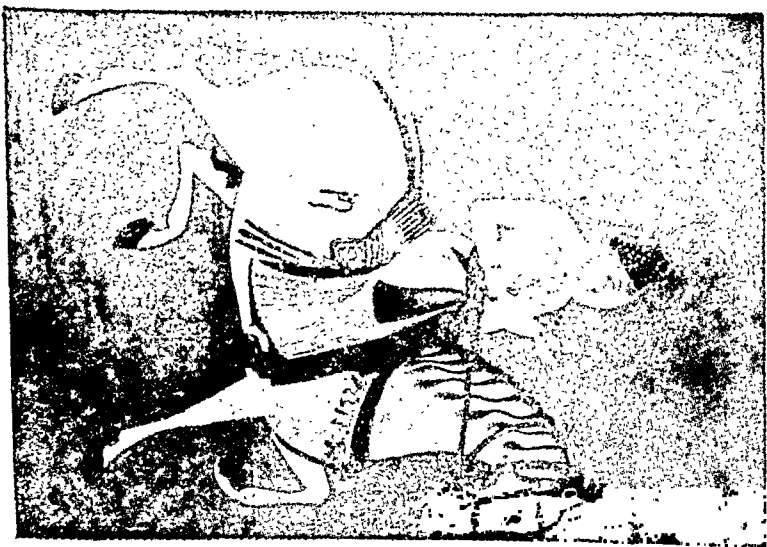
कोटा के महाराव माधोसिंह
1725 ई० के लगभग बने चित्र का फोटोग्र.फ
(कुमार संग्रामसिंह जी नवलगढ के संग्रह से)

राजस्थान
मुलतान
पंजाब
सिंध
गुजरात
मालवा
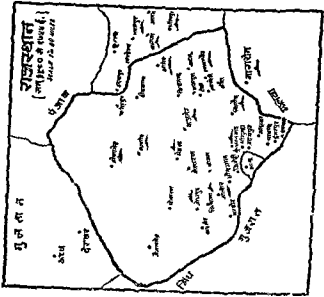
भरतपुर के किले को छोड़कर अन्य सभी दुर्ग सुदृढ़ पत्थर के बनाए गए हैं। उनमें प्रवेश द्वार हैं। सात प्रवेश द्वार तक पाये जाते हैं। प्रवेश द्वारों पर जो फाटक लगे हुए हैं उनमें लम्बी-लम्बी कीलें गढ़ी हुई हैं। कीलें इसलिए लगाई जाती थीं ताकि हाथी सुगमता से फाटक को नहीं तोड़ सकें।

राजस्थान के प्रत्येक दुर्ग ने, जिनका वर्णन किया जाएगा, समान रूप से शत्रुओं के आक्रमण सहे हैं और सभी दुर्गों में खूनखराबी हुई है। इसलिए आज यह किले ध्वंसकारी प्रवृत्ति के प्रतीक बन गए हैं। कहीं-कहीं गोला-बारूद के प्रहारों से जो भाग नष्ट हो गए थे और जिनकी मरम्मत नहीं हो सकी थी वे टूटे-फूटे भाग अपनी करुण कहानी सुनाने के लिए आज भी विद्यमान हैं।

धौलपुर, भरतपुर, बयाना, रणथम्भौर, गागरोन, चित्तौड़गढ़, कुम्भलगढ़, सिवाना, जालौर, जोधपुर, मेड़ता, नागौर, बीकानेर, अजमेर, आमेर और अलवर के दुर्गों को यदि राजस्थान के मानचित्र में देखा जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि यह सभी दुर्ग इस प्रकार बने हुए हैं मानों इस प्रदेश की सीमा के कुदरती प्रहरी हों। इन किलों में से बयाना, रणथम्भौर, चित्तौड़गढ़, कुम्भलगढ़, जालौर, सिवाना, मेड़ता और नागौर के किले सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। इन किलों ने भारतीय इतिहास के मध्यकाल में इस प्रदेश के इतिहास का निर्माण किया है।
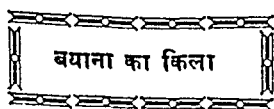
बयाना का किला

पश्चिम रेलवे की बड़ी लाइन जो दिल्ली से बम्बई, मथुरा, कोटा और रतलाम होकर जाती है, उस पर भरतपुर और सवाई माधोपुर स्टेशनों के बीच बयाना जंकशन है। यह पश्चिमी रेलवे का एक महत्वपूर्ण स्टेशन है क्योंकि यहाँ से इसी रेलवे की एक बड़ी लाइन आगरा के लिए भी जाती है।

बयाना स्टेशन से पहले पहाड़ी पर बना हुआ बयाना का सुप्रसिद्ध दुर्ग है। भरतपुर में 26 मील दक्षिण-पश्चिम, आगरा से 50 मील दक्षिण-पश्चिम तथा जयपुर से 90 मील पूर्व में स्थित बयाना का किला पहाड़ की चोटी पर स्थित है।

बयागा से तीन प्राचीन शिलालेख 956 A. D., 1043 A. D. व 1446 A. D. के प्राप्त हुए हैं। प्रथम शिलालेख ऊपा मन्दिर से मिला है जिसे 956 A. D. में बनवाया गया था, दूसरा शिलालेख एक जैन उपदेशक महेश्वर सूरी की छतरी से मिला है जो वि० स० 1100 में बयाना में मृत्यु को प्राप्त हुआ था। इन तीनों शिलालेखों के पढ़ने से जाहिर होता है कि बयाना का प्राचीन नाम 'श्रीपथ' था।

बयाना का प्राचीन इतिहास पौराणिक गाथाओं से भरा पड़ा है। वैदिक काल में यह किला मतस्य जनपद का एक महत्वपूर्ण दुर्ग था और छटी शताब्दी

ई० पूर्व में इस पर मथुरा के सौरसेन शासकों का अधिकार था। दूसरी शताब्दी में इस पर यौधेय लोगों का अधिकार हो गया। 360 ई० के लगभग गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने इसे अपने अधिकार मे कर लिया था। जिस समय श्री हर्ष भारत पर राज्य कर रहा था उस वक्त बयाना में गुजरों का स्वतन्त्र राज्य था। नवीं शताब्दी मे गुजरो की प्रतिहार शाखा ने इसे अपने अधिकार मे कर लिया। प्रतिहार शासक राजा लक्ष्मण की रानी चित्रलेखा ने 956 ई० में बयाना में ऊषा मन्दिर बनवाया था। गुर्जर प्रतिहारों के पतन के पश्चात् बयाना पर मथुरा के यदुवंशी राजा जिदपाल का अधिकार हो गया। जिदपाल के पुत्र और उत्तराधिकारी विजयपाल ने विजयमन्दिरगढ नाम का दुर्ग बनवाया था। विजयपाल का बयाना पर ग्यारवीं शताब्दी के अन्त तक अधिकार रहा। विजयपाल के पुत्र और उत्तराधिकारी तिमनपाल ने बयाना के निकट तिमनगढ बनवाया। तिमनपाल के एक वंशज राम कुरपाल का 1196 ई० म मुस्लिम आक्रमणकारी मुहम्मद गौरी के साथ घमासान युद्ध हुआ। मुहम्मद गौरी का इस दुर्ग पर अधिकार हो गया और उसने यहा का प्रबन्ध बहाउद्दीन तुगरिल को सौंप दिया। लेकिन कुतुबुद्दीन ऐबक की मृत्यु के पश्चात् बयाना दिल्ली सुल्तान के हाथ से निकल गया। अतः इल्तुतमिश को इसे पुन विजय करना पड़ा। इल्तुतमिश के निर्बल उत्तराधिकारियों के शासन काल मे बयाना पर जादो भाटी राजपूतो का अधिकार हो गया था। अन्त सुल्तान नासिरउद्दीन महमूद के शासन काल म उसके वजीर बलबन और अबू बक्र कन्धारी ने बयाना पर आक्रमण किया। विजय के पश्चात् सुल्तान नासिरउद्दीन महमूद ने बयाना का किला मलिक शेरखाँ को जागीर मे दे दिया। तदुपरान्त बयाना 1398 तक निरन्तर रूप से दिल्ली के सुल्तानों के अधिकार मे बना रहा। केवल 1394 A D. म मुहम्मद तुगलक ने बयाना पर आक्रमण किया था। लेकिन 1398 में तैमूर के आक्रमण के पश्चात् जब दिल्ली सल्तनत अस्तव्यस्त हो गई उस वक्त बयाना के सूबेदार शम्सखा ने भी अपने आपको स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया।

'The principality of Bayana, carved out by Shams Khan Anhadi at the end of 14th century had lasted for well nigh a century as a buffer state between the rival Sultanates of Delhi and Malwa In 1446 A D. Sultan Mahmud Khilji of Malwa had recognised her independent states by investing the contemporary ruler with a gold crown Even since that time Bayana had always leaned for support on the Malwa Sultan or

failing it's on the Sharqi kingdom against any possible encroachment from Delhi."[1]

मग्नजाने अफगाना के वर्णन से स्पष्ट है कि बयाना की Strategic importance होने के कारण यहां के स्वतंत्र शासक शम्स खां ने अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना लिया था। मेवात का प्रमुख दुर्ग बयाना दिल्ली के सुल्तानों के लिए एक समस्या बना रहा। तैमूर के भारत से वापस चले जाने के बाद जब खिज्रखां सैयद ने अपना राज्य स्थापित कर लिया था तब उसे मं। 1415 ई० में बयाना को अपने अधिकार में लाने के लिए अपने मंत्री ताज उल मुल्क के नेतृत्व में एक सेना भेजनी पड़ी थी। बहलोल लोदी और सिकन्दर लोदी को भी बयाना पर अधिकार करने के लिए अपनी सेनाएं भेजनी पड़ी थी। सिकन्दर लोदी ने तो अस्थाई रूप से बयाना को अपना हैडक्वार्टर भी बनाया था। 1505 में जब उसने जमुना नदी के किनारे आगरा की स्थापना की थी तब उसके मस्तिष्क में एक कारण उन विद्रोहियों का दमन करना भी था जो मेवात में निरंतर रूप से उपद्रव करते आए थे। मेवात में बलबन के जमाने से निरंतर विद्रोह हुआ करते थे और दिल्ली के प्रत्येक शक्तिशाली सुल्तान को जब कभी मेवात की ओर कूच करना पड़ा तब ही बयाना के किले के सम्मुख भीषण संग्राम हुआ। इन संग्रामों की कहानी उन असंख्य कब्रों को देखने से ज्ञात होती है जो कब्रें बयाना के किले के धरातल में आज भी मौजूद हैं।

पानीपत के युद्ध में इब्राहीम लोदी की पराजय और बाबर की विजय के समय निज़ामखां बयाना पर शासन कर रहा था। इसने बाबर और मेवाड़ के राणा सांगा दोनों का ही आधिपत्य स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था। लेकिन जब राणा सांगा बयाना की तरफ बढ़ता हुआ आया तब निज़ामखां ने 20 लाख वार्षिक कर देने का वायदा करके बाबर से सहायता की प्रार्थना की। बाबर ने सैनिक सहायता भेजी भी थी। लेकिन निजामखां को राणा सांगा ने पराजित किया। अतः खानवा की विजय के पश्चात् बाबर ने बयाना निजामखां को पुनः प्रदान किया था। अल्प समय के लिए इस किले पर राजपूतों का अधिकार रहा।

1533 में गुजरात के बहादुरशाह के इशारे पर तातारखां ने बयाना के आसपास विद्रोह का झंडा खड़ा किया था। उस समय तत्कालीन मुगल सम्राट हुमांयू के लघु भ्राता हिन्दाल के नेतृत्व में मुगल सेनाओं ने तातारखां का दमन करके बयाना पर मुगलों का आधिपत्य स्थापित किया था। शेरशाह सूर ने बयाना को अपनी सैनिक छावनी बनाया था। 1556 तक बयाना दिल्ली के सूर सुल्तानों के अधिकार में बना रहा। लेकिन इस वर्ष हैमू ने बयाना पर अपना अधिकार कर लिया। पानी-

1. Niamatullah's History of Afghans. Eng. Trans, by late Professor N. B. Roy, P. XXV.

पत के द्वितीय युद्ध मे हेमू पराजित हो गया । उस वक्त बयाना भी मुगल बादशाह के अधिकार में चला गया जो 18वीं शताब्दी के प्रथम चरण तक निरंतर मुगल सम्राटों के अधिकार में बना रहा ।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि आगरा की स्थापना होने तक बयाना एक महत्वपूर्ण किला था ।[1] अकबर महान के शासन काल में इसका राजनैतिक महत्व अवश्य कम हो गया था, लेकिन फिर भी इसका Architectural और आर्थिक महत्व किसी रूप मे कम नही था । यहा की नील इतनी अधिक प्रसिद्ध थी कि उसका विदेशो मे भी निर्यात होता था । खुलासुत-उल-तवारीख का लेखक सुजानराम लिखता है कि यहा के मतीरे और आम सर्वाधिक प्रसिद्ध थे ।

बयाना के मुख्य स्मारको म लाट, दाऊदखा की मीनार, ऊपा मन्दिर, इब्राहीम लोदी की मीनार, इस्लामशाह सूर का बनवाया हुआ दर्वाजा, अकबर की छतरी, जहागीर की बनवाई हुई बावली तथा दर्वाजा तथा सिकन्दरा मस्जिद के निकट पुराना दर्वाजा सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं । हिन्दू मुस्लिम स्थापत्य कला के आदर्शों के प्रतीक यह स्मारक बयाना के ऐतिहासिक महत्व को बढाने वाले हैं ।

शाहजहा और औरंगजेब के शासन काल मे यह किला मुगल साम्राज्य के कारावास के रूप में प्रयुक्त होता था जब राजनैतिक तथा अन्य अपराधियो को यहा रक्खा जाता था।

औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् जब ठाकुर बदनसिंह ने भरतपुर में जाट राज्य की स्थापना की उस समय बयाना का किला भरतपुर के जाट राजाओ के हाथो मे चला गया जो भरतपुर के विलीनीकरण तक भरतपुर राज्य का अ ग रहा था ।

आज से लगभग 20 वर्ष पहले बयाना के किले में खुदाई का कार्य किया गया था । उस वक्त यहा से गुप्त काल के लगभग 500 सोने के सिक्के प्राप्त हुए थे । इतनी अधिक मात्रा मे सिक्के प्राप्त होने पर बयाना का पुरातत्व दृष्टि से महत्व और अधिक बढ गया ।

हिन्दुओं के द्वारा बनवाया हुआ बयाना का किला अपनी Straticgic importance के कारण प्रारम्भ से ही प्रसिद्ध रहा है । लेकिन भारत मे मुसलमानों के प्रवेश के बाद इस किले का महत्व और भी अधिक बढ़ गया था । आगरा और दिल्ली के निकट होने तथा राजस्थान, मालवा और गुजरात के मार्ग मे स्थित होने के कारण प्रत्येक सुल्तान इसे अपने अधिकार मे रखना चाहता था । बयाना के किले पर अधिकार किए बगैर राजस्थान में प्रवेश करना कठिन था । स्वाभाविक रूप से मुसलमानी शासन काल मे इस किले का महत्व बढ गया था । साथ ही बयाना मुसलमानों का केन्द्र भी बन गया था । अत कालान्तर में यह स्थान हिन्दू मुस्लिम संस्कृति के समन्वय का केन्द्र-स्थल भी बन गया ।

---

1 For details See De Laet's Description of Bayana.

रणथम्भौर का दुर्ग

पश्चिम रेलवे की बड़ी लाइन पर बयाना से 141 किलोमीटर के फासले पर सवाई माधोपुर रेलवे स्टेशन आता है। सवाई माधोपुर से 8 मील दक्षिण पूर्व में रणथम्भौर[1] का सुप्रसिद्ध दुर्ग स्थित है। 944 ई० के लगभग सपालदक्ष के चौहानों ने इस किले का निर्माण करवाया था। पृथ्वीराज चौहान की तराइन के युद्ध में पराजय के पश्चात जब अजमेर और दिल्ली का स्वतन्त्र राज्य नष्ट हो गया तब नवस्थापित मुस्लिम राज्य के संस्थापकों ने रणथम्भौर को अधिकार में करने का प्रयत्न किया था।

पथरीले पठार पर समुद्र की सतह से 1578 फुट की ऊंचाई पर स्थित रणथम्भौर का दुर्ग 6 मील की परिधि में एक ठोस दीवार से घिरा हुआ है।

स्पष्ट है कि मनसार के अनुसार रणथम्भौर का दुर्ग भी गिरी दुर्ग है। यह एक ऐसी पहाड़ी पर बना हुआ है जिसके चारों ओर घाटियां हैं। पहाड़ी के ऊंचे भाग एक सुदृढ़ प्राचीर का कार्य करते हैं। इसी प्राकृतिक प्राचीर के भीतर एक परकोटा बना हुआ है। यह परकोटा सुदृढ़ होने के साथ-साथ काफी चौड़ा भी है और दोहरी दीवार का बना हुआ है। इसी परकोटे में यत्र-तत्र-सर्वत्र बुर्ज बने हुए हैं। इन्हीं बुर्जो में से बड़े-बड़े पत्थर आक्रमणकारी सेना पर गिराए जाते थे। वैसे इस किले पर चढ़ने के लिए 84 पहाड़ी रास्ते है। लेकिन अपरिचित लोगों के लिए केवल एक ही रास्ता है और इस मार्ग को विभिन्न बुर्जो तथा लड़ाई के मोर्चों से इस प्रकार सुरक्षित बनाया हुआ है कि किसी भी शत्रु का द्वार तक पहुंचना कठिन था। किला स्वावलम्बी है, समतल पठार पर निवास स्थानों के अतिरिक्त पीने के पानी तथा सिंचाई के लिए जगह २ तालाब, झरने और बांध बने हुए हैं। इस प्रकार रणथम्भौर के दुर्ग को केवल रसदाभाव में शत्रु के सम्मुख आत्मसमर्पण करना कठिन था।

1226 ई० तक दिल्ली के सुल्तान इसे अपने अधिकार में करने में असफल रहे थे। इल्तुतमिश ने इसे अल्प समय के लिए अपने अधिकार में किया था। लेकिन इल्तुतमिश के निर्बल उत्तराधिकारियों के शासनकाल में रणथम्भौर पुन: स्वतन्त्र हो गया। अत: 1255 में बलबन ने इस पर आक्रमण किया था। 1291 में सुल्तान जलालउद्दीन खिलजी की सेनायें रणथम्भौर के निकट झैन में पड़ी रहीं। लेकिन इस अजेय दुर्ग पर खिलजी सुल्तान अपना अधिकार नहीं कर सका था। इस प्रकार 1300 ई० में जब तक जलालउद्दीन के उत्तराधिकारी अलाउद्दीन खिलजी की सेनाओं ने रणथम्भौर पर आक्रमण किया उस वक्त तक वहां के चौहान राजा स्वतन्त्र थे। 1300 ई० में रणथम्भौर पर हम्मीर शासन कर रहा था।

1. 1288 A. D. के एक शिलालेख में इस किले का नाम रणस्तम्भपुर लिखा हुआ मिलता है।

इसी वीर हम्मीर के साथ रणथम्भौर का नाम भारतीय इतिहास में जुड़ा हुआ है। हम्मीर पर आक्रमण करने के लिए अलाउद्दीन ने 1300 ई० में दो सेनायें बयाना के प्रान्तपति उलुगखाँ और कड़ा के प्रान्तपति नुसरतखाँ के नेतृत्व में भेजी। अलाई सेनाओं का झैन पर तो सुगमता से अधिकार हो गया। लेकिन रणथम्भौर का घेरा डालने के पश्चात जब किसी प्रकार की सफलता नहीं मिली तो साइबा और गरगच[1] निर्मित किय गये। इतिहासकार जियाउद्दीन बरनी लिखता है कि राजपूत किले के भीतर से निरन्तर प्रक्षेपास्त्र[2] फेंक रहे थे। नुसरतखाँ किसी एक प्रक्षेपास्त्र से घायल होकर धराशायी हो गया। उलुगखाँ को भी झैन तक पीछे हटना पड़ा। अत सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी को स्वयं ही रणथम्भौर तक आना पड़ा। रणथम्भौर पहुंचने पर एक ओर तो अलाउद्दीन ने सर्जनशाह नामक हम्मीर के प्रमुख चिन्तक को अपनी ओर मिला लिया और दूसरी ओर उसने खाइयाँ खुदवाकर घेरे को दृढ किया। दो तीन हफ्ते तक तो अलाउद्दीन के सैनिक किले की दीवारों तक नहीं पहुंच सके। लेकिन अन्त में जब सर्जनशाह के किसी साथी ने खाद्य भण्डारों में हड्डियां डालकर खाद्यान्न को अपवित्र कर दिया और चावल का एक दाना भी सोने के दो दानों के बदले में बिकने लगा तो हम्मीर को आत्म-समर्पण के लिए तैयार होना पड़ा। इस प्रकार 11 जुलाई 1301 के दिन अलाउद्दीन का रणथम्भौर के दुर्ग पर अधिकार हुआ। इस समय नगर के अनेक मन्दिर और भवन नष्ट कर दिए गए और कुफ्र का गढ इस्लाम का सदन हो गया।[3] रणथम्भौर का प्रबन्ध बयाना के प्रान्तपति उलुग खां को सौंपकर अलाउद्दीन तो अपनी राजधानी लौट गया। हम्मीर के पतन के साथ २ सपालदक्ष के चौहानों की उस शाखा का भी अन्त हो गया जो पृथ्वीराज की पराजय के पश्चात् सपालदक्ष से रणथम्भौर आकर बस गए थे।

मेवाड के राणा कुम्भा (1433-1468) ने रणथम्भौर पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। कदाचित उस समय यह किला दिल्ली के सुल्तानों अथवा उनके द्वारा नियुक्त किलेदारों के हाथ मे था। 1454 ई० के लगभग मालवा

1. किले की दीवारो पर आक्रमण करने के लिए रेत और अन्य वस्तुओं से मिलाकर एक ऊंचा चबूतरा बनाया जाता था। इस चबूतरे को पाईरीब कहकर पुकारा जाता था। फिर यहाँ से मजनीक, अर्रादा और गरगच के द्वारा पत्थर फेंके जाते थे।
2. बरनी ने इसके लिए संग ए-मगरबी शब्द का प्रयोग किया है। कम से कम यह तोप का गोला नहीं हो सकता जैसा कि Islamic culture, 1938, P. 405-18 मे सुझाया गया है।
3. अमीर खुसरो कृत खजाइन उल-फुतूह

के सुल्तान महमूद खिलजी ने इस दुर्ग को विजय करने के लिए अपने पुत्र गयासुद्दीन को भेजा था।

महाराणा सांगा ने इस किले पर अपना अधिकार कर लिया था और अपने जीवनकाल में ही यह किला अपने छोटे पुत्रों (विक्रमादित्य और उदयसिंह) को दे दिया था। उस समय इन पुत्रों के मामा बूंदी के सूर्यमल को इनका संरक्षण भी सौंपा गया था। लेकिन राणा सांगा के ज्येष्ट पुत्र और उत्तराधिकारी रतनसिंह को अपने स्वर्गवासी पिता का यह फैसला स्वीकारनीय नहीं हुआ। इसके दो कारण थे—(i) रणथम्भौर के साथ पचास साठ लाख का प्रदेश भी था जो विक्रमादित्य और उदयसिंह को दिया गया था। (ii) रणथम्भौर का नामी दुर्ग छोटे भाइयों के अधिकार में रहे इसे रतनसिंह किस प्रकार स्वीकार कर सकता था। रतनसिंह के नापाक इरादों से किले की रक्षा करने के लिए विक्रमादित्य और उदयसिंह की मां राणी कर्मवती ने यह किला मुगल साम्राज्य के संस्थापक बाबर को सौपने का निर्णय किया था। लेकिन रणथम्भौर का किला वास्तव में बाबर के हवाले नहीं किया गया था। रतनसिंह की मृत्यु के पश्चात् जब मेवाड़ में बनवीर के उत्पात प्रारम्भ हुए उस वक्त रणथम्भौर पर भी बूंदी के हाड़ा राजाओं ने अपना अधिकार कर लिया।

फ़रवरी, 1569 में मुगल सम्राट अकबर ने जब इस दुर्ग पर आक्रमण किया था उस वक्त यह किला सुरजन हाड़ा[1] के अधिकार में था। अकबर ने इस किले का घेरा डाला। मोर्चों (Batteries) का निर्माण कराया गया लेकिन जब उनका कोई नतीजा नहीं निकला तो अकबर ने कासिमखां के नेतृत्व में राणा दर्वाजे के सम्मुख सबात (Sabat) बनवाए। किले की दीवारें हिलने लगी। सुरजन हाड़ा ने आमेर के कुंवर भगवन्तदास तथा मानसिंह के द्वारा जो इस अभियान में अकबर के साथ गए थे, अकबर से संधि की बातचीत प्रारम्भ की। सुरजन हाड़ा ने किला अकबर के हवाले कर दिया। अकबर ने महतावखां को किले का प्रबन्ध सौप दिया।

1569 के बाद औरंगजेब की मृत्यु तक यह किला निरन्तर रूप से मुगल बादशाहों के अधिकार में रहा। औरगजेब की मृत्यु के पश्चात् निर्बल मुगल सम्राटों के शासनकाल में जयपुर के कछवाह शासकों ने इस किले पर अपना अधिकार कर लिया।[2] तब से लेकर जयपुर के राजस्थान में विलीनीकरण तक रणथम्भौर का किला भूतपूर्व जयपुर राज्य के शासकों के अधिकार में रहा।

---

1. सुरजन हाड़ा ने यह किला शेरशाह के दास जुझारखां को पैसा देकर अपने अधिकार में किया था। वीर विनोद, प्रथम खण्ड, पृष्ठ 83.
2. ऐसी किंवदंती प्रचलित है कि मराठों के निरन्तर आक्रमणों से अपनी रक्षा करने के लिए रणथम्भौर के निवासियों ने यह किला सवाई माधोसिंह को सौंप दिया था।

राजस्थान के दुर्गों मे रणथम्भोर का किला अपनी अभेद्यता के लिए चित्तौड के बाद नम्बर दो का किला माना जाता है। चू कि यह किला बयाना के किले के समान मध्यकालीन शाही मार्ग पर नही पड़ता था, अत इस किले को अधिकार मे करने के लिए दिल्ली के मुसलमान शासकों को अधिक खून खराबी नहीं करनी पडी। लेकिन हाडावती के चौहान राज्य का यह प्रवेश द्वार था। इसलिए बू दी के हाडा चौहान इस किले की सुरक्षा मे सोलहवी शताब्दी के मध्य भाग तक सक्रिय रूप से संधि रखते रहे।

वर्तमान समय में इस किले मे गणेश चतुर्थी के दिन एक मेला लगता है।

चित्तौड का किला
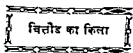
मेवाड की भूतपूर्व राजधानी चित्तौड अपने सुदृढ दुर्ग[1] के लिए भारत में प्रसिद्ध है। ऐसा कहा जाता है कि मौर्यवंश के राजा चित्रागद ने इस किले को बनवाया था। आठवी शताब्दी के पश्चात् मेवाड के गुहिलवंशी राजाओं ने इसे अपने अधिकार मे कर लिया। कुछ समय के लिए चित्तौड पर मालवा के परमार शासकों का अधिकार हो गया था अन्यथा यह किला अलाउद्दीन खिलजी की मेवाड विजय तक (1303) निरतर रूप से गुहिलवंशी राजपूतों के अधिकार मे रहा था।

अजमेर स रतलाम, इन्दौर होती हुई खन्डवा जाने वाली पश्चिम रेलवे की छोटी लाइन पर स्थित चित्तौडगढ रेलवे स्टेशन के निकट[2] एक पहाडी पर, आस-पास के प्रदेश से 500 फुट की ऊ चाई पर, यह किला स्थित है। पहाडी की धरातल पर परिधि आठ मील से अधिक है जब कि शिखर पर यह पहाडी साढे तीन मील लम्बी और बीच मे बारह सौ गज के लगभग चौडी है। गोली चलाने के लिए बने छिद्रों वाली सुन्द सुरक्षा दीवार इसका परकोटा बनाती है। दीवार की ऊ चाई चार सौ से पाच सौ फुट तक है। किले तक पहु चने के लिए एक मील की चढाई तय करनी पडती है। महाराणा कुम्भा ने ऊबड-खाबड मार्ग को साफ करवाकर किले तक पहु चने का रास्ता व वर्त्तमान सात दरवाजों[3] मे से चार दरवाजे बनवाए थे।

राजस्थान के इस प्रमुख और अभेद्य दुर्ग पर सर्व प्रथम 631 A. D मे सिंध के सुल्तान चाच ने आक्रमण किया था। तत्पश्चात् इल्तुतमिश ने इस किले पर आक्रमण किया। फारसी तवारीखो मे इल्तुतमिश के इस आक्रमण का वर्णन नही है, लेकिन राजस्थानी ग्रंथों मे इस अभियान का विस्तार वर्णन है। अलाउद्दीन

---

1. गढ तो चित्तौडगढ और तो गढ़ैया हैं।
2 चित्तौडगढ रेलवे स्टेशन से किले का दरवाजा 2 मील के फासले पर है।
3 पाडलपोल, भैरोपोल, हनुमानपोल, गणेशपोल, जोडलापोल, लक्ष्मणपोल, और रामपोल—यह सात दरवाजे हैं।

खिलजी ने 1303 ई० में इस किले पर आक्रमण किया था। 26 अगस्त के दिन खिलजी सुल्तान का चित्तौड़ पर अधिकार हुआ। उसने 30 हजार हिन्दुओं को मौत के घाट उतरवा दिया, मंदिर तोड़े गए और कला के अन्य स्मारक ध्वस्त किए गए। अलाउद्दीन ने चित्तौड़ का किला अपने पुत्र खिज्रखां को सौंप दिया। खिज्रखां के नाम पर ही इसका नाम बदल कर खिज्राबाद रखा गया था लेकिन अलाउद्दीन की मृत्यु से पूर्व ही खिज्रखां को चित्तौड़ का किला खाली करना पड़ा।

तत्पश्चात् मुहम्मद तुगलक ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया। उसके द्वारा बनवाई हुई एक मस्जिद का जिक्र वीर विनोद में है। राणा कुम्भा ने अपने शासन-काल में इस किले मे दो स्तम्भों (कीर्ति स्तम्भ और जय स्तम्भ) का निर्माण करवाया था जो अपनी कलात्मक सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध हैं। राणा उदयसिंह के शासनकाल में शेरशाह ने चित्तौड़ पर आक्रमण करने का विचार किया था। उस वक्त उपरोक्त महाराणा ने किले की चाबियां सूर सुल्तान के पास जहाजपुर के पड़ाव पर ही भेजकर जान और माल की रक्षा की थी। लेकिन जब मुगल सम्राट् अकबर ने अक्तूबर, 1567 में चित्तौड़ पर चढाई की उस वक्त राणा उदयसिंह किले की सुरक्षा का उत्तरदायित्व जयमल और पत्ता को सौंपकर पहाड़ों में चले गए थे। किले को अधिकार में करने के लिए अकबर ने उत्तर दिशा मे (जहां लाखोटा बारी है) सबात लगवाए थे। अकबर के हाथों किले की फौज का सेनापति जयमल मारा गया और तब कही मुगलों का चित्तौड़ पर अधिकार हो सका था। 1567 से लगाकर 1615 तक यह किला मुगलों के अधिकार में रहा। 1615 मे बादशाह जहांगीर ने चित्तौड़ के किले को इस शर्त पर महाराणा अमरसिंह को लौटाया था कि वह इसकी किलेबन्दी नही करगे। 'मेवाड़ का इतिहास' नामक अध्याय से स्पष्ट हो जाएगा कि शाहजहां और औरंगजेब के शासनकाल में मेवाड़ के महाराणाओं ने इस शर्त का उलंघन किया जिसका परिणाम यह निकला कि चित्तौड़ के प्रश्न को लेकर मेवाड़ और मुगल सम्राट् के बीच मनोमालिन्य बना रहा।

चित्तौड़ का किला राजस्थान का दक्षिणी पूर्वी द्वार है। यह मालवा और गुजरात से राजस्थान की रक्षा करने वाला केन्द्र स्थल था। चूंकि यह किला मालवा और गुजरात के मार्ग मे पड़ता था अतः इसकी Stratigic importance भी कम नही थी। सुदृढ़ बना हुआ होने के कारण इस किले को अधिकार में करने के लिए जितनी खूनखराबी हुई है उतनी शायद किसी और देश व दुर्ग के इतिहास मे नही हुई है। दो बार इस किले मे ऐतिहासिक जौहर हुए है जिनकी वीरगाथाएं आज भी भारतवासी और राजस्थान के निवासियो को गौरवान्वित करती हैं।

इस किले में कई ऐतिहासिक स्मारक है जो बीते दिनों की याद दिलाते है। इनमें जयमल और पत्ता की छत्रियां, जो भैरोपोल से घुसते ही है। राणा प्रताप के स्वामीभक्त मंत्री भामाशाह का महल व कुंभा के महल हैं। इन महलो के पास ही

पन्नाधाय का निवास स्थान भी है। यह भवन अब प्रायः खंडित हो चुके हैं लेकिन मीराबाई व कालकामाई के मन्दिर प्रसिद्ध हैं। पद्मिनी का महल तथा वह स्थान जहा दो बार जौहर हुए थे इस किले के ऐतिहासिक महत्व को बढ़ाते हैं।

यह एक ऐसा गिरी-दुर्ग है जो पूर्णरूपेण वर्षों तक आत्मनिर्भर रह सकता था। दुर्ग का निर्माण करते समय इस प्रकार की आयोजना की गई थी कि जल का अभाव महसूस नहीं हो। 1303 से पहले आधुनिक चित्तौड का कस्बा नहीं था जो किले की तलहटी मे बसा हुआ है। सब लोग किले के भीतर ही रहते थे। लेकिन अकबर का इस किले पर अधिकार हो जाने के बाद किले की तलहटी मे लोगो ने बसना शुरू कर दिया था। किले के नीचे तलहटी मे जो लम्बा चौडा भूभाग है उसने कई तमाशे देखे हैं।

कुम्भलगढ़ का किला

मेवाड की आधुनिक राजधानी उदयपुर से लगभग 60 मील दक्षिण मे कुम्भलगढ का दुर्ग स्थित है। मानचित्र में यह 25°9′ उ० और 73°35′ पू० रेखाओं के बीच स्थित है। अरावली पर्वत की ऊंची चोटी पर समुद्र की सतह से 3568 फीट की ऊंचाई पर यह किला मेवाड के राणा कुम्भा के द्वारा 15 वर्षों मे बनवा कर तैयार करवाया गया था। पहाडो के ढाल पर परकोटा बना हुआ है। परकोटा इतना चौडा है कि कम से कम 8 व्यक्ति उस पर एक साथ चल सकते हैं। परकोटे मे बुर्ज और मोर्चे बने हुए हैं। चित्तौड के किले के समान कुम्भलगढ़ के किले में भी सात दर्वाजे हैं। मुख्य द्वार हनुमानपोल कहलाता है। केलवाडा और हनुमान पोल के बीच दो दर्वाजे हैं—आड़नपोल और हुल्ला पोल। इन तीन दर्वाजों के अतिरिक्त फतहपोल, रामपोल और चौगानपोल हैं।

हनुमान पोल से घुसते ही वेदी का स्थान आता है जहां महाराणा कुम्भा ने यज्ञ किया था। वेदी के अलावा तारा बुर्ज, नाहर छत्री, तोपखाना, नवचौकी, बादल महल भी ऐतिहासिक स्थान हैं। लेकिन भवन निर्माण कला के एक स्मारक के रूप मे कटारगढ का किला कम महत्व नहीं रखता। मामादेव का मन्दिर, कुम्भा स्वामी का मन्दिर, नीलकण्ठ व कुबेर के मन्दिर तथा कुण्ड भी कम महत्व नही रखते। इसी कुण्ड के किनारे कुम्भा की उसके पुत्र ऊदा ने हत्या की थी।

कुम्भलगढ का किला बनवाने से पहले महाराणा की दृष्टि मे मेवाड की सुरक्षा का प्रश्न महत्वपूर्ण था। पहाडो के उस मार्ग से मेवाड की रक्षा करना आवश्यक था जहा होकर गुजरात और मारवाड की सेनाएं मेवाड़ मे घुसती थीं लेकिन कालान्तर में यह किला मेवाड के कतिपय महाराणाओं का शरणस्थल रहा। दुर्गम पहाड़ों और जङ्गलो में स्थित होने के कारण महाराणा उदयसिंह,

प्रताप, अमरसिंह ने इसी किले में रह कर मुगलों से अपनी रक्षा की थी। आत्म-निर्भर होने के कारण, जिसमें पानी की समुचित व्यवस्था तथा रसद जुटा कर रखने की भी पर्याप्त व्यवस्था थी,[1] यह किला आसानी से विजय नहीं किया जा सकता था। किले की दीवारें इस प्रकार बनाई गई थीं कि उन पर laddels की मदद से चढ़ा नहीं जा सकता है। बुर्ज ऐसे मोर्चे पर बने हुए हैं कि आक्रमणकारी सेना पर गेरिसन ऊपर से पत्थर और गर्म पानी व तेल आसानी से फेंक सकते थे।

स्पष्ट है कि भूतपूर्व मेवाड़ राज्य में चित्तौड़ के बाद कुम्भलगढ़ का किला भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। दुर्गम स्थान में सुदृढ़ बना हुआ यह दुर्ग मेवाड़ का प्राकृतिक प्रहरी था जो करीब दस नालों (tunnels) की रक्षा करता था, इसके घेरे में कम से कम 10 पहाड़ियां आ जाती थीं। अतएव इस किले का Strategic महत्व कम नहीं था।

जालोर का किला
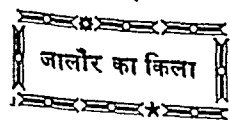
जोधपुर शहर से लगभग 75 मील दक्षिण में 25° 21′ उ० तथा 72°37′ पू० अक्षांश और देशांतर रेखाओं के बीच जालोर[2] स्थित है। इस स्थान पर सोनगिरि नामक पहाड़ी की चोटी पर लगभग 1000 फुट की ऊंचाई पर दुर्ग बना हुआ है। ऐसा माना जाता है कि इस दुर्ग को पहली शताब्दी में परमार राजपूत ने बनवाया था जिनका जालोर पर बारहवीं शताब्दी के अन्त तक राज्य रहा था। यह दुर्ग लगभग 800 गज लम्बाई में तथा 400 गज की चौड़ाई में स्थित है। पूर्ण रूप से पत्थर का बना हुआ यह किला केवल एक तरफ से ही खुला हुआ है जहां हो कर किले तक पहुंचा जा सकता है। किले तक पहुंचने के लिए तीन मील लम्बा steep and slippeny Roadway बना हुआ है। तीन परकोटों के द्वारा यह किला घिरा होने के कारण अजेय बन गया है। किले में जितनी भी इमारतें बनी हुई है वे सब धरती को ऊंचा करके बनाई गई हैं। अधिकांश इमारतों पर गोल गुम्बज बने हुए हैं।

जोधपुर शहर के दक्षिण पश्चिम मे जालोर ऐसे Strategic Point पर है जहाँ राजस्थान, गुजरात और आधुनिक पाकिस्तान की सीमाएं टकराती हैं। किले के इर्दगिर्द हरी-भरी भूमि है जहां वर्षा सर्वाधिक होती है। किले के अन्दर भी काफी भूमि है जहां कदाचित् कृषि की जाती होगी। किले के भीतर ही दो तालाब बने हैं अतएव जल का अभाव लोगों को कभी महसूस नही हुआ।

---

1. इस किले में 30,000 आदमियो के लिए एक साल की रसद जुटा कर रखी जा सकती थी। पानी की व्यवस्था के लिए किले में कई छोटे बड़े तालाब है जो एक दूसरे से अन्दरूनी तौर पर connected हैं।
2. जालोर का प्राचीन काल में नाम जबलिपुरा था।

बारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में नाडोल के चौहानों के एक वंशज कीर्तिपाल ने जालोर में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। ताजुल मआसिर को पढ़ने से जाहिर होता है कि 1210 ई० में सुल्तान इल्तुतमिश ने इस किले पर अधिकार किया था, लेकिन किला शीघ्र ही वहां के शासक उदयशाह को लौटा दिया गया। इल्तुतमिश के इस अभियान के लगभग 100 वर्ष बाद अलाउद्दीन खिलजी ने जालोर पर आक्रमण किया था। उस समय जालोर का शासक कान्हड़दे था। अलाउद्दीन का जालोर पर अधिकार हो गया। अपनी विजय की स्मृति में उसने किले के भीतर एक मस्जिद का निर्माण करवाया था जो अब तोपखाना के नाम से प्रसिद्ध है। खिलजी सल्तनत के पतन के पश्चात् जालोर पर बिहारी पठानों का अधिकार हो गया था। 1540 में मारवाड़ के शासक राव मालदेव ने इस किले को पहली बार अपने अधिकार में किया था। मुगल सम्राट् अकबर ने इस पर अधिकार कर लिया था। तत्पश्चात् यह किला 1682 तक मुगलों के अधिकार में रहा। 1682 के बाद लगभग सात वर्ष तक यह किला पालनपुर राज्य के संस्थापक के हाथों में बतौर जागीर के रहा। लेकिन इसे विजय करने के राठौड़ों के निरन्तर प्रयत्नों से भयभीत होकर उसने इसे खाली कर दिया, लेकिन मुगल सम्राट् औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् महाराजा अजीतसिंह ने इस पर अपना अधिकार कर लिया और तब से लेकर भूतपूर्व जोधपुर राज्य के विलीनीकरण तक यह किला मारवाड़ के राठौड़ राजाओं के अधिकार में रहा।

जालोर के किले में केवल कतिपय ऐतिहासिक इमारतें ही नहीं हैं अपितु यह दुर्ग अकबर के शासन काल में जस्ते की खान के लिए भी प्रसिद्ध था। यहां के ऊँट, ऊँटों की गद्दियां तथा धातु के बने हुए खूबसूरत बर्तन तो आजकल भी प्रसिद्ध हैं। स्पष्ट है कि जालोर का किला मध्य काल में राजस्थान का एक प्रमुख दुर्ग माना जाता था।

सिवाना का किला जोधपुर शहर से लगभग 60 मील दक्षिण पश्चिम में सिवाना का दुर्ग स्थित है। मानचित्र में सिवाना 25°38′ उ० व 72°26′ पू० रेखाओं के मध्य स्थित है। यहाँ लगभग 1000 फुट ऊंची पहाड़ी पर एक दुर्ग स्थित है जो समुद्र की सतह से लगभग 3100 फुट ऊंचा है। यह राजस्थान का एक प्राचीन दुर्ग है जो गुजरात और मरुभूमि के बीच में है और जिसका वर्णन Ptolemy ने Xoana के नाम से किया

र यह किला स्थित था।

अजेयता का वर्णन किया

अमीर खुसरो लिखता है

भी नहीं पहुँच सकते हैं।

इस किले तक पहुँचने के लिये पांच मील का Circuitous rout पार करना पड़ता है।

सन् 1308 में जब सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी ने इस दुर्ग पर आक्रमण किया था उस वक्त यहां का शासक सीतलदेव परमार था। अलाउद्दीन ने किले को तीन दिशाओं (पश्चिम, उत्तर तथा पूर्व) से घेर लिया था। मंजनीकों से अनवरत रूप से पत्थर फेंके गए लेकिन कोई सफलता नहीं मिली। पश्चिम की दिशा से मलिक कमालउद्दीन गुर्ग ने किले की दीवार पर जो निरन्तर रूप से प्रहार किए थे उससे कतिपय स्थलों पर दीवार टूट गई। पार्श्व निर्मित किए गए और हाथियों की सहायता से आक्रमणकारी ऊंची चोटी तक पहुँचने में सफल हुए। मुसलमानों के बढ़ते हुए कदमों को रोकने के लिए राजपूतों ने बुर्जियों से पत्थर और आग फेंकना बदस्तूर जारी रखा। लेकिन जब शाही सेना की एक टुकड़ी किले की बुर्ज लाँघने में सफल हो गई तो सीतलदेव ने जालोर से भागने का असफल प्रयत्न किया लेकिन वह मारा गया। तब कहीं जाकर अलाउद्दीन का सिवाना पर अधिकार हो सका। यहाँ का शासन कमालउद्दीन गुर्ग को सौंपकर अलाउद्दीन अपनी राजधानी लौट गया।

अलाउद्दीन की मृत्यु के पश्चात् मारवाड़ के राठोड़ राजाओं ने इस किले पर अधिकार कर लिया। मारवाड़ में इस किले का अधिक महत्व था क्योंकि एक तो यह किला दुर्गम पहाड़ों और जङ्गलों के मध्य स्थित था और दूसरे इस किले पास ही दुनाड़ा का किला स्थित था जो अपनी सुदृढ़ता के कारण सिवाना के दुर्ग की प्रहरी के समान रक्षा करता था। अतः संकट काल में मारवाड़ के राजा सिवाना के किले में जाकर उसी प्रकार निवास किया करते थे जिस प्रकार मेवाड़ के महाराणा कुम्भलगढ़ के किले में रहा करते थे। शेरशाह के द्वारा पराजित किए जाने पर राव मालदेव ने तथा बाद में उसके पुत्र और उत्तराधिकारी राव चन्द्रसेन ने सिवाना के किले में जाकर शरण ली थी। अतः मुगल सम्राट् अकबर के लिए इस दुर्ग को विजय करना आवश्यक था। इस किले की Strategic importance भी कम नहीं थी। अतः अकबर महान् के शासन-काल में इस किले को विजय करने के लिए बार-बार सेनाएं भेजी गईं। अन्त में शाही मीर बक्शी शाहबाजखां के नेतृत्व में जो सेना भेजी गई वह किले को फतह करने में कामयाबी हासिल कर सकी। जोधपुर नरेश महाराजा जसवन्तसिंह की मृत्यु के पश्चात् मुगल सम्राट् औरङ्गजेब ने जब जोधपुर को खालसा कर दिया तब सिवाना पर भी मुगलों का अधिकार हो गया। अजीतसिंह ने बमुश्किल तमाम इस दुर्ग को पुनः अपने अधिकार में किया था। तब से लेकर भूतपूर्व जोधपुर राज्य के राजस्थान में विलीनीकरण तक यह किला मारवाड़ के राठोड़ राजाओं के अधिकार में बना रहा।

जोधपुर का किला
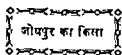
मारवाड़ में जोधपुर राठोड़ों की तीसरी राजधानी थी। मेड़ से मंडोर और मंडोर से जोधपुर यहां के शासक राव जोधा के समय में आए थे। राव जोधा ने एक (Isolated) पृथक पहाड़ी पर, जो धरातल से लगभग 400 फुट ऊंची है, जोधपुर के सुप्रसिद्ध दुर्ग का शनिवार 12 मई 1459 के दिन निर्माण प्रारम्भ करवाया था। इस किले का पुराना परकोटा, जिसमें चार द्वार थे, राव जोधा के द्वारा ही बनवाया गया लेकिन मौजूद परकोटा अठारवीं शताब्दी में महाराजा मानसिंह के द्वारा बनवाया गया था। इसकी परिधि 24,600 फीट है। परकोटे की दीवारें 3 फुट से लेकर 9 फुट तक चौड़ी और 15 फीट से लेकर 30 फीट तक ऊंची हैं। परकोटे के 6 द्वार हैं जिन्हें जालोरी गेट, मेड़ता गेट, नागौरी दर्वाजा, सिवाना गेट, सोजती गेट और चांदपोल गेट कहकर पुकारा जाता है। परकोटे में स्थान-स्थानपर बुर्ज और मोर्चे बने हुए हैं जहां रखी हुई तोपें आज भी हमें जोधपुर के प्राचीन वैभव की याद दिलाती हैं। सब गेट सुदृढ दर्वाजों से सुरक्षित हैं। दर्वाजों पर भी नुकीली मजबूत कीलें लगी हुई हैं ताकि शत्रु इन दर्वाजों को हाथियों की सहायता से तोड़ नहीं सकें। नागौरी दर्वाजे के बाहर तोप के गोलों से खंडित प्राचीर अब भी मौजूद है जो 1806 के अमीरखां पिंडारी के आक्रमण की याद दिलाती है।

किले पर पहुंचने के लिए (शहरपनाह में) केवल दो द्वार हैं। प्रथम द्वार उत्तर-पूर्व में है जो जयपोल के नाम से प्रसिद्ध है और दूसरा द्वार दक्षिण पश्चिम में है जो फतहपोल कहलाता है। फतह पोल का निर्माण महाराजा अजीतसिंह I ने बादशाह औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् 1707 में करवाया था। जयपोल का निर्माण महाराजा मानसिंह के द्वारा 1800 के लगभग करवाया गया था। किले पर पहुँचने से पहले 'रावजोधा का फलसा' पड़ता है। तदुपरांत शृंगार चौकी आती है जहां जोधपुर के महाराजाओं का राजतिलक होता है। मोतीमहल का निर्माण सवाई राजा सूरसिंह ने कराया, महाराजा तख्तसिंहजी ने उसका पुनर्निर्माण कराया। फतह महल का निर्माण महाराजा अजीतसिंहजी I के द्वारा 1708 में करवाया गया। इस किले में जो भवन बने हुए हैं वे लाल पत्थर के हैं। उनमें नक्काशी का सुन्दर कार्य किया गया है तथा महलों की छतों पर सुन्दर चित्रकला के नमूने आज भी मौजूद हैं। इसके अतिरिक्त किले में ही स्थित चामुण्डा माता का मन्दिर भी कला और जोधपुर के महाराजाओं की धर्म परायण भावना का प्रतीक है।

मनसार के अनुसार जोधपुर का किला भी एक गिरी दुर्ग है। इसको बनवाते वक्त आत्मनिर्भरता का पूरा पूरा ध्यान रक्खा गया था। अतः पानी की व्यवस्था के लिए राव जोधा की एक रानी ने सागर के नाम से तालाब बनवाया तथा दो कुएं भी कालान्तर में बनवाए गए थे।

इस किले पर 1544 में शेरशाह सूर की सेनाओं ने अधिकार कर लिया था। 524 दिन तक यह किला सूर सुल्तानों के अधिकार में रहा। तत्पश्चात् मुगल सम्राट् अकबर का 1564 में इस पर अधिकार हो गया। अकबर के द्वारा महाराजा उदयसिंह को जोधपुर का टीका दिए जाने पर यह किला लौटा दिया गया (1583)। महाराजा जसवन्तसिंह I की मृत्यु के पश्चात् तत्कालीन मुगल सम्राट् औरंगजेब ने जोधपुर के किले पर अधिकार कर लिया। मुगलों का लगभग 30 वर्षों तक इस किले पर अधिकार रहा। महाराजा अजीतसिंह I बादशाह औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् इस किले को अपने अधिकार में करने में सफल हुए। उस वक्त से लेकर जोधपुर के विलीनीकरण तक यह किला मारवाड़ के राठौड़ राजाओं के अधिकार में रहा। आधुनिक समय में भी इस दुर्ग के ऐतिहासिक महत्व को समझ कर तथा ऐतिहासिकता की अक्षुणता को बनाए रखने हेतु यह किला वर्त्तमान महाराजा गजसिंहजी ने निजी अधिकार में ही रख रखा है।

जोधपुर के किले का निर्माण इतनी चतुराई के साथ किया गया है कि मध्य काल में इस किले की प्राचीर पर चढ़कर आक्रमणकारी सेना का बहुत दूर से पता लगाया जा सकता था। आधुनिक जोधपुर शहर पहाड़ी की तलहटी में बसा हुआ है।[1]

मंडोर
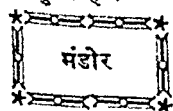
राठौड़ों की भूतपूर्व राजधानी (1381–1459) मंडोर में भी एक किला है। जिसका architecture बौद्धकालीन माना जाता है। राठौड़ों के पहले मंडोर पर परिहार राजपूतों का अधिकार था। प्राचीन किले की खुदाई का कार्य अभी जारी है। खुदाई[2] सम्पूर्ण हो जाने पर कदाचित् यहां से ऐतिहासिक ज्ञान की अभिवृद्धि हो सकती है।

मंडोर में बनी जोधपुर के महाराजाओं के देवल (छतरियां) कला के सुन्दर स्मारक हैं।

स्पष्ट है कि मंडोर और जोधपुर के किले स्थापत्य एवं ऐतिहासिक महत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

---

1. "The Fort, which is in its way the finest in Rajputana commands the city and standing in great magnificence on an isolated rock about 400 ft. above the surrounding plain, attracts the eye from afar."
2. खुदाई का श्रेय जोधपुर राजघराने के वंशज राजकुमार स्वरूपसिंह जी, बी. ए. सदस्य, राजस्थान विधान सभा, लूणी, को है जो अपने इतिहास-प्रेम के कारण इस खुदाई में सक्रिय रूप से दिलचस्पी ले रहे हैं। अपने पिता महाराजाधिराज अजीतसिंहजी के समान राजकुमार का इतिहास-प्रेम भी सर्वथा सराहनीय है।
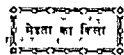
मेड़ता का किला

मानचित्र में मेड़ता 26°39' उत्तर व 44°2' पूर्व की रेखाओं के बीच स्थित है। आगरा से जयपुर फुलेरा होती हुई पश्चिम रेलवे की छोटी लाईन जोधपुर बाड़मेर तक जाती है उस पर फुलेरा और जोधपुर के बीच में मेड़ता रोड जंक्शन आता है। स्टेशन से ६ मील दक्षिण-पूर्व में मेड़ता शहर और मेड़ता का किला है। राव जोधा के चतुर्थ पुत्र दूदा ने 1788 ई० के लगभग मेड़ता शहर की स्थापना की थी। उसी वक्त एक किला भी बनवाया गया था जिसका परकोटा 1540 ई० में मारवाड़ के शासक राव मालदेव ने बनवाया। मालदेव ने इस किले का नाम मालकोट रखा था।

क्योंकि यह किला अजमेर से अधिक दूर नहीं है और जोधपुर तथा नागौर से भी क्रमश 104 और 57 किलोमीटर के फासले पर है अतएव भूतपूर्व मारवाड़ राज्य के इतिहास में इस किले की Strategic importance बहुत अधिक थी। मारवाड़ के शासक राव मालदेव ने इस पर अपना अधिकार करने के चक्कर में मेड़ता के शासक वीरम को अपना अशुभचिन्तक बना लिया था। कहने का तात्पर्य यह है कि 1488 से 1540 के बीच मेड़ता में राठौड़ों का एक स्वतन्त्र राज्य रहा। मेड़ता की स्वतन्त्रता की रक्षा करने के प्रयत्नों में वीरम और उसके उत्तराधिकारी जयमाल ने क्रमश शेरशाह सूरी और अकबर को राजस्थान में आने के लिए निमन्त्रित और प्रोत्साहित किया। अकबर के शासन काल के प्रारम्भिक दिनों में अजमेर के मुगल सूबेदार मिर्जा शरफुद्दीन ने मालदेव के सेनापति देवीदास पर जिस कठिनाई से विजय प्राप्त की थी उसका वर्णन अकबरनामा में पढ़ने से जाहिर होता है कि मेड़ता का किला एक अभेद्य दुर्ग था। मेड़ता अकबर के शासन काल में अवश्य मुगलों के अधिकार में आ गया था लेकिन अकबर ने ही मारवाड़ का टीका देते समय मोटा राजा उदयसिंह को जोधपुर के साथ-साथ मेड़ता भी लौटा दिया था। तत्पश्चात् यह किला पुन महाराजा जसवन्तसिंह की मृत्यु के बाद बादशाह औरङ्गजेब के हाथ चला गया। राठौड़ो ने अपने देश और कौम की स्वतन्त्रता के लिए औरङ्गजेब के शासनकाल में जो 30 वर्षीय संघर्ष किया था उस वक्त मेड़ता राठौड़ कार्यवाहियों का केन्द्र रहा था। इस प्रकार मेड़ता के दुर्ग ने कई उतार चढाव देखे हैं। मैदान में एक पहाड़ी पर बना होने के कारण इस किले का रक्षात्मक महत्त्व बढ गया था। मारवाड़ के शासकों की दृष्टि में यह किला बहुत कुछ अंशो में जोधपुर का द्वार समझा जाता था।
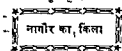
नागौर का किला

जोधपुर शहर से लगभग 100 मील उत्तर पूर्व में 27° 14' उ० 73°44' पू० रेखाओं के बीच नागौर स्थित है। ऐसा माना जाता है नागौर की स्थापना नाग राजपूतों ने की थी अत नागौर का प्राचीन नाम नागपुरा अथवा नागदुर्ग था। पृथ्वीराज चौहान का

इस प्रदेश पर अधिकार रहा। पृथ्वीराज की पराजय के पश्चात् यहां के हिन्दुओं ने इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया और वे लोग क्यामखानी मुसलमान कहलाए। इन क्याम-खानियों ने नागौर में एक स्वतंत्र मुस्लिम राज्य स्थापित कर लिया। मंडोवर के राव चूंडा ने इस किले को अपने अधिकार में कर लिया था, तत्पश्चात् यह मेवाड़ के राणा कुम्भा के अधिकार में रहा। लेकिन 1416 में यह किला पुनः मुसलमानों के अधिकार में चला गया था। नागौर का मुस्लिम सूबेदार शम्सखां दिनदानी दिल्ली के सैयद सुल्तान खिज्रखां का आधिपत्य मानता था। कुछ समय तक इस प्रदेश और दुर्ग पर गुजरात के सुल्तानों का भी अधिकार रहा था। राव माल्देव ने इसे पुनः अपने अधिकार में कर लिया था। लेकिन यह किला शीघ्र ही मुगल सम्राट् अकबर के हाथों में चला गया। अकबर ने पहले तो यह किला बीकानेर के रायसिंह को दिया और फिर 1583 में मोटा राजा उदयसिंह को मारवाड़ राज्य के टीका के साथ दे दिया। शाहजहां ने मारवाड़ के शासक गजसिंह की मृत्यु के पश्चात् उसके ज्येष्ठ पुत्र अमरसिंह को स्वतंत्र रूप से नागौर प्रदान कर दिया था। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् भी नागौर पर अमरसिंह के वंशज राज्य करते रहे। अजीतसिंह की मृत्यु के पश्चात् नागौर उसे कनिष्क पुत्र वख्तसिह को दिया गया था। तत्पश्चात् नागौर निरंतर रूप से भूतपूर्व जोधपुर राज्य का एक महत्वपूर्ण किला रहा।

चूंकि नागौर का दुर्ग बीकानेर, आमेर य मेड़ता के स्वतंत्र राज्यों से मार-वाड़ की रक्षा करता था, अतः इसकी Stratigic importance को समझ कर मुगल सम्राट् अकबर ने इसे सरकार का हेड क्वार्टर बना दिया था जिसमें 30 परगने शामिल थे।

नागौर शहर के मध्य में किला बना हुआ है। इस किले के चारों ओर एक दोहरी दीवार का परकोटा बना हुआ है जिसकी परिधि एक मील है। पहला परकोटा जमीन की सतह से 25 फीट तथा दूसरा परकोटा 50 फुट ऊंचा है। परकोटे की दीवार भी काफी चौड़ी (12 फुट) है। इस परकोटे में 6 दरवाजे बने हुए हैं।

1570 ई० में मुगल सम्राट् अकबर स्वयं नागौर तक आया था और वह करीब एक महीने तक यहां ठहरा भी था। अतः उसके जमाने के बनाए हुए महल तथा एक फव्वारा अब तक भी वहां मौजूद है। शाहजहां के शासन-काल में यहां एक मस्जिद बनवाई गई थी जो अब भी मौजूद है।

चूंकि नागौर शताब्दियों तक मुसलमानों का केन्द्र-बिन्दु रहा था अतः यहां कतिपय मुस्लिम फकीरों और विद्वानों का प्रभाव रहा। अकबर का दरबारी इतिहासकार अबुलफजल और उसका भाई फैजी नागौर के शेख मुबारक के पुत्र थे।

नागौर के बैल भारतवर्ष में प्रसिद्ध हैं। बैलों के अतिरिक्त यहां के बने पीतल

और लोहे के बर्त्तन, ताले, हाथीदात के खिलौने, ऊंट की काठी तथा रंगीन कपड़े भारत भर मे प्रसिद्ध हैं।

मारवाड़ की उसके नौ सुदृढ दुर्गों की वजह से मध्यकाल मे प्रसिद्धि रही थी। नागौर की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि यह बहुत कुछ अंशों मे मारवाड़ का नौ द्वारों में से एक द्वार था।

बीकानेर का किला

राव जोधा के पुत्र बीका ने 1465 में जोधपुर से जांगल देश की ओर प्रस्थान किया था। इस प्रदेश को विजय कर लेने के पश्चात् अपनी भाटी राजपूतों की रक्षा करने के लिए बीका ने 12 अप्रेल 1488 के दिन बीकानेर के किले की स्थापना की। तीन वर्ष पश्चात् इसी किले के इर्द-गिर्द आधुनिक बीकानेर शहर बसाया। यह किला ऊंची चट्टान पर स्थित है। महाराजा रामसिंह (1574-1612 A.D.) के शासन काल मे बीकानेर शहर का परकोटा बनवाया गया था जिसकी परिधि 1078 गज है। स्थान स्थान पर बुर्ज बने हुए हैं जिनकी सख्या 80 है। किले के चारों ओर एक तीस फुट चौडी व बीस से पचास फुट गहरी पानी की खाई है। किले मे प्रवेश करने के लिए दो प्रधान दरवाजे हैं। कर्णपोल दरवाजे से घुसने के पश्चात् मरदाने और जनाने महल आते हैं। इन महलों के भीतर कई जगह काच की पच्चीकारी और सुनहरी कलम का बहुत सुन्दर काम किया हुआ है। इन महलों की दीवार का जिस रूप मे रंगीन पलास्तर किया हुआ है उससे महलों का सौंदर्य बढ गया है। यहीं पर आगे चलकर महाराजा रामसिंह का चौबारा है। इस किले मे पीतल की कई मूर्तियां हैं जिन्हें महाराजा अनूपसिंह दक्षिण से अपने साथ लाये थे और जो तैंतीस करोड देवताओं के नाम से पूजी जाती है।

बीकानेर के किले के लिए यह किवदती प्रसिद्ध है कि इसे कोई शत्रु विजय नहीं कर सका। लेकिन यह किवदती ऐतिहासिक दृष्टि से सच प्रतीत नही होती क्योंकि मुगल सम्राट हुमायूं के भाई कामरा ने बीकानेर पर चढाई की थी और मारवाड के राव मालदेव ने बीकानेर के शासक जैतसी को मारकर इसे अपने अधिकार मे कर लिया था।

राजस्थान के उत्तरी-पश्चिमी भाग रेगिस्तान में स्थित होने के कारण बीकानेर के दुर्ग की Stratigic importance बढ गई थी। यह ऐसे स्थान पर स्थित है कि जहा शत्रु का सुगमता से पहुंचना सरल नही है।

आमेर का किला

आधुनिक जयपुर शहर से सात मील पूर्व मे कछवाहा राज्य की भूतपूर्व राजधानी आमेर स्थित है। यहां पर धरातल से लगभग 400 फुट की ऊंचाई पर एक पहाडी है जिस पर ढूंढार मे संस्थापित कछवाहा वंश के शासक काकिल ने सुसावत मीनाओं को पराजित करके 1150 ई॰ में इस किले की नींव डाली थी। तब से यह किला आमेर

के कछवाहा शासकों के अधिकार में बना रहा। इस किले की ऐसी स्थिति है कि जब कभी आमेर कस्बे पर शत्रुओं का आक्रमण हुआ तो उस वक्त वहां के निवासी इस किले में जाकर शरण लेते थे। इस किले के नीचे एक कृत्रिम झील है जो किले की रक्षा करने के साथ-साथ इसकी सुन्दरता को भी बढ़ाती है। झील के बिल्कुल ऊपर महल बने हुए हैं। इन महलों में झरोखे और बरामदे बने हुए हैं और इनका Architecture हिन्दू और मुस्लिम शैलियों का सम्मिश्रण है। किले के महल राजा मानसिंह के द्वारा बनवाए गए थे। इस किले के दीवानेआम और दीवाने खास का निर्माण मिर्जा राजा जयसिंह के द्वारा करवाया गया था। किले के भीतर काली का मन्दिर, जय मन्दिर और सुहाग मन्दिर है। 'सुख निवास' और जनाने महल दोनों का निर्माण भी हिन्दू और मुस्लिम शैलियों के अनुसार करवाया गया था।

आमेर के किले में कतिपय स्थलों पर की गई चित्रकारी तथा Carvings पर मुगल शैली की छाप स्पष्ट रूप से नजर आती है। भीतर के महलों को छोड़कर, जो ठेठ हिन्दू डिजाइन के बने हुए हैं, अधिकांश भवनों पर मुस्लिम कला का प्रभाव नजर आता है। आमेर में कई मन्दिर भी हैं। जगत शिरोमणी का मन्दिर महाराजा मानसिंह के द्वारा अपने स्वर्गवासी पुत्र जगतसिंह की स्मृति में बनवाया गया था। नरसिंहजी का मन्दिर कच्छवाओं का कुल देवता का मन्दिर है। इनके अलावा कई जैन मन्दिर आमेर में हैं। जिनमें लाल साहब का मन्दिर सर्वाधिक प्रसिद्ध है। शिव मत के अनुयायियों का भी आमेर पर प्रभाव कम नहीं रहा है। कल्याणजी का मन्दिर आज भी अपने कलात्मक सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध है।

अकबर बादशाह ने 1569 में यहां एक मस्जिद बनवाई थी जो आज भी मौजूद है। इस मस्जिद का डिजायन और कला अत्यन्त सरल है।

महाराजा सवाई जयसिंह द्वितीय ने जब अश्वमेघ यज्ञ किया था, तब यज्ञ स्तम्भ उसकी स्मृति को चिरस्थायी करने के लिए स्थापित किया था जो अब भी मौजूद है। इसके अतिरिक्त काला हनुमान का मन्दिर और महादेव के मन्दिर आज भी धर्मावलम्बियों को आकर्षित करते हैं।

राजस्थान के किलों का वर्णन करते समय मुख्य रूप से राजनैतिक ऐतिहासिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर यह पृष्ठ लिखे गए हैं। विभिन्न किलों पर कब-कब और किस-किस राजवंश का अधिकार रहा इसका संक्षेप में वर्णन कर इतिहासिक घटनाओं के उतार चढ़ाव को सामान्य पाठक के लिए दर्शाने की कोशिश की गई है। इन पृष्ठों में जितने महत्वपूर्ण दुर्गों का वर्णन किया गया है उनमें बीकानेर और नागौर को छोड़कर शेष सभी गिरि दुर्ग हैं। जो धरातल से 400 फुट से लेकर 1000 फुट की ऊंचाई तक बसे हुए हैं। सभी किलों की प्राचीरें इतनी अधिक सुदृढ़ बनी हुई हैं कि आक्रमणकारियों को उन्हें तोड़ने के लिए पार्श्व

और सहवात बनाने पडते थे। जितने भी किले ऊंचाई पर स्थित हैं, उन सभी पर पहुँचने के लिए Zig-Zak मार्ग बना हुआ है जो Circutous Slippery तथा ऊंचाई पर बना हुआ है। कतिपय किलो के दरवाजों तक पहुँचने के लिए सात गेट पार करने पडते हैं। इस Architecture को Spinnel Architecture कहकर पुकारा जा सकता है। स्थापत्य की यह शैली स्वदेशी है क्योंकि सभी किले मुसलमानों के भारत में प्रवेश करने से पूर्व बन चुके थे। इस शैली को किसी भी रूप मे विदेशी कहना युक्ति-सगत नही है। मैंने अपनी अप्रकाशित पुस्तक Forts of Rajasthan में इन दुर्गों के अलावा अन्य दस और महत्वपूर्ण दुर्गों का वर्णन मुख्य रूप से तीन दृष्टिकोण से किया है —

1. किलो का राजनैतिक इतिहास,
2. Fort architecture,
3. किलों ने राजस्थान के राजनैतिक और सास्कृतिक इतिहास को कहा तक प्रभावित किया है।

यह पुस्तक U. G C योजना के अन्तर्गत लिखी गई है। अत मैं उम्मीद करता हू कि जब यह प्रकाशित हो जायेगी तो दुर्गों का अन्धकारमय अध्याय सामान्य जनता व इतिहास के विद्यार्थियो के लिए अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकेगा।

प्रत्येक किला रसद की कमी के कारण शत्रुओं के द्वारा जीता गया। किले मे बन्द गैरिसन का धरातल की जनता से सम्पर्क टूट जाता था। धरातल पर रहने वाले जो लोग किले के बारे में जानकारी रखते थे उनको बहका कर शत्रु किले के कमजोर स्थलों का पता लगा लेता था कि कहा से आक्रमण करने पर किला विजय किया जा सकता था अन्यथा इन अजेय दुर्गों को विजय करना मध्यकाल में सुगम काय नही था।

16

मुसलमानों का राजस्थान की सभ्यता और संस्कृति पर प्रभाव
(Impact of Islam on Rajasthan's Society and Culture)

राजनैतिक प्रभाव

मुस्लिम आक्रमणकारी सेनाओं का सन् 712 में सिन्ध विजय कर लेने के बाद राजस्थान के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ। मारवाड़ के राठौड़ राज्य की सीमाएं सिन्ध से मिलती हैं। अतः अरब की सेनाएं अपने सेनापति जुनैद के नेतृत्व में मारवाड़ में भीनमाल तक बढ़ आई थी। लेकिन मुहम्मद बना कासिम के आक्रमण का प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव भारत पर नहीं पड़ा था। स्वाभाविक रूप से राजस्थान का इस्लाम के साथ पहला सम्पर्क राजनैतिक दृष्टि से प्रभावहीन रहा। महमूद गजनवी भी अपने अभियानों के सिलसिले में सोमनाथ जाते वक्त नडोल होकर गुजरा था। लेकिन महमूद गजनवी के आक्रमण का राजस्थान पर केवल इतना ही प्रभाव पड़ा कि कतिपय मुस्लिम व्यापारियों ने तत्कालीन व्यापार के केन्द्र पाली, (मारवाड़) के साथ सम्पर्क स्थापित किया। राजस्थान की राजनीति पर मोहम्मद गौरी के अभियानों का अवश्य प्रभाव पड़ा। राजस्थान के प्रमुख राजपूत राजा पृथ्वीराज चौहान को तराइन के द्वितीय युद्ध में पराजित करके मुहम्मद गौरी ने केवल दिल्ली और आगरा के प्रदेशों पर ही अपना शासन स्थापित नहीं किया अपितु पृथ्वीराज चौहान की राजधानी अजमेर विजेताओं का केन्द्र-बिन्दु बन गई।

1562 से पहले दिल्ली का कोई भी सुल्तान राजस्थान को स्थाई रूप से अपने अधिकार में करने में सफल नहीं हुआ था।

मुहम्मद गौरी की मृत्यु के बाद तथाकथित दास वंशों के सुल्तानों कुतुबुद्दीन ऐबक व इल्तुतमिश ने अजमेर के आसपास के इलाके को अपने अधिकार में करना चाहा था। इल्तुतमिश से लेकर शेरशाह सूर तक दिल्ली के कतिपय अफगान सुल्तानों ने राजस्थान को अपने अधिकार में करने का प्रयत्न किया। इन प्रयत्नों में अलाउद्दीन खिलजी को क्षणिक विजय भी प्राप्त हुई थी। उसकी सेनाओं ने चित्तौड़, सिवाना, जाल्लोर रणथम्भोर व बयाना के प्रदेशों को रौंदकर अपने अधिकार में कर लिया लेकिन अलाउद्दीन खिलजी की तलवार पर की गई विजय स्थायी सिद्ध न हो सकी और यह किले पुनः राजपूत राजाओं के अधिकार में चले गये। लोदी सुल्तान

इब्राहीम ने जब राजस्थान की ओर कदम बढ़ाने की कोशिश की तो उसे मेवाड़ के राणा सांगा ने पराजित करके सिद्ध कर दिया कि 16वीं शताब्दी में भी राजपूतों की वीरता और साहस किसी रूप में कम नहीं हुआ था। 1544 में शेरशाह सूर के दांत इतने अधिक खट्टे हो गए थे कि उसने राव मालदेव पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद भी हर्ष व विषाद के मिश्रित स्वर में केवल इतना कहा था कि "एक मुट्ठी बाजरे के लिए मैंने हिन्दुस्तान की बादशाहत खो दी होती।" शेरशाह सूर का राजस्थान पर केवल 524 दिन तक अधिकार रहा। उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि 1562 से पहले दिल्ली का कोई भी सुल्तान राजस्थान को अपने अधिकार में करने में सफल नहीं हुआ था। लेकिन इल्तुतमिश, बलबन, जलालुद्दीन खिलजी, अलाउद्दीन, मुहम्मद तुगलक और खिज्रखां सैय्यद ने सैनिक अभियान भेजकर राजपूत राजाओं को आधीन करने के जो प्रयास किए उन प्रयासों का अप्रत्यक्ष रूप से राजस्थान पर प्रभाव अवश्य पड़ा। उदाहरण के लिए मुस्लिम आक्रमणकारियों के साथ राजस्थान में प्रवेश करने वाले सैकड़ों सैनिक यहीं बस गए। इन सैनिकों ने अजमेर, नागौर और उसके आसपास के इलाकों में अपनी बस्तियां बसा लीं। इसका परिणाम यह निकला कि राजस्थान में हिन्दुओं के साथ-साथ मुसलमानों का फिरका भी पनपने लगा।

इन सुल्तानों ने राजस्थान के विभिन्न अभेद्य दुर्गों को विजय करने के लिए मजनीक, अरादा और पाशिब का प्रयोग किया था। राजपूत राजा इसका प्रयोग नहीं जानते थे। लेकिन मुसलमानों के द्वारा बराबर प्रयोग किए जाने पर राजपूतों को भी इन नये तरीकों के बारे में ज्ञान प्राप्त हो गया। इसी प्रकार मुसलमानों के निरन्तर सम्पर्क में रहने के कारण राजपूत राजा ने उन्हें मलेच्छ समझना बन्द कर दिया। मुसलमान लोग हिन्दुओं को काफिर समझते रहे। उनके विरुद्ध जिहाद का नारा लगाते रहे। उन्हें पराजित करने के बाद मौत के घाट उतार देते थे। जिसका परिणाम यह निकला कि राजपूतों और मुसलमानों में एक गहरी खाई पड़ गई। इस गहरी खाई के उपरान्त भी कई सुल्तानों और उनके सरदारों ने राजस्थान की राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लिया। कुछ राजपूत राजा भी अपने भाई बेटों के विरुद्ध इन सुल्तानों अथवा उनके सेवकों से सैनिक सहायता की याचना करके अपनी कब्र खुद खोद बैठे। बीकानेर के कल्याणमल और मेड़ता के बीरम ने मारवाड़ के शासक मालदेव के विरुद्ध शेरशाह की सहायता चाह कर उसे राजस्थान में सुमेल का युद्ध लड़ने पर मजबूर किया। शेरशाह के गुलाम हाजीखां पठान ने आमेर, मेवाड़, मारवाड़ और बीकानेर राज्यों की नीति को प्रभावित करके इन राजाओं को आपस में लड़ा दिया इसका विस्तृत वर्णन हरमाड़ा

सुल्तानों की आकांक्षावादी सेनाओं ने रणथम्भोर, चित्तौड़, जालौर, सिवाना, इत्यादि दुर्गों के सम्मुख जो खून-खराबी की उसका मिला-जुला परिणाम यह निकला कि 1562 तक दिल्ली के सुल्तानों को अनवरत रूप से राजस्थान के राजपूत राजाओं का विरोध सहन करना पड़ा।

मुसलमानों की क्रूरताओं ने राजपूतों के रहन-सहन, आचार-विचार को अवश्य अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया था। सर्वविदित है कि मुसलमानों की कामवासना से अपनी पुत्रियों के सतीत्व की रक्षा करने के प्रयास में राजपूतों ने बाल-विवाह, सती, और जौहर जैसी प्रथाएं अंगीकार करली थी। उनकी नारियां असूर्यस्पर्शा बन गई थी। मुसलमानों के भारत में आने से पूर्व पर्दा-प्रथा भारतीय समाज में नहीं थी। इसका प्रचलन राजपूत काल में हुआ। लेकिन इनसे कहीं अधिक प्रभाव मुस्लिम आक्रमणों का राजस्थान की आर्थिक स्थिति पर पड़ा। कतिपय राजपूत राजा हरे-भरे खेतों को केवल इसलिए नष्ट कर देते थे कि जिससे शत्रु के हाथ में पड़ने पर वह उनके खिलाफ कार्य में आ सकते थे। मुसलमान लोग भी विजय के बाद लूटमार करना अपना कर्त्तव्य समझते थे जिसका परिणाम यह निकला कि राजस्थान की आर्थिक स्थिति दिन-प्रतिदिन शोचनीय होती गई। मलेच्छों से अपनी कौम, सभ्यता और धर्म की रक्षा करने के उत्सुक हिन्दू उपदेशकों ने धर्म के बन्धन कठोर कर दिए। लोगों में धार्मिक चेतना उत्पन्न करने के लिए धार्मिक मेलों का आयोजन किया जाना सल्तनत काल में ही प्रारम्भ हुआ था। सल्तनत काल में राजस्थान में Hero worship प्रथा प्रारम्भ हुई। आज भी तेजाजी और रामदेवजी की जो पूजाएं होती हैं वह इस Hero worship के जीते-जागते प्रमाण हैं।

1562 में अकबर का राजस्थान के साथ सम्पर्क हुआ

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि लगभग 350 वर्षों के मुस्लिम शासन ने राजस्थान को अप्रत्यक्ष रूप इतना अधिक प्रभावित किया था कि जब 1562 में मुगल सम्राट अकबर राजस्थान की ओर बढ़ा तो थके-थकाए, आपस में विभाजित राजपूत राजा पारस्परिक ईर्ष्या व द्वेष की अग्नि में जलने के कारण शक्तिहीन हो चुके थे। पारस्परिक संगठनों के अभाव में इन राजाओं ने एक-एक करके अकबर के सम्मुख मस्तक नवा दिया। अकबर की नीति अलाउद्दीन या शेर-शाह की नीति से भिन्न थी। वह पूर्ण आधिपत्य स्वीकार कर लेने के बाद राज्य वापस लौटा देता था। आमेर, बीकानेर, जैसलमेर के राज्यों को उसने किसी भी रूप में छेड़ा नहीं था। शायद वह मारवाड़ के राज्य को भी नहीं छेड़ता लेकिन वहां के तत्कालीन शासक राव चन्द्रसेन की विरोधी नीति ने उसे मारवाड़ को खालसा करने पर मजबूर कर दिया था। अकबर का मेवाड़ के अधिकांश भाग पर भी

अधिकार स्थापित हो गया था। हालांकि राणा प्रताप ने उसकी आधीनता जीवन-पर्यन्त स्वीकार नहीं की थी। तदुपरान्त अकबर ने समस्त राजस्थान को एक सूबे के रूप में सगठित किया। यहां के प्रदेश की व्यवस्था करने के लिए परगने व सरकारें कायम की गई। इन परगने व सरकारो मे फारसी जानने वाले लोगो को नियुक्त किया गया। राजस्थान के केन्द्र स्थल अजमेर में स्थित शेखसलीम चिश्ती की दरगाह की जियारत का मुन्तगीर अकबर जैसे-जैसे राजस्थान के सम्पर्क में आया वैसे-वैसे यहा की प्रशासनिक व्यवस्था मुगल व्यवस्था से प्रभावित होती गई। मारवाड़, आमेर तथा अन्य राज्यो के उदाहरणों से स्पष्ट है कि राजस्थान के राजाओं ने मुगल शासन व्यवस्था को दोषरहित आदेश व्यवस्था समझकर अपने अपने राज्यों मे लागू किया। मारवाड मे भाटी गोविन्ददास ने मुगल प्रशासन के ढाचे पर वहा के शासन को सगठित किया। आमेर मे भी राजा मानसिंह के शासन काल मे मुगल Pattern पर व्यवस्था की गई। मिर्जा राजा जयसिंह के शासन काल में आमेर मे कारखाने स्थापित किए गए और मारवाड की तरह से यहा के कर्मचारियों का नामकरण भी मुगल कर्मचारियो के समान किया गया।

अकबर ने इन राजपूत राज्यो के आन्तरिक व्यवस्था को परिवर्तित नहीं किया था लेकिन उसने आधीनता स्वीकार करने वाले शासको को शाही सेवा मे नियुक्त करके तथा उनकी साम्राज्य के दूरस्त प्रान्तो मे नियुक्तिया करके इन राजाओ को Absentee Ruler बना दिया था। राजा के मरने के बाद उसके लड़के को टीका देने की परिपाटी शुरू करके इन राजाओ को वास्तविक अर्थों मे जमींदार बना दिया था। प्रत्येक राजा को उसका पैत्रिक राज्य वतन जागीर के रूप मे प्रदान किया जाता था। वतन जागीर देते समय यह जरूरी नही था कि राजा के पुत्र व उत्तराधिकारी को वे सब परगने लौटा दिये जाय जो उसके पिता के अधिकार मे थे। अतिरिक्त परगने सेवा करने के एवज मे ही प्रदान किये जाते थे। यह परगने बादशाह के प्रसाद पर्यन्त ही उस राजा के पास रह सकते थे। कभी-कभी मुगल बादशाह प्रशासनिक व्यवस्था मे सीधा हस्तक्षेप भी किया करते थे। उदाहरण के लिए हम मारवाड के इतिहास मे महाराणा गजसिंह की मृत्यु के बाद मुगल बादशाह शाहजहा के द्वारा राजसिंह कूपावत को, उनकी मृत्यु के बाद महेशदास राठौड़ को दीवान के पद पर नियुक्ति ले सकते हैं। यह तो अक्सर होता था कि मुगल बादशाह राज्य का टीका भरने वाले राजा के द्वारा मनोनीत उत्तराधिकारी को नहीं देकर अपने मरजी के पसन्द व्यक्ति को दे दिया करते थे। महाराजा मानसिंह की मृत्यु के बाद बादशाह जहांगीर ने आमेर राज्य का टीका उसके पौत्र महासिंह को नहीं देकर मानसिंह के छोटे लड़के भाऊसिंह को दिया था। राजस्थान के इतिहास मे ऐसे भी उदाहरण मौजूद हैं कि जब मुगल सम्राटों ने अपनी सार्वभौम

सत्ता का प्रयोग करके एक राजा के हाथ से राज्य छीनकर दूसरे उम्मीदवार को दे दिया। इस तरह के उदाहरण लगभग प्रत्येक राज्य के इतिहास में मिल सकते हैं। कोटा राज्य के इतिहास में बादशाह औरंगजेब के शासनकाल का एक उदाहरण मिलता है जब उसने रामसिंह को अपने भाई बिशनसिंह को गद्दीसे उतार कर राज्य प्राप्त कर लेनेका अधिकार प्रदान किया था।[1] मारवाड़ के इतिहास में भी इस तरह के कई उदाहरण मिलते हैं। जब अकबर ने राव चन्द्रसेन के पुत्र रामसिंह को टीका नहीं देकर चन्द्रसेन के भाई मोटा राजा उदयसिंह को दिया था। स्पष्ट है कि मुगलों की आधीनता स्वीकार करने के बाद राजस्थान के राजपूत राजा वास्तविक अर्थ में पैत्रिक अर्थ में नाम-मात्र के शासक हो गये थे। इन राजाओं की अनुपस्थिति में राज्य के प्रशासन की देखभाल मंत्री करने लगे। इसलिये यदि फारसी के इतिहास-कारों ने इन राजाओं के लिए जमींदार और इनके पैत्रिक राज्य के लिए वतन जागीर शब्द का प्रयोग किया है तो इसमें कोई नई बात नहीं है। मुगल सम्राट् अपने आपको परगनों ो वास्तविक स्वामी मानते थे। परगने के हाकिम राजा के द्वारा अवश्य नियुक्त किये जाते थे परन्तु चौधरी और कानूनगो मुगल सम्राट् के द्वारा नियुक्त किये जाते थे। और प्रायः इनके पद वंश-परम्परागत होते थे।[2] स्पष्ट है कि अकबर ने पूर्ण आधिपत्य स्वीकार कराने की जो नीति राजस्थान के राजपूतों के प्रति जारी की थी उसका स्वरूप अकबर के उत्तराधिकारियों के शासनकाल में जटिल होता गया। बादशाह जहांगीर ने अपने शासनकाल में राजपूत राजाओं की पारस्परिक राजवंशीय शादियों पर प्रतिबन्ध लगाकर इन राजाओं के तथाकथित स्वतन्त्रता के विचार को और अधिक संकुचित कर दिया था। अकबर ने अपनी नीति के साथ-साथ उदारवादी और सहिष्णु दृष्टिकोण अपनाया था। इसीलिये उसे अधीनता स्वीकार करनेवाले राजपूत राजाओं का सहयोग और समर्थन प्राप्त हुआ। अन्तर्जातीय राजवंशीय विवाह करके अकबर ने इन राजाओं के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किए थे। अकबर के राजवंशीय विवाह उसके उत्तराधिकारियों के शासनकाल के विवाहों से भिन्न थे। अकबर ने सामान्य स्तर पर विवाह सम्बन्ध स्थापित किए थे जब कि उसके उत्तराधिकारियों के शासनकाल में डोला प्रथा चल निकली और राज-पूत राजाओं ने डोला देने का इतना अधिक निरोध किया कि जिसका परिणाम मुगल साम्राज्य के साथ तनावपूर्ण सम्बन्धों में निकला।

शाही सेवा स्वीकार कर लेने के पश्चात् इन राजपूत राजाओं को मुगल

---

1. कोटा राज्य का इतिहास डा० मथुरालाल शर्मा, भाग 1 पेज 223
2. देखिये डा० मथुरालाल शर्मा कृत कोटा राज्य का इतिहास, भाग एक, पृष्ठ 136
3. देखिये वीर विनोद भाग दो पृष्ठ 437।

दरबार मे रहना पडता था । मुगल दरबार मे पहुँचने के बाद इन राजाओ को वहा का रस्म रिवाज भी बरतना पडता था । मुगल बादशाहो को नजरें देना, पेशकश देना, खिल्लत स्वीकार करना और बादशाह का फरमान प्राप्त होने पर उसे सम्मानपूर्वक स्वीकार करना यह राजा सीख गए थे । मुगल बादशाहो के महलो का पहरा देना इनका नियम सा बन गया था और इन सेवाओं के ऐवज मे मुगल बादशाह बडी बडी उपाधिया और इनाम इत्यादि देते थे । स्वतन्त्रता के उपासक, अपनी आन-बान पर मिटने वाले राजपूत राजाओ ने यह सब क्यो स्वीकार किया ? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर देना सरल कार्य नही है हो सकता है कि राजपूत राजाओं ने आन्तरिक कलह और अव्यवस्था से तग आकर अपने आपको मुगलो के हवाले कर दिया हो । आमेर के राजा भारमल, मारवाड का मोटा राजा उदयसिंह, और बीकानेर का कल्याणमल कदाचित इन्ही परिस्थितियों मे अकबर के सामने झुके थे । जब यह राजा और उनके उत्तराधिकारी मुगल बादशाह से छुट्टी प्राप्त करके अपने वतन लौटते थे तो अपने राज्य के सरदारो को अनुशासन मे लाने के लिए उन्हीं तरीको को लागू करने लगे जो इन्हे स्वय मुगल दरबार मे अपनाने पडते थे । आमेर व मारवाड के सरदारो को अनुशासन मे लाने के लिए इन राज्यो के राजाओं ने पेशकश वसूल की । उनकी श्रेणिया निश्चित की और अनुशासनहीन सरदारो की जागीरें भी जप्त करना शुरू कर दिया ।1614 मे मेवाड की मुगलों के साथ सधि के पश्चात् वहा के तत्कालीन महाराणा अमरसिंह प्रथम ने मेवाड के सरदारो की 16 और 32 मे जो श्रेणिया बनाई थीं वह इस बात का प्रमाण है कि मुगल दरबार का अनुशासन राजस्थान मे जड पकडने लगा था। राजपूत राजाओ ने भी मुगल बादशाहो की तरह दरबार करने शुरू किय । मिर्जा राजा जयसिंह के द्वारा आमेर मे निर्मित दीवाने-आम और दीवाने खास के भवन इस कथन की पुष्टि करते हैं । यह राजपूत राजा अपने सरदारो से पेशकश वसूल करने लगे और समय समय पर नजरें लेने लगे । जिस प्रकार मुगल बादशाह इन्हें खिल्लते प्रदान करते थे ठीक उसी प्रकार यह राजा भी अपने सरदारो और प्रमुख कर्मचारियों को उपलक्षो के समय सिरोपाव देने लगे ।

निरन्तर मुगल दरबार मे रहने के कारण इन राजाओं के आचार विचार वेशभूषा और बोलचाल की भाषा भी प्रभावित हुई क्योकि आधीनता स्वीकार करने वाले राजाओ का मुगल बादशाहो के साथ पत्र-व्यवहार हुआ करता था अत इन राजाओ ने अपने राज्यों मे फारसी जानने वाले लोगो को नियुक्त किया । मारवाड मे यह नियुक्ति राव मालदेव के द्वारा 1541 मे सर्वप्रथम की गई थी । मुगल सम्राट् हुमायू के निर्वासित पुस्तकाध्यक्ष मुल्ला सुर्ख को मालदेव ने अपने यहा नियुक्त

किया था। कुछ राजपूत राजा स्वयं भी अच्छी फारसी भाषा सीख गये थे। आमेर नरेश मानसिंह, मिर्जा राजा जयसिंह और मारवाड़ का मोटा राजा उदयसिंह उर्दू व फारसी के अच्छे ज्ञाता थे। राजाओं के द्वारा फारसी का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर उनके सम्पर्क में रहने वाले सरदारों और कर्मचारियों ने भी अपनी बोलचाल की भाषा में उर्दू व फारसी शब्दों का प्रयोग करना शुरू कर दिया जिसका मिला-जुला परिणाम यह निकला कि राजस्थानी भाषा में फारसी के कतिपय शब्द समाविष्ट हो गये। राजपूत राजा आपस में एक दूसरे को महाजनी लिपि में मुजरा लिखकर सम्बोधित करते थे। सिताब शब्द का प्रयोग इस तरह से करते थे कि जैसे उनकी ही भाषा का शब्द हो। इन राजपूत राजाओं की वेशभूषा (समकालीन चित्रों में देखने से) मुगल वेशभूषा से प्रभावित हुई थी। चुस्त मोरी का पाजामा, लम्बा कोट (अचकन) तथा अटपटी पगड़ी यह बतलाती है कि यह राजा मुगलिया सभ्यता से प्रभावित हो चुके थे। राजस्थान में मुगलों की तरह के भोजन बनने लगे अभी हाल ही में राजस्थान पुरातत्व प्रतिष्ठान, जोधपुर में एक हस्तलिखित ग्रन्थ [1] का पता लगाया गया है जिसको पढ़ने से यह स्पष्ट जाहिर है कि राजपूत राजाओं का भोजन मुगल सम्राटों के भोजन से प्रभावित हुआ था। राजाओं के द्वारा उनके सरदारों, उच्च कर्मचारियों और इस प्रकार साधारण जनता का भोजन प्रभावित हुआ। रहन सहन का भी प्रभाव पड़ा। पर्दा प्रथा के अलावा जनाने महलों की सुरक्षा को सुदृढ करने के लिए जनानी ड्योढियां प्रत्येक राजा ने अपने महलों में बनवाई। स्पष्ट है कि 1562 के बाद राजनैतिक संपर्क स्थापित होनेके साथ-साथ प्रत्येक राजपूत राज्य का प्रशासन, राजपूत राजाओं की वेशभूषा, भाषा, रहन-सहन और आचार-विचार मुगलों के द्वारा प्रभावित हुए। प्रभाव इतना अधिक था कि बहुत से राजाओं ने तो अपने राज्यों में मुस्लिम प्रजा के लिए मस्जिदों का निर्माण करवाया। एक ओर मुगल सम्राट् मन्दिरों को तोड़ते थे और दूसरी ओर राजपूत राजा मस्जिदों का निर्माण करवाते थे तथा कुरान की इज्जत करते थे। शायद राजस्थान में सबसे पहली मस्जिद जोधपुर में मोटा राजा उदयसिंह के द्वारा बनवाई गई थी जबकि उसने काजी फिरोज को शहर काजी के पद पर नियुक्त किया था।

राजपूत राजाओं के संरक्षण में राजस्थानी कला और साहित्य का किस प्रकार विकास हुआ तथा इन पर मुगलों का क्या प्रभाव पड़ा इसका वर्णन आगामी पृष्ठों में किया जाएगा।

---

1. 'पोथी रसोई पातस्याही की'। यह पोथी जयपुर के किसी राजपूत सरदार के 1779 A.D. के लगभग तैयार की गई थी। For detials see Shri P. D. Pathak's article (शाहजहां का शाही बबरची खाना) Published in Saraswati, May 1965.

आर्थिक प्रभाव
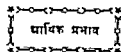
राजस्थान, मालवा और गुजरात के मार्ग में पड़ता था और राजस्थान की सीमाएं मुगलों की राजधानी दिल्ली और आगरा से टकराती थीं अतः 1562 के बाद राजस्थान पर मुगलों की जो निरन्तर घुसपैठ हुई उसकी वजह से राजस्थान मे State of war बनी रही। अतः अतिपय राजा और महाराजा अपना ध्यान आर्थिक विकास की ओर नही दे सके। मेवाड में 1614 तक अमन और चैन नहीं था। मारवाड़ 1564 में अकबर के अधिकार में आ गया था। इसी प्रकार आमेर में भी मुगल हस्तक्षेप का भय तो नहीं था लेकिन वहा के राजाओं का निरन्तर रूप से मुगल मनसबदार के रूप में राज्य से बाहर रहना देश के आर्थिक विकास के लिए अहितकर सिद्ध हुआ। औरङ्गजेब के शासनकाल मे राजस्थान मे लगभग 30 वर्ष तक सशस्त्र संग्राम हुआ फिर भी यदा-कदा अवसर मिलने पर और शांतिकाल मे राजाओं ने जनता के पुनर्वास पर ध्यान दिया। खेती की उन्नति के लिए तालाब, कुए और बावडियां बनवाई गई तथा बांध बनवाये गए। मेवाड राज्य मे जय समुद्र और राज समुद्र बाध इसी काल मे बनवाए गए थे। राजपूत राजा सार्वजनिक निर्माण के कार्यों मे जनता को लगाकर उनकी आर्थिक कठिनाइयों को दूर करना चाहते थे।[1] इस तरह के कार्य मेवाड के अतिरिक्त मारवाड़, आमेर, कोटा और बीकानेर के राज्यों मे भी हुए।

मुगलो की देखा-देखी राजपूत राजाओं ने भी अपने राज्यों मे सिक्कों मे सुधार किया और इन राजपूत राजाओं ने व्यापार को प्रोत्साहित करने की कोशिश भी की। इस प्रकार निरन्तर अभियानों द्वारा जो क्षति हुई थी और जिसे पूरा करने के लिए असन्तुष्ट राजपूतों ने लूटमार का पेशा कुछ समय के लिए अख्तियार कर लिया था, उस क्षति की पूर्ति के साधन स्वरूप राजपूत राजाओं ने अपने अपने राज्यों मे कृषि, व्यापार और वाणिज्य की उन्नति और विकास पर पूरा-पूरा ध्यान दिया था।
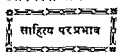
साहित्य पर प्रभाव

1562 से पहले राजस्थान का साहित्य विशुद्ध डिंगल भाषा मे लिखा जाता था। आधुनिक राजस्थानी भाषा का जन्म हो चुका था और इसका विकास 'वीर काव्यों' के द्वारा हो रहा था। इन वीर काव्यों की रचना चारण भाट करते थे। लेकिन कुछ लोगो ने भक्ति-भावना से प्रेरित होकर भी साहित्य की रचना प्रारम्भ कर दी थी। मेडता की मीराबाई ने भक्ति की भावना से प्रेरित होकर इस समय जिन पदो की रचना की वह राजस्थानी ही नहीं, भारतीय साहित्य की अमर

---

1. राज विलास का रचयिता मान कवि लिखता है कि मेवाड की अकाल-पीडित जनता को दुःख-दर्दो से छुडाने के लिए राजसमुद्र झील का निर्माण करवाया गया था।

धरोहर बन गई लेकिन राजस्थानी साहित्य का विकास 1558 से 1577 के बीच अवश्य रुक गया जब मीरा के अलावा और किसी ने भी रचनात्मक साहित्य की ओर ध्यान नहीं दिया। लेकिन यह अस्थाई गतिरोध 1577 के बाद समाप्त हो गया। मुगल बादशाह जहांगीर की मेवाड़ के साथ संधि होने के समय तक राजस्थान में भावपूर्ण-मर्मभेदी कृतियां रची गई। बीकानेर के पृथ्वीराज ने और चारण ओढा दुरसा ने अपनी कृतियां 1577 से 1615 के बीच में भी लिखी। मीरा ने भक्ति-प्रधान साहित्य की जिस परम्परा को जन्म दिया था वह नाभादास के द्वारा निरन्तर रूप में कायम रखी गई। इसी समय दादूदयाल के अनुयायियों ने शांतरस पूर्ण काव्य की रचना करके राजस्थानी साहित्य को पल्लवित किया। राजस्थानी साहित्य का वास्तविक विकास 1615 से 1652 के बीच हुआ है जबकि मिर्जा राजा जयसिंह के दरबारी कवि बिहारी ने अपनी अनुपम सतसई की रचना की। दादूदयाल के शिष्यों में सुन्दरदास हुआ जिसने संत कवि परम्परा को अधिकाधिक सुदृढ़ बनाया। मेवाड़ के सुरक्षित भू-भाग में राणा जगतसिंह के संरक्षण में रहकर कवि विश्वनाथ ने जगतप्रकाश नामक काव्य की संस्कृत भाषा में रचना की। 1652 से लेकर 1678 के बीच में भक्तिप्रधान ग्रन्थों की तो रचना हुई लेकिन साथ ही बिहारी ने जिस शृङ्गारिक साहित्य को जन्म दिया उसका राजस्थान में यत्र-तत्र-सर्वत्र अनुकरण होने लगा। राजस्थानी साहित्य के विद्वान् अलंकारों को पहली बार महत्व देने लगे। हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि मतिराम ने इसी समय 'ललित ललाम' का रचना की। जोधपुर नरेश महाराजा जसवन्तसिंह तो स्वयं एक प्रतिभाशाली साहित्यकार थे। आमेर के शासक रामसिंह ने संस्कृत भाषा के विद्वान कुलपति मिश्र को संरक्षण देकर तथा बीकानेर नरेश राव करण ने अनेकों विद्वानों को अपने दरबार में संरक्षण देकर संस्कृत भाषा को विकसित होने में सक्रिय सहयोग प्रदान किया। इसी काल में मेवाड़ में 'राजप्रशस्ती' नामक महाकाव्य लिखा गया। इन सब उदाहरणों से यही सिद्ध होता है कि औरङ्गजेब के शासनकाल में राजपूत राजाओं का पहली बार संस्कृत भाषा के पुर्नविकास की ओर ध्यान गया था।

मुगलों के सम्पर्क में रहने के कारण राजस्थान में ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखने की परपम्रा प्रचलित हुई। इस परम्परा का जन्म उस वक्त हुआ था जब अबुल-फजल 'अकबर-नामा' लिख रहा था और उसने प्रत्येक राजपूत राजा से अपने पूर्वजों का इतिहास मंगवाया था। 16 वीं और 17 वीं शताब्दी में राजस्थान में ख्यात, ऐतिहासिक बातें तथा वंशावलियां लिखी गई। इसी काल में फारसी तवारिखों के आधार पर और उनसे प्रेरणा प्राप्त करके 'राज रूपक' सूरजप्रकाश इत्यादि ग्रन्थ लिखे गए। स्पष्ट है कि मुगलों का राजस्थान के साहित्य पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा।

जिस तरह से मुगल सम्राट् विद्वानों के आश्रयदाता रहे उसी प्रकार राजपूत नरेशों ने अपने राज्य दरबारों में विद्वानों को आश्रय देकर साहित्य की गतिविधि को बनाए रखने में सक्रिय रूप से सहयोग दिया ।

स्थापत्य कला (Architecture)

1558 तक का समय राजस्थान के इतिहास में निरन्तर युद्ध, आक्रमण और अशान्ति का समय था । इसलिए मारवाड़ के अतिरिक्त और किसी दूसरे राज्य में स्थापत्य की तरफ ध्यान नहीं दिया गया । मारवाड़ के तत्कालीन शासक राव मालदेव ने अपनी सैनिक विजयों को सुदृढ़ करने के ध्यान से महत्वपूर्ण स्थानों पर नये किले अवश्य बनवाये और पुराने किलों की मरम्मत करवाई ।

भारत में मुगलों के आने से पूर्व मेवाड़ के राणा कुम्भा ने निरन्तर युद्धों में व्यस्त रहने के उपरान्त भी स्थापत्य की ओर ध्यान दिया । राणा कुम्भा के द्वारा बनवाए गए जय स्तम्भ और कीर्ति-स्तम्भ, अनेकों मन्दिरों और मेवाड़ के किलों से यह स्पष्ट जाहिर होता है कि राजपूत राजा केवल लड़ाई लड़ना ही नहीं जानते थे, वे कला के उपासक भी थे। राणा कुम्भा की मृत्यु के पश्चात् राजस्थान के इतिहास में उथल-पुथल का समय आ गया था । अत: कला-कौशल की ओर विशेष ध्यान देना इन राजाओं के लिए सम्भव नहीं हो सका । फिर भी अपने राज्यों की रक्षा के लिये इन राजाओं ने जो किले वगैरह बनवाये उनमें अनायास ही इनका कला प्रेम दृष्टिगोचर होता है । इन किलों को बनवाने में राजपूत राजा इस बात का ध्यान रखते थे कि बारूद से चलने वाली बन्दूक या तोपों की मार किले की दीवारें सहन कर सकें ।

राजस्थान पर 1570 तक अकबर बादशाह का आधिपत्य हो गया था । मुगल साम्राज्य के साथ संधि हो जाने के बाद उत्तर व पूर्वी राजस्थान में शांति स्थापित हो गई थी । अतः आमेर और बीकानेर के शासकों ने अपनी राजधानी में नये महलों को बनवाना शुरू किया जो उनके नये राजनैतिक महत्व तथा मान-मर्यादा के अनुकूल हो । आमेर के राजा मानसिंह ने अपनी राजधानी में नए महलों का निर्माण करवाया । जो नये महल गढ़ और गढ़ियां इस जमाने में अर्थात् 1570 से मेवाड़ की मुगलों के साथ संधि होने तक (1615) के बीच बनाये गये थे उन भवनों पर नवीन मुगल स्थापत्य शैली का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है । 1615 के बाद मेवाड़ के महाराणाओं ने ही शान्ति से लाभ उठाकर निर्माण कार्य की ओर ध्यान दिया था । उदयपुर शहर का परकोटा महाराणा अमरसिंह के उत्तराधिकारी राणा कर्ण के द्वारा बनवाया गया । परकोटे के निर्माण का यह कार्य कर्ण के उत्तराधिकारी जगतसिंह के शासन काल में पूरा हुआ । जगतसिंह के ही जमाने में पिचोला झील के अन्दर जग मन्दिर के कई

अंश बनवाये गये थे। जगन्नाथ राय का मन्दिर इन्हीं महाराणा के शासन काल में सम्पूर्ण हुआ था। मेवाड़ के अतिरिक्त आमेर, जोधपुर और बीकानेर के महलों का निर्माण हुआ। इन महलों की शैली को देखकर कोई भी व्यक्ति आसानी से कह सकता है कि राजस्थान की स्थापत्य कला पर मुगल स्थापत्य कला का प्रभाव पड़ता जा रहा था।

मुगल सम्राट् शाहजहां के शासन काल में स्थापत्य शैली विकास की चरम सीमा पर पहुँच गई थी। शिल्पकार भव्य, सुन्दर और ओजपूर्ण भवनों का निर्माण करने में पारंगत थे। यह कलाकार शाहजहां की मृत्यु के बाद मुगल सम्राट् औरंगजेब के शासन काल में जीविका की तलाश में निकल पड़े। उस वक्त इन कलाकारों को विभिन्न राजाओं ने अपने यहां आश्रय दिया। राजपूत राजाओं के आश्रय में रहकर इन कलाकारों ने स्वाभाविक रूप से मुगलों के समान भव्य भवनों का निर्माण किया। आमेर के शासक मिर्जा राजा जयसिंह के शासन काल में कतिपय कलाकारों ने उनके दरबार में जाकर शरण ली थी। इन कलाकारों के द्वारा उसकी राजधानी में जो सुन्दर भवन बनवाए गऐ थे—वे भवन किसी भी रूप में दिल्ली व आगरा के भवनों से कम नहीं थे। ऐसा कहा जाता है कि आमेर के इन भव्य भवनों को देखकर मुगल सम्राट् जहांगीर की ईर्ष्या व द्वेष भड़क उठा था और वह मिर्जा राजा जयसिंह से केवल इसलिए नाराज हो गया कि उसने मुगल सम्राट् के टक्कर के भवन अपनी राजधानी आमेर में बनवाए थे।

मुगलों का राजस्थान के साथ जब निरन्तर सम्पर्क रहा तब स्वाभाविक रूप से इस प्रदेश में कई मस्जिदें बनवाई गईं। विभिन्न मन्दिर तोड़े गए। जिन भवनों को उस समय खंडित किया गया उनके खंडहर आज भी पुकार-पुकारकर अत्याचार के युग की कहानी सुनाने को मौजूद हैं। मुगल सम्राटों ने किस प्रकार चित्तौड़ के किले की प्राचीरों की मरम्मत निषेध कर दी थी इसका वर्णन प्रसंगवश 'मेवाड़ के इतिहास' में किया जा चुका है। यहां केवल इतना लिखना ही पर्याप्त होगा कि मुगल सम्राटों के सम्पर्क में रहने के कारण कतिपय राजा महाराजाओं ने उनके तरह के जो भवन अपने-अपने राज्यों में बनवाए उनके भवनों के बड़े बड़े दालानों, बरामदों और पत्थर के सुन्दर काम में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से मुगल शैली का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

चित्रकला (Painting)

भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना से पूर्व राजस्थान में गुर्जरों का प्रभाव होने के कारण चित्रकला का प्रारम्भ हो चुका था। यह चित्र जैन धर्म की धार्मिक पुस्तकों में मिलते हैं। चित्रों की आकृतियां Sharp अवश्य हैं पर चित्रकारों ने सुनहरी, लाल और गहरे नीले रंगों का प्रयोग करके चित्र बनाए थे। इन चित्रों को देखने

से यह पता चलता है कि राजस्थान मे चित्रकारी भी होती थी ।

मुगलों के भारत मे आगमन से पूर्व मध्यभारत, जौनपुर, उत्तर प्रदेश और दिल्ली के समान राजस्थान मे भी चित्रकला की बूनेदार-शैली प्रचलित थी। इस शैली के कतिपय चित्र (नियामतनामा, गीत-गोविन्द, भागवत इत्यादि) विभिन्न स्थलो पर आज भी सुरक्षित हैं ।

मुगल सम्राट् जहांगीर के शासन काल मे चित्रकला का चतुर्मुखी विकास हुआ । उस समय राजपूत राजाओ ने भी चित्रकला को प्रोत्साहित किया। राजाओ का अनुकरण करके जागीरदारो, धनी व्यक्तियो ने धार्मिक संस्थाओं ने और साधारण व्यक्तियो ने भी चित्रकारो को प्रोत्साहित किया। सन् 1600 के बाद राजस्थान के विभिन्न राज्यो मे बने हुए चित्र अपने संरक्षक राजाओ के कलाप्रेम के ज्वलंत उदाहरण हैं। मेवाड मे महाराणा अमरसिंह के शासनकाल में सन् 1605 के लगभग रागमाला चित्र बनाए गए थे। इन्ही के शासनकाल मे गीत-गोविन्द और कुमारसम्भव ग्रंथो के आधार पर चित्र तैयार किए गए। महाराणा जगतसिंह ने अपने राज्य में मनोहर नामक चित्रकार को राजकीय संरक्षण प्रदान करके रामायण की गाथाओं को चित्र के रूप मे बनवा लिया। सूरसागर तथा गीत-गोविन्द के चित्रो को देखने से पता चलता है कि मेवाड के महाराणा जगतसिंह और राजसिंह चित्रकला के उपासक थे। लेकिन महाराणा राजसिंह की मृत्यु के बाद जयसिंह व अमरसिंह द्वितीय के शासनकाल मे मुगल चित्रकला का प्रभाव मेवाडी चित्रकला पर पडने लगा। मेवाड के चित्रकार चित्र बनाते समय Background विभिन्न रगो के सम्मिश्रण से बनाते थे। इनके द्वारा बनाए हुए आदमी व औरतो की नाक लम्बी, आखें मछली की तरह तथा चेहरा Oval faced होता था। आदमी जामा, पटका पजामा और पगडी पहने हुए होता था। औरतो को चोली, पारदर्शक ओढनी और घेरदार घाघरा पहने बताया जाता। यह औरतें अपनी कलाइयो और बाजुओ पर काले रग का रेशमी गुच्छा पहने हुए बताई गई हैं। मारवाड मे अधिकाश चित्र कागज पर बनाये जाते थे। 1623 मे पाली में विठ्ठलदास चम्पावत के लिए वीरजी नामक चित्रकार ने जो रागमाला चित्र बनाए थे उनको देखने से पता चलता है कि मारवाड मे चित्रकला का विकास मुख्य रूप से जागीरदारो के संरक्षण में हुआ था। महाराजा जसवतसिंह प्रथम के शासनकाल मे जो चित्र बनाये गए थे वह अधिक रगमय थे। उन चित्रो मे पुरुषो को जो जामा पहले बताया गया है वह घेरदार जामा है। सबसे बडे आश्चर्य की बात यह है कि जब मारवाड में स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष छिडा हुआ था (1675–1700) उस वक्त भी यहा पर रागमाला चित्र तैयार किए गए। महाराजा अजीतसिंह के सिंहासनारूढ होने के बाद साहि-

ियक विषयों को लेकर शिकार, महिफिलों, राज-दरबार, और सामन्तों के दरबार के चित्र बनाये गये। मारवाड़ में बने हुए राग-रागनियों, बारामासा, गीत-गोविन्द, पञ्चतंत्र, ढोला मारू तथा पौराणिक बातों इत्यादि के जो चित्र बनाए गए उनमें मारवाड़ी चित्रकार की कला स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। कुछ कतिपय चित्र रोमांचकारी विषयों को लेकर भी बनाए गये थे। शाहज़ादा सलीम जोधाबाई के साथ एक दिखाया गया है। मारवाड़ी चित्रों में औरतों को आभूषण पहने हुए चित्रित किया गया है। उनके पैरों में मेंहदी, पायजेब और कड़े बतलाए गए हैं। भुजाओं पर बाजूबन्द और चूड़ियां, गले में हार, माला, लाकेट तथा नाक में नथ, लौंग और कानों की बाली तथा ललाट पर टीका लगाए हुये चित्रित किया गया है। इतने सुन्दर चित्र राजकीय संरक्षण के अतिरिक्त कदापि नहीं बन सकते थे। हमें समकालीन ग्रन्थों में उन चित्रकारों के नाम मिलते हैं जिन्हें समय-समय पर इन राजाओं के द्वारा राजकीय संरक्षण प्रदान किया गया था। इनमें चांद, तैय्यब, रायसिंह, राम नारायणजी, साहिबा, रामबक्श इत्यादि के नाम उल्लेखनीय है।

मेवाड़ और मारवाड़ की तरह आमेर में भी कच्छवाह राजाओं के द्वारा चित्रकला को प्रोत्साहन मिला था। 1600 से 1615 के बीच यहां के राजाओं की छतरियों पर जो Murals बने वह कला की सर्वतोकृष्ट कृतियां हैं। वैराठ (जयपुर और अलवर के बीच स्थित) के मुग़ल गार्डन से जो frescoes मिले हैं वे भी इस काल के हैं। मोजमाबाद (जयपुर और दूदू के बीच स्थित) में जिस हवेली में महाराजा मानसिंह का जन्म हुआ था उसके Frescoes भी अत्यन्त सुन्दर है। मिर्जा राजा जयसिंह के शासन-काल में जो Miniature चित्र बनाए गए थे वे यद्यपि Folk style में हैं लेकिन उन चित्रों पर मुगल शैली का प्रभाव स्पष्ट नजर आता है। आमेर में चित्रकला का सर्वाधिक विकास सवाई जयसिंह के शासन काल में हुआ था। उनका दरबारी चित्रकार मुहम्मदशाह अपने काल का माना हुआ चित्रकार था। आमेर की चित्र-शैली ने अलवर, टौंक, भरतपुर, धौलपुर, करौली और शेखावाटी के चित्रों को प्रभावित किया था।

हाड़ावती में भी चित्रकला का विकास हुआ, विशेष तौर पर बूंदी के चित्रकारों ने सुन्दर चित्रों का निर्माण किया। राव रतनसिंह के शासनकाल में राग-रागनियों के जो सुन्दर चित्र बनाए गए उनमें हिन्दू और मुगल चित्रकला के आदर्शों का सुन्दर समावेश है। हाड़ावती के चित्रकारों ने पेड़-पौधे, पशु-पक्षी और उनकी आकृतियाँ बनाने में अपना सर्वाधिक ध्यान दिया। इन चित्रकारों ने बारामासा, शिकार तथा रोमाँस-चित्र भी बनाए। इनके चित्रों में सजीवता है, सुन्दरता है तथा वे चित्रकला के सुन्दर नमूने हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 1562 के पश्चात् जब राजस्थान का मुगलों के

साथ प्रथम सम्पर्क हुआ तब से लगाकर अंग्रेजों के प्रभुत्व स्थापित होने तक इस प्रदेश पर मुगलों का प्रभाव रहा। उनके राजनैतिक प्रभुत्व का प्रभाव राजस्थान के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन पर पड़ा। इस प्रभाव का परिणाम यह निकला कि बहुत शीघ्र हिन्दू और मुस्लिम सभ्यता एवं संस्कृति का समागम हो गया।

17

अठारहवीं शताब्दी में राजस्थान
(Rajasthan in the Eighteenth Century)

मुगल सम्राट् औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों में राजगद्दी के लिए जाजव के स्थान पर सशस्त्र युद्ध हुआ। इस युद्ध ने राजस्थान की राजनीति में कुछ ऐसी नई गुत्थियां डाल दी जिनको सुलझाने में राजपूत राजा 18वीं शताब्दी में व्यस्त रहे। जाजव के युद्ध में आमेर के शासक सवाई जयसिंह ने आजम का साथ देकर बादशाह औरंगजेब के पुत्र और उत्तराधिकारी बहादुरशाह से बैर मोल ले लिया। जिसका परिणाम यह निकला कि मुगल सम्राट् बहादुरशाह ने आमेर को खालसा कर दिया। अपने खोए हुए राज्य को पुनः प्राप्त करने के लिए जयसिंह को जोधपुर नरेश महाराणा अजीतसिंह और मेवाड़ के महाराणा के साथ संधि करनी पड़ी। मेवाड़ के महाराणा के साथ सवाई जयसिंह ने विवाह के द्वारा संधि का जो पुष्टीकरण किया था उसके फलस्वरूप सवाई जयसिंह की मृत्यु के बाद जयपुर राज्य के उत्तराधिकार के लिए गृह-कलह हुई। इस गृह-कलह ने राजस्थान में मराठों के हस्तक्षेप को सुअवसर प्रदान किया। इसी प्रकार से कोटा और बूंदी के हाड़ा राजघरानों का पारस्परिक विरोध जाजव के युद्ध से ही प्रारम्भ हुआ था। स्पष्ट है कि जाजव के युद्ध ने केवल मुगल साम्राज्य की स्थिति को ही डांवाडोल नहीं किया था वरन् इस युद्ध ने राजस्थान में नई राजनैतिक गुत्थियां भी उत्पन्न कर दी थीं।

औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी ने अपने पिता की विफलताओं और कटु अनुभवों से लाभ न उठाकर अपने शासन-काल के प्रारम्भिक दिनों में राजस्थान के प्रति कठोर नीति का अनुसरण किया। लेकिन जब वह अपने विद्रोही भाई कामबख्श का दमन करके दक्षिण से उत्तर में आया तो पंजाब में सिक्खों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। उत्तर भारत में अनुपस्थिति के दौरान मारवाड़ और आमेर के राज्यों पर क्रमशः अजीतसिंह और सवाई जयसिंह ने अपना अधिकार कर लिया। इन परिस्थितियों में जब मुगल साम्राज्य की अशक्तता स्पष्ट रूप से प्रकट हो गई तो राजस्थान के राजाओं के हृदय से मुगल सम्राट् की सत्ता का भय उठ गया। शक्तिशाली राजा स्वतन्त्र हो गए। इन परिस्थितियों में, विवश होकर बहादुरशाह को राजस्थान के राजाओं साथ विवश होकर मेल

करना पड़ा । पहले उसने मेवाड़ के महाराणा को तसल्ली देने के खातिर फरमान भेजा । अजीतसिंह और सवाई मानसिंह के अपराधों को क्षमा करके उन्हें ससम्मान अपने दरबार में बुलवाया । बहादुरशाह की इस नीति ने राजपूत राजाओं को स्वार्थी बना दिया । जिन राजाओं के हृदय मे मुगल सम्राट् के प्रति आदर व विश्वास औरंगजेब के शासन काल मे समाप्त हो गया था वह राजपूत राजा बहादुरशाह की मृत्यु के पश्चात् मुगल साम्राज्य के विध्वंसक बन गये ।

बहादुरशाह के उत्तराधिकारी जहांदारशाह के पास राजपूत राजाओं को सतुष्ट रखने के अलावा और कोई रास्ता नही था । मुगल दरबार की बढ़ती हुई राजनीति ने और सम्राट् की स्वयं विलासमय स्वभाव ने इन राजाओं को ऊंचे-ऊंचे मनसब तथा शाही सेवा मे बड़े-बड़े पद देने पर मजबूर किया । राजपूत राजाओं ने बहादुरशाह की इस नीति को सही अर्थों मे मुगल साम्राज्य की कमजोरी समझा । जहांदारशाह के शासन-काल में वजीर जुलफिकारखा के सुझाव पर जजिया की वसूली की गई । जहांदारशाह ने बादशाह औरंगजेब की नीति का परित्याग करके राजस्थान के राजाओं को सद्भावना के आधार पर अपने अधिकार में रखने का प्रयास किया ।

जहांदारशाह के उत्तराधिकारी फर्रुखसियर पर सैय्यद भाइयो का प्रभाव था । इन सैय्यद भाइयो ने बादशाह का सिंहासनारूढ होने के लगभग तीन वर्ष पश्चात् राजस्थान की ओर ध्यान दिया । आमेर नरेश सवाई जयसिंह ने तो मुगल सम्राट् की आधीनता स्वीकार कर ली लेकिन जब जोधपुर मे महाराणा अजीतसिंह ने किसी प्रकार का Submissive attitude का प्रदर्शन नहीं किया तो सैय्यद हुसेनअली के नेतृत्व मे उसके विरुद्ध सेना भेजनी पड़ी । सेना के जयपुर पहुंचने के पहले ही अजीतसिंह ने हुसेनअली के साथ सधि कर ली । (मार्च 1714 मे) अजीतसिंह के पास सधि करने के अलावा और कोई दूसरा चारा नहीं था ।[1] इस सधि के द्वारा अजीतसिंह ने अपनी पुत्री इन्द्रकवर का डोला बादशाह फर्रुखसियर के पास भेजना स्वीकार किया । मारवाड़ के इतिहास मे यह आखिरी मौका था जब राठौर राजघराने की पुत्री मुगल बादशाह के साथ ब्याही गई थी । इस विवाह से यह तात्पर्य नही था कि अजीतसिंह शक्तिहीन हो गया था । बहादुरशाह और जहांदारशाह के शासनकाल मे आमेर के जयसिंह और अजीतसिंह का राजनैतिक महत्व काफी बढ़ गया था । राजस्थान मे अनुशासन बनाये रखने की दृष्टि से अजमेर का मुगल सूबेदार (साम्भर के युद्ध के पश्चात्)[2] नगण्य समझा जाने लगा

---

1 For details see my Thesis "Marwar and the Mughal Emperors

2 साम्भर का युद्ध सितम्बर 1708 ई० मे अजीतसिंह और सवाई जयसिंह ने

था लेकिन फिर भी मुगल साम्राज्य के पतनोन्मुख काल में अजीतसिंह ने बाई इन्द्र कंवर का डोला देना स्वीकार कर लिया। यह एक ऐसी पहेली है जो राजस्थान के इतिहास में विशेष महत्व रखती है। इस पहेली का उत्तर मैंने अपने अनुसंधान ग्रन्थ में देने का पूर्णरूपेण प्रयास किया है। यहां केवल इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि 1714 की संधि के पश्चात् महाराणा अजीतसिंह का मुगल राजनीति में प्रभाव बढ़ा। उसे केवल गुजरात की सूबेदारी ही नहीं मिली बल्कि वह सैय्यद भाइयों के साथ सम्राट् निर्माता भी बन गया।

आमेर के सवाई जयसिंह ने बिना किसी विरोध के बादशाह फर्रुखसियर की आधीनता स्वीकार कर ली थी। अतः उसे मनसब और वतनजागीर देकर सूबा मालवा का सूबेदार नियुक्त कर दिया गया था। मालवा के सूबेदार के रूप में जयसिंह का उत्तरदायित्व केवल मराठों के उत्तर भारत में घुसपैठ को रोकना ही नहीं था अपितु उसे सूबा आगरा में चूड़ामन जाट के विद्रोहों का दमन करने का काम भी था। इस प्रकार सवाई जयसिंह को मुगल दरबार में अपने बढ़ते हुए प्रभाव व शक्ति का अनुभव हुआ। इसका दुष्परिणाम यह निकला कि महाराजा अजीतसिंह और सवाई जयसिंह दोनों ही अपने व्यक्तिगत प्रभाव को बढ़ाने की कोशिश करने लगे। इस प्रकार दोनों राजाओं के बीच कशमकश प्रारम्भ हुई जो उन दोनों की मृत्यु के बाद भी जारी रही। अजीतसिंह के पुत्र अभयसिंह ने मुगल दरबार में पहुंचने के बाद किस प्रकार अपने पिता के कत्ल के लिए फुसलाकर तैयार किया गया था यह, मुगल दरबार की राजनैतिक कुचक्रों का एक ज्वलंत उदाहरण है। जयपुर व जोधपुर राजघरानों की जिस प्रतिद्वन्दिता का जन्म बादशाह फर्रुखसियर के शासन काल में हुआ था—वह अन्ततोगत्वा राजस्थान के लिए हानिप्रद ही सिद्ध हुई।

राजस्थान की दक्षिणी-पूर्वी सीमा पर स्थित कोटा व बूंदी के राज्यों में किस प्रकार महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए और जिसका परिणाम यह निकला कि सैय्यद भाइयों ने कोटा के तत्कालीन महराव भीमसिंह प्रथम को अपनी ओर मिलाकर उसकी बढ़ती हुई महत्वाकांक्षा को शांत करने के लिए उसे मार्च 1720 में सेना देकर बूंदी पर आक्रमण करने के लिए भेजा। महराव भीमसिंह ने बूंदी पर अपना अधिकार कर लिया। इस अधिकार के कारण ही कोटा व बूंदी के राज्यों की शत्रुता प्रारम्भ हुई जिसके कारण सवाई जयसिंह को हाड़ावती की राजनीति में हस्तक्षेप करने का अवसर मिला। कोटा का महाराव भीमसिंह जून 1720 में मालवा के सूबेदार निजामखां के विद्रोह का दमन करते हुए मारा गया लेकिन उसकी मृत्यु ने हाड़ावती में मराठों का प्रभाव विकसित कर दिया।

18वीं शताब्दी के प्रारम्भ में केवल एक मेवाड़ का राजघराना था जहां के महाराणाओं ने अपने राज्य से बाहर के मामलों में कोई रुचि नहीं दिखलाई। शेष अन्य शासक मुगल दरबार के राजनैतिक कुचक्रों में सक्रिय रूप से भाग ले रहे थे।

त्रित हुए थे। राजस्थान में मराठों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के उद्देश्य से हुरड़ा में एकत्रित राजाओं ने एक अहदनामा किया था। यद्यपि यह अहदनामा विभिन्न राजाओं के पारस्परिक स्वार्थों के कारण सफल नहीं हुआ लेकिन फिर भी इससे यह स्पष्ट होता है कि सवाई जयसिंह और उसके समकालीन अन्य राजपूत राजा मराठा अताताइयों से राजस्थान को बचाने के लिए उत्सुक थे।

सवाई जयसिंह ने बीकानेर के महाराजा जोरावरसिंह को उस समय सहायता दी कि जब जोधपुर नरेश महाराजा अभयसिंह ने 1740 में बीकानेर पर आक्रमण किया था। इस समय सवाई जयसिंह के प्रयत्नों के फलस्वरूप मेवाड़ के तत्कालीन महाराणा जयसिंह II की सहानुभूति बीकानेर के साथ हो गई थी। नागौर का बख्तसिंह भी खुले रूप से अपने भाई के विरुद्ध हो गया। इस प्रकार अभयसिंह के विरुद्ध एक दल बनाकर सवाई जयसिंह ने मारवाड़ की राजधानी जोधपुर पर आक्रमण कर दिया। महाराजा अभयसिंह से 20 लाख रुपया वसूल करके सवाई जयसिंह ने अपने राजनैतिक प्रभुत्व का परिचय दिया। तत्पश्चात् 1741 में जयसिंह नागौर के बख्तसिंह के साथ गंगवाणा के स्थान पर सशस्त्र युद्ध लड़ा जिसमें सवाई जयसिंह की विजय और बख्तसिंह की पराजय हुई।

सवाई जयसिंह ने आधुनिक शेखावाटी के इलाके को भी अपने अधिकार में किया जो आमेर के राज्य से पृथक हो गया था और जहां के शेखावट सरदारों को मुगल राज्य सेवा में मनसब मिल गए थे। शेखावाटी स्थित खंडेले के ठिकाने पर भी सवाई जयसिंह ने अपना अधिकार किया। खडेले को निर्बल करने की गरज से सवाई जयसिंह ने इसके दो टुकड़े कर दिये और दोनों टुकड़े दोनों भाईयों को दे दिए। स्पष्ट है कि जयपुर नरेश राजराजेश्वर सवाई जयसिंह ने 43 वर्षीय शासनकाल में आमेर की शक्ति को इतना अधिक बढ़ा लिया था कि राजस्थान में सर्वत्र उसका प्रभाव छा गया।

Cultural achievements of Sawai Jai singh :—

सवाई जयसिंह केवल एक योद्धा और कूटनीतिज्ञ ही नहीं बल्कि एक विद्या-प्रेमी विद्वान शासक भी था। प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति उसका अटल विश्वास था। इस विश्वास का कारण वाजपेय यज्ञ था जो उसने जुलाई 1734 में सम्पन्न किया था। मुसलमानों के आगमन के पश्चात् यज्ञ बन्द हो गए थे। सवाई जयसिंह ने इस परिपाटी को पुनर्जीवित किया। वह स्वयं खगोल-विद्या, गणित और ज्योतिष का अच्छा विद्वान था अतः उसके शासनकाल में गणित के कतिपय ग्रंथों का संस्कृत भाषा में अनुवाद हुआ। इसके अतिरिक्त उसके शासनकाल में कुछ नये ग्रंथ भी लिखे गए जिनमें यंत्रराज, जयसिंह कारिका, जयसिंह कल्पद्रुम तथा जयसिंह कल्पलता उल्लेखनीय हैं। आमेर के राजाओं की सर्वप्रथम वंशावली इसके शासन में ही लिखी गई।

आगरा के निकट पड़ोस में किस प्रकार चूड़ामन जाट के नेतृत्व मे विद्रोह हुए और उन विद्रोहों को दबाने मे मुगल सम्राट् किस प्रकार सफलता प्राप्त नहीं कर सके और जिसके परिणाम स्वरूप भरतपुर मे स्वतंत्र जाट राज्य की स्थापना हुई इसका वर्णन 15 वें अध्याय के अंतिम पृष्ठों मे किया जा चुका है।

23 जून 1724 के दिन महाराजा अजीतसिंह को उनके द्वितीय पुत्र बख्त सिंह ने मार दिया। अजीतसिंह की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी अभयसिंह ने नागौर मे एक स्वतंत्र राज्य स्थापित कया। नागौर राज्य के स्वामी बख्तसिंह ने बीकानेर के महाराज जोरावरसिंह के साथ मिलकर अपने जेष्ठ भ्राता अभयसिंह के विरुद्ध षडयंत्र किए और इन षडयंत्रो की वजह से पश्चिमी राजस्थान मे राजनैतिक अशांति उत्पन्न हुई। इस अशांति ने आमेर के महत्वाकांक्षी शासक सवाई जयसिंह को पश्चिमी राजस्थान मे हस्तक्षेप करने का अवसर दिया। कहने का तात्पर्य यह है कि मुगल सम्राट् फर्रुखसियर, उसके निर्बल उत्तराधिकारियो, रफीउद्दरजात तथा रफीउद्दौला और मुहम्मदशाह प्रथम के शासन-काल मे सवाई जयसिंह का राजस्थान की राजनीति मे प्रथम स्थान था। सवाई जयसिंह अपनी मृत्यु तक (31 सितम्बर 1743 तक) राजस्थान की राजनीति को प्रभावित किए रहा।
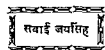
सवाई जयसिंह

सवाई जयसिंह के सैय्यद भाइयों के साथ अच्छे सम्बन्ध नहीं थे इसलिए वह फर्रुखसियर का मित्र बना रहा। 17 फरवरी 1719 के दिन सैय्यद भाइयों ने फर्रुखसियर को गद्दी से उतारकर मौत के हवाले कर दिया था। फर्रुखसियर की मृत्यु का समाचार पाकर सवाई जयसिंह आमेर से रवाना हुआ। बादशाही प्रदेशो मे लूटमार करके सवाई जयसिंह ने अपने राज्य का विस्तार बढ़ा लिया। आमेर राज्य की सीमाएं बढ़ते बढ़ते मुगल राजधानी आगरा मे केवल 10 मील की दूरी पर रह गई थी कि सवाई जयसिंह स्वयं मथुरा पहुंच कर ठहर गया।

सय्यद भाइयो की सहायता से राजगद्दी प्राप्त करने वाले सम्राट् मुहम्मद शाह के साथ मिलकर सवाई जयसिंह ने सैय्यद भाइयों के पतन मे सक्रिय रूप से योग दिया। मुहम्मदशाह ने उसे राजराजेश्वर व सरमदराजहाय की उपाधियों से विभूषित किया तथा सूबा आगरे का सूबेदार नियुक्त किया। आगरा का सूबेदार रहते हुए इसने भरतपुर राज्य के संस्थापक ठाकुर बदनसिंह को अपनी आधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया।

बूंदी के रावराजा बुद्धसिंह को अपने राज्य से निकालकर उसके स्थान पर करवड के स्वामी सवाईसिंह के पुत्र दलेलसिंह को बूंदी की गद्दी पर बिठाया।

सवाई जयसिंह के प्रयत्नों के कारण ही 1734 मे मेवाड, मारवाड और बीकानेर के शासक हुरडा में एकत्रित हुए थे। इस स्थान पर अन्य राजा भी एक-

त्रित हुए थे। राजस्थान में मराठों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के उद्देश्य से हुरड़ा में एकत्रित राजाओं ने एक अहदनामा किया था। यद्यपि यह अहदनामा विभिन्न राजाओं के पारस्परिक स्वार्थों के कारण सफल नहीं हुआ लेकिन फिर भी इससे यह स्पष्ट होता है कि सवाई जयसिंह और उसके समकालीन अन्य राजपूत राजा मराठा अतताइयों से राजस्थान को बचाने के लिए उत्सुक थे।

सवाई जयसिंह ने बीकानेर के महाराजा जोरावरसिंह को उस समय सहायता दी कि जब जोधपुर नरेश महाराजा अभयसिंह ने 1740 में बीकानेर पर आक्रमण किया था। इस समय सवाई जयसिंह के प्रयत्नों के फलस्वरूप मेवाड़ के तत्कालीन महाराणा जयसिंह II की सहानुभूति बीकानेर के साथ हो गई थी। नागौर का बख्तसिंह भी खुले रूप से अपने भाई के विरुद्ध हो गया। इस प्रकार अभयसिंह के विरुद्ध एक दल बनाकर सवाई जयसिंह ने मारवाड़ की राजधानी जोधपुर पर आक्रमण कर दिया। महाराजा अभयसिंह से 20 लाख रुपया वसूल करके सवाई जयसिंह ने अपने राजनैतिक प्रभुत्व का परिचय दिया। तत्पश्चात् 1741 में जयसिंह नागौर के बख्तसिंह के साथ गंगवाणा के स्थान पर सशस्त्र युद्ध लड़ा जिसमें सवाई जयसिंह की विजय और बख्तसिंह की पराजय हुई।

सवाई जयसिंह ने आधुनिक शेखावाटी के इलाके को भी अपने अधिकार में किया जो आमेर के राज्य से पृथक हो गया था और जहां के शेखावट सरदारों को मुगल राज्य सेवा में मनसब मिल गए थे। शेखावाटी स्थित खंडेले के ठिकाने पर भी सवाई जयसिंह ने अपना अधिकार किया। खडेले को निर्बल करने की गरज से सवाई जयसिंह ने इसके दो टुकड़े कर दिये और दोनों टुकड़े दोनों भाईयों को दे दिए। स्पष्ट है कि जयपुर नरेश राजराजेश्वर सवाई जयसिंह ने 43 वर्षीय शासनकाल में आमेर की शक्ति को इतना अधिक बढ़ा लिया था कि राजस्थान में सर्वत्र उसका प्रभाव छा गया।

Cultural achievements of Sawai Jai singh :—

सवाई जयसिंह केवल एक योद्धा और कूटनीतिज्ञ ही नहीं बल्कि एक विद्या-प्रेमी विद्वान शासक भी था। प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति उसका अटल विश्वास था। इस विश्वास का कारण वाजपेय यज्ञ था जो उसने जुलाई 1734 में सम्पन्न किया था। मुसलमानों के आगमन के पश्चात् यज्ञ बन्द हो गए थे। सवाई जयसिंह ने इस परिपाटी को पुनर्जीवित किया। वह स्वयं खगोल-विद्या, गणित और ज्योतिष का अच्छा विद्वान था अतः उसके शासनकाल में गणित के कतिपय ग्रंथों का संस्कृत भाषा में अनुवाद हुआ। इसके अतिरिक्त उसके शासन-काल में कुछ नये ग्रंथ भी लिखे गए जिनमें यंत्रराज, जयसिंह कारिका, जयसिंह कल्पद्रुम तथा जयसिंह कल्पलता उल्लेखनीय हैं। आमेर के राजाओं की सर्वप्रथम वंशावली इसके शासन में ही लिखी गई।

सवाई जयसिंह के सर्वोत्कृष्ट स्मारक के रूप मे आमेर की तीसरी व
राजधानी जयपुर नगर है । इसने जयपुर के अतिरिक्त मथुरा, बनारस, दिल्ली
उज्जैन में जन्तर मन्तरो का निर्माण करवाया जहा ज्योतिष के विद्वान सितारो
गतिविधियो का अध्ययन किया करते थे । सवाई जयसिंह ने राजपूत समाज
दोषो को दूर करने का प्रयास भी किया था । इसके द्वारा बनवाए हुए कई कु
बावडिया व धर्मशालाए आज तक सुरक्षित हैं । वह एक अच्छा शासन प्रबन्धक
था जिसका प्रमाण इसका न्याय के प्रति प्रेम है ।

Appendix I

राजपूतों की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों का आलोचनात्मक विश्लेषण

'राजपूत' संस्कृत भाषा के 'राजपुत्र' का अपभ्रंश है। आठवीं शताब्दी से पहले यह किसी जाति विशेष के लिए प्रयोग में नहीं लिया जाता था। अतः भारत का इतिहास लिखने वाले स्वदेशी एवं विदेशी विद्वानों ने राजपूत जाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न व्याख्या दी है।

राजपूतों का वैदिककालीन क्षत्रियों से सम्बन्ध स्थापित करने के उत्सुक चारण और भाटों का कहना है कि आठवीं शताब्दी के लगभग वैदिककालीन क्षत्रियों का लोप हो गया। यह लोप परशुराम के द्वारा किया गया था। क्षत्रियों की राख में से राजपूत उत्पन्न हुए। ब्राह्मण साहित्य में इस प्रकार का वर्णन प्रसंगवश मिलता है। लेकिन यह निश्चय करना मुश्किल है कि वैदिककालीन क्षत्रियों और राजपूतों में कोई सम्बन्ध था या नहीं ?

राजपूतों की आबू के हवनकुंड से उत्पत्ति बताते हुए पृथ्वीराज रासो का रचयिता चन्द बरदाई लिखता है "जब विश्वामित्र, गौतम, अगस्त्य तथा अन्य ऋषि आबू पर्वत पर धार्मिक अनुष्ठान कर रहे थे—उस समय दैत्यों ने गोश्त, खून, हड्डियां तथा पेशाब डालकर उनके यज्ञ को अपवित्र कर दिया। उस समय वशिष्ठ ने यज्ञ कुंड की रक्षार्थ उसी कुंड से तीन योद्धा उत्पन्न किए (प्रतिहार,चालुक्य और परमार), लेकिन जब यह तीनों रक्षा करने में असमर्थ सिद्ध हुए तो चौथा योद्धा उत्पन्न किया जो हट्टा-कट्ठा और हथियार हाथ में लिए प्रकटा था। इसका नाम ऋषियों ने चौहान रखा। इस योद्धा ने आशापुरी को अपनी देवी मानकर दैत्यों को मार भगाया। परवर्ती चारण और भाटों ने क्षत्रियों की इस प्रकार उत्पत्ति को सत्य मानकर अपने ग्रंथों में कुछ अन्तर के साथ इसी कहानी को दोहरा दिया है। चूंकि चन्द्र बरदाई ने तीन प्रमुख राजवंशों (सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी और यादववंशी) का ही वर्णन किया है अतः यह कहानी अवश्य ही परवर्ती है।

"रवि शशि याद्धव वंश ककुत्स परमार चौहान चार"

"क्षत्रियों की अग्निकुंड से उत्पत्ति का सिद्धान्त पन्द्रहवीं शताब्दी से अधिक पुराना नहीं है और इसे जान-बूझकर पुरातन सिद्ध करने का प्रयास किया गया है।" (डा० दशरथ शर्मा) यह कहानी इतनी अधिक बल पकड़ गई थी कि टॉड ने राजस्थान का इतिहास लिखते समय इसे स्वीकार कर लिया। टॉड की पुस्तक की व्याख्या करते हुए विलियम क्रुक ने लिखा—"अग्नि कुण्ड से तात्पर्य अग्नि के द्वारा

शुद्धि से है जो कि दक्षिणी राजस्थान मे सम्पन्न किया गया था। हवनकुड के द्वारा क्षत्रियो को शुद्ध किया गया ताकि वे पुन हिन्दू जाति व्यवस्था मे प्रविष्ट हो सकें।" आधुनिक काल मे कोई भी व्यक्ति यह मानने को तैयार नहीं होगा कि राजपूत योद्धाओ का अग्नि से जन्म हुआ था ।

चन्द बरदाई से पहले भी सूर्यवश अथवा चन्द्रवश से उत्पन्न चार जातियां मौजूद थी । इसका प्रमाण हम शिलालेखो तथा साहित्यिक कृतियो मे मिलता है। दसवी शताब्दी मे लिखा गया ग्रथ Viddhas Hapa Manijik यह बतलाता है कि कन्नौज के प्रतिहार चन्द्रवशी थे । इसी प्रकार चालुक्यो को चद्रवशी सिद्ध करने के प्रमाण (ताम्रपत्र) छटी शताब्दी तक के उपलब्ध हैं। ग्यारहवी शताब्दी का Bihari शिलालेख बतलाता है कि चन्द्रवशी होण के चुल्लू भर पानी से चालुक्य उत्पन्न हुए थे । चालुक्यो की उत्पत्ति पाडवो से तथा प्रतिहारो की लक्ष्मण से भी बताई गई है ।

तीसरा वश परमारो का था जिसके सम्बन्ध मे दसवीं शताब्दी मे लिखा गया 'पिंगल सूत्र कृत्ति' मे लिखा हुआ मिलता है कि परमार पहले ब्राह्मण थे और फिर बाद मे यह क्षत्रिय बन गए । आबू पर्वत म स्थित तेजपाल मदिर से 1230 ई० का एक शिलालेख उपलब्ध हुआ है जिसमे धुम्रपाल परमार को सूर्यवशी बतलाया गया है । स्वर्गीय डा० गौरीशकर हीराचन्द ओझा का कहना है कि सूर्यवशी भ्रम से प्रेरणा प्राप्त करके चद बरदाई ने पृथ्वीराज रासो मे राजपूतों की उत्पत्ति अग्निकुड से बतला दी होगी ।

सीकर जिले मे स्थित हर्षनाथ मन्दिर की प्रशस्ति मे चौहानो के पूर्वज 'गावक' को सूयवशी बताया गया है । इसे रघुवशी लिखा भी गया है । चन्द बरदाई से पहले चौहानो के समकालीन दो लेखक और भी हो चुके हैं—(1) पृथ्वीराज विजय महाकाव्य का रचियता जयनक (11) हमीर महाकाव्य ।

इन दोनों ग्रथो मे चौहानों को सूर्यवशी लिखा गया है । इसी काल का एक और शिलालेख अजमेर से प्राप्त हुआ है जिसमे उन्हें सूर्यवशी लिखा गया है । चन्द्र बरदाई इन सबसे अवश्य परिचित होगा ।

डा० दशरथ शर्मा का कहना है—'In fact it appears to be nothing more than the creation of the poetic or imaginative brains of bards who, in their hunt for a fine pedigree for their patrons, happened to light on the story of the fire born.... "

"This fire born theory is advice of instigating the slothful Rajputs to guard their loins to meet the danger of muslim invaders in poetic manner"

Theory of Lunnar and Solar Races :—

प्राचीन शिलालेख स्पष्ट रूप से बतलाते हैं कि राजपूत सूर्यवंशी अथवा चन्द्रवंशी थे।

1038 ई० का नाथ शिलालेख बतलाता है कि गुहिलोत वंश की उत्पत्ति सूर्य से हुई थी और वह लोग रघुकुल के वंशज हैं।

चौदहवीं शताब्दी का चित्तौड़ से प्राप्त जयदेवी शिलालेख भी गुहिलोतों को अयोध्या के राजा दशरथ का वंशज बताता है।

चिड़ावा से प्राप्त पन्द्रहवीं शताब्दी का श्रृङ्गी ऋषि (Shringi Rishi) शिलालेख भी बताता है कि गुहिलोत राम के वंशज हैं। राजप्रशस्ति तथा मेवाड़ की ख्यातों में भी गुहिलोतों को सूर्यवंशी ही बताया गया है।

इसी प्रकार मारवाड़ के राठोड़ों को भी सूर्यवंशी ही बताया गया है। जालोर और नागौर से प्राप्त तेरहवीं शताब्दी के शिलालेखों में राठौड़ों को सूर्यवंशी बताया गया है। इसका समर्थन सूरजप्रकाश तथा राजरूपक से होता है जो अठारहवीं शताब्दी में मारवाड़ में लिखे गए थे।

इसी प्रकार चौहानों को भी सूर्यवंशी ही बताया गया है। ग्यारहवीं शताब्दी के बेदला शिलालेख में तथा पृथ्वीराज विजय महाकाव्य व हम्मीर महाकाव्य में चौहान सूर्यवंशी बताए गए हैं।

जैसलमेर के भाटी राजपूत चन्द्रवंशी बताए गए हैं। लाद्रेवा शिलालेख तथा भट्टी काव्य में इन्हें चन्द्रवंशी लिखा गया है।

इन सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी राजपूतों का सम्बन्ध वैदिककालीन क्षत्रियों से बताया गया है। डा० ओझा ने इसे स्वीकार किया है कि वर्तमान राजपूतों की उत्पत्ति भी वैदिक कालीन क्षत्रियों के समान सूर्य अथवा चन्द्र से हुई है। इस प्रकार डा० ओझा ने चन्द्र बरदाई की अग्निकुण्ड से उत्पन्न कहानी को स्वीकार किया है। वास्तव में देखा जाय तो यह एक ऐसा प्रयास है जो ग्यारहवीं शताब्दी से प्रारम्भ होकर अठारहवीं शताब्दी तक चलता रहा और राजपूतों की चन्द्र अथवा सूर्य से उत्पत्ति मानने वाले विद्वानों ने इस दैविक उत्पत्ति का सहारा लेकर राजपूतों का वैदिककालीन क्षत्रियों से सीधा सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया था। लेकिन इसे एकदम स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि सत्रहवीं शताब्दी के बाद से वंशावलियों और ख्यातों के लेखकों ने सूर्य और चन्द्रवंशी राजपूतों की उत्पत्ति एक ही पूर्वज से बताकर Confusion को worst confounded बना दिया है। इन लोगों ने किसी वंश को प्रजापति से और फिर उसी वंश को इन्द्र से connect करके सूर्य और चन्द्र से उत्पत्ति की कहानी को अविश्वसनीय बना दिया है।

"What ever might have been their origin, the Rajputs only have in historical times maintained the social and political tradition of the Khatriyas of the age of the Epics. Divine warriors might not spring up from the sacrificial fire pit on the mount Abu or the Bank of the Pushkar Lake, Solar and Lunar origin might be a fiction individually and a vital force in moulding the Indian society which has been in the melting pot more than once since the time of Epics down our own times for periodical readjustmentis —Dr K R Qanungo

Theory of Foreign origin of Rajputs —आज से लगभग 115 वर्ष पहले राजस्थान का इतिहास लिखते समय कर्नल जेम्स टॉड ने राजपूतो को वैदिककालीन क्षत्रियो का वशज नही मानकर उन्हे विदेशी जातियो की सन्तान माना था। वह लिखता है कि यह जाति शक, सिथियन अथवा यूची जाति से उत्पन्न हुई थी क्योकि राजपूतो की सस्कृति इन जातियो से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। उदाहरणार्थ शक सिथियन और यूची के समान राजपूत भी सूर्य को और चन्द्र व देवताओ की पूजा करते हैं। राजपूत शक्ति की पूजा करते हैं और नवरात्रो म अपने हथियारो तथा घोडों की उसी प्रकार पूजा करते हैं जिस प्रकार यह विदेशी जातियां किया करती थीं।

अपने तर्क का समर्थन करते हुए टॉड लिखता है कि राजपूतो की खाप गुजर जाति की शाखा या भाईयो म स ही होगी है। इस प्रकार राजपूतो का गुर्जरो से निकटतम सम्बन्ध है और गुर्जरो की उत्पत्ति विदेशी जाति से हुई है तो राजपूतो की भी इसी तरह ही हुई होगी।

टॉड ने पुराण की कहानी को भी अपने तर्क के समर्थन मे उद्धरित किया है। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल मे जो पुराण सकलित किए गए थे उनमे एक कहानी है कि कलयुग म कोई क्षत्रिय नही बचेगा। इन कहानियो के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य अन्तिम क्षत्रिय राजा था। अत टॉड का कहना है कि वर्तमान राजपूतो की उत्पत्ति विदेशियो से हुई है।

Dr V A Smith ने राजपूतो को केवल शक, सिथियन और यूचियो की ही सन्तान नही माना है बल्कि उसका कहना है कि इनकी उत्पत्ति हूणो से भी हुई थी। हूणो से उत्पत्ति के तर्क का समर्थन Dr Smith ने निम्नलिखित तर्कों से किया है —

(1) तीसरी शताब्दी के पश्चात् हमे क्षत्रियो के विषय मे कुछ सुनने को नही मिलता।

(ii) हूणों की पराजय के पश्चात् भारतीय समाज में विलीनीकरण हुआ था। यह कार्य वशिष्ठ के द्वारा सम्पन्न कराया गया था। वशिष्ठ ने हूणों की शुद्धि करके उन्हें समाज में प्रविष्ट होने की अनुमति दे दी थी और यह शुद्ध हिन्दू ही राजपूत कहलाये थे।

डा० भंडारकर ने भी राजपूतों को विदेशियों की ही सन्तान माना है। यद्यपि डा० भंडारकर ने अपने पक्ष का समर्थन विभिन्न तर्कों से किया है और अन्त में यह निष्कर्ष निकाला कि जो हूण लोग सिवालिक की पहाड़ियों में बस गए थे उनकी किसी एक शाखा से राजपूतों की उत्पत्ति हुई और फिर यह लोग वहां के विभिन्न भागों में चले गए। डा० भंडारकर राजपूतों को गुर्जर जाति का वंशज मानते हैं और क्योंकि गुर्जर विदेशियों की सन्तान हैं, अतः राजपूत भी विदेशियों की सन्तान हैं।

लेकिन डा० हीराचन्द ओझा स्वर्गीय डा० भंडारकर के इस निष्कर्ष से सहमत नहीं थे। उन्होंने कर्नल टाड, डा० स्मिथ तथा डा० भंडारकर के तर्कों का विरोध करते हुए लिखा है कि—(1) हमारे शास्त्रों में शक्ति, हथियार और घोड़ों की पूजा विदेशियों के आगमन से पूर्व भी प्रचलित थी। (2) जहां तक धामाई-वाला तर्क है उसके लिए ओझा कहते हैं कि हमारे साहित्य का अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि राजपूतों ने धामां रखने की परिपाटी विदेशियों से नहीं सीखी थी। (3) यह कहना गलत है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के पश्चात् कोई क्षत्रिय भारत में नहीं हुआ था। उदयगिरी शिलालेख में क्षत्रियों का जिकर है।

डा० भंडारकर तथा अन्य विद्वानों का यह कहना कि विदेशियों और भारतवासियों के बीच वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हुए और उन अन्तर्जातीय विवाहों से उत्पन्न सन्तान राजपूत कहलाई, सर्वथा सत्य नहीं है। क्योंकि मैगस्थनीज फाहियान और ह्वान च्यांग स्पष्ट रूप से लिखते हैं कि भारतवासी स्वभाव से अपनी जाति बदलना पसन्द नहीं करते। हमारे शास्त्रों में प्रतिलोम और अनुलोभ विवाह जरूर वर्णित हैं लेकिन लोग उन्हें स्वभाव से पसन्द नहीं करते थे।

डा० भंडारकर ने एक शिलालेख के आधार पर वासुदेव व बहमन का एक ही व्यक्ति बतलाकर राजपूतों को गुर्जर की सन्तान सिद्ध करने का जो प्रयास किया था वह भी सर्वथा युक्ति संगत नहीं है क्योंकि इस शिलालेख को जब दुबारा अन्य विद्वानों के द्वारा पढ़ा गया तो यह स्पष्ट हो गया कि डा० भंडारकर की व्याख्या सही नहीं है। गुर्जर शब्द का प्रयोग भी भारत में केवल गुर्जरों के आने से ही प्रारम्भ नहीं हुआ है वरन् यह शब्द दूसरी व तीसरी शताब्दी में भी प्रचलित था चूंकि इस समय कोई विदेशी जाति का विलीनीकरण नहीं हुआ था।

डा० सी० वी० वैद्य का यह भी कहना है कि Anthropological Study के आधार पर यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि गुर्जर विदेशी नहीं वरन् आर्यों की ही सन्तान हैं।

अग्निकुण्ड से उत्पत्ति में विश्वास रखने वाला कोई भी राजपूत वंश अपने आप को गुजरों का सम्बन्धी नहीं मानता। अत डा० भंडारकर का यह कहना कि राजपूतों की उत्पत्ति उन विदेशियों से हुई जिनमें गुजर उत्पन्न हुए, सर्वथा सत्य नहीं है। यह हो सकता है कि कतिपय राजपूत राजाओं ने गुजर स्त्रियों से विवाह कर लिये हो और वे स्त्रियां उनकी रखैलों के रूप में रही हों। लेकिन उन स्त्रियों से उत्पन्न सन्तान राजगद्दी पर नहीं बैठी और उनसे आगे वंश नहीं चला।

उपरोक्त तीनो सिद्धान्तो का अध्ययन करने के बाद यह निश्चय करना अब भी सम्भव नहीं है कि राजपूतों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई तथा उनका वैदिक कालीन क्षत्रियों से सीधा सम्बन्ध था अथवा नही।

Appendix II
अकबर की राजपूत नीति

भारत में मुगल साम्राज्य के संस्थापक बाबर को राजस्थान के राजपूत राजाओं के विरुद्ध 1527 में खानवा का युद्ध लड़ना पड़ा था। इस युद्ध के बाद राजस्थान कुछ समय के लिए शक्तिहीन हो गया था। लेकिन बाबर किन्हीं कारणों की वजह से राजस्थान की ओर तत्काल विशेष ध्यान नहीं दे सका। 1530 में उसकी असामयिक मृत्यु के बाद उसका पुत्र और उत्तराधिकारी हुमायू सिंहासनारूढ़ हुआ। हुमायू से मेवाड़ की रानी कर्मवती ने गुजरात के बहादुर शाह के खिलाफ सैनिक सहायता की प्रार्थना की थी। लेकिन हुमायू ने एक विधर्मी को सहायता देना उचित नहीं जानकर अथवा बहादुरशाह की चिकनी-चुपड़ी बातों में आकर अवसर को हाथ से निकल जाने दिया। तत्पश्चात् वह अपनी कठिनाइयों में इतना अधिक उलझ गया कि 1540 तक उसे राजस्थान की ओर ध्यान देने का अवसर ही नहीं मिला। हुमायू की इस व्यस्तता से लाभ उठाकर मालदेव के नेतृत्व में मारवाड़ का राठौड़ राज्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। शेरशाह के द्वारा 1540 में पराजित किए जाने पर हुमायू के हाथ से राज्य निकल गया और वह सहायता की खोज में पंजाब व सिंध में भटक रहा था। उस वक्त मारवाड़ के शासक राव मालदेव ने उसे सैनिक सहायता देने का निमन्त्रण भी भिजवाया था। लेकिन हुमायू ने इस बार भी अवसर खो दिया और वह 12 महीने तक सिंध में समय नष्ट करता रहा। लेकिन 12 महीने के बाद जब उसे कहीं उम्मीद नहीं रही तो वह मारवाड़ की ओर रवाना हो गया। मालदेव ने हुमायू का उचित सम्मान किया और निर्वाह के लिए बीकानेर भी प्रदान किया। लेकिन शेरशाह से वैर मोल लेने के डर से न तो मालदेव ने हुमायू की कोई सहायता ही की और न उसे शेरशाह की मर्जी के मुताबिक बन्दी ही बनाया। अतः हुमायू को निराश होकर मारवाड़ से लौट जाना पडा। मार्ग में जैसलमेर के शासक भाटी मालदेव के आदमियों ने हुमायू को काफी कठिनाई पहुँचाई थी। इस समय अकबर की गर्भवती मां हमीदाबानू बेगम भी हुमायू के साथ थी। मारवाड़ की सीमाओं को लांघकर जब हुमायू उमरकोट पहुँचा तो सोढ़ा राजपूत किलेदार ने हुमायू को पनाह दी। यही पर अकबर पैदा हुआ था। तत्पश्चात् हुमायू फारस चला गया। हो सकता है कि वहां राव मालदेव व जैसलमेर के भाटी मालदेव के तथाकथित दुर्व्यवहार की कहानी शाह को सुनाई हो। जखीरुल खवानीन का लेखक शेख फरीद भाखरी लिखता है कि शाह ने हुमायू को सलाह दी थी कि यदि उसे भारत

अग्निकुण्ड से उत्पत्ति मे विश्वास रखने वाला कोई भी राजपूत वश अपने आप को गुर्जरों का सम्बन्धी नहीं मानता। अतः डा॰ भंडारकर का यह कहना कि राजपूतो की उत्पत्ति उन विदेशियों से हुई जिनमें गुर्जर उत्पन्न हुए, सर्वथा सत्य नहीं है। यह हो सकता है कि कतिपय राजपूत राजाओं ने गुर्जर स्त्रियो से विवाह कर लिये हो और वे स्त्रिया उनकी रखैलों के रूप में रही हो। लेकिन उन स्त्रियो से उत्पन्न सन्तान राजगद्दी पर नही बैठी और उनसे आगे वश नही चला।

उपरोक्त तीनो सिद्धान्तो का अध्ययन करने के बाद यह निश्चय करना अब भी सम्भव नही है कि राजपूतो की उत्पत्ति किस प्रकार हुई तथा उनका वैदिक-कालीन क्षत्रियों से सीधा सम्बन्ध था अथवा नही।

Appendix II

अकबर की राजपूत नीति

भारत में मुगल साम्राज्य के संस्थापक बाबर को राजस्थान के राजपूत राजाओं के विरुद्ध 1527 में खानवा का युद्ध लड़ना पड़ा था। इस युद्ध के बाद राजस्थान कुछ समय के लिए शक्तिहीन हो गया था। लेकिन बाबर किन्हीं कारणों की वजह से राजस्थान की ओर तत्काल विशेष ध्यान नहीं दे सका। 1530 में उसकी असामयिक मृत्यु के बाद उसका पुत्र और उत्तराधिकारी हुमायू सिंहसनारूढ़ हुआ। हुमायू से मेवाड़ की रानी कर्मवती ने गुजरात के बहादुर शाह के खिलाफ सैनिक सहायता की प्रार्थना की थी। लेकिन हुमायू ने एक विधर्मी को सहायता देना उचित नहीं जानकर अथवा बहादुरशाह की चिकनी-चुपड़ी बातों में आकर अवसर को हाथ से निकल जाने दिया। तत्पश्चात् वह अपनी कठिनाइयों में इतना अधिक उलझ गया कि 1540 तक उसे राजस्थान की ओर ध्यान देने का अवसर ही नहीं मिला। हुमायू की इस व्यस्तता से लाभ उठाकर मालदेव के नेतृत्व में मारवाड़ का राठौड़ राज्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। शेरशाह के द्वारा 1540 में पराजित किए जाने पर हुमायू के हाथ से राज्य निकल गया और वह सहायता की खोज में पंजाब व सिंध में भटक रहा था। उस वक्त मारवाड़ के शासक राव मालदेव ने उसे सैनिक सहायता देने का निमन्त्रण भी भिजवाया था। लेकिन हुमायू ने इस बार भी अवसर खो दिया और वह 12 महीने तक सिंध में समय नष्ट करता रहा। लेकिन 12 महीने के बाद जब उसे कहीं उम्मीद नही रही तो वह मारवाड़ की ओर रवाना हो गया। माल्देव ने हुमायू का उचित सम्मान किया और निर्वाह के लिए बीकानेर भी प्रदान किया। लेकिन शेरशाह से वैर मोल लेने के डर से न तो माल्देव ने हुमायू की कोई सहायता ही की और न उसे शेरशाह की मर्जी के मुताबिक बन्दी ही बनाया। अतः हुमायू को निराश होकर मारवाड़ से लौट जाना पडा। मार्ग में जैसलमेर के शासक भाटी माल्देव के आदमियों ने हुमायू को काफी कठिनाई पहुँचाई थी। इस समय अकबर की गर्भवती मां हमीदाबानू बेगम भी हुमायू के साथ थी। मारवाड़ की सीमाओं को लांघकर जब हुमायू उमरकोट पहुँचा तो सोढ़ा राजपूत किलेदार ने हुमायू को पनाह दी। यहीं पर अकबर पैदा हुआ था। तत्पश्चात् हुमायू फारस चला गया। हो सकता है कि वहां राव माल्देव व जैसलमेर के भाटी माल्देव के तथाकथित दुर्व्यवहार की कहानी शाह को सुनाई हो। जखीरुल खवानीन, का लेखक शेख फरीद भाखरी लिखता है कि शाह ने हुमायू को सलाह दी थी कि यदि उसे भारत

में मुगल साम्राज्य की जड़ मजबूत करनी है तो राजपूतों को वश में करना चाहिए। फारस की सहायता से हुमायू अपना राज्य पुनः प्राप्त करने में सफल हो गया लेकिन राज्य प्राप्त करने के तुरन्त बाद ही उसका देहान्त हो गया। अत: राजपूत राजाओं को वश में करने का उत्तरदायित्व उसके पुत्र और उत्तराधिकारी अकबर पर पड़ा।

सौभाग्य से जब अकबर सिंहासनारूढ़ हुआ और उसने राज्य की बागडोर अपने हाथों में लेने का निश्चय किया उस समय राजस्थान के विभिन्न राज्यों में गृह-कलह फैली हुई थी। आमेर के शासक राजा भारमल के विरुद्ध उसके स्वर्गवासी भाई का पुत्र सूजा संघर्ष में जुटा हुआ था। उसने भारमल के विरुद्ध अकबर के द्वारा नियुक्त अजमेर के मुगल सूबेदार मिर्जा शरफुद्दीन से भी जाकर प्रार्थना की थी। मारवाड़ के शासक माल्देव की विस्तारवादी नीति से असन्तुष्ट होकर मेड़ता के निर्वासित शासक जयमल ने स्वयं अकबर से मान्देव के विरुद्ध सहायता चाही थी और अजमेर के निकट पड़ौस में स्थित जैतारण पर जब मिर्जा शरफुद्दीन ने आक्रमण किया तो मान्देव ने आपसी कलह की वजह से वहां के शासक को कोई सहायता नहीं दी। तात्पर्य यह है कि (Interceine fends) भाईबन्दों के पारस्परिक फसाद ने अकबर को राजस्थान में हस्तक्षेप करने के लिए निमन्त्रित किया।

इसी समय अकबर के विरुद्ध बैरामखां ने विद्रोह किया और विद्रोह काल में वह बीकानेर तथा नागौर गया था। स्वाभाविक रूप से अकबर का ध्यान राजस्थान की ओर आकर्षित हुआ।

लेकिन इससे भी अधिक महत्वपूर्ण कारण यह था जैसा कि अकबर के आधुनिक इतिहासकार डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव ने लिखा है कि अपने प्रारंभिक दिनों में वह राज्य-विस्तार करना चाहता था। यदि उसे गुजरात और मालवा को अपने अधिकार में करना था तो पहले राजस्थान को अपने अधीन करना जरूरी था क्योंकि गुजरात व मालवा का रास्ता राजस्थान से होकर जाता था।

इसी समय अकबर को अजमेर के शेख सलीम चिश्ती के प्रति व्यक्तिगत रूप से भक्ति हो गई। वह शेख की दरगाह की जियरत करने के लिए लगभग प्रतिवर्ष अजमेर आने लगा। इस यात्रा के सिलसिले में उसका राजस्थान के साथ व्यक्तिगत रूप से सम्बन्ध हुआ।

इस प्रकार की पहली धर्म-यात्रा अकबर ने सर्वप्रथम 1562 में की थी। जब अकबर आमेर की सीमाओं के निकट था तब वहां के शासक राजा भारमल ने सांगानेर पहुँचकर सम्राट से भेंट की। भेंट करने का प्रयोजन स्पष्ट था। भारमल अपने राज्य की मिर्जा शरफुद्दीन तथा अपने सम्बन्धी सूजा से रक्षा करना चाहता था। अतः उसने मुगल सम्राट से सीधा सम्बन्ध स्थापित करना चाहा। भेंट के बाद अकबर के साथ अपनी पुत्री का विवाह करने का प्रस्ताव रखा। भारमल की इच्छानुसार यह विवाह साभर के स्थान पर 1562 में सम्पन्न भी हो गया। यह एक ऐसा राजवंशीय विवाह था जिसके कारण आमेर के मुगल राजघराने के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध कायम हो गए। भारमल, उसके पुत्र भगवन्तदास व पौत्र मानसिंह को अकबर ने शाही सेवा में भर्ती कर लिया। इस विवाह के परिणामस्वरूप राजा भारमल तो अपने शासन को सुदृढ़ करने में अवश्य सफल हुआ, लेकिन उससे

कहीं अधिक लाभ अकबर को हुआ । आमेर की राजकुमारी के गर्भ से सलीम पैदा हुआ जो बाद में अकबर की मृत्यु के बाद जहांगीर के नाम से गद्दी पर बैठा। अकबर को राजा भारमल, उसके पुत्र भगवन्तदास एवं पौत्र मानसिंह की सैनिक सेवाएं प्राप्त हुई । 1562 के बाद लगभग प्रत्येक अभियान में अकबर ने राजपूतों को Auxiliary (सहायक सेनानायक) Ommanders के रूप में नियुक्त किया। अकबर ने राजपूतों की सैनिक सेवाओं को क्यों अपनाया, इसका प्रत्युत्तर हमें बैरामखां, आदमखां इत्यादि विश्वासपात्र मुगल सरदारों के विद्रोहो में मिल सकता है । इन विद्रोहों ने अकबर के मस्तिष्क में स्पष्ट रूप से यह विचार दृढ़ कर दिया था कि केवल मुसलमानों पर विश्वास कर लेने से भारत में मुगल साम्राज्य सुदृढ़ नहीं हो सकता । उजबेगों के विद्रोह ने तो उसका ध्यान राजपूत राजाओं की ओर अधिक आकर्षित कर दिया था । एक ओर तो मुसलमानों की वफादारी में अकबर को संदेह हो गया था, दूसरी ओर इन राजपूत राजाओं ने अपने दूसरे साथी राजाओं को अकबर के निकट लाने का प्रयत्न करके अकबर को अपनी वफादारी पर विश्वास दिला दिया था । राजा भगवन्तदास ने जैसलमेर के रावल हरराम को अकबर तक पहुँचाया था । मेवाड़ अभियान में राजा भगवन्तदास तथा उसके पुत्र मानसिंह ने जिम्मेदारी व योग्यता का परिचय दिया था उससे अकबर अत्याधिक प्रभावित हुआ था । बीकानेर के रायसिंह ने जिस जाफिशानी के साथ मारवाड़ के राव चन्द्रसेन का पीछा किया था अथवा मोटा राजा उदयसिंह ने सिरोही के राव सुरताण का दमन किया था उन सबका अकबर के हृदय पर अमिट प्रभाव पड़ा । कहने का तात्पर्य यह है कि शाही सेवा में राजपूत राजाओं को ऊंचे से ऊंचे मन्सब प्रदान किए गए।

शाही सेवा में अपूर्व योग्यता दिखाने के ऐवज में इन राजाओं को जागीरें दी जाती थीं । यह जागीरें परगनों के इजाफा के नाम से प्रसिद्ध हुई । जब भारमल व कल्याणमल की मृत्यु हुई तो अकबर ने उनके पुत्रों को टीका दिया । यह एक नई परिपाटी थी जिसने राजपूत राजाओं को पूर्ण रूप से अकबर के अधिकार में ला दिया । प्रारम्भ में टीका मरणासन्न शासक की इच्छानुसार दिया जाता था लेकिन बाद में अकबर ने अपनी इच्छानुसार भी टीका देना शुरू कर दिया । 1583 में मारवाड़ का टीका वहां के सरदारों की मर्जी के खिलाफ राव चन्द्रसेन के पुत्र रायसिंह को नहीं देकर चन्द्रसेन के बड़े भाई मोटाराजा उदयसिंह को दिया । इस टीका के साथ अकबर पैत्रक राज्य को 'वतन जागीर' के रूप में भी प्रदान करने लगा था । अतः 1605 तक राजस्थान के राजपूत राजा वास्तव में 'जमींदार' बन गए थे । अधिकांश राजा Absentee rulers थे जो बरसों तक अपनी जन्मभूमि से बाहर रहते थे और वहीं रहते हुए उनका देहान्त हो जाता था (Died in harness).

इस प्रकार राजवंशीय विवाह करके अकबर ने राजपूतों को पूर्ण रूप से अपने वंश में कर लिया था । इन विवाहोंके कारण आमेर, बीकानेर एवं मारवाड़ के राजपूत राजघरानों कीसैनिक सेवायें अकबरऔर उसके उत्तराधिकारियोंको प्राप्त हुई ।

Effects of Rajput Policy :—अकबर की इस राजपूत नीति के परिणामस्वरूप राजपूतों और मुगलों का सीधा सम्पर्क कायम हुआ। सम्पर्क स्थापित होने के कारण एक दूसरे के रहन-सहन, रीति-रिवाज एवं आचार-विचार प्रभावित हुए । अकबर दशहरा और होली के त्यौहार उसी जोश के साथ मनाने लगा जिस उत्साह के साथ ईद और नौरोज के त्यौहार मनाता था । उसकी पगड़ी बांधने का

ढंग हिन्दू एव मुस्लिम परम्पराओं का मिश्रित रूप था। मुगल दरबार मे रहने वाले राजपूतो की वेश भूषा मुगल वेश-भूषा से प्रभावित हुई। चुश्त पाजामा, अचकन व झटपटी पगडी इसका प्रमाण है। इन राजपूत राजाओं की भाषा भी फारसी भाषा से प्रभावित हुई। राजस्थानी भाषा मे 'मुजरा' 'सिताब' इत्यादि शब्दो का प्रयोग यही सिद्ध करता है। कतिपय हिन्दू राजाओं ने अपनी मुस्लिम प्रजा के लाभार्थ मस्जिदें भी बनवाई थी। मोटाराजा उदयसिंह ने जोधपुर शहर मे एक मस्जिद का निर्माण किया था।

लेकिन सर्वाधिक प्रभाव राजपूत राज्यो के प्रशासन पर पडा। अकबर से पहले राजस्थान मे डाक-चौकिया, दीवान, परगने इत्यादि नही थे। राजपूत राजाओं के अपने सरदारो के साथ भाईचारे के सम्बन्ध थे लेकिन मुगलो के सम्पर्क मे आने के बाद इन राजाओं ने भी अपने सरदारो से पेशकश लेनी शुरू कर दी। उनसे सैनिक मगवाने शुरू किए, उन सरदारो को भी चाकरी करनी पडी।

आगरा और दिल्ली के जैसे महल इन राजाओं ने अपनी-अपनी राजधानियों मे बनवाए। महलो मे बड़े दरवाजे तथा आगन भी बनवाने प्रारम्भ किए। इस प्रकार स्थापत्य कला भी प्रभावित हुई।

अबुलफजल के अकबरनामा के लिए सामग्री एकत्रित करने के लिए राजस्थान के राजपूत राजाओं ने ख्यात एव वशावलिया लिखवाई थी। इस प्रकार राजस्थान के विभिन्न राज्यो मे इतिहास लेखन परिपाटी अकबर की राजपूत नीति का ही परिणाम है।

इस प्रकार यह कहना बहुत कुछ अ श तक सत्य है कि अकबर की राजपूत नीति ने केवल मुगल सम्राट् की धार्मिक नीति को ही सहिष्णु नही बनाया अपितु इस नीति के फलस्वरूप दो विरोधी सभ्यताओं और सस्कृतियो का समागम हुआ।

Akbar's Rajput policy was beneficial for both.

अकबर की राजपूत राज्यों के प्रति नीति मुगल साम्राज्य एव राजपूत राज्य दोनो के लिए ही लाभप्रद सिद्ध हुई। मुगल साम्राज्य को इन राजाओं की सेवाए प्राप्त हुई ही लेकिन मुगल सम्राट् का सहयोग और समर्थन प्राप्त करके यह राजपूत राजा अपने राज्यो मे विद्रोही तत्वो का दमन करने मे भी सफल हुए शाही सेवा मे रहकर इन राजाओं ने केवल अपने व्यक्तिगत गौरव एव प्रतिष्ठा की ही वृद्धि नहीं की, वरन् अपने वश परम्परागत राज्यों की ख्याति भी बढ़ाई। मुगल सम्पर्क के कारण गुजरात व दक्षिण की धन सम्पत्ति का अविरोध रूप से राजस्थान मे आयात हुआ।

Appendix III

राजस्थानी चित्रकला का उत्कर्ष एवं विकास

चित्रकला की जो शैली राजस्थान के विभिन्न भाषायी राज्यों में उत्पन्न एवं विकसित हुई उसे भ्रम से ब्राउन ने राजपूत चित्रकला कह कर पुकारा है । ब्राउन का यह ख्याल था कि केवल राजपूत राजाओं के अथवा उनके जमींदारों के संरक्षण में चित्रकला पनपी थी लेकिन वास्तव में राजस्थान में चित्रकला को सेठ साहूकारों तथा धार्मिक संस्थाओं, कला प्रेमियों और साधारण लोगों के द्वारा भी प्रोत्साहन दिया गया था इसलिये राजपूत चित्रकला कहना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता । ऐसी ही भूल श्री एन० सी० मेहता ने इस शैली को हिन्दू शैली कहकर की है। मि० मेहता इसका नामकरण करते समय कदाचित यह भूल गये थे कि राजस्थान में चित्रकारों को सेठ साहूकारों, धार्मिक संस्थाओं और साधारण जनता की अपेक्षा राजाओं एवं जमींदारों के द्वारा अधिक प्रोत्साहन दिया गया था । यह चित्रकार राजपूत राजाओं के दरबारों, महफिलों, जलसों, उनकी रोमांचकारी घटनाओं तथा शिकार की घटनाओं को चित्रित करने में अधिक समय लगाते थे इसलिये केवल इसे हिन्दू चित्रकला कह कर पुकारना भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता । वास्तव में, राजस्थान में चित्रकला की जिस शैली का उत्कर्ष एवं विकास हुआ उसे राजस्थानी चित्रकला कह कर पुकारना चाहिये । राजस्थानी चित्रकला पुकारने से यह भी स्पष्ट हो जायगा कि चित्रकार राजपूत राजाओं के चित्र बनाने के साथ साथ पौराणिक गाथाओं से प्रेरणा लेकर भी चित्र बनाया करते थे । उनके चित्र विभिन्न स्त्रोतों के परिणाम थे ।

कुछ आधुनिक इतिहासकारों का कथन है (जिनमें डाक्टर जदुनाथ सरकार मुख्य है और उन्होंने अपनी पुस्तक 'स्टडीज इन मुगल इन्डिया' में पेज 292 पर लिखा है) कि "जब राजपूत राजा मुगल बादशाहों के सम्पर्क में आये और अकबर, जहांगीर तथा उनके उत्तराधिकारी के संरक्षण में चित्रकला का उत्कर्ष और विकास हुआ, उस समय कतिपय चित्रकार इन राजपूत राजाओ के दरबारों में आकर रहने लगे और इनके द्वारा राजस्थानी चित्रकला का जन्म हुआ लेकिन यह धारणा ऐतिहासिकता के प्रतिकूल है । राजस्थान में पाषाण युग के जमाने से ही चित्रकारी होती रही है । ये चित्र गुफाओं की चट्टानों पर बनाये गये थे। यद्यपि ये नाचते हुए मानव अथवा गड़रिये के चित्र हो सकते है लेकिन फिर भी यह इस बात को प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त है कि राजपूत राजाओं ने चित्रकला के आदर्श मुगल सम्राटों से प्राप्त नही किये थे ।

राजस्थान में पहले जो चित्र बनाये जाते थे वे मुख्य रूप से दो प्रकार के होते थे—(1) म्यूरल पेन्टिंग्स (Murals Paintings) और (2) पिक्टोरियल (Pictorial) पेन्टिंग्स । प्राचीनकाल से ही यह परम्परा चली आयी थी कि संस्कृत और मारवाड़ी भाषा के ग्रन्थों में चित्र लगा कर उन्हें

इलस्ट्रेट (Illustrate) किया जाता था। इन पुस्तकों के बोर्डर भी विभिन्न डिजायनों के बनाये जाते थे। जैसलमेर के ग्रन्थ भण्डारों में आज भी हजारों की संख्या में हस्तलिखित ग्रन्थ उपलब्ध हैं जो इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। ये चित्र ताड़ की पत्तियों पर तथा महलों की दिवारों पर बने हुए आज भी सुरक्षित हैं। इन चित्रों को मुख्य रूप से 3 भागों में बांटा जा सकता है। पहली श्रेणी में वे चित्र आते हैं जो दरबारी जीवन, महफिलों और घरों को चित्रित करने के लिये बनाये जाते थे। दूसरी श्रेणी में वे चित्र आते हैं जो धार्मिक उत्सवों पर पूजा अर्चना अथवा सुन्दरता लाने के लिये बनाये जाते थे और तीसरी प्रकार के वे चित्र हैं जो पौराणिक हिन्दू गाथाओं के आधार पर अथवा संस्कृत भाषा के प्राचीन ग्रन्थों से प्रेरणा लेकर बनाये गये थे। मूल रूप से अगर देखा जाये तो राजस्थान में बने हुए चित्र अपनी शैली और स्वरूप में अजन्ता के चित्रों से मिलते जुलते हैं। राजस्थान में भी वह देश जिसे मरुदेश या मारवाड़ कह कर पुकारा जाता है उस प्रदेश में एक अपना विशेष स्कूल था कि जो अजन्ता शैली के चित्र बनाता था। इसी तरह से अगर देखा जाये तो मेवाड़ में भी ऐसे बहुत से चित्र मिल सकते हैं कि जो मुगलों के प्रवेश से पूर्व बनाये जाते थे। तारानाथ नामक कला मर्मज्ञ ने इस बात को स्वीकार किया है कि इन चित्रों में पाई जाने वाली विशेषता अजन्ता की चित्रकला से मिलती जुलती है। पहली विशेषता तो यह है कि चित्र का आकार, भावना से पूर्णरूपेण ओतप्रोत थी। दूसरी विशेषता यह थी कि यह चित्रकार अजन्ता के चित्रकारों की तरह काले लाल, नीले और पीले रंग का स्वच्छन्द रूप से प्रयोग करते थे। राजस्थान में रेत अधिक उड़ती है इसलिये कतिपय राजस्थानी चित्रकला में इन रंगों का चुना गया था कि जिन पर रेत अधिक दिखलाई नहीं देती। तीसरी विशेषता यह है कि इन चित्रों में जिस ढंग से बड़ी बड़ी आँखें बनायी जाती थी जिन्हें पटाक्ष नेत्र कह कर पुकारा जाता है यह शैली अजन्ता की शैली से मिलती जुलती थी। चित्रकार छोटे कद के लोगों के चित्रों में उनके हाथ की उंगलियां उन्हीं के आकार के अनुकूल चित्रित करते थे। इन चित्रों को बनाते समय पेड़ तथा अन्य प्राकृतिक दृश्यों को भी चित्रित किया जाता था। पेड़ों में कदम, आशापल्लव व कदल तथा आम के पेड़ बहुत अधिक लोकप्रिय थे। इस प्रकार प्राकृतिक छवि को सुन्दरतापूर्वक चित्रित करके राजस्थानी चित्रों को अधिक आकर्षित बना दिया।

मुगल सम्राट अकबर के सम्पर्क में आने के बाद जब राजपूत राजाओं का मुगल दरबारी जीवन के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित हो गया तो स्वाभाविक रूप से राजस्थान की चित्रकला भी प्रभावित हुई। मध्यकाल में बने हुए प्राचीन चित्र आज भी यत्रतत्र सुरक्षित हैं। इन चित्रों को देख कर कोई भी व्यक्ति यह डिसटिंग्विश कर सकता है कि कौन सा चित्र मुगल आदर्शों से प्रभावित है। उदाहरण के लिये मुगलों के सम्पर्क में आने के बाद राजस्थानी चित्रकार अपने चित्रों में बोर्डर बनाने लगे, पशु-पक्षियों की मूर्तियों का

चुका है सुनहरी लाल या गहरे नीले रंग का प्रयोग किया जाता था लेकिन मुगलों के सम्पर्क में आने के बाद इन चित्रकारों ने नये ढंग के चित्र बनाना शुरू कर दिया। इन चित्रों में पोर्ट्रेट (Portrait), पेण्टिग तथा Prescoes सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। राज्य दरबारों और महफिलों के चित्र मुगलों के सम्पर्क में आने से पहले नही बनाये जाते थे और न चित्रों से मुगल डिजाइन की इमारतें फर्नीचर, बरामदे, गलीचे, सुराही इत्यादि ही चित्रित की जाती थी। पुरुषों की कृतियां भी मुगल काल के पुरुषों के समान नहीं बनायी जाती थीं।

मेवाड

राजस्थान में चित्रकला का विकास भिन्न-भिन्न केन्द्रों पर हुआ–मेवाड़ में चित्रकला का विकास महाराणा अमरसिंह के शासन–काल में मेवाड़ की संकटकाली राजधानी चावड में हुआ। इसके अतिरिक्त नाथद्वारा में भी चित्रकला का विकास हुआ था। मेवाड़ के बने चित्र कतिपय स्थलों पर सुरक्षित हैं। कलकत्ता के श्री गोपीचन्द कानोडिया के पास में इस समय भी मेवाड़ के बहुत से चित्र हैं। कई चित्र मेवाड की राजधानी उदयपुर में महाराणा के राजमहल में जोतदान में सुरक्षित है। मेवाड़ के आधुनिक इतिहासकार डाक्टर गोपीनाथ शर्मा ने मेवाड़ की चित्रकला के सम्बन्ध में समय समय पर जो लेख विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित किए हैं उनको पढ़ने से यह स्पष्ट जाहिर होता है कि 13वीं शताब्दी से अनवरत रूप से मेवाड़ में चित्रकला का विकास होता रहा है। मेवाड़ के चित्रकार कपिरसफूल और विभिन्न पक्षियों के चित्र बनाने में भी उतने ही सिद्धहस्त थे जितने वह रागमाला या बारामासा के चित्र बनाने में पारगत थे। महाराणा अमरसिह प्रथम का शासनकाल मेवाड़ की चित्रकला के इतिहास में स्वर्ण युग माना जाता है। उस जमाने में जो रागमाला चित्र बनाये गये वह आज बड़ौदा के अजायबघर में सुरक्षित हैं और जो बारामासा चित्र बनाये गये वे सरस्वती भवन पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। इन चित्रों को देखने से पता चलता है कि मध्यकाल में मेवाड़ के चित्रकार राम लक्ष्मण और रावण की कृतिया भी मुगल सेनानायक की आकृतियों के समान बनाने लगे थे। रावण को सीता हरण करते समय एक मुस्लिम फकीर के रूप में चित्रित करना यह बतलाता है कि मेवाड़ की शैली पर मुगल शैली का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था लेकिन इसका यह तात्पर्य नही है कि केवल मुगल डिजाइन (Design) के ही चित्र बनाये गये थे। हमारी पौराणिक गाथाओं तथा प्राचीन कहानियों के आधार पर जो चित्र मेवाड़ में बनाये गये वे इस बात के प्रतीक है कि मेवाड़ी चित्रकार चित्रकला की प्राचीन परम्परा को नहीं भूले थे। इन चित्रों में भड़कीले रगों का जैसे कत्थई (Saffron), पीला तथा Lapis Laguli रंगों का प्रयोग किया गया था। Background को Contrast Colours में चित्रित किया गया। आदमी और औरतों की नुकीली नाकें, लम्बे चेहरे तथा मीन नयन चित्रित किये गये हैं। इनकी बगलों के नीचे चित्र में Shade बतलाये गये है। आदमियों को जामा, पटका, पायजामा, पगड़ी और जूते पहने बतलाया गया है जब कि औरतों को ऐसा लेहंगा कि जिसके कलियाँ हों तथा सादा रंग के पहने चित्रित किया गया है। चित्रों में औरतों को चोली और पारदर्शक ओढ़नी पहने बतलाया गया है। इनकी भुजाओं और कलाईयों

को काली चूड़ियां पहने बनाई गई हैं।[1] लेकिन मेवाड़ के चित्रों की अपेक्षा नाथद्वारा में बने हुए चित्रों में अधिक विशेषता पाई जाती है। यह चित्रकार वास्तविक जीवन के अधिक निकट रहते थे। इन्होंने मजबूत स्टाउट आकृति के चित्र बनाये। ये चित्र कागज और कपड़ों पर बनाये गये थे। इनकी कलात्मक सुन्दरता मेवाड़ के चित्रों की अपेक्षा अधिक मानी जाती है। कुछ इतिहासकारों ने नाथद्वारा शैली को मेवाड़ शैली का एक भाग माना है लेकिन वास्तव में देखा जाय तो नाथद्वारा में चित्रकला की एक पृथक शैली विकसित हुई थी। इस शैली के उत्कर्ष के विभिन्न कारण थे। वृज के निवासी अपने देवता की मूर्ति के साथ नाथद्वारा आये थे अतः वह अपने आदर्शों को भी साथ लाये। कृष्ण और गोपियों की रास लीलाओं को इन चित्रकारों ने बड़े सुन्दर ढंग से चित्रित किया। नाथद्वारा में बने हुए चित्र आज भी बड़ौदा और बम्बई के अजायबघरों में सुरक्षित हैं।

मारवाड़

मेवाड़ की तरह से मारवाड़ में भी चित्रकला का विकास हुआ। इसका प्रमाण हमें ओसियां के मन्दिरों में बने हुए चित्रों में मिल सकता है। नाडोल के एक जैन मन्दिर में जहांगीर काल के बने हुए फिरसकोज सुरक्षित हैं। इनको तथा घानेराव और कुचामन के फिरसकोज को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मारवाड़ के राजा और जमींदार चित्रकारों को प्रोत्साहित करते थे। राव मालदेव के शासन काल में जोधपुर के राजमहल में (चोखेला महलों में) जो चित्र बनाये गये वे मारवाड़ टाइप के हैं। इन चित्रों का मूल उद्देश्य प्राचीन पौराणिक गाथाओं से सम्बन्धित हुआ करता था लेकिन उस जमाने में जो रागमाला चित्र सबसे पहले सन् 1623 में पाली के स्थान पर वीरजी नामक चित्रकार द्वारा बनाये गए थे उनको देखने से यह पता चलता है कि मारवाड़ी चित्रकला की शैली पूर्ण विकसित हो चुकी थी। मारवाड़ के चित्रकार लम्बे कद के पुरुष की, जो अधिक आकर्षक प्रतीत होते थे, आकृतियां बनाते थे। इन चित्रों में लम्बी और सजीदा आंखें तथा कानों तक केशों की लटें चित्रित की गई हैं। पुरुषों के चित्रों में दाढ़ी बतलाई गई है और मूछें घनी बतलाई गई हैं। उनकी Dress सफेद जामा और सफेद पायजामा तथा कमर बंद दिखाए गए हैं सिर पर पगड़ी है (जिसमें परिवर्तन आते रहे)। पगड़ी पर तुरी, कलगी, सरपेच तथा शरीर के दूसरे भागों में गुरदा और नेकलेस पहने चित्रित किया गया है। पुरुषों को कटारा ढाल और तलवार लिये चित्रित किया गया है। स्त्रियों को अत्यधिक रुचिकर

1. ... ured saffron, yellow
... ntrastic patches of
... prominent noses,
... forms are stylized,
there is shade under the arm pits, men are shown wearing Jama, Patka, Pyjama, Pagri, and shoes and the women are dressed in Lehenga, having stripes or with floral modes or plain colour, a choli and a transparent Odhni. Black tassels are worn on arms and wrists".

Features में चित्रित किया गया है। इनकी आकृति हृष्टपुष्ट है। इनके बाल लम्बे और घने हैं। भुजायें भी लम्बी हैं। माथे पर बिंदी लगी हुई बताई गई है व हाथों में मेंहदी है। कमर कुछ चौड़ी है। इनकी वेषभूषा विभिन्न रंगों की है जैसे लाल, नीले, पीले और नारंगी रंग की Dresses पहने हुए चित्रित किया गया है। ये स्त्रियां लहंगा पहने हैं। बेसड़ा, कांचली, लुंगी कसा, चुस्त पायजामा पहने भी बताया गया है। इन स्त्रियों का कुरता और दुपट्टा पारदर्शक चित्रित किया गया है। मारवाड़ी औरतों को आभूषण पहनने का बहुत शोक है अत: एक मारवाड़ी स्त्री को चित्र में चोटी, वाली, नथ, माला इत्यादि पहने हुए बताया गया है। भुजाओं पर भुजबंद कलाई पर चूड़ियों तथा दूसरे आभूषण, पांव में पायल पहने बतलाया गया है।[1]

इन चित्रों में लोक नृत्य तथा पारिवारिक दृश्यों को लेकर भी चित्र बनाये जाते थे। जनाना खाने के चित्रों में देवी देवता के जो चित्र बनाये गये थे उनको देखने से यही प्रकट होता है कि मारवाड़ में चित्रकला के आदर्श सर्वोतन्मुखी विकास कर चुके थे।

बीकानेर शैली

मारवाड़ के राठौड़ राजाओं के महिवन्धु बीकानेर में शासन करने लगे। इसलिये स्वाभाविक तौर पर चित्रकला की मारवाड़ शैली ने बीकानेर की शैली को भी प्रभावित किया। बीकानेर में बने चित्रों की रिजिड (Riggd) आकृतियों को देखने से पता चलता है कि बीकानेर की शैली पर कांगड़ा शैली का प्रभाव पड़ा था। जिस कृत्रिमता से चित्र बनाये गये है उसी कृत्रिमता से इनको डिग्रेड (Degrade) भी किया गया था। दूसरी विशेषता यह

---

1. These figures had long and grave eyes on the julf up to the loob of the ear. The viskers are thick and beard is often depicted. The dress is generally a white Jama with a Kamarbund and white big Pyjama. The head gear is a Pegri which goes on differing from period to period and ruler to ruler. The jewel is turra, Kalangi, Sarpech, Gurda, neckless etc. The figure is shown carrying a katar, a sword and a shield. The female is depicted pretty with sharp features stout and tall. She has large and attractive eyes. Her hair are long and black reaching hips. She has long arms and figures. Her hands are shown quoted with Mehandi and a vermalion mark over the fore-head. The waist is slightly broader. Her dress is very colourful with red, blue, yellow and orange colours. She has been painted wearing Lahanga, beseda, kanchli, Lungi and often in a tightly fitted Pyjama covered by a transparent skirt or dupatta over the shoulders. The most favoured jewel of the Marwadi lady is the big toti, bali, baser, loong, nath, galsari mela etc. around the arm the Bhoojbund. The wrist has a lot of bangles and other ornaments. Jhoor, Paijav, and Neveri are the most favoured jewel of Marwadi lady.

है कि बीकानेर और जोधपुर के शासक अधिक समय तक दक्षिण मे रहे। इनके साथ दक्षिण की चित्रकला के आदर्श बीकानेर पहुँच गये। वह आदर्श बीकानेर के चित्रो मे लक्षित होते है। बीकानेर के चित्रो का मूल उद्देश्य भागवत गीता, कृष्ण लीला तथा हिन्दुओ की पौराणिक गाथाओ को रागमाल और बारामासा के चित्रो द्वारा चित्रित करना था। बीकानेर के चित्रकार अपने चित्रो पर अपना नाम और तारीख लिख दिया करते थे परन्तु मेवाड या मारवाड़ के चित्रकार नहीं लिखते थे।

किशनगढ़ शैली

किशनगढ़ मे भी राठौड राजा ही राज्य करते थे लेकिन इस राज्य मे बने चित्रोको स्वर्गीय श्री एरिक डिकरसन से पहले किसी ने भी पृथक शैली के रूप मे स्वीकार नहीं किया था। यहा पर जो चित्र बने उनमे निहालचन्द के द्वारा बनाये गए चित्र सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। निहालचन्द ने अपने चित्रो पर फारसी भाषा म अपना नाम भी लिख दिया था। यहा के चित्र अपनी कलात्मक सौन्दर्यता के लिए सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं।[1]

जयपुर

ढूंढर के प्रदेश मे चित्रकला का सर्वाधिक विकास हुआ था। कुंवर सग्रामसिह ने तो एक लख मे 'ढूंढर के प्रदेश की राजस्थानी चित्रकला के लिए विशष देन' का एक लख मे प्रकाशित भी किया है। इन चित्रों मे म्यूरल्स और बैराठ तथा मोजमाबाद के फिरसकोज सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। इन पर मुगल कला का प्रभाव नजर नहीं आता लेकिन जो चित्र मिर्जा राजा जयसिंह के शासन काल मे बनाये गए उन पर मुगल कला का प्रभाव स्पष्ट रूप से नजर आता है। ढूंढर म रागमाल और बारामासा के अतिरिक्त पोट्रेट(Portrait) पेन्टिग का सर्वाधिक विकास हुआ है। श्री घासी, सालिगराम, रघुनाथ, राम सेवक इत्यादि यहा के प्रसिद्ध चित्रकार थे जिन्हे आमेर के कछवाहा राजाओ के द्वारा प्रोत्साहन दिया जाता था। ढूंढर मे बने मिनियेचरस (Miniature) भी राजस्थानी चित्रकला मे अधिक प्रसिद्ध हैं। चित्रकला की आमर शैली म अलवर और उनियारा के ठिकानो ने भी प्रोत्साहित किया था।

हाड़ौती

बून्दी और कोटा मे जो चित्र बने वे राजस्थानी चित्रकला के अद्वितीय आदर्श माने जाते है क्योकि यहा क चित्रकारो न बहुत ही सुन्दर ढग से रगो का प्रयाग किया है। पेड, जीव-जन्तुओ और पक्षियो को चित्रित करने मे इन चित्रकारो ने अपनी कलात्मक योग्यता का पूरा रूप स आभास दिया है।

1. A Kishangarh artist painted a variety of subjects The figures have arched eye-brows, long and grave eyes, pointed nose, projected chin, thin waist long figure which make them look very pretty and attractive. The colour scheme is generally sober and pleasing The atmosphere created in the works of art is definitely more romantic than in other school of this period

Appendix IV

मध्यकालीन राजस्थान की प्रमुख सड़कें

(IMPORTANT ROADS OF MEDIAEVAL RAJASTHAN)

(i) दिल्ली से अजमेर का मार्ग सराय अलावर्दीखां, पाटौदी, रिवाड़ी, कोटपुतली, जोबनेर, साभर, मनाना और हरमाड़ा होकर गुजरता था।

सराय अलावर्दीखां दिल्ली से 16 मील दक्षिण पश्चिम मे आधुनिक गुड़गांव रेलवे स्टेशन से सिर्फ एक मील उत्तर में स्थित था।

हरमाड़ा फुलेरा जक्शन और किशनगढ के बीच मे स्थित तिलोनिया रेलवे स्टेशन से केवल दो मील उत्तर स्थित था।

(ii) अजमेर से अहमदाबाद जाने के तीन मार्ग थे—

(i) पहला मार्ग मेड़ता, सिरोही, पाटन नहरवाला, दीमा होता हुआ अहमदाबाद जाता था।

(ii) अजमेर से जालौर, हैबातपुर होता हुआ अहमदाबाद जाता था।

(iii) अजमेर से मेड़ता, जैतारण, सोजत, पाली, भगवानपुर, जालौर, पाटनवाल होता हुआ अहमदाबाद जाता था।

सत्रहवीं शताब्दी मे भारत की यात्रा करने वाला विदेशी यात्री Tieffenthaler लिखता है कि जालौर से अहमदाबाद जाने के लिए सबसे छोटा मार्ग भीनमाल, पालनपुर, सीतापुर, मेहसाना होकर जाता था।

(iii) आगरा से अजमेर का रास्ता बयाना होकर जाता था। यह मार्ग सर्वाधिक सुरक्षित था। प्रत्येक एक कोस की दूरी पर मार्गसूचक पत्थर लगे हुए थे और हर आठ कोस के फासले पर रहने के लिए महल बने हुए थे जिनका निर्माण अकबर बादशाह ने करवाया था। आगरा से अजमेर के बीच का रास्ता 130 कोस था। यह रास्ता फतहपुर, ब्रहनावाद, हिण्डौन, मुगल सराय, लालसोट, चाद फूल, पीपला, मौजमाबाद, बादर सींदरी होता हुआ अजमेर जाता था।

(iv) मालवा से आगरा का मार्ग वर्त्तमान राजस्थान मे रणथम्भौर, मुडिमा खेड़ा, धौलपुर व जाजू होकर गुजरता था।

(i) For details see 'The Empire of the Great Mogol, a translation of DeLaets' Description of India and Fragment of Indian History' by I. S Hayland

(ii) India of Aurangzeb by Sir J N Sarkar (1901 A D)

Appendix V

आमेर के कच्छवाहा राजाओं की वंशावली

(राजा भारहमल से महाराजा विशनसिंहजी तक)

राजा भारीहमल राजा प्रथीराज जी को टीके बैठे सवत 1604 सावण वदी।

वौकुटी पधारया मुधराजो मे सवत 1630 माह वदी 6 राज वरस 26 मास 7 को यो बेटा।

भगवतदास राठेडी को
परस राम चोहाणी के
गोपती सोलुखणी के
सलैंदी सोलुषणी के
भगवानदास राठेड़ी के
जगनाथ सोलुपणी के
सारदुल सोलुपणी
सुदरदास दुजी सोलुपणी को
प्रथी दीन ··· ···

राजा भगवतदास राजा भारीहमलजी को टीके सवत 1630 माह सुदी 9 टीको बैठो आवैरी मे वैकुट सवत 1646 मागसर वदी 3 लाहर मे राज वरस 15 मास 9 वेटा 7

मान संघ पवारी को
कान्ह पवारी के (अवत)
परताप संघ पवारी को
माधै संघ पवारी को
सुरज संघ पवारी को
चन्द्र भाए मीटाणी को

महाराजा श्री मानसंघ जी टीको बौठो माह वदी 5 स 1646 मु० वाघा का देव पुख मो छै वीकुट आसाढ़ सुदी 10 बुधवार सवत 1671 मु० ऐचलपुर दीपण मो।

राज वरस 24 मास 9 वेटा 9
सवल संघ गोडी को
हीमंत संघ माऐ 2 चौहाणी वड़ी 2
जगत संघ राठोडी को
दुरजन संघ गौड़ा के
जगत संघ को माहा संघ
राम (?) संघ चौहाणी के
कोलाण सींघ

महाराजा श्री मीरजा श्री माव सीघ जी मानसघ जी कँ

टीको सवत 1671 मादवा वदी 13 अजमेर मौ सलेम माहाजी टीको दीय

वीकुट सवत 1678 मु० तीमरणी दीपए मौ छँ राज वरस 7 मास 4 दीन 3

माहा राजा धीराज माहा राजा श्री जै सघ जी वैठार राम सघ
कीरत सघ कँ टीकँ वैठै सवत 1678
माह सुदी 5 मु० हूरदबार सलेमसाही पाती साही दीन्है

काल परापती (प्राप्ति) मीनी आसौज वदी 5 मु० दुराहनपुर दीखए मै स 1724

राम सघ चोहाणी कँ

राजा रामसघ टीको वैठै सवत 1724 आसौज सुदी 4 मु० दीली औरगजेब टीको दीवै ।

महाराजा रामसघ के कवर की सघ हाडो कै कवर पद दीपए भाई कीसनसघ का वीसन सघ

महाराजा जी वीसनसघ जी टीका–राम सघ जी कँ वदी 7 स० 1745

सवत 1732 का चौत सुदी 11 पाती साही का सोवावा वूढाहा की वसावली घासीराम की पोथी माहा उतारी ली वाचौ भुला चुका की माफ कीजो काढो मत लीपनो जो राम

नोट —यह आमेर की प्राचीनतम प्राप्य वशावली है जिसकी एक Authentic Copy लेखक के पास है।

ERRATA

पृष्ठ 2 प्रथम पंक्ति पढ़िये श्वान च्यांग
,, आठवीं पंक्ति नीचे से पढ़िये यौधेय
पृष्ठ 3 नवीं पंक्ति पढ़िये कमी
पृष्ठ 6 दूसरी पंक्ति पढ़िये में
पृष्ठ 8 नीचे से बारहवीं पंक्ति पढ़िये Records
पृष्ठ 11 पाद टिप्पणी 9 पढ़िये Pingation
पृष्ठ 14 नम्बर 8 पढ़िये Corpus Inscriptions
पृष्ठ 20 पंक्ति 3 पढ़िये नुस्का
पृष्ठ 22 नीचे से 11वीं पंक्ति पढ़िये 'राज्य का दीवान'
पृष्ठ 23 पढ़िये मुंडीयार ठिकाने की ख्यात
पृष्ठ 24 पढ़िये जोधपुर राज्य की ख्यात चार जिल्दों में है।
पृष्ठ 26 Modern works No. 2 पढ़िये Glories of Marwar and the Glorious Rathors.
पृष्ठ 27 पढ़िये No. 11 पर Pt. B. N. Reu
,, पढ़िये No. 16 पर N. B. Roy
,, पढ़िये No. 21 पर Dr. Beni Prasad
पृष्ठ 30 पंक्ति 17 पढ़िये इतिहासकारों
पृष्ठ 37 पंक्ति 5 पढ़िये Melee
पृष्ठ 39 नीचे से पन्द्रहवीं पंक्ति 'और' नहीं है।
पृष्ठ 41 नीचे से दूसरी पक्ति पढ़िये Tabqat
पृष्ठ 42 पर पढ़िये 'अलाउद्दीन ने चालाकी से रणथम्भौर पर अधिकार किया'
पृष्ठ 62 पंक्ति अठाहरवीं पढ़िए 'यह कैसे सत्य हो सकता है'
पृष्ठ 72 पाद टिप्पणी 2 पढ़िए Commentry
पृष्ठ 75 पढ़िए चूंडा के चरित्र का विश्लेषण
पृष्ठ 85 प्रथम पैरेग्राफ की अन्तिम पंक्ति में तदनुसार नहीं
पृष्ठ 92 पढ़िए Bibliography
पृष्ठ 97 पाद टिप्पणी 1 पर पढ़िए Principality of Marwar
पृष्ठ 99 तृतीय वाक्यांश पढ़िए राव गांगा
पृष्ठ 100 पांचवां वाक्यांश पढ़िए 'गांगा के चाचा का नाम शेखा था'
पृष्ठ 104 द्वितीय वाक्यांश, प्रथम पंक्ति, पढ़िए निर्वासित
पृष्ठ 105 दसवीं पंक्ति पर पढ़िए निर्वासित
पृष्ठ 106 नीचे से चौथी पंक्ति पढ़िए ख्वासखां
पृष्ठ 116 पाद टिप्पणी पर पढ़िए mush-room
पृष्ठ 125 पंक्ति 10 पर पढ़िए 'पासवान'
पृष्ठ 142 आठवीं पंक्ति पढ़िए homeless wanderer
पृष्ठ 145 चौथी और पांचवीं पंक्ति पर पढ़िए 'राणा'
पृष्ठ 148 प्रथम पंक्ति पर पढ़िए दो अस्पा

पृष्ठ 149 अन्तिम पंक्ति पढ़िए thesis
पृष्ठ 161 नीचे से सातवी पंक्ति पढ़िए night
पृष्ठ 169 अन्तिम पंक्ति पर पढ़िए No. 31
पृष्ठ 170 नीचे से नवी पंक्ति पढ़िए रायसिंह
पृष्ठ 171 प्रथम पंक्ति प्रथम शब्द अमरसिंह है।
पृष्ठ 189 पढ़िए 'जयसिंह के अन्तिम दिन'
पृष्ठ 207 अन्तिम पंक्ति पर पढ़िए आगरा
पृष्ठ 214 चौदहवी पंक्ति पर पढ़िए दुम्रपा
पृष्ठ 218 चौबीसवी पंक्ति पर पढ़िए वद्यामदी
पृष्ठ 230 पाद टिप्पणी 1 पढ़िए सियार
पृष्ठ 236 No 10 पर पढ़िए 'History of the Baronical House of Diggi' by Dr. K. R. Qanungo.
,, No 15 पर पढ़िए Elliot and Dawson, Vols. VII & VIII
पृष्ठ 241 पंक्ति 22 पर पढ़िए पाद
पृष्ठ 253 पर पढ़िए 'महाराणा कर्णसिंह का शासनकाल 1620–28 था'।
पृष्ठ 266 तृतीय वाक्यांश अन्तिम पंक्ति पढ़िए Walled
,, चतुर्थ वाक्यांश प्रथम पंक्ति पढ़िए 'मुक्ति कल्पतरु'
पृष्ठ 261 पाद टिप्पणी 1
पृष्ठ 270 द्वितीय पंक्ति पढ़िए यौधेय
,, नीचे से सातवी पंक्ति पढ़िए Auhadi
,, नीचे से दूसरी पंक्ति पढ़िए Ever
पृष्ठ 277 सोलहवीं पंक्ति पढ़िए लाखोटा बारी
पृष्ठ 279 चतुर्थ पंक्ति पढ़िए Ladders
,, नीचे से नवी पंक्ति पढ़िए Shippery
पृष्ठ 281 प्रथम पंक्ति पढ़िए route
,, नीचे से आठवी पंक्ति पढ़िए मीर
पृष्ठ 282 द्वितीय वाक्यांश छठी पंक्ति पढ़िए 'राव जोधा का फलसा'
पृष्ठ 286 ग्यारहवीं पंक्ति पढ़िए महाराजा रायसिंह
पृष्ठ 292 नीचे से छठी पंक्ति पढ़िए महेशदास राठौड़
पृष्ठ 293 छठी पंक्ति पढ़िए रायसिंह
,, नवीं पंक्ति पढ़िए 'अर्थ' के स्थान पर पैतृक राज्य
पृष्ठ 310 नीचे से तीसरी पंक्ति पढ़िए a device
पृष्ठ 317 पाचवीं पंक्ति पढ़िए Commanders